महाकविश्री विशाखदत्तप्रणीतम्

मुद्राराक्षस-नाटकम्

(सरल संस्कृत-व्याख्या, हिन्दी अनुवाद, टिप्पणी, सर्वाङ्गपूर्ण भूमिका आदि से संवलित)

व्याख्याकार

तारिणीश झा

व्याकरणवेदान्ताचार्य

भूमिका-लेखक

डॉ० सुरेन्द्रदेव शास्त्री

एम० ए० (संस्कृत, हिन्दी), पी-एच० डी०

अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग

टाउन डिग्री कालेज, बलिया

प्रकाशक

रामनारायणलाल बेनीप्रसाद

प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता

इलाहाबाद - 211002

तृतीय संस्करण] १९८३ [मूल्य ९·०० रुपये

प्रकाशक
रामनारायणलाल वेनीप्रसाद
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
इलाहाबाद-२११००२

मुद्रक
रामबाबू अग्रवाल
ज्ञानोदय प्रेस,
२७३, कटरा इलाहाबाद

विषयानुक्रमणिका

विषय | पृष्ठ

(क) भूमिका

१—काव्य के दो प्रधान रूप ... १
२—नाटक का लक्षण तथा परिभाषा ... ४
३—कथावस्तु अथवा इतिवृत्त और उसके प्रकार ... ५
४—नाटकों का उद्भव ... १३
५—संस्कृत नाटकों के विकास का क्रमिक इतिहास ... १६
६—नाटककार विशाखदत्त का काल-निर्धारण ... २३
७—जीवन-वृत्त ... ३६
८—विशाखदत्त की शैली ... ४२
९—ग्रन्थ का नामकरण ... ४६
१०—कथानक का मूल आधार ... ५०
११—नाटक के पूर्व की कथा ... ५१
१२—अंकानुसार संक्षिप्त कथावस्तु ... ५५
१३—मुद्राराक्षस का नायक ... ७०
१४—प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण ... ७३
१५—रस ... ९१
१६—मुद्राराक्षस का वैशिष्ट्य ... ९३
१७—मुद्राराक्षस में सुभाषितों का प्रयोग ... ९८
१८—अकारादिक्रम से श्लोकों की सूची ... १००

(ख) मूल ग्रन्थ और व्याख्या आदि

१—प्रथमोऽङ्कः १
२—द्वितीयोऽङ्कः ९५
३—तृतीयोऽङ्कः — ... १६३
४—चतुर्थोऽङ्कः २११
५—पञ्चमोऽङ्कः २७७
६—षष्ठोऽङ्कः ३३९
७—सप्तमोऽङ्कः ३८६

पात्रों का परिचय

(क्रमप्रविष्ट)

पुरुष पात्र

१. सूत्रधारः —नाटक का प्रारंभ-कर्त्ता, रंगमंच का अध्यक्ष।
२. चाणक्यः —नायक, विष्णुगुप्त, चन्द्रगुप्त का गुरु।
३. शार्ङ्गरवः— चाणक्य का शिष्य।
४. चरः —यमपट धारण करने वाला चाणक्य का गुप्तचर।
५. सिद्धार्थकः —चाणक्य का गुप्तचर, राक्षस का कृत्रिम सेवक।
६. चन्दनदासः —राक्षस का प्रिय मित्र।
७. विराधगुप्तः —सँपेरे का वेश धारण करने वाला राक्षस का गुप्तचर।
८. राक्षसः —प्रतिनायक, नन्दों का महामात्य।

(क्रमप्रविष्ट)

पुरुष पात्र

९. जाजलिः —मलयकेतु का कंचुकी।
१०. प्रियंवदकः—राक्षस का अनुचर।
११. शकटदासः — राक्षस का निजी सचिव और मित्र।
१२. वैहीनरिः—चन्द्रगुप्त का कंचुकी।
१३. चन्द्रगुप्तः —मौर्य वंश का प्रथम सम्राट्, चाणक्य का महाभक्त।
१४. प्रथमवैतालिकः —चन्द्रगुप्त का अपना चारण।
१५. द्वितीयवैतालिकः—राक्षस द्वारा नियुक्त चारण-व्यञ्जन गुप्तचर, स्तनकलश।
१६. करभकः —राक्षस का पथिक-वेशधारी गुप्तचर।
१७. दौवारिकः —राक्षस का द्वारपाल।

(क्रमप्रविष्ट)

पुरुष पात्र

१८ चित्रहस्तपुरुष। —मलयकेतु के आगमन की सूचना देने वाला पुरुष।

१९ मलयकेतु। —पर्वतेश्वर का पुत्र, राक्षस का सहायक।

२० भागुरायण। —चाणक्य का गुप्तचर, मलयकेतु का कृत्रिम मित्र।

२१ जीवसिद्धिः —चाणक्य का क्षपणकवेशधारी गुप्तचर, राक्षस का कृत्रिम मित्र।

२२ भासुरक —मलयकेतु का अनुचर।

(क्रमप्रविष्ट)

पुरुष पात्र

२३ सुसिद्धार्थक —सिद्धार्थक का मित्र, चण्डाल के वेश में वेणुवेत्रक।

२४. पुरुष। —चाणक्य का गुप्तचर, आत्महत्या का स्वांग करने वाला।

२५ वज्रलोमक —प्रथम चण्डाल के वेश में सिद्धार्थक।

२६ वेणुवेत्रक —द्वितीय चण्डाल के वेश में सुसिद्धार्थक।

२७ पुत्र—चदनदास का बालक।

२८ पुरुष। —संदेशवाहक।

स्त्री पात्र

१ नटी—सूत्रधार की स्त्री।

२ शोणोत्तरा—चन्द्रगुप्त की प्रतिहारी

स्त्री पात्र

३ विजया—मलयकेतु की प्रतिहारी।

४ कुटुम्बिनी—चन्दनदास की पत्नी।

भूमिका

काव्य के दो प्रधान रूप

शास्त्रकारों ने मूलरूप से काव्य के दो रूपों को स्वीकार किया है—(१) श्रव्य-काव्य, (२) दृश्य-काव्य। श्रव्य-काव्यो का अध्ययन स्वयं किया जा सकता है अथवा किसी दूसरे व्यक्ति के मुख द्वारा उसका श्रवण किया जा सकता है। इन श्रव्य-काव्यों में शब्दों द्वारा पाठकों अथवा श्रोताओ के अन्तस्तल में रसानुभूति का संचार किया जाता है। दृश्य-काव्यों मे शब्दो के अतिरिक्त पात्रों की वेश-भूषा, उनकी आकृति तथा भाव-भंगी और क्रियाओ के अनुकरण तथा भावों के अभिनय द्वारा दर्शकों के हृदयों को भाव-मग्न किया जाया करता है। यद्यपि इन दृश्य-काव्यो का अध्ययन (पठन) तथा श्रवण भी किया जा सकता है किन्तु फिर भी उनके पूर्ण आनन्द का अनुभव पाठक अथवा श्रोता को उस समय तक होना संभव नहीं है कि जब तक उनका अभिनय रंगमंच पर प्रस्तुत न कर दिया जाय। इस भाँति श्रव्य-काव्य श्रवण के माध्यम द्वारा तथा दृश्य-काव्य नेत्रो के माध्यम द्वारा मानव के हृदय में रसानन्द की अनुभूति कराया करते है। माध्यम की उपर्युक्त भिन्नता के आधार पर ही काव्य के उपर्युक्त दो मूलरूपो का वर्णन शास्त्रकारो ने किया है।

मानव-मात्र की दृष्टि में कानों द्वारा सुने गये विषयो की अपेक्षा नेत्रों द्वारा प्रत्यक्ष देखे गये विषयों के वर्णन अधिक रोचक तथा चित्ताकर्षक हुआ करते हैं। अतः श्रव्य-काव्य की अपेक्षा दृश्य-काव्य का अधिक रोचक, अधिक मनोहर तथा अधिक आकर्षक होना स्वतः ही सिद्ध है। दृश्य-काव्य के अन्तर्गत विद्यमान दुष्यन्त आदि के स्वरूप का नट इत्यादि में आरोप किये जाने के कारण दृश्य-काव्य को ही शास्त्रकारो ने 'रूपक' शब्द द्वारा कहा है :—

„तद्रूपारोपात्तु रूपकम् ॥" साहित्यदर्पण—६।१। चतुर्थचरण ॥

सभी प्रकार के काव्यो मे सस्कृत-रूपकों का स्थान

भारतीय आलोचकों ने सब प्रकार के काव्यों मे रूपक अथवा नाटक को ही सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया है।

"काव्येषु नाटक रम्यम्"

इसका मुख्य कारण यही हो सकता है कि अहृदयों को सहृदय बनाने की पूर्ण सामर्थ्य नाटकों अथवा रूपकों मे ही हुआ करती है। उदाहरण के लिए मुद्राराक्षस की प्रारम्भिक घटना को ही ले लीजिये —

इस नाटक के प्रारम्भ मे प्रस्तावना की समाप्ति पर जब सूत्रधार अभिनय मे भाग लेने के निमित्त अपनी पत्नी को बुलाने के लिये घर जाता है तब उसे उसकी पत्नी चन्द्रग्रहण के उपलक्ष मे ब्रह्मभोज का आयोजन करती हुई दृष्टिगोचर होती है। सूत्रधार उसे समझाता है कि आज तो चन्द्रग्रहण किसी भी अवस्था मे नही हो सकता है क्योंकि —

"क्रूरग्रह सकेतुश्चन्द्रमसम्पूर्णमण्डलमिदानीम्।
अभिभवितुमिच्छति बलात्—"

वह इतना ही कह पाता है कि चाणक्य चन्द्रगुप्त के नाम सादृश्य से "चन्द्रस्यग्रहणम् (चन्द्रगुप्त का पकड लिया जाना)" समझकर कहने लगता है —

"कथय, क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति"

अर्थात् (अपनी खुली हुई चोटी का स्पर्श करते हुये वह कहता है) मेरे रहते हुये, ऐसा कौन व्यक्ति है कि जो चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करने की इच्छा करता है।

यह कौन व्यक्ति है कि जो जँभाई के कारण खोले हुये सिंह के मुख से, शीघ्र ही पिये हुये हाथी के रक्त से लाल शोभा वाली और (अतएव) चन्द्रमा की सायकालीन अरुण कांति से देदीप्यमान दाढ को (सिंह का तिरस्कार करके) उखाड लेने की इच्छा करता है? (श्लोक स० १।८)।

वध के योग्य (यह) कौन व्यक्ति है कि जो नन्दवश के काल के लिये

सर्पिणी के सदृश तथा क्रोधाग्नि से निकलती हुई काली धूमरेखा के सदृश (कभी भी बँध चुकने वाली) मेरी इस शिखा (चोटी) को इस समय भी बँधती हुई नहीं देखना चाहता है? (१।९) ।

रंगमंच पर स्थित चाणक्य के उपर्युक्त शब्दों के श्रवणमात्र से ही दर्शकों के हृदयों में समयोचित वीर रस का आस्वादन होने लगता है । इस स्थल पर कल्पना को दौड़ाने की कोई भी आवश्यकता प्रतीत नही होती है । रस को उद्दीप्त करने की संपूर्ण सामग्री उपस्थित है । परदा उठने के अनन्तर चाणक्य के शब्दों को सुनते ही रसास्वादन होना प्रारम्भ हो जाता है । इसमें तनिक भी विलम्ब नही होता है । अतः जीवन की सत्यता के अनुभव की दृष्टि से, रसाप्लावित होने की दृष्टि से तथा रसास्वादन की क्षमता की दृष्टि से यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि काव्य के सम्पूर्ण भेदों में नाटक अथवा रूपक ही पूर्णतया चित्ताकर्षक तथा लोकरंजन का प्रमुख एवम् सर्वश्रेष्ठ साधन है । अतः महाकवि कालिदास द्वारा कथित निम्नलिखित उक्ति की सार्थकता स्पष्ट ही है :—

'नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ।" (माल० १।४)

नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि के अनुसार भी नाट्य के अन्तर्गत समस्त शास्त्रों तथा कलाओं का समावेश हो जाया करता है । उन्होने लिखा है :—

"न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥" भरत नाट्यशास्त्र ॥

अर्थात् कोई भी ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग अथवा कर्म ऐसा नही है कि जिसका दर्शन इस नाट्य में न होता हो ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्यों में नाटकों अथवा रूपको को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया जाना सर्वथा उपयुक्त ही है ।

रूपकों के प्रकार

भरतमुनि तथा उत्तरवर्त्ती नाट्यशास्त्रकारों ने रूपक के दश भेद स्वीकार किये हैं :—

"नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः ।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति ॥" दशरूपक १।८॥

मूल की दृष्टि से कथावस्तु के पुन तीन भेद—यही कथावस्तु मूल की दृष्टि से पुन तीन प्रकार भी हो जाती है। (१) प्रख्यात, (२) उत्पाद्य, (३) मिश्र —

"प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात् त्रेधाऽपि तत्त्रिधा ॥"

॥ दशरूपक १।१५ का पूर्वार्द्ध ॥

(१) प्रख्यात नामक कथावस्तु रामायण, महाभारत, पुराण अथवा बृहत्कथा इत्यादि ऐतिहासिक ग्रन्थो के आधार पर हुआ करती है। यह कथानक प्रसिद्ध कथा के साथ सम्बद्ध रहा करता है। जैसे—अभिज्ञान शाकुन्तल, उत्तर रामचरित तथा वेणीसंहार इत्यादि नाटकों की कथावस्तुयें। (२) उत्पाद्य नामक कथावस्तु कवि द्वारा स्वय की कल्पना प्रसूत हुआ करती है। (३) मिश्र नामक कथावस्तु की पृष्ठभूमि प्रख्यात हुआ करती है किन्तु उसमें का अधिकांश भाग कवि-कल्पित हुआ करता है। अत इसका निर्माण प्रख्यात तथा उत्पाद्य दोनो ही प्रकार की कथावस्तुओ के मिश्रण से होता है। विभिन्न प्रकार की स्थितियो के आधार पर कथानक को पाँच अर्थप्रकृतियो, पाँच अवस्थाओ तथा पञ्च-सन्धियो मे विभक्त कर लिया जाया करता है।

पाँच अर्थप्रकृतियाँ

कथानक को प्रमुख फल की ओर अग्रसर करने वाले चमत्कारपूर्ण अशो को "अर्थप्रकृति" कहा जाता है। कथानक का फल है—त्रिवर्ग सिद्धि अर्थात् धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति। नाटकीय अर्थ मे प्रदर्शित इन उद्देश्यो की प्राप्ति के निमित्त जो उपाय किये जायँ, उन्ही को अर्थप्रकृति समझना चाहिये। इसके ५ प्रकार होते हैं—(१) बीज, (२) बिन्दु, (३) पताका, (४) प्रकरी और (५) कार्य। ये अर्थप्रकृतियाँ आधिकारिक-कथावस्तु के निर्वाह मे सहायक हुआ करती हैं।

(१) बीज—बीज के द्वारा आधिकारिक कथावस्तु के उद्गम मे सहायता प्राप्त हुआ करती है। प्रारम्भ मे इसका कथन सूक्ष्म रूप मे किया जाता है किन्तु जैसे-जैसे व्यापक शृङ्खला आगे बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे इसका भी विस्तार होना चलता है।

(२) बिन्दु—विच्छिन्न कथावस्तु को इसके द्वारा आगे बढाया जाया करता

है। तात्पर्य यह है कि जो बात कारण बनकर बीच की कथा को आगे बढ़ाती है तथा प्रधान कथा को भी चालू रखती है, वही बिन्दु है।

(३) **पताका तथा (४) प्रकरी**— इन दोनों ही अर्थप्रकृतियों के आधार पर प्रासङ्गिक कथावस्तु के द्वारा मुख्य कथानक का उपकार किया जाया करता है। इन दोनों प्रकार की प्रासङ्गिक-कथाओ के नायको की सम्पूर्ण चेष्टाये प्रधान नायक की फल की सिद्धि करने के लिये ही हुआ करती हैं।

(५) **कार्य**—जिस फल की प्राप्ति के निमित्त सम्पूर्ण साधनादि सामग्री एकत्रित की जाती है, उसे कार्य कहते है।

अर्थावस्थाये

फल-प्राप्ति के इच्छुक पात्रों द्वारा प्रारम्भ किये हुये कार्य की पाॅच अवस्थाये हुआ करती हैं :—(१) आरम्भ, (२) यत्न, (३) प्राप्त्याशा, (४) नियताप्ति तथा (५) फलागम।

(१) **आरम्भ**—महान् फल की प्राप्ति के हेतु जहाँ मात्र उत्कण्ठा ही हुआ करती है, प्रयत्न नही होता, उसी को 'आरम्भ' कहा जाता है।

(२) **यत्न**—फल-प्राप्ति के लिये अत्यन्त शीघ्रता के साथ जो व्यापार किया जाता है, उसे यत्न कहते है।

(३) **प्राप्त्याशा**—जहाँ प्राप्ति की आशा, उपाय तथा अपाय (विघ्न) की आशंकाओं से घिरी रहती है किन्तु फिर भी प्राप्ति की संभावना रहा करती है, उसी को प्राप्त्याशा नामक अवस्था कहा जाता है।

(४) **नियताप्ति**—जब विघ्न समाप्त हो जाते है तथा फल की प्राप्ति निश्चित हो जाया करती है तो इसी अवस्था को नियताप्ति नाम से कहा जाता है।

(५) **फलागम**—अभीष्ट फल का पूर्ण रूप से मिल जाना ही फलागम कहा जाता है।

पञ्च सन्धियाँ

उपर्युक्त पाँच अर्थप्रकृतियों तथा पाँच अर्थावस्थाओं के क्रमिक संयोग से पाँच

सधियों का सृजन हुआ करता है। ये हैं—(१) मुख सधि, (२) प्रतिमुख सन्धि, (३) गर्भ सधि, (४) अवमर्श अथवा विमर्श सधि तथा (५) निर्वहण (उपसहार) सधि।

(१) मुख सधि—बीज तथा आरम्भ को मिलाने वाली सधि का नाम ही मुख सधि है। इसमें रसो की कल्पना होती है।

(२) प्रतिमुख सधि—बिन्दु तथा यत्न को मिलाने वाली सधि का नाम प्रतिमुख सधि है। इसमे मुख सधि मे अकुरित बीज कभी लक्षित होता है और कभी अलक्षित।

(३) गर्भ सधि—जिस सधि मे उपाय कही दब जाय और उसको खोज करने के लिये बीज का और भी विकास हो, उसे गर्भ सधि कहते हैं। इसमें प्राप्त्याशा तथा पताका का योग होता है। इसमे पताका की सर्वत्र आवश्यकता नहीं पडा करती है। कही पर वह विद्यमान रहती है और कही पर नही। किन्तु प्राप्त्याशा का तो होना निश्चित है। इसमे फल अन्तर्निहित रहा करता है। इसी कारण इसका नाम गर्भ सधि है।

(४) विमर्श सधि—जहां पर फल का उपाय तो पहले की अपेक्षा अधिक विकसित होता है किन्तु विघ्नो के उपस्थित हो जाने से उसमे आघात पहुँचा करता है वहाँ विमर्श सधि हुआ करती है। इसमे फल-प्राप्ति की पर्यालोचना की जाती है। इसमे नियताप्ति तथा प्रकरी का योग होता है। किन्तु प्रकरी की स्थिति वैकल्पिक रहा करती है।

(५) निर्वहण सधि—जहां कार्य और फलागम मिलते हैं अर्थात् प्रयोजन की पूर्ण सिद्धि हो जाती है वहां निर्वहण सधि होती है।

सधियो के उपर्युक्त विवेचन द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि मुख से कार्य का प्रारम्भ होता है, प्रतिमुख मे वह वृद्धि को प्राप्त करता है, गर्भ में वह उत्कर्ष को प्राप्त करता है, विमर्श में फल की ओर झुकता है तथा निर्वहण मे वह पूर्ण सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

नेता (नायक)

सभी प्रकार के काव्यों में जो प्रधान पात्र होता है वही नेता अथवा

नायक कहलाता है। नेता शब्द 'नी' धातु से बनता है, जिसका अर्थ ले चलना है। जो पात्र कथानक को फल की ओर ले चलता है उसी को 'नेता' कहते हैं। फल का भोक्ता अथवा प्राप्त करने वाला भी यही होता है।

नेता के चार प्रकार—नाट्यशास्त्र की दृष्टि से नेता चार प्रकार का माना गया है—(१) धीरललित, (२) धीरशान्त (३) धीरोदात्त (४) धीरोद्धत। भरतमुनि के अनुसार देवगण धीरोद्धत की श्रेणी मे आते हैं। राजा धीरललित, सेनापति एव अमात्य धीरोदात्त तथा ब्राह्मण और वैश्य धीरशान्त श्रेणी के अन्तर्गत आते है :—

" देवा धीरोद्धता ज्ञेयाः स्युर्धीरललिता नृपाः।
सेनापतिरमात्यश्च धीरोदात्तौ प्रकीर्तितौ ॥
धीरप्रशान्ता विज्ञेया ब्राह्मणा वणिजस्तथा ॥"

॥ नाट्यशास्त्र २४,१८-१९॥

(१) **धीरललित नेता का लक्षण**—धीरललित नायक राज्य-सम्बन्धी तथा अन्य प्रकार की भी चिन्ताओं से मुक्त होता है क्योंकि उसके योगक्षेम की चिन्ता उसके मन्त्री आदि के द्वारा की जाती है। इसी कारण वह संगीत, नृत्य, चित्र आदि कलाओं का प्रेमी तथा सांसारिक भोग-विलासादि में निरन्तर संलग्न और रसिकवृत्ति का होता है। उसमे शृंगार रस की प्रधानता हुआ करती है। अतः वह सुकोमल स्वभाव एव आचरण से युक्त होता है। इस प्रकार के नायक प्रायः राजा ही हुआ करते हैं :—

"निश्चिन्तो धीरललितः कलाशक्त सुखी मृदुः ॥" दशरूपक २।३ ॥

कालिदास द्वारा रचित 'मालविकाग्निमित्र' नामक नाटक का नायक अग्निमित्र इसी श्रेणी का नायक है।

(२) **धीरशान्त नेता का लक्षण**—विनय इत्यादि सामान्य गुणों से युक्त ब्राह्मण, वैश्य अथवा मन्त्रिपुत्र आदि धीरशान्त नेता कहे जाते हैं। (भवभूति के 'मालतीमाधव' नामक रूपक का नायक 'माधव' इसी कोटि का नायक है) :—

" सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः ॥" दशरूपक २।४ ॥

(३) धीरोदात्त नेता का लक्षण—यह नायक अतिशय शक्ति-सम्पन्न हुआ करता है। उसका अन्तःकरण क्रोध, शोक आदि विकारो मे अभिभूत नही होता है। वह अत्यन्त गम्भीर, सहनशील, अविकत्थन (आत्मप्रशंसक न होना) स्थिरचित्त (चञ्चलता रहित मन वाला), स्वाभिमानी होने पर भी विनम्रता द्वारा दबे हुये अभिमान वाला, दृढव्रत (अर्थात् जिस बात को करने का प्रण कर लेता है उसे अन्त तक निभाने वाला) होता है। नाटक का नायक इसी प्रकृति का होना आवश्यक है —

"महासत्त्वोऽतिगम्भीर क्षमावानविकत्थन ।
स्थिरो निगूढहकारो धीरोदात्तो दृढव्रत ।।" दशरूपक २।४-५ ।।

'अभिज्ञान शाकुन्तल' नामक नाटक का नायक 'दुष्यन्त' इसी श्रेणी के अन्तर्गत आता है।

(४) धीरोद्धत नेता का लक्षण—यह नायक घमण्डी, ईर्ष्यालु, माया (अर्थात् मन्त्रबल से असत्य वस्तुओ को प्रकट करना) और कपट से परिपूर्ण, अभिमानी, चञ्चल मन वाला, क्रोधी तथा आत्मप्रशंसक होता है। उसे अपने शौर्य आदि का अभिमान होता है। उसका मन अस्थिर हुआ करता है। इसके अतिरिक्त वह स्वय ही अपनी डींग मारने वाला होता है —

"दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाछद्मपरायण ।
धीरोद्धतस्त्वहकारी चलश्चण्डो विकत्थन ।।" दशरूपक २।५-६ ।।

परशुराम तथा भीमसेन को इसी श्रेणी का नायक कहा जा सकता है।

इन चारो प्रकार के नायको मे से 'धीरोदात्त' नायक को ही सस्कृत नाटककारो ने सर्वाधिक स्थान प्रदान किया है (क्योकि समाज के लिए यही आदर्श होने योग्य है)। यत्र-तत्र धीरशान्त अथवा धीरललित नायक भी दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु धीरोद्धत नायक का प्रयोग तो सस्कृत नाटककारो ने प्राय प्रतिनायक के रूप मे ही किया है।

नायिका

नाटक इत्यादि रूपको मे नायिका का भी उतना ही महत्त्व है जितना नायक

का, विशेष रूप से शृंगार रस-प्रधान रूपकों में। नायक की पत्नी अथवा प्रेयसी को ही नायिका कहा जाता है। नायक के सामान्य गुणों का नायिका में भी होना आवश्यक है। नायिका के तीन प्रकार माने गये हैं :—(१) स्वकीया, (२) परकीया तथा (३) सामान्या। स्वकीया अपनी स्त्री, परकीया परायी स्त्री अथवा कन्या तथा सामान्या किसी की भी स्त्री नही हुआ करती है।

(१) **स्वकीया नायिका**—यह नायिका शील, लज्जा आदि गुणों से युक्त होती है। यह पतिव्रता, सच्चरित्रा, अकुटिला, लज्जायुक्त तथा पति के प्रति व्यवहार में कुशल और पति-सेवारत होती है :—

'विनयार्जवादियुक्ता गृहकर्मपरा पतिव्रता स्वीया''

॥ सा० द० ३।५७ ॥

(२) **परकीया नायिका**—इसके दो प्रकार होते है—(१) ऊढा, (२) अनूढा। किसी दूसरे की विवाहिता स्त्री ऊढा की श्रेणी में आती है तथा किसी की अविवाहित पुत्री (कन्या), अनूढा की श्रेणी में आती है :—

''परकीया द्विधा प्रोक्ता परोढा कन्यका तथा।
यात्रादिनिरताऽन्योढा कुलटा गलितत्रपा ॥
कन्या त्वजातोपयमा सलज्जा नवयौवना ॥'' सा० द० ३।६६-६७॥

(३) **सामान्या नायिका**—यह साधारण स्त्री होती है। गणिका की गणना इसके अन्तर्गत आती है। धन की दृष्टि से यह केवल वाह्य प्रेम को ही प्रकट किया करती है :—

''साधारण स्त्री गणिका कलाप्रागल्भ्यधौर्त्ययुक् ॥''

॥ दशरूपक २।२१ ॥

रस

सामाजिको अथवा दर्शको के हृदय मे रसोद्रेक उत्पन्न करना, दृश्य-काव्य का प्रधान उद्देश्य हुआ करता है। किन्तु रस का उतना ही परिपोष किया जाना उचित है कि जिससे कथावस्तु विच्छिन्न न होने पाये। नाटक के लिए जितना आवश्यक तत्त्व 'रस' है उतना ही आवश्यक तत्त्व वस्तु (कथानक) भी है। दोनों ही परस्पर एक दूसरे के सहायक हैं। कथावस्तु का सम्यक् एवं आकर्षक

प्रतिपादन बिना रस के किया जाना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार जब मुख्य कथा-वस्तु ही नहीं होगी तो रस की अनुभूति किसके आधार पर की जा सकेगी। अतः नाटक में वस्तु तथा रस दोनों ही तत्वों की उपयोगिता समान रूप से है।

कथावस्तु के दो पक्ष और रस

कथावस्तु के दो पक्ष होते हैं—प्रथम पक्ष है व्यवहार पक्ष अर्थात् वास्तव जगत् में यह घटना जिस भाँति घटती है, तथा द्वितीय पक्ष है काव्य पक्ष अर्थात् नाटक के द्वारा उसी घटना का चित्रण नाटककार द्वारा जिस किसी रूप में प्रस्तुत किया गया है। इनमें प्रथम पक्ष लौकिक है तथा द्वितीय अलौकिक। प्रथम पक्ष में रस की अनुभूति नहीं हुआ करती है। यह वह अवस्था होती है जिसमें केवल भाव का उदय-मात्र ही हुआ करता है। रसानुभूति तो द्वितीय पक्ष में हुआ करती है, अर्थात् जब वही घटना कवि की प्रतिभा के बल पर शब्दों के माध्यम द्वारा काव्य अथवा नाटक का चोला पहनकर आती है, तब वह एक अलौकिक वस्तु होती है और तभी वह रस की अनुभूति कराने में समर्थ हुआ करती है। आनन्द की प्राप्ति भी तभी होती है।

इस भौतिक जगत् में रति आदि स्थायी भाव के जो कारण, कार्य और सहकारी हुआ करते हैं वे यदि नाटक अथवा काव्य में प्रयुक्त होते हैं तो वे ही क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव नाम से कहे जाते हैं। इन विभावादि के द्वारा व्यक्त (रति आदि) स्थायी भाव ही 'रस' कहलाता है।

रस-विभाग—भरतमुनि आदि नाट्यशास्त्रकारों ने नाट्य में केवल आठ रसों की ही स्थिति का स्वीकार किया है और वे हैं—(१) शृंगार, (२) हास्य, (३) करुण, (४) रौद्र, (५) वीर, (६) भयानक, (७) वीभत्स तथा (८) अद्भुत।

अंगी (प्रधान) रस

नाटक में अंगी अथवा प्रधान रस एक ही हुआ करता है। यह या तो शृङ्गार रस हो सकता है अथवा वीर। अन्य सभी रसों का प्रयोग अंग (गौण) रूप में किया जा सकता है। इतना अवश्य है कि निर्वहण-सन्धि में अद्भुत रस का उपनिबन्धन किया जाना नाट्य-सौंदर्य का द्योतक हुआ करता है। अतः उसका वर्णन उक्त सन्धि के अन्तर्गत किया जाना आवश्यक तथा उचित भी है :—

"एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा ।
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः ।। सा० द० ६।१०।।

नाटकों का उद्भव

"नाटकों अथवा रूपकों का उद्भव कब तथा कैसे हुआ ?" यह एक विवादग्रस्त विषय है । इस विषय में नाट्यशास्त्र-प्रणेता भरतमुनि ने लिखा है कि एक बार सम्पूर्ण देवगण एकत्रित होकर ब्रह्मा के समीप गये तथा उनसे प्रार्थना की कि आप हमको एक ऐसा मनोरंजन का साधन प्रदान कीजिये कि जो श्रव्य तथा दृश्य दोनों ही हो तथा जिसे सभी वर्णों के लोग समान रूप से अपना सके । इनकी इस प्रार्थना को ध्यान में रखते हुये ब्रह्मा ने चारों वेदों से आवश्यक भागो को लेकर पंचम वेद "नाट्य-वेद" की रचना की । इसके निमित्त उन्होने ऋग्वेद से पाठ्य (संवाद, कथोपकथन इत्यादि), सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस के तत्वों को प्राप्त कर इसकी रचना की :—

"एव संकल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन् ।
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम् ।।
जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ।।" ना० शा० १।१६-१७।।

नाटक के निमित्त प्रधान रूप से चार प्रकार के साधनो की आवश्यकता हुआ करती है—(१) सवाद, (२) संगीत, (३) अभिनय तथा (४) रस । ये चारों प्रकार के साधन वेदों में विद्यमान है । अतः उक्त आधार पर वेदों द्वारा नाटको का उद्भव मानना उचित ही प्रतीत होता है ।

ऋग्वेद मे अनेक संवाद-सूक्तों का उल्लेख प्राप्त होता है :—यम-यमी सूक्त–१०।१०।।, पुरूरवा-उर्वशी सवाद–सूक्त–१०।९५।।, इन्द्र-मरुद्–संवाद–१।१६५ तथा १७० ।।, इन्द्र-इन्द्राणी-वृषा-कपि–संवाद—१०।८६।। इत्यादि । इन सूक्तों में नाटकोपयोगी 'संवाद' नामक साधन उपलब्ध होता है । उषस्, मरुत्, इन्द्र, अग्नि आदि देवताओं से सम्बन्धित सूक्तों के अन्तर्गत भी उक्त साधन-सम्बन्धी विषय उपलब्ध होता है । सामवेद में तो संगीत की प्रधानता को सभी ने स्वीकार किया है । यजुर्वेद में वर्णित विभिन्न प्रकार के यज्ञों के

क्रिया-कलाप मे अभिनय-सम्बन्धी अश विद्यमान है ही। अथर्ववेद मे भी प्रायः सभी प्रकार के रसो का वर्णन प्राप्त होता है।

उपर्युक्त अति सूक्ष्म विवरण के आधार पर यह मान लेना कि वेदो मे ही नाटकों का उद्‌भव हुआ है, उचित ही प्रतीत होता है।

किन्तु कुछ पाश्चात्य विद्वानो एव आलोचकों ने इस विषय मे जो अनुसधान किया है उसके आधार पर अनेक विचारधारायें प्रस्तुत करते हुये उनके द्वारा अनेक वादो की स्थापना की गई है। इन वादो मे से कुछ का सम्बन्ध धार्मिक भावनाओं से है तथा कुछ का लौकिक लीलाओं अथवा रीति-रिवाजो से। इन सभी वादो का विभाजन तीन भागों में किया जा सकता है —

(१) परम्परागतवाद, (२) धार्मिक भावनावाद, (३) लौकिक लीलावाद।

(१) परम्परागतवाद

(१) द्युलोकवाद—धर्मप्रधान भारतीयो का यह विश्वास है कि नाट्य विधान का प्रादुर्भाव द्युलोक से हुआ है। इसके प्रकटीकरण का काल त्रेता युग में माना गया है। सतयुग मे तो सभी प्राणी प्रसन्न व सुखी थे। त्रेता युग के आने पर दुःखो का आविर्भाव हुआ, इसी कारण मनोरजन अथवा मनोविनोद की भी आवश्यकता प्रतीत हुई। अतः देव तथा दानव मिलकर ब्रह्मा के समीप गये और उनसे कहा कि कुछ समय के लिये ही दुःखों से छुटकारा प्राप्त करने के हेतु कोई मनोविनोद का साधन हमे प्रदान कीजिये कि जिससे हम लोग कुछ समय के लिए कष्टो को भूल जाया करें। उन्होंने ध्यानावस्थित होकर ससार के प्राणियों के हितार्थ नाट्यवेद नामक पचम वेद का सृजन किया (जिसका सूक्ष्म वर्णन अभी किया जा चुका है)। उक्त नाट्य-कला की रचना में शिवजी ने ताण्डवनृत्य, पार्वती जी ने लास्यनृत्य तथा विष्णु जी ने चार प्रकार की वृत्तियो का समावेश पूर्ण कर पूर्ण कलात्मकता को ही उत्पन्न कर दिया। इतना ही नही, देवलोक के निर्माण-कार्य-विज्ञ विश्वकर्मा ने एक मनोहर रगमच का निर्माण किया तथा उस पर रूपको (नाटको) का अभिनय भी सम्पन्न होने लगा। प्राचीनतम नाटक थे—"त्रिपुरदाह" और "समुद्रमन्थन", जिनका अभिनय इन्द्रध्वज-पर्व के अवसर पर किया गया था तथा जिसमे पुरुषो का अभिनय पुरुषो द्वारा और स्त्रियों का अभिनय स्त्रियो द्वारा प्रस्तुत

किया गया था। इस कला को पृथ्वी-लोक में पहुँचाने का कार्य भरतमुनि द्वारा सम्पन्न किया गया। इस प्रकार उक्त कला का आगमन देवलोक अथवा द्युलोक से इस मर्त्यलोक पर हुआ।

उपर्युक्त वर्णन में वास्तविकता कितनी है, यह कहा नहीं जा सकता। किन्तु इतना अवश्य है कि इसके द्वारा नाट्कला-सम्बन्धी निम्नलिखित बातो का ज्ञान तो प्राप्त हो ही जाता है :—

(१) नाट्य-कला के निर्माण मे चारो वेदों का किसी न किसी अंश मे योग अवश्य है।

(२) पुरातन समय में स्त्री तथा पुरुष दोनो ही अपना-अपना अभिनय किया करते थे।

(३) तत्कालीन सभी नाटक धर्मप्रधान हुआ करते थे जिनका अभिनय धार्मिक पर्वों पर ही हुआ करता था।

(४) वैदिक काल में किसी भी नाटक की रचना नहीं हो सकी थी। इसी कारण देव तथा दानवों को मिलकर ब्रह्मा से प्रार्थना करनी पड़ी होगी।

(२) धार्मिक भावनावाद

(२) **मृतक पूजावाद**—डा० रिजवे का कथन है कि संसार में नाटकों की उत्पत्ति मृत आत्माओं को प्रसन्न करने तथा उनके प्रति श्रद्धा प्रकट करने की दृष्टि से हुई। भारत, यूनान आदि प्राचीन देशों में प्राचीन काल से ही इस भाँति की श्रद्धा प्रकट करने की प्रथा चली आती है। यह श्रद्धा ही सभी धर्मों का मूल है। इस भाँति नाटको का अभिनय मृत आत्माओं को प्रसन्न करने के निमित्त हुआ करता था। रामलीला एवं कृष्णलीला आदि लीलाये इसी भावना की प्रतोक कही जा सकती हैं। इस मृतक पूजा के आधार पर ही शनैः-शनैः नृत्य, गान तथा अभिनय होने लगे। इस भाँति नाटकों की रचना का प्रादुर्भाव हुआ।

किन्तु उपर्युक्त मत को विद्वानों द्वारा मान्यता प्राप्त न हो सकी, क्योंकि

राम, कृष्ण आदि की लीलायें करने का उद्देश्य श्रद्धा प्रकट करना नहीं है वरन् उनके चरित्र का स्मरण तथा श्रवण कर तदनुकूल अपने जीवन का निर्माण करना ही है। साथ ही राम एवं कृष्ण की स्मृति को स्थायित्व प्रदान करना भी है।

(३) मे पोलवाद—उपर्युक्त वाद में पाश्चात्य विद्वानों को भी विश्वास न हो सका अतः उन्होंने नाटकों का उद्भव मे-पोल-नृत्य से स्वीकार किया। पाश्चात्य देशों में मई मास महान् उल्लास एवं हर्ष का मास माना जाता है। इसमें लोग अत्यन्त प्रसन्नता एवं उल्लास के साथ उत्सव मनाते हैं, नृत्य करते हैं तथा पूर्ण आनन्द का अनुभव किया करते हैं। इतना ही नहीं, वे लोग एक लम्बा बाँस गाड़कर उसके नीचे एकत्रित होते तथा सभी स्त्री-पुरुष मिलकर नृत्य किया करते हैं। इस देश में भी 'इन्द्रध्वज' नामक पर्व लगभग इसी रूप में मनाया जाया करता था।

प्रायः सभी देशों में वसन्त ऋतु का उत्सव अत्यन्त हर्षोल्लास के साथ मनाया जाता है। मे-पोल का उत्सव भी इसी ऋतु में हुआ करता है किन्तु 'इन्द्रध्वज' सम्बन्धी उत्सव तो भारत में वर्षा ऋतु में मनाया जाता है। अतः मे-पोल उत्सव के साथ इसका सम्बन्ध जोड़ना पूर्णतया अनुचित ही प्रतीत होता है।

(४) कृष्णोपासनावाद—इस वाद के अनुसार नाटकों का उद्भव केवल कृष्ण की उपासना से ही माना गया है। इसमें सन्देह नहीं कि कृष्णोपासना में सबधित रथयात्रायें, नृत्य, वाद्य, गीत तथा लीलायें आदि कृष्णोपासना के अंगों (साधना) का नाटकों के अभिनय इत्यादि से घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा ये इस प्रकार के साधन हैं कि जो संस्कृत नाटकों के निर्माण में सहायक भी सिद्ध हुये हैं। अतः इसी आधार पर संस्कृत नाटकों का विकास कृष्णोपासना से माना गया है।

किन्तु इस वाद में सबसे बड़ा दोष यह है कि कृष्ण-सम्बन्धी नाटक ही सर्वाधिक प्राचीन हों, इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता है। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव हो सकता है कि राम, शिव आदि देवों की उपासनाओं द्वारा भी भारतीय नाटकों के विकास में सहयोग प्राप्त हुआ हो, किन्तु इस बात की उपर्युक्त वादों में पूर्णतया उपेक्षा की गई।

(३) लौकिक लीलावाद

(५) **लोकप्रिय स्वांगवाद**—प्रो० हिलेब्रांट तथा प्रो० स्टेनकोनो के मतानुसार नाटको का उद्भव लोकप्रिय स्वाँगों द्वारा हुआ। भारत में प्राचीन काल में लोकप्रिय स्वाँगों का प्रचलन अधिक था। इन स्वाँगों के साथ रामायण तथा महाभारत के आख्यानो का सम्मिश्रण कर नाटकों के कथानक तैयार किये जाते रहे होगे।

किन्तु डा० कीथ ने इस मत का विरोध करते हुये कहा कि उपर्युक्त वाद में सबसे बडा दोष यही है कि नाटक के प्रचार से पहले स्वाँगों के प्रचलित होने के बारे में कोई सुदृढ़ प्रमाण उपलब्ध नही होता है। श्री कोनो द्वारा जिन प्रमाणों का उल्लेख किया गया है वे प्राय: सभी महाभाष्य के समकालीन तथा उसके पश्चात् के ज्ञात होते हैं। अत: उनसे स्वाँगो की प्राचीनता सिद्ध नही होती है। इसकी अपेक्षा प्रो० हिलेब्राण्ट ने जो युक्तियाँ दी हैं उनसे कुछ बल अवश्य मिलता है। उन्होने नाटको में गद्य-पद्य दोनों का प्रयोग, संस्कृत भाषा के साथ प्राकृत भाषा का प्रयोग, रंगशालाओं के अन्दर आडम्बरहीनता तथा सादगी का होना तथा विदूषक जैसे लोकप्रिय पात्र के आधार पर नाटकों का उद्भव लोकप्रिय स्वाँगो द्वारा माना है। इनमें से प्रथम तीन बातों का समाधान तो हो जाता है साथ ही नाटकों के विकास का सम्बन्ध भी धार्मिक संस्कारों के साथ जुड जाता है। किन्तु विदूषक जैसे पात्र का आविर्भाव महाव्रत-संस्कार में शूद्र पात्र की आवश्यकता से हुआ माना जा सकता है। महाव्रत वास्तव में एक धार्मिक संस्कार है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई इस प्रकार का प्रमाण नही मिलता कि जिसके आधार पर नाटको में विदूषक जैसे पात्र को रखने का सम्बन्ध किसी लौकिक लीला के साथ रहा हो।

(६) **पुत्तलिका नृत्यवाद**—जर्मन-विद्वान् डा० पिशेल के मतानुसार नाटकों का उद्भव कठपुतलियो के नृत्य से हुआ है। नाटकों में प्रयुक्त सूत्रधार तथा स्थापक आदि शब्द इस मत के पोषक हैं। कथासरित्सागर, महाभारत तथा राजशेखर कृत बाल-रामायण में इनका उल्लेख प्राय: पुत्तलिका, दारुमयी पुत्रिका इत्यादि नामों के रूप में पाया जाता है।

किन्तु यह वाद भी भ्रान्तिपूर्ण ही प्रतीत होता है। प्रो० हिलेब्राण्ट के सिद्धान्तानुसार कठपुतलियो के नाच के इतिहास को ध्यान में रखते हुए यह मानना पडता है कि नाटको का उद्भव इससे पूर्व ही हो चुका था। इसके अतिरिक्त नाना प्रकार के भावो तथा रसो से युक्त नाटक की उत्पत्ति इस साधारण से पुत्तलिका नृत्य से हुई हो ऐसा मानना पूर्णतया निराधार तथा हास्यास्पद ही प्रतीत होता है।

(७) छाया नाटकवाद—डा० लूडर्स का मत है कि नाटको का जन्म छाया द्वारा दिखलाये जाने वाले खेलो से हुआ। प्राचीन काल में छाया द्वारा अनेक खेलो के दिखलाये जाने की प्रथा विद्यमान थी। उनके अनुसार महाभाष्य मे वर्णित शौनिक मूक-अभिनेताओ अथवा छाया-मूर्तियो के व्याख्याता थे।

किन्तु डा० कीथ के मतानुसार यह विचार महाभाष्य के वाक्य के किये गये अशुद्ध अर्थ पर ही आधारित है। इसके अतिरिक्त इस वाद के मानने वाले को भी नाटको की सत्ता छाया द्वारा दिखलाये जाने वाले खेलो की उत्पत्ति से पहले ही स्वीकार करनी पडती है। अत यह वाद भी निरर्थक ही हो जाता है।

(८) सवाद सूक्तवाद—ऋग्वेद के अन्तर्गत १५ से भी अधिक (जिनका उल्लेख "नाटको का उद्भव" शीर्षक विषय के प्रारम्भ मे ही किया जा चुका है।) ऐसे सवाद-सूक्त मिलते हैं जिनमे धार्मिक भावनाओ के अतिरिक्त लोक व्यवहार सम्बन्धी सवादो का भी उल्लेख उपलब्ध होता है। सन् १८६९ ई० मे प्रो० मैक्समूलर का ध्यान इन सूक्तो की ओर गया और उन्होंने इन्ही सूक्तो को नाटको की उत्पत्ति का मूलभूत कारण बतलाया। इसके अनन्तर डा० हटल, प्रो० सिलवन लेवी तथा प्रो वॉन श्राडर और कुछ अन्य विद्वानो ने भी दृढता के साथ इसी मत का समर्थन किया।

नाटक के मुख्य साधन नृत्य, गीत तथा सवाद माने गये हैं। ऋग्वेदीय सम्वादों के साथ पहले नृत्य एव गीत भी रहे हो, यह भी सभव है। किन्तु आज उनका कोई स्वरूप नही मिलता। ऋग्वेद मे विवाह सूक्त के अन्तर्गत वर एव वधू के समक्ष पुरन्ध्रियो द्वारा नृत्य किये जाने का उल्लेख मिलता है तथा गीत भी ऋग्वेद मे विद्यमान हैं ही। अत ऋग्वेदीय सवाद-सूक्तो से ही नाटकों का उद्भव मान लेना अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

(६) **वैदिक अनुष्ठानवाद**—कुछ अन्य विद्वानों ने इन संवाद-सूक्तों के अतिरिक्त वैदिक अनुष्ठानों के द्वारा भी नाटकों का उद्भव माना है। ऊपर जिन संवाद-सूक्तो का वर्णन किया जा चुका है उनको भी अनुष्ठान का एक अङ्ग ही कहा जा सकता है। इसके साथ ही साथ वैदिक युग में 'महाव्रत' नामक अनुष्ठान का प्रचलन अधिक था। इस अनुष्ठान की विधि भी एक प्रकार के नाटक के ही समान थी क्योंकि इसमें कुमारियाँ अग्नि के चारो ओर नृत्य करती थी। इसके अतिरिक्त यज्ञ-सूत्रो में यज्ञ मण्डप के नीचे स्थित यजमानो तथा याजकों के मनोरंजन के निमित्त वार्त्तालाप-युक्त सूक्तो से नाटकों के कथोपकथनों का संकेत उपलब्ध होता है। कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि नाटकों के अन्तर्गत विद्यमान गद्यमय संवाद 'महाव्रत' में प्रयुक्त संवाद के आधार पर ही रखे गये हैं। अतः इस वाद के विवरण के आधार पर यह तो कहा ही जा सकता है कि वैदिक अनुष्ठानो मे सभी नाटकीय तत्त्व किसी न किसी अंश मे अवश्य विद्यमान थे।

इसके अतिरिक्त प्रो० वेबर तथा प्रो० विंडिश ने भारतीय नाटको की उत्पत्ति में यूनानी नाट्यकला के प्रभाव को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। किन्तु प्रो० सिलवन लेवी आदि विद्वानों द्वारा इस मत का पूर्णतया विरोध किया गया है। अतः यह मत भी अमान्य हो जाता है।

उपर्युक्त नाटको का उद्भव सम्बन्धी विस्तृत विवेचन कर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नाटकों के उद्भव के बारे में प्राचीन नृत्य, गीत तथा संवादों का विशिष्ट भाग रहा है। प्राचीन काल मे प्रायः सभी जातियो मे नृत्य, गीत आदि का प्रचलन था। सभ्यता के विकास के साथ ही साथ नृत्य, गीत आदि का भी विकास हुआ तथा इनका विकसित रूप ही बाद में 'नाटक' शब्द द्वारा कहा गया जिसमे अभिनय ने और भी जीवन डाल दिया। अतः यह कहना उचित ही होगा कि भारत में ही सर्वप्रथम नाटकों का प्रादुर्भाव हुआ।

संस्कृत-नाटकों के विकास का क्रमिक इतिहास

नाटकों के प्रमुख अङ्ग हैं—संवाद, संगीत, नृत्य और अभिनय। ऋग्वेद मे यम-यमी (ऋग्वेद-१०।१०), पुरुरवा एवं उर्वशी (ऋग्वेद-१०।६५),

सरमा और पणि (ऋग्वेद १०।१०८) इत्यादि सवादात्मक सूक्तो का विवरण प्राप्त होता है जिनसे नाटकीय 'सवाद' नामक तत्त्व की पुष्टि होती है। 'सगीत' नामक नाटकीय तत्त्व सामवेद मे मिलता ही है। इसके अतिरिक्त शेष प्रमुख नाटकीय तत्त्व किसी न किसी रूप मे वैदिक-काल में अवश्य विद्यमान रहे होगे। अतः यह हो सकता है कि ये ऋग्वेदीय-सवादात्मक सूक्त ही कालान्तर में परिष्कृत होकर नाटको के रूप मे परिणत हो गये हो।

ऋग्वेदीय सूक्तों का अध्ययन करने से यह भी ज्ञात होता है—"सोम-विक्रय" के समय एक प्रकार का अभिनय हुआ करता था जिसका मुख्य प्रयोजन दर्शको का मनोविनोद ही था। अश्वमेध इत्यादि विशिष्ट यज्ञो के अवसरों के समय तथा उनके बीच-बीच में होने वाले कर्मानुष्ठानो के मध्य प्राप्त होने वाले अवकाश के समय "शुन शेप" इत्यादि के पुराने आख्यानो का कथन किया जाया करता था। उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह भी कल्पना की जा सकती है कि उपर्युक्त प्रसगो के अवसरों पर वैदिक देवताओ के चरित्र से सम्बन्धित नाटको का भी यथावसर प्रयोग होता रहा हो। हो सकता है कि ये नाटक कला की दृष्टि से पूर्ण न रहे हो किन्तु यह तो सभव है ही कि उनमे सस्कृत-नाट्यकला के बीज विद्यमान रहे हो।

मैक्समूलर ने भी वेदो मे प्रयुक्त सवादात्मक सूक्तो के आधार पर वैदिक काल से ही नाट्यकला का उद्भव सिद्ध किया है (देखिए मैक्समूलर—ओरिजिन आफ दि ऋग्वेद, वाल्यूम १, पृष्ठ १७३)। डा० दास गुप्ता तथा एस० के० डे महोदय ने भी यही स्वीकार किया है कि उन मन्त्रो मे नाटकीय-तत्त्व अधिकाश रूप में विद्यमान हैं तथा तत्कालीन जनजीवन के धार्मिक अवसरो, सगीत समारोहों तथा नृत्यानन्दों से नाटक का घनिष्ठ सम्बन्ध था (देखिए डा० एस० एन० दास गुप्ता तथा एस० के० डे हिस्ट्री आफ सस्कृत लिटरेचर, वाल्यूम १, पृष्ठ ४४, १९४७)।

वाजसनेयि-माध्यन्दिन-शुक्ल-यजुर्वेद-सहिता में ("नृत्ताय सूत गीताय शैलूष धर्माय समाहर"—इत्यादि मन्त्र यजुर्वेद ३०।६) तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में "शैलूष" शब्द आता है जिसका अर्थ होता है "नट" (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।४।२।।)। कौषीतकि-ब्राह्मण मे नृत्य, गीति तथा सगीत मुख्य

विधाओं में परिणत किये गये है। "महाव्रत" में वृष्टि की उत्पत्ति तथा पशुओं की समृद्धि के निमित्त अग्नि के चारों ओर कुमारियों द्वारा नृत्य किये जाने का वर्णन आता है तथा विवाह-समाप्ति से पूर्व अग्निदेव के समक्ष स्त्रियों के नृत्य करने का भी संकेत मिलता है।[१] इन उल्लेखों के द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक तथा ब्राह्मण-काल में नटों तथा नाट्यकला का अस्तित्व विद्यमान था।

इसके पश्चात् रामायण तथा महाभारत-काल में भी नाट्यकला की ओर देशवासियो का ध्यान था। इन दोनों ग्रन्थों में 'नट', 'नर्त्तक' तथा 'गायक' आदि का उल्लेख अनेक स्थलों पर उपलब्ध होता है। वाल्मीकि-रामायण में एक स्थान पर आया है कि जिस जनपद में राजा निवास नहीं किया करता है वहाँ नट, नर्त्तक आदि हर्षित दृष्टिगोचर नही हुआ करते हैं।[२] रामायण में ही नट तथा नर्त्तकों की गोष्ठी तथा मनोरंजन सम्बन्धी वर्णन भी उपलब्ध होता है।[३] "व्यामिश्र"[४] शब्द का प्रयोग इस प्रकार के नाटकों के लिये किया गया है जिनमें कई भाषाओं का मिश्रण रहा करता था।

इस काल में विद्यमान नाट्यकला पर धर्म का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। धार्मिक उत्सवो पर मनोविनोदार्थ राम तथा कृष्ण की लीलाओं का अभिनय भी किया जाता था। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल तक "नाटक" जन-साधारण के लिये श्रद्धा एवं सम्मान का विषय बन गया था।

संस्कृत-व्याकरण के निर्माता पाणिनि द्वारा रचित अष्टाध्यायी मे नट सम्बन्धी सूत्रो का उल्लेख मिलता है। इन सूत्रो में 'शिलालि'[५] तथा 'कृशाश्व'[५]

---

१. बलदेव उपाध्याय—संस्कृत साहित्य का इतिहास (पंचम संस्करण) पृष्ठ ४५२, पंक्ति ९-११। "हमारी नाट्य परम्परा" (श्री कृष्णदास) पृष्ठ ३६, पंक्ति ५-८।

२. वाल्मीकि-रामायण २।६७।१५॥

३. वाल्मीकि-रामायण—अयोध्याकाण्ड ६७।१५॥

४. वाल्मीकि-रामायण—अयोध्याकाण्ड १।२७॥

५. पाराशर्य शिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः॥ अष्टाध्यायी ४।३।११०॥
 कर्मन्द कृशाश्वादिनिः॥ अष्टा० ४।३।१११॥

नामक आचार्यों द्वारा निर्मित नट-सूत्रों का विवरण प्राप्त होता है। पाणिनि का समय ईसा से लगभग ७०० वर्ष पूर्व माना गया है। अत यह मानना उचित ही है कि ईसा से ७०० वर्ष पूर्व तक नाटको का इतना प्रचार हो गया था कि नटो की शिक्षा के निमित्त स्वतन्त्र सूत्रो की भी रचना की जाने लगी थी।

इसके पश्चात् हमें पतजलि मुनि द्वारा रचित 'महाभाष्य' देखने को मिलता है। इस महाभाष्य मे कुछ प्रमाण ऐसे भी मिले हैं कि जिनके आधार पर नाटको का रगभूमि पर प्रयोग किये जाने का प्रमाण भी मिल जाता है। महाभाष्य में आया है —

"ये तावदेते शोभनिका (सौभिका) नामैते, प्रत्यक्ष कस घातयन्ति, प्रत्यक्ष च बलि बन्धयन्ति इति। अतश्च सत व्यामिश्रा हि दृश्यन्ते, केचिद् कसभक्ता भवन्ति केचित् वासुदेवभक्ता।" इत्यादि

महाभाष्य ३।२।१११॥

इस उद्धरण में "कस घातयति" और "बलि बन्धयन्ति" मे प्रयुक्त वर्तमान काल की क्रिया का समाधान करते हुये भाष्यकार ने उन नटों (शोभनिकों) का उल्लेख किया है जो प्रत्यक्ष रूप से सभी के समक्ष कस को मारते तथा बलि को बांधते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पतञ्जलि के समय मे 'कसवध' और 'बलिबन्ध' नामक नाटकों का अभिनय हुआ था। आगे चलकर इन नाटको के अभिनय-प्रकार का भी सूक्ष्म वर्णन महाभाष्य मे इसी प्रसग में मिलता है :—

"वर्णान्यत्व खलु पुष्यन्ति। केचीद्रक्तमुखा भवन्ति, केचित् कालमुखा।" महाभाष्य ३।२।१११॥

इसमें बतलाया गया है कि 'कसवध' नामक नाटक मे कस के भक्त तो अपना मुख काला रँगकर अभिनय किया करते थे तथा कृष्ण के भक्त अपने मुखों को लाल रग मे रँग कर।

महाभाष्य सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पतञ्जलि के काल तक नाटकों का अभिनय जन साधारण के मनोरजन के लिये एक उत्तम तथा सर्वप्रिय साधन बन चुका था।

संस्कृत नाटकों के विकास सम्बन्धी उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत-नाटकों का प्रारम्भ वैदिक काल में ही किसी न किसी अंश में हो गया था। धार्मिक उत्सवों से भी उसे प्रेरणा मिली। शनैः-शनैः नाटकों का विकास होता गया तथा पतञ्जलि के समय तक उसका पूर्ण विकसित स्वरूप जनता के समक्ष आ गया। हाँ, इतना अवश्य है कि महाभाष्य में वर्णित नाटक आज हमे उपलब्ध नही है।

नाटककार विशाखदत्त का काल और जीवनवृत्त

काल तथा जीवनवृत्त जानने के दो प्रमुख साधन—किसी नाटककार अथवा कवि के काल और जीवनवृत्त को जानने के दो प्रकार के प्रमुख साधन हुआ करते हैं :—(१) अन्तःसाक्ष्य—अर्थात् नाटककार अथवा कवि ने अपनी कृतियो में अपने बारे मे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से क्या लिखा है ? (२) बहिःसाक्ष्य—अर्थात् कवि अथवा नाटककार के समकालीन अथवा परवर्त्ती विद्वानों आदि ने उसके सम्बन्ध में क्या-क्या लिखा है। इन दोनो प्रकार के साधनो मे अन्तःसाक्ष्य अधिक प्रामाणिक हुआ करता है। पहले हम प्रथम साधन के आधार पर विचार करेंगे।

अन्तःसाक्ष्य की दृष्टि से विशाखदत्त ने भी महाकवि भास तथा कालिदास की ही भाँति अपने सम्बन्ध मे कुछ भी न लिखना ही उचित समझा है। 'नाटक' महान् हुआ करता है, नाटककार नही; इस प्राचीन धारणा से विशाखदत्त पूर्णतया प्रभावित थे। नाटककार की दृष्टि से नाटक की प्रस्तावना में उन्होने मात्र यही लिखा है :—

"आज्ञापितोऽस्मि परिषदा यथा—अद्य त्वया सामन्तवटेश्वरदत्त-पौत्रस्य महाराजभास्करदत्तसूनोः कवेर्विशाखदत्तस्य कृतिरभिनवं मुद्रा-राक्षसं नाम नाटकं नाटयितव्यमिति।"

प्रस्तावना के उपर्युक्त अंश से केवल यही ज्ञात हो पाता है कि लेखक का नाम विशाखदत्त है। कुछ हस्तलिखित प्रतियों में 'विशाखदेव' नाम भी मिलता है। और वह सामन्त वटेश्वरदत्त के पौत्र तथा महाराज भास्करदत्त के पुत्र हैं अर्थात् इनके पिता का नाम महाराज भास्करदत्त तथा पितामह का नाम सामन्त

वटेश्वरदत्त था। कुछ संस्करणों में "महाराजभास्करदत्तसूनो" के स्थान पर "महाराजपदभाक्सूनो" पाठ भी उपलब्ध होता है जिसके अनुसार इनके पिता का नाम 'महाराज पृथु' होता है।

संस्कृत भाषा के नाटक-साहित्य का ऐतिहासिक काल-क्रम निर्णय करने वाले विद्वानों ने विशाखदत्त के कार्य-काल के बारे में कुछ कल्पनायें की हैं जिनका संक्षिप्त उल्लेख देना यहाँ उचित ही होगा।

कुछ विद्वानों ने 'विशाखदत्त' के नाम के साथ 'दत्त' शब्द और साथ ही साथ सामन्त वटेश्वरदत्त और भास्करदत्त के साथ भी 'दत्त' शब्द देखकर यह स्वीकार किया है कि इनका वंश 'दत्त-वंश' था किन्तु इस बारे में कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं होता।

प्रोफेसर विल्सन ने महाराज पृथु को चौहानवंशीय रायपिथौरा अथवा पृथुराज सिद्ध करने का प्रयास किया था किन्तु वे स्वयं उनकी पदवियों तथा उनके पिताओं के नाम आदि की विभिन्नता का कोई मण्डन न कर सके। श्री तैलंग महोदय ने भी इस मत का खंडन करते हुए स्पष्ट किया है कि विशाखदत्त के पिता पृथु और अजमेर के चौहान पृथुराय दोनों ही भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं क्योंकि नाटककार के पिता पृथु विशेषरूप से 'महाराज' पद से सम्बोधित किये गये हैं, जब कि अजमेर के पृथु केवल पृथुराज अथवा पृथुराय ही हैं। अब तो जर्मन विद्वान् हिले ब्राण्ट द्वारा सम्पादित मुद्राराक्षस में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि विशाखदत्त के पिता का नाम भास्करदत्त ही था। उन्होंने इसी को प्रामाणिक ठहराया है। अतः महाराज पृथु सम्बन्धी विषय स्वयं ही निरस्त हो जाता है।

अतःसाक्ष्य की दृष्टि से ही इनके स्थिति काल के सम्बन्ध में प्रमुख एवं महत्वशाली स्थल जो इनकी रचना 'मुद्राराक्षस' में मिलता है—वह है नाटक के अन्त में आया हुआ "भरतवाक्य"। नाटककार विशाखदत्त के काल-निर्णय से सम्बन्धित सभी कल्पनायें एकमात्र इसी पर आधारित हैं। किन्तु इस भरतवाक्य के द्वारा भी निश्चित रूप से इनका काल-निर्णय नहीं हो पाता क्योंकि इस भरत वाक्य में आये हुये प्रमुखपद 'पार्थिवश्चन्द्रगुप्त' में अनेकरूपता उपलब्ध होती है। मुद्राराक्षस की प्राप्य हस्तलिखित प्रतियों में "पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः" के अतिरिक्त

"पार्थिवोऽवन्तिवर्मा", "पार्थिवोदन्तिवर्मा" और "पार्थिवोरन्तिवर्मा" ये तीन भिन्न-भिन्न पाठ और भी मिलते हैं। यह भरतवाक्य निम्नलिखित है :—

"वाराहीमात्मयोनेस्तनुमतनुबलामास्थितस्यानुरूपां
यस्य प्राग्दन्तकोटिं प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री।
म्लेच्छैरुद्वेज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्त्तेः
स श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः ॥ ७।१९ ॥

उपर्युक्त चारों प्रकार के पाठो मे 'पार्थिवोरन्तिवर्मा' पाठ तो पूर्णतया अप्रामाणिक प्रतीत होता है। रन्तिवर्मा नाम के राजा के विषय मे श्री तैलङ्ग तथा दास गुप्ता का यह विचार है कि भारतीय इतिहास के प्राचीन अथवा मध्ययुगीन काल में कही पर भी इस नाम का कोई भी राजा उपलब्ध नही होता। अतः उक्त पाठ अशुद्ध ही प्रतीत होता है। नकल करने वाले व्यक्ति का यह प्रमाद ही प्रतीत होता है कि वह 'पार्थिवोऽवन्तिवर्मा' के स्थान पर 'पार्थिवोरन्तिवर्मा' लिख गया होगा।

२. **पार्थिवोदन्तिवर्मा पाठ**—कुछ विद्वानो ने इसी पाठ को प्रामाणिक माना है तथा इसी आधार पर विशाखदत्त को पल्लवनरेश दन्तिवर्मा का समसामयिक माना है। पल्लवनरेश दन्तिवर्मा का शासनकाल ७७९-८३० ई० माना गया है। अतः विशाखदत्त का समय अष्टम शताब्दी माना जा सकता है। श्रीरामस्वामी ने तो इसी पल्लवनरेश दन्तिवर्मा के साथ, जो सप्तम शताब्दी मे हुआ है, विशाखदत्त का सम्बन्ध जोड़ा है। किन्तु दन्तिवर्मा पाठ मान लेने पर विशाखदत्त का सम्बन्ध राष्ट्रकूट राजा दन्तिवर्मा के साथ, जो ६०० ई० मे हुआ है, भी जोड़ा जा सकता है। लाट राजा दन्तिवर्मा, जो ८५० ई० में हुआ है, के साथ भी हो सकता है। उपर्युक्त विवरण से दन्तिवर्मा नाम के कई राजाओं का होना स्पष्ट हो जाता है। फिर किस दन्तिवर्मा के साथ विशाखदत्त का सम्बन्ध माना जाय, यह निश्चित किया जाना सम्भव नहीं है।

फिर यदि उपर्युक्त में से किसी को स्वीकार कर भी लिया जाय तो विशाखदत्त का समय सप्तम शताब्दी से लेकर नवम शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक किसी भी समय स्वीकार करना होगा। (१) किन्तु इस बीच किसी भी आक्रमणकारी म्लेच्छ का पता नहीं चलता है कि जिसके उत्पीडन से पृथिवी की रक्षा के निमित्त प्रार्थना की

जाय, जैसी कि इस भरतवाक्य मे प्रार्थना की गई है। (२) सबसे बडी बात तो यह है, जैसा कि प्रा० ध्रुव ने भी स्वीकार किया है कि पल्लव-नरेश तो कट्टर शैवमतावलम्बी थे, जब कि लेखक ने भरतवाक्य में राजा को विष्णु का अवतारस्वरूप ही कहा है।

ऐसी अवस्था में मुद्राराक्षस के भरतवाक्य का अपना गौरव ही समाप्त हो जायेगा। अत पल्लवनरेश दन्तिवर्मा को विशाखदत्त का आश्रयदाता मानना उचित प्रतीत नही होता है।

(३) पार्थिवोऽवन्तिवर्मा पाठ—इस पाठ को प्रामाणिक मान लेने पर भी लेखक किसी राजा के आश्रित था, इसका उचित समाधान नही हो पाता है क्योंकि भारतीय इतिहास मे अवन्तिवर्मा नाम के दो राजाओं का उल्लेख मिलता है। विद्वानो ने इन दोनो ही अवन्तिवर्मा नामो का उल्लेख विशाखदत्त के आश्रयदाता के रूप मे किया है। इनमे से एक हैं—कन्नौज के मौखरि राजा अवन्तिवर्मा जो सप्तम शताब्दी में हुए थे तथा जिनके पुत्र ग्रहवर्मा का विवाह हर्षवर्धन की बहिन राज्यश्री के साथ हुआ था। और दूसरे हैं कश्मीर-नरेश अवन्तिवर्मा—जिन्होंने नवम शताब्दी के मध्य ८५५ से ८८३ ई० तक राज्य किया था।

प्रो० याकोबी का अपना विचार है कि २ दिसम्बर, ८६० ई० को जो चन्द्रग्रहण पडा था, उसी का वर्णन मुद्राराक्षस के प्रथम अङ्क की प्रस्तावना रूप में हुआ है —

"क्रूरग्रह सकेतुश्चन्द्रमसम्पूर्णमण्डलमिदानीम्।
अभिभवितुमिच्छति बलात् रक्षत्येन तु बुधयोग ॥१।६॥"

इसी आधार पर उनकी यह मान्यता है कि विशाखदत्त कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के समय में हुये थे। इसी उपर्युक्त ग्रहण के अवसर पर अवन्तिवर्मा के मन्त्री शूर ने इस नाटक का अभिनय कराया था। अत: विशाखदत्त का काल नवम शताब्दी का उत्तरार्द्ध ही होना चाहिये।

इस मत में प्रथम (१) आपत्ति तो यही है कि लेखक कश्मीर नरेश अवन्तिवर्मा का सामन्त अथवा राजा नही हो सकता क्योंकि उसका राज्य इतना बडा नही था।

(२) दूसरी आपत्ति यह है कि मुद्राराक्षस के लेखक विशाखदत्त ने कश्मीर-नरेश पुष्कराक्ष को 'म्लेच्छ' इस घृणित नाम से अभिहित किया है। यहाँ यह विचारणीय है कि यदि लेखक के आश्रयदाता कश्मीर-नरेश रहे होते तो क्या वह अपने आश्रयदाता को 'म्लेच्छ' शब्द द्वारा कहता ? अतः इससे स्पष्ट हो जाता है कि विशाखदत्त कश्मीर-नरेश के आश्रय में नहीं रहे।

(३) तीसरी बात यह है कि प्रस्तावना मे जिस चन्द्रग्रहण का उल्लेख आया है वह वस्तुतः सत्य न होकर चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रसग की अवतारणा के साथ ही रंगमच पर लाने का प्रयास मात्र ही है। इसके अतिरिक्त वराहमिहिर द्वारा रचित बृहत्संहिता मे बुध के योग से पूर्ण चन्द्रग्रहण के होने मे विप्रतिपत्ति दिखलाई गई है। उन्होंने इसका प्रबल खण्डन किया है। अतः इस आधार पर विशाखदत्त का समय वराहमिहिर (लगभग ४९० ई०) से पूर्व ही होना चाहिये। इस दृष्टि मे चन्द्रग्रहण के आधार पर निर्मित विचार निराधार ही हो जाता है।

(४) इसके अतिरिक्त श्रीतैलङ्ग महोदय ने कश्मीर-नरेश अवन्तिवर्मा को इस आधार पर विशाखदत्त का आश्रयदाता नहीं स्वीकार किया है कि उनको जिन स्थानो से मुद्राराक्षस की दो पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुयी है उन स्थानों से यह कश्मीर अधिक दूरी पर स्थित है।

अब इस पाठ के अन्तर्गत मौखरिवंशीय अवन्तिवर्मा की बात आती है। तैलङ्ग महोदय इसी को प्रामाणिक मानते हैं। उनके मतानुसार ये 'अवन्तिवर्मा' राजा हर्षवर्धन (जिनका कार्यकाल ऐतिहासिकों के मतानुसार ६०६-६४८ ई० माना गया है।) के बहनोई ग्रहवर्मा के पिता मौखरि राजा अवन्तिवर्मा थे। ये कन्नौज निवासी थे। कन्नौज के राजा के सामन्त का विहार अथवा पश्चिमी बंगाल में भी होना संभव माना जा सकता है। प्रोफेसर श्री ध्रुव का भी इस सम्बन्ध मे यही मत है कि :—

'मिहिरकुल' तथा 'तोरमाण' द्वारा स्थापित हूण-साम्राज्य दशपुर (आजकल इसे मंदसौर कहा जाता है।) के संग्राम में महाराज यशोवर्मा के हाथों सन् ५२८ ई० में नष्ट हुआ तथा छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया; जिसके अन्तर्गत पंजाब में 'शाकल' (आधुनिक स्यालकोट) राज्य, और पश्चिमी राजपूताना

तथा गुजरात में गुर्जर-राज्य प्रमुख थे। हूणों के ये छोटे-छोटे राज्य स्थाण्वीश्वर (थानेश्वर) और कान्यकुब्ज (कनौज) के राज्यो से शत्रुता रखने रहे। परिणामस्वरूप कनौज के मौखर या मौखरिवंशीय राजा ईशानवर्मा तथा सर्ववर्मा के इन हूणो के साथ कई बार युद्ध हुए जिनमें थानेश्वर के राजाओं की सहायता स मौखरिवंशीय राजाओ ने हूणो को हराया। शाकल के हूणवंशीय राजा तो थानेश्वर राज्य के शत्रु ही बन गये। परिणाम यह हुआ कि महाराज प्रभाकर-वर्धन और उनके सम्बन्धी कन्नौज के महाराज अवन्तिवर्मा ने मिलकर हूणों का नाश कर दिया। हूणों की विजय से प्रभावित महाकवि बाण ने प्रभाकरवर्धन की विजय-प्रशस्ति भी लिखी है तथा जिस 'अवन्तिवर्मा' की विजय का उल्लेख विशाखदत्त ने अपने मुद्राराक्षस के भरतवाक्य मे किया है वे महाराज प्रभाकरवर्धन क सम्बन्धी और उनके परम सहायक अवन्तिवर्मा ही हैं। इस हूण-विजय का समय सन् ५८२ ई० आंका गया है। इस भाँति मुद्राराक्षस के लेखक विशाखदत्त का कार्यकाल ईसा की छठी शताब्दी का अन्तिम उत्तरार्द्ध भाग ही होना चाहिये।

उपर्युक्त समय का निर्धारण करते समय यह बात भी विचारणीय प्रतीत होती है कि विशाखदत्त ने एक पद्य में महाकवि भारवि का अनुकरण किया है जिसका समय लगभग छठी शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना गया है। इससे विशाख-दत्त का भारवि का परवर्ती होना सिद्ध होता है। साथ ही वे 'माघ' के पूर्ववर्ती भी प्रतीत होते हैं क्योंकि माघ ने परिवर्तित रूप मे मुद्राराक्षस मे यह उक्ति ली है —

"तन्त्रावापविदायोगैर्मण्डलान्यधितिष्ठता ।
मुनिग्रहा नरेन्द्रेण फणीन्द्रा इव शत्रव ॥"

अतः यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि विशाखदत्त का समय इन दोनो कवियो के समय के मध्य मे ही होना चाहिये। यह समय छठी शताब्दी के आस-पास ही होगा।

उपर्युक्त समय की पुष्टि डा० विण्टरनिट्स द्वारा भी की गई है। उनका कथन है कि विशाखदत्त द्वारा रचित "देवीचन्द्रगुप्त" नामक नाटक के जो अश उपलब्ध हुये हैं उनसे ज्ञात होता है कि इसमें ध्रुव देवी (अथवा ध्रुवस्वामिनी) के चन्द्र-गुप्त द्वितीय द्वारा शत्रु के पंजे से मुक्त किये जाने की घटना वर्णित है। इस

नाटक का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त के पश्चात् उनके पुत्र रामगुप्त सम्राट् बने थे। इस कायर राजा ने अपने समकालीन शक-नरेश के आक्रमण के भय से सन्धि के रूप में अपनी अति सुन्दर रानी ध्रुवदेवी को उसे दे देने का वचन दे दिया था। किन्तु उसके छोटे भाई कुमार चन्द्रगुप्त (सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय) ने रानी का वेश धारण कर एक अप्रत्याशित कूटनीतिक चाल द्वारा शक-नरेश को मार डाला। तदनन्तर चन्द्रगुप्त ने अपने बड़े भाई रामगुप्त को भी मारकर गुप्त-साम्राज्य को हथिया लिया तथा ध्रुवदेवी से, जो उनके अनुपम साहस के कारण उन पर अनुरक्त थी, विवाह कर लिया। इससे कुमार-गुप्त की उत्पत्ति हुई। यह संभव प्रतीत नहीं होता कि विशाखदत्त ने एक ऐसे नाटक की, कि जिसमें चन्द्रगुप्त ने अपने अग्रज रामगुप्त का हननकर उसकी रानी से विवाह कर लिया हो, रचना चन्द्रगुप्त अथवा कुमारगुप्त के शासनकाल में की हो। अतः 'देवीचन्द्रगुप्त' नामक नाटक की रचना राजा अवन्तिवर्मा के काल में ही विशाखदत्त द्वारा की गई होगी। इस भाँति उक्त आधार पर भी विशाखदत्त का समय छठी शताब्दी का उत्तरार्द्ध ही बनता है।

इस 'अवन्तिवर्मा' से सम्बन्धित मत में भी अनेक आपत्तियाँ उठाई जाती हैं जो निम्नलिखित है :—

(१) यदि विशाखदत्त द्वारा कन्नौज के महाराज 'अवन्तिवर्मा' की प्रशस्ति अपने नाटक "मुद्राराक्षस" के 'भरतवाक्य' के द्वारा की गई और स्थाण्वीश्वर के महाराज प्रभाकरवर्धन की यशोगाथा का गान महाकवि बाण द्वारा किया गया तो यह बड़े आश्चर्य की बात है। समसामयिक होते हुये भी दोनों (बाण तथा विशाखदत्त) एक दूसरे से अपरिचित क्यों रहे? क्योंकि दोनों में से किसी ने भी एक दूसरे के बारे में अपनी कृतियों में संकेतमात्र तक नही किया है।

(२) राजा अवन्तिवर्मा समग्र भारत अथवा अधिकांश भारत का एकच्छत्र सम्राट् कभी नही रहा कि जिसका वर्णन मुद्राराक्षस के तृतीय अङ्क के उन्नीसवें (आशैलेन्द्रात्···इत्यादि) तथा चौबीसवें श्लोक में चाणक्य के कथनों में उपलब्ध होता है।

(३) इन्होने ऐसा कोई उल्लेखनीय कार्य भी नहीं किया है कि जिसके

आधार पर इन्हें भगवान् विष्णु का पृथ्वी-रक्षक अवतार माना जाय (जैसा कि भरतवाक्य में वर्णित है) ।

(४) मुद्राराक्षस की शैली छठी अथवा उसके बाद की शताब्दी की शैली से मेल नहीं खाती है ।

(५) इस नाटक के सप्तम अङ्क के छठे ("दुष्कानेऽपि "इत्यादि) श्लोक मे वर्णित चन्दनदास के शील-सौजन्य को बोधिसत्वों के शील-सौजन्य से बढा-चढा कर वर्णन किया जाना छठी अथवा उसके बाद की शताब्दी के भारत की धार्मिक भावनाओं के साथ सगत नही है ।

(६) मुद्राराक्षस के 'भरतवाक्य' मे 'म्लेच्छ' शब्द से केवल हूणों का ही अर्थ लिया जाय, यह बात कुछ उचित प्रतीत नहीं होती है, जब कि नाटककार ने कुलूताधिपति चित्रवर्मा, मलयदेश के राजा सिंहनाद, कश्मीर-नरेश पुष्कराक्ष, सिन्धदेश के राजा सिन्धुषेण और फारस के अधिपति मेघ को भी म्लेच्छ कहा है (कौलूतश्चित्रवर्मा इत्यादि श्लोक १।२०।।) । पर्वतेश्वर तथा उसका बेटा मलयकेतु भी म्लेच्छ ही थे । इसके अतिरिक्त नाटककार शक, यवन, किरात, कम्बोज देशवासी, परशियन तथा वाह्लीक लोगो से भी पूर्णतया परिचित है (द्वितीय अङ्क में विराधगुप्त के कथन मे १३वें श्लोक से पूर्व) । ये सभी म्लेच्छ-राज पर्वतक की सेना के अङ्ग थे । ये सभी उस समय वीरता के लिये प्रसिद्ध थे । इन पर कोई साधारण राजा विजय प्राप्त नही कर सकता था । अतः नाटककार ने जिस राजा की महानता एवं अप्रतिम शक्ति शालिता का वर्णन अपने नाटक मे प्रस्तुत किया है वह राजा मौखरिवंशीय 'अवन्तिवर्मा' नही हो सकता है । अत 'अवन्तिवर्मा' को विशाखदत्त का आश्रयदाता स्वीकार किया जाना संभव प्रतीत नही होता है ।

(४) पार्थिवश्चन्द्रगुप्त पाठ ही अधिक प्रामाणिक प्रतीत होता है, ऐसा कुछ विद्वानों तथा आलोचकों ने स्वीकार किया है । इस पाठ के स्वीकार कर लेने पर यह कठिनाई उपस्थित होती है कि भारत के अतीत मे 'चन्द्रगुप्त' नामधारी तीन शासक हुये हैं—(१) मौर्य-साम्राज्य की स्थापना करने वाला 'चन्द्रगुप्त मौर्य' जो स्वयं ही नाटक का एक प्रमुख पात्र है । (२) मगध के गुप्त साम्राज्य की स्थापना से सम्बन्ध रखने वाला चन्द्रगुप्त प्रथम तथा (३) चन्द्रगुप्त

द्वितीय जिसे अपनी असीम शक्ति के कारण 'विक्रमादित्य' नामक उपाधि से अलङ्कृत किया गया था।

इन तीनो मे से प्रथम 'चन्द्रगुप्त मौर्य' तो हो नही सकता क्योकि नाटक की प्रस्तावना में इनके पितामह को सामन्त तथा पिता को महाराज शब्दों द्वारा कहा गया है। विशाखदत्त चन्द्रगुप्त मौर्य के न तो सामन्त ही थे न महाराज ही। यह बात नाटक के पढ़ने से स्वयं ही सिद्ध हो जाती है। दूसरी बात यह है कि नाटक के अन्दर लेखक का उसके प्रति केवल आदर का भाव ही व्यक्त नही हुआ है, घृणा की भी अभिव्यक्ति हुई है।

गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त प्रथम भी विशाखदत्त के आश्रयदाता नही हो सकते क्योकि इतिहास मे ऐसा कहीं नही मिलता है कि इन्होने विदेशी म्लेच्छ आक्रमणकारियो को पराजित किया हो।

अतः अब चन्द्रगुप्त द्वितीय ही शेष रह जाते है, जिनको विशाखदत्त का आश्रयदाता समझा जा सकता है। यह एक प्रतापी राजा था। इसका राज्य प्रायः समस्त भारत में फैला हुआ था। इसी ने शको को पराजित कर 'विक्रमादित्य' की उपाधि को प्राप्त किया था। इसी के द्वारा कुषाण के वंशजों तथा वाह्लीको और अन्य म्लेच्छों को दूर भगाकर पंजाब में इन लोगों से अधिकृत प्रदेश को अपने अधिकार मे कर लिया गया था। इन्ही की राजधानी कुसुमपुर (आधुनिक पटना) थी जहाँ से सम्पूर्ण भारत का संचालन किया जाता था। विशाखदत्त ने अपने नाटक मुद्राराक्षस मे प्रकारान्तर से इसी चन्द्रगुप्त द्वितीय का वर्णन किया है। यह चन्द्रगुप्त द्वितीय विष्णुभक्त भी था। अतः उसी को पृथ्वी का उद्धारक विष्णु का अवतार कहा जाना भी युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि विशाखदत्त के आश्रयदाता चन्द्रगुप्त द्वितीय ही रहे होगे। चन्द्रगुप्त द्वितीय का कार्य-काल ३९५ ई० से ४१३ ई० तक माना जाता है। अतः विशाखदत्त का स्थितिकाल चतुर्थ शताब्दी का उत्तरार्द्ध अथवा पंचम शताब्दी का पूर्वार्द्ध स्वीकार किया जा सकता है।

मुद्राराक्षस में चन्दनदास के शील एवं सौजन्य का जो चित्र उपस्थित किया

गया है वह बाधिसत्वो से अधिक उत्तम है तथा चतुर्थ शताब्दी की ही देन प्रतीत होती है —

'वृद्धानामपि चेष्टित सुचरितै क्लिष्ट विशुद्धात्मना ।।"७।५।।

चतुर्थ एव पचम शताब्दी मे गुप्तवशीय वैष्णव-नरेश इस मत के अनुयायी थे। इसी कारण विशाखदत्त ने भरतवाक्य मे वैष्णव आश्रयदाता गुप्तवश के सम्राट् समुद्रगुप्त अथवा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की ओर सकेत किया है।

मुद्राराक्षस में जिस सामाजिक दशा का चित्रण किया गया है वह चतुर्थ अथवा पचम शताब्दी की ही प्रतीत होती है।

इन आधारो पर भी विशाखदत्त का काल पूर्ववद् ही सिद्ध होता है।

'मुद्राराक्षस' नामक नाटक मे भरतवाक्य का प्रयोग जिस विलक्षणता के साथ किया गया है वैसा अन्यत्र देखने को नही मिलता। अन्य नाटको में भरत-वाक्य प्राय नायक द्वारा ही कहलवाया गया है किन्तु इस नाटक में नायक के स्थान पर प्रतिनायक द्वारा इसे कहलवाया गया है। चाणक्य को आशीर्वचन-दाता के रूप में चित्रित कर दिये जाने के पश्चात् भरतवाक्य कहने के लिये चन्द्रगुप्त का नम्बर आता है। चाणक्य चन्द्रगुप्त तथा राक्षस दोनो ही से एक साथ पूछता है —

"भो राजन् चन्द्रगुप्त !, भो अमात्य राक्षस !, उच्यता किं वा भूयः प्रियमुपकरोमि ?"

यह पूछे जाने पर चन्द्रगुप्त को भरतवाक्य कहने का पूर्ण अवसर प्राप्त था किन्तु लेखक द्वारा चन्द्रगुप्त से भरतवाक्य की पूर्वपीठिका मात्र ही प्रस्तुत कराई जाती है तथा प्रतिनायक राक्षस द्वारा भरतवाक्य। सस्कृत नाटक-साहित्य में सभवत ऐसा उदाहरण नहीं मिलेगा। भरतवाक्य के कहने की तैयारी चन्द्र-गुप्त करता है किन्तु उसे प्रस्तुत करता है राक्षस। इसका एकमात्र कारण यही हो सकता है कि लेखक भरतवाक्य के अन्तिम चरण में "पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः" पाठ अवश्य रखना चाहता है। यह तभी सभव था कि जब इसे चन्द्रगुप्त के मुख से न कहलवाकर राक्षस के मुख से ही कहलवाया जाता। यदि यह पाठ न रखकर चन्द्रगुप्त से 'राजन्' शब्द के द्वारा राज सामान्य का वर्णन कराया जाता

जैसा कि अन्य नाटकों में देखने को उपलब्ध होता है तो भी लक्ष्य की पूर्ति होना संभव न था। ऐसी स्थिति होने पर भरतवाक्य के तीसरे चरण में आये हुये "अधुना" शब्द की उपयोगिता भी पूर्ण न हो पाती। अतः इससे यही ध्वनित होता है कि नाटककार को "पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः" यही पाठ रखना अभीष्ट था।

इसके अतिरिक्त इससे यह भी स्पष्ट होता है कि जहाँ लेखक ने अपने नाटक का इतिवृत्त मौर्य-साम्राज्य की स्थापना करने वाले चन्द्रगुप्त से सम्बन्धित रखा है वहीं लेखक द्वारा यह भी संकेत किया गया है कि उसके समय में राज्य करने वाले राजा का नाम भी चन्द्रगुप्त ही है। अतः "पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः" इस पाठ का संकेत गुप्तवंशीय राजा चन्द्रगुप्त द्वितीय की ओर ही है।

इस आधार पर भी विशाखदत्त का स्थिति काल चतुर्थ शताब्दी का उत्तरार्द्ध अथवा पंचम शताब्दी का पूर्वार्द्ध ही सिद्ध होता है क्योंकि चन्द्रगुप्त द्वितीय का कार्यकाल ३७५-४१३ ई० माना गया है।

डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने भी भरतवाक्य के उपर्युक्त पाठ को ही प्रामाणिक माना है तथा भरतवाक्य मे आये हुये 'अधुना' और 'चन्द्रगुप्त' के आधार पर नाटक की रचना, चन्द्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य' के ही (३७५-४१४ ई०) काल की स्वीकार की है। उनकी प्रमुख युक्तियाँ निम्नलिखित हैं :—

(१) विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस मे जिस शैली का प्रयोग किया है वह शैली पंचम शताब्दी के पश्चात् की नही हो सकती है। नाटककार की शैली में लम्बे-लम्बे समासो का अभाव है। इसमे कृत्रिमता का भी दर्शन लगभग नगण्य के समान है। अतः इस प्रकार की शैली पंचम शताब्दी के पश्चात् की होना किसी भी दशा मे संभव नही है।

(२) नाटक की राजनीतिक कल्पनाएं भी चतुर्थ अथवा पंचम शताब्दी की परिस्थितियों की ही द्योतक हैं।

(३) 'भरतवाक्य' में जिस साम्राज्य की कल्पना की गई है—वह गुप्तकाल ही प्रतीत होता है।

(४) यदि विशाखदत्त बाण के समकालिक थे तो दोनो को एक-दूसरे का ज्ञान क्यो नहीं था।

डा० जायसवाल के इस मत से प्रो० हिलेब्रेण्ट (Hillebrandt), स्पेयर (Speyer) और टोने (Towney) भी सहमत हैं।

M कृष्णमाचार्य ने भी अपनी पुस्तक 'History of Classical Sanskrit Literature' मे इसी मत का प्रतिपादन किया है। प्रो० स्टेन कोनो (Sten Konow) न भी इसी को प्रामाणिक माना है। श्री आर० एस० पण्डित तथा सी० आर० देवधर ने भी इसी का अनुमोदन किया है।

नाटककार विशाखदत्त की दूसरी कृति "देवीचन्द्रगुप्त" मानी गयी है। इसके उपलब्ध अशो के आधार पर ज्ञात होता है कि नाटककार ने इसमें तीन पात्रों के चरित्र पर विशद रूप से प्रकाश डाला है—(१) राजा, (२) रानी तथा (३) राजकुमार चन्द्रगुप्त। इस प्रकार का चित्रण उसी व्यक्ति के द्वारा किया जाना सभव है जो कि या तो स्वय उस राजदरबार मे विद्यमान हो और सम्बन्धित व्यक्ति से भली भाँति परिचित हो अथवा उस व्यक्ति द्वारा किया जाना सभव है जिसका काम केवल प्रशसा करना मात्र ही है तथा आवश्यकतानुसार जिसे कुमार के चरित्र को निर्दोष एव उत्कृष्ट बनाना है जो कि आगे चलकर राजगद्दी पर आसीन होता है। जो भी हो—इस नाटक के अध्ययन से तो स्पष्ट हो ही जाता है कि यह 'देवीचन्द्रगुप्त' नाटक ऐसे व्यक्ति द्वारा लिखित है जो कि सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय का समकालीन था। अत इस आधार पर भी विशाखदत्त का स्थितिकाल पूर्ववत् ही सिद्ध होता है।

बहिर्साक्ष्य—इसके आधार पर भी लगभग उपर्युक्त समय की ही पुष्टि हो जाती है। श्री भोज न अपन 'सरस्वती कण्ठाभरण' मे, जिसका रचना-काल ११वी शताब्दी स्वीकार किया गया है, मुद्राराक्षस के निम्नलिखित दो पद्यो को उद्धृत किया है —

"उपरिघन घनरटित दूरे दयिता किमेतदापतितम्।
हिमवति दिव्यौषधय शीर्षे सर्प समाविष्ट ॥—मुद्रा० १।२२
और सरस्वती०—३।८७॥

तथा—

प्रत्यग्रोन्मेषजिह्वा क्षणमनभिमुखी रत्नदीपप्रभा इत्यादि।
—मुद्रा० १।२१वां श्लोक तथा सरस्वती० १।६८॥

इसी प्रकार १०वी शताब्दी में विद्यमान धनंजय ने अपने ग्रन्थ 'दशरूपक' में मुद्राराक्षस का संकेत निम्नलिखित रूप में किया है :—

"तत्र वृहत्कथामूलं मुद्राराक्षसम्" —दशरूपक १।६८ के नीचे

तथा—

"मन्त्रशक्त्या, यथा मुद्राराक्षसे राक्षससहायादीनां चाणक्येन स्वबुद्ध्या भेदनम्" इत्यादि —दशरूपक २।५५ के नीचे

इसके अतिरिक्त इसी दशरूपक के द्वितीय प्रकाश में नायक के सामान्य गुणों की चर्चा करते हुये "स्थिरः" इस विशिष्ट गुण को स्पष्ट करते हुए लिखा है :—

यथा वा भर्तृहरिशतके [नीति शतक श्लोक—२६]—

"प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारब्धमुत्तमगुणाः न परित्यजन्ति" ॥ मुद्रा० २।१६॥

किन्हीं-किन्ही प्रतियो में इस श्लोक का अन्तिम चरण निम्नलिखित रूप में मिलता है :—

"प्रारब्धमुत्तमगुणास्त्वमिवोद्वहन्ति"

इसमें आये हुये "त्वमिव" की संगति मुद्राराक्षस में तो ठीक बैठ जाती है किन्तु भर्तृहरि शतक में ठीक नही बैठती। इससे ज्ञात होता है कि यह श्लोक मुद्राराक्षस का ही है तथा भर्तृहरि ने इसको वहीं से ले लिया होगा। यदि इसको ठीक मान लिया जाय तो विशाखदत्त की स्थिति भर्तृहरि से पहले सिद्ध हो जाती है। भर्तृहरि का समय ६५१ ई० के लगभग माना गया है। अतः विशाखदत्त का समय इससे पहले का ही रहा होगा।

मुद्राराक्षस का घटनास्थल पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) है। मुद्राराक्षस में इसका वर्णन एक प्रसिद्ध गौरवशाली नगर के रूप में किया गया है। इसको पुष्पपुर अथवा कुसुमपुर नाम से भी कहा गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसकी सत्ता सिद्ध होती है। चीनी यात्री फाह्यान ने अपनी मध्य-एशिया की यात्रा ३६६ ई०

से ४११ ई० तक की थी। इसी बीच वे बुद्ध भगवान् की पावन-भूमि के दर्शन तथा बौद्ध धर्म की पुस्तकों की खोज में भारत भी आये थे। वे लगभग ७ वर्षों तक भारत का भ्रमण कर तथा अनेक बहुमूल्य पुस्तकों और मूर्तियों को लेकर अपने देश लौट गये। उन्होंने पाटलिपुत्र को मगध की राजधानी के रूप में देखा था—ऐसा उन्होंने लिखा है। इसके अतिरिक्त 'मुद्राराक्षस' में जो बौद्ध धर्म की ओर (७।५ में) संकेत है, उससे यह ज्ञात होता है कि उस समय बौद्ध धर्म का अभ्युदय काल था। यही दशा फाह्यान के भारत आने के समय भी थी।

इसके अनन्तर दूसरा चीनी यात्री ह्वेनसांग (Hiunen-Tsang) भी भारत में आया। उसकी यात्रा ६४६–६६९ ई० के मध्य रही। वह १५ वर्ष तक यहाँ रहा। उसने मगध की राजधानी पाटलिपुत्र का वर्णन भग्नावशेष रूप में किया है।

इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि छठी अथवा सप्तम शताब्दी में पाटलिपुत्र की दशा, प्रतिष्ठा वह नहीं रह गई थी जिसका वर्णन मुद्राराक्षस में उपलब्ध होता है। अतः फाह्यान द्वारा लिखित पाटलिपुत्र की दशा के उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुद्राराक्षस की रचना चतुर्थ शताब्दी के अन्त में अथवा पंचम शताब्दी के प्रारम्भ में हुई होगी। पुनः इसी आधार पर नाटककार विशाखदत्त का स्थितिकाल भी यही मानना होगा।

जीवन-वृत्त

काल-वर्णन के प्रारम्भ में ही उद्धृत प्रस्तावना के अंश से स्पष्ट हो जाता है कि नाटककार का नाम विशाखदत्त ही था। इनके पिता का नाम भास्करदत्त तथा पितामह का नाम वटेश्वरदत्त था। 'मुद्राराक्षस' की कुछ प्रतियों में "महाराज भास्करदत्तसूनो" के स्थान पर 'महाराजपदभाक्पृथुसूनो' पाठ भी मिलता है। इसी आधार पर प्रो० विलसन ने लेखक के निवासस्थान का निर्णय इस प्रकार किया है कि महाराज पृथु और अजमेर के पृथुराज अथवा पृथुराय एक ही हैं। किन्तु आगे चलकर उन्होंने स्वयं ही यह संकेत भी दिया है कि 'वटेश्वरदत्त' में प्रयुक्त 'दत्त' शब्द इस निर्णय में कठिनाई उपस्थित करता है। श्री तैलंग महोदय ने उपर्युक्त कल्पना का विरोध करते हुये यह मत अभिव्यक्त किया है कि

विशाखदत्त के पिता पृथु तथा अजमेर-निवासी पृथुराय दोनों ही पृथक्-पृथक् व्यक्ति हैं क्योंकि विशाखदत्त के पिता 'महाराज' पद द्वारा सम्बोधित किये गये हैं तथा अजमेर के पृथु केवल पृथुराज अथवा पृथुराय ही हैं।

इसके अतिरिक्त 'मुद्राराक्षस' में वर्णित नाटककार के पिता एवं पितामह आदि को 'सामन्त' कहा गया है। वह जिस राजा के सामन्त पद पर आसीन होकर शासन कार्य भी सँभाला करते थे वह भारत का एकछत्र सम्राट् था (भरतवाक्य मे आता ही है :—सः·········चिरमवतु महीं······ इत्यादि)। इस आधार पर प्रो० विलसन का मत एकदम निराधार ही हो जाता है। इसके अतिरिक्त जर्मन विद्वान् हिलीब्राण्ट महोदय ने अपने द्वारा सम्पादित मुद्राराक्षस में 'भास्करदत्त' नाम को ही प्रामाणिक रूप में स्वीकार किया है।

नाटककार ने अपनी कृति 'मुद्राराक्षस' में उत्तर भारत का जो विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है उससे यह बात सहज ही स्पष्ट हो जाती है कि विशाखदत्त उत्तर भारत के ही निवासी थे। इस विचार की पुष्टि नाटक में वर्णित काशपुष्पों तथा हंस के वर्णन से भी हो जाती है। काशपुष्प तथा हंस उत्तर भारत की नदियों के किनारे ही पाये जाते हैं। तृतीय अङ्क में शरद् ऋतु सम्बन्धी वर्णन देखिये :—

"आकाशं काशपुष्पच्छविमभिभवता भस्मना शुक्लयन्ती
शीतांशोरंशुजालैर्जलधरमलिनां क्लिन्दन्तो कृत्तिमैभीम्।
कापालीमुद्वहन्तो स्रजमिव धवला कौमुदीमित्यपूर्वा
हासश्री राजहंसा हरतु तनुरिव क्लेशमैशी शरद्व.॥" ३।२०॥

गङ्गा के किनारे स्थित पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) के विशद् वर्णन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि नाटककार इस प्रदेश के भूभाग से भली भाँति अवगत है तथा इसी ओर का निवासी है। प्रस्तावना में ही सूत्रधार कहता है :—

"चीयते वालिशस्यापि सत्क्षेत्रपतिता कृषिः।
न शालेः स्तम्बकरिता वप्तुर्गुणमपेक्षते॥"१।१३॥

यह उद्धरण नाटककार के उस प्रदेश के निवासी होने का परिचायक है जो कि धान की खेती के लिए प्रसिद्ध है। कवि धान की उस अवस्था से भी पूर्णतया परिचित है जब कि वे गुच्छों के रूप में वृद्धि को प्राप्त हुआ करते हैं तथा सघन होते हैं। वह यह भी जानता है कि धान की इस वृद्धि में बोने वाले कृषक की कोई योग्यता कारण नहीं है अपितु खेत की उर्वराशक्ति ही कारण है जो कि धान के पौधों को बढ़ने का अवसर प्रदान किया करती हैं।

सूत्रधार द्वारा यह उक्ति दर्शकों के समक्ष कही जा रही है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि दर्शकगण तथा अभिनेताजन भी धान तथा उसकी उपजाऊ भूमि से भली भाँति परिचित हैं।

पंचम अङ्क के अन्त में आये हुए तेइसवें श्लोक के पूर्वार्ध भाग के पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाटककार गौड़ देश के रीति-रिवाजों, वहाँ की स्त्रियों के प्रसाधन सम्बन्धी साधनों तथा आकार-प्रकार से पूर्णतया परिचित थे।

खस जाति के लोग उस समय बड़े योद्धा माने जाते थे। मलयकेतु की सेना में यही सबसे बड़े विश्वासपात्र थे। यही कारण था कि राक्षस भी उन्हें अपने साथ रखना चाहता था (मुद्रा० ५।११)। खस जाति के लोग भारत के पूर्वी भाग के पहाड़ी प्रदेशों में रहा करते थे।

इन वर्णनों से भी नाटककार का पूर्वी बिहार अथवा बङ्गाल के पश्चिमी भाग का निवासी होना सिद्ध होता है। नाटक में प्रयुक्त गौड़ी रीति भी इसी तथ्य की पोषक है।

धार्मिक आस्था— नाटक के अध्ययन से ध्वनित होता है कि विशाखदत्त वैदिक धर्म के अनुयायी रहे होंगे। आश्रम-धर्म में उनकी पूर्ण आस्था थी। वैदिक पद्धति के अनुसार प्रतिदिन यज्ञ (हवन) आदि करना उनकी दृष्टि में एक आदर्श पद्धति थी। ऋषियों के जीवन को वे एक आदर्श जीवन समझते थे। द्विजों के लिये ब्रह्मचर्य-आश्रम में निवास करते हुये गुरु-सेवा को वे महत्त्व प्रदान करते थे :—

"उपलशकलमेतद् भेदकं गोमयानां
बटुभिरुपहृतानां बर्हिषां स्तोम एषः।
शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभि—
र्विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम् ॥" ३।१५॥

उनका आश्रयदाता राजा विष्णु का उपासक था। [अङ्क ७।१९]। उन्होंने मुद्राराक्षस के प्रारम्भ में शिव की उपासना की है। इससे उनका शिवोपासक होना स्पष्ट होता है [अङ्क १।१ २]। इसके अतिरिक्त भगवान् विष्णु के प्रति भी उनकी आस्था दृष्टिगोचर होती है [अङ्क ३।२०-२१।।]। इतना होने पर भी वे अति उदार-दृष्टि के व्यक्ति प्रतीत होते है। उन्होंने बौद्ध-धर्म सम्बन्धी परम्पराओं एवं जातक-कथाओं का भी उल्लेख बडे आदर के साथ किया है [अङ्क ४।१८]। तान्त्रिक क्रियाओं तथा शकुनों आदि में भी उनका विश्वास था [श्लोक सं० ४।१२ की तृतीय पंक्ति तथा चतुर्थ अङ्क में तृतीय श्लोक के पश्चात् राक्षस की उक्ति]। श्लोक सं० ४।२१ में सूर्य के प्रति भी उन्होंने अपनी भक्ति प्रकट की है। भाग्यवादी होने के साथ ही वे पौरुष में पूर्ण निष्ठा रखते थे [द्वितीय अङ्क के श्लोक सं० १६ से १९ तक का वर्णन]।

विशाखदत्त का व्यक्तित्व—नाटककार अथवा कवि अपनी कृति में अपने हृद्गत-भावों तथा अनुभूतियों का ही चित्रण किया करता है। भावों तथा अनुभूतियों के इस चित्रण में ही नाटककार अथवा कवि का अपना व्यक्तित्व झलका करता है। मुद्राराक्षस मे भी विशाखदत्त का जो व्यक्तित्व झलकता दिखाई देता है उसके तीन रूप हमारे समक्ष आते हैं—(१) राष्ट्र-जीवन सम्बन्धी दार्शनिकता का रूप, (२) राजनीतिक आदर्शवादिता का रूप तथा (३) मानवता सम्बन्धी महाविश्वासी होने का रूप।

कोई भी राष्ट्र, चाहे वह राजतन्त्रात्मक हो अथवा प्रजातन्त्रात्मक, तभी उन्नत हो सकता है जब उसके निवासी अपने स्वार्थ की अपेक्षा देश तथा समाज के स्वार्थ को प्रधानता दें। मुद्राराक्षस नाटक का 'चाणक्य' राष्ट्र की राजनीति का कर्णधार है, जिसकी आत्मत्याग की भावना सर्वत्र व्याप्त है तथा राष्ट्र-हित से ओत-प्रोत है। मुद्राराक्षस का 'चन्द्रगुप्त' राष्ट्र-शासन का नियामक है जिसे जनरंजन की परतन्त्रता में ही शासक की स्वतन्त्रता के आत्मगौरव की अनुभूति हुआ करती है। मुद्राराक्षस का 'राक्षस' एक ऐसा राष्ट्र-पुरुष है जो राष्ट्र के निमित्त अपनी आत्मा का बलिदान करने हेतु सदैव उद्यत रहा करता है। इसी भांति मुद्राराक्षस के दूत, गुप्तचर आदि अन्य पात्र भी कर्त्तव्य-भावना से प्रेरित ही दृष्टिगोचर होते हैं। यही है मुद्राराक्षस का राष्ट्र-जीवन सम्बन्धी दार्शनिक रूप।

राजनीतिक आदर्शवादिता तो विशाखदत्त के व्यक्तित्व की आधारशिला ही है। कौटिल्य-अर्थशास्त्र की राजनीति तत्कालीन कही जा सकती है किन्तु 'मुद्राराक्षस' मे वर्णित राजनीति को एक राजनीतिक स्वप्न ही कहा जा सकता है। राष्ट्रीय सुख-शान्ति के निमित्त उसके साधारण और महान्, शासित और शासक सभी का हृदय-परिवर्तन आवश्यक है—यह स्वप्न जिसे आज समस्त विश्व के राष्ट्र देखने के लिय उत्सुक हैं—उसे विशाखदत्त ने शताब्दियों पूर्व ही देख लिया था। चाणक्य तथा राक्षस, चन्द्रगुप्त तथा मलयकेतु भिन्न-भिन्न राजनीतिक आदर्शों का अनुकरण करने वाले हैं किन्तु अन्त मे जाकर सभी का हृदय-परिवर्तित हो जाता है। इसका एकमात्र कारण है—राष्ट्र-जीवन का हनन न होने देना तथा राष्ट्र की अमरता की सुरक्षा।

विशाखदत्त ने मानवता के प्रति महान् विश्वास को भी प्रकट किया है। राक्षस की जीवन-धारा का अन्त मे सर्वथा परिवर्तित रूप मे प्रवाहित होने की सूक्ष्म अभिव्यंजना ही इस विश्वास का उत्तम उदाहरण है।

विशाखदत्त का शास्त्रीय ज्ञान—मुद्राराक्षस का भली भाँति अध्ययन करने के पश्चात् यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि नाट्यकला सम्बन्धी सूक्ष्म तत्त्वों के ज्ञान के साथ ही साथ नाटककार को अन्य शास्त्रों का भी ज्ञान प्राप्त था। नाटककार के उत्तरदायित्व का निर्वाह कितना कष्टपूर्ण है—इसे वे भली भाँति जानते थे। नाट्यशास्त्र मे तो वे पूर्ण पारगत ही थे। इसी कारण उन्होंने राक्षस के मुख से कहलवाया है —

"कार्योपक्षेपमादौ तनुमयि रचयन्तस्य विस्तारमिच्छन् " इत्यादि ४।३।।

इस कष्ट की अनुभूति विशाखदत्त सदृश सफल नाटककार को ही हो सकती है अथवा राजनीति मे विचरण करने वाले कुशल राजनीतिज्ञ राक्षस को ही।

इसके अतिरिक्त वे न्यायशास्त्र (साध्ये निश्चितमन्वयेन घटितम् इत्यादि ५।१०), अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तथा ज्योतिष-शास्त्र (कृतश्रमोऽस्मि चतुःषष्ट्यङ्गे ज्योतिःशास्त्रे इत्यादि अङ्क १।६ श्लोक से पूर्व का सूत्रधार का कथन तथा "रक्षत्येन तु बुधयोग") तथा राजनीति के तो वे माने हुये योद्धा ही थे। परिस्थितियों के स्वाभाविक रूप से बहते हुये प्रवाह को किसी भी क्षण

अपने अनुकूल मोड़ लेना नाटककार विशाखदत्त के बाएँ हाथ का खेल है। यही कारण है कि उन्हें कभी भी निस्सहाय व्यक्ति के सदृश भाग्य का मुख नहीं देखना पड़ा। उनकी दृष्टि में भाग्य (दैव) पर आश्रित रहना मूर्खों का कार्य है—

"दैवमविद्वांसः प्रमाणयन्ति"—३।२८ के पश्चात् चाणक्य का कथन।

इस भाँति उनका शास्त्रीय ज्ञान अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण था किन्तु फिर भी उन्होंने अपने पाण्डित्यपूर्ण अहंकार का प्रदर्शन अपनी कृतियो मे कही भी नही किया है। कृत्रिमता का तो कही लेशमात्र भी दर्शन नही होता है।

उनकी कृतियाँ—अभी तक विशाखदत्त द्वारा रचित चार रचनाओं का पता विद्वानो द्वारा लगाया जा सका है। ये चारो नाटक ही हैं। कालक्रम की दृष्टि से उनका विवरण निम्नलिखित है :—

(१) **देवीचन्द्रगुप्तम्**—इसका कथानक भी राजनीतिक है। इसका सम्बन्ध प्रधान रूप से चन्द्रगुप्त द्वितीय से है जिसने अपने अयोग्य भाई रामगुप्त की पत्नी ध्रुवदेवी से विवाह कर लिया था। रामगुप्त एक कायर तथा भीरु राजा था। इसी कारण उसने शक्तिशाली शकराज द्वारा माँगे जाने पर अपनी रूपवती पत्नी ध्रुवदेवी को उसे दे देना स्वीकार कर लिया था। किन्तु यह बात तेजस्वी चन्द्रगुप्त (द्वितीय) को अनुचित प्रतीत हुई। इस कारण उसने ध्रुवदेवी के छद्मवेष में शकराज के शिविर में जाकर उस अत्याचारी शकराज का वध कर डाला और तदनन्तर ध्रुवदेवी से विवाह भी कर लिया था। किन्तु यह नाटक पूर्णरूप में अभी तक उपलब्ध नही हो सका है।

(२) **अभिसारिकावञ्चितकम्**—इसका उल्लेख 'अभिनव-भारती' के २२वें अध्याय में तथा 'शृंगारप्रकाश' के १२वे प्रकाश मे उपलब्ध होता है। यह नाटक वत्सराज उदयन के जीवन से सम्बन्धित है। किन्तु यह भी अभी तक अप्राप्य ही है।

(३) **'राघवानन्दम्' नाटक**—प्रोफेसर ध्रुव द्वारा 'सदुक्ति-कर्णामृत' में निम्नलिखित श्लोक विशाखदत्त के नाम से उद्धृत किया गया है :—

"रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैर्यातः प्रसिद्धिं परा-
मस्मद्भाग्यविपर्ययाद् यदि परं देवो न जानाति तम्।

वन्दीवैष यशांसि गायति मरुद् यस्यैकवाणाहत–
श्रेणीभूतविशालतालविवरोद्गीर्णै स्वरैः सप्तभि ॥"

इस श्लोक से यह अनुमान किया जाता है कि 'राघवानन्द' नामक कोई नाटक भी विशाखदत्त द्वारा लिखा गया होगा। किन्तु आज यह उपलब्ध नहीं है।

(४) मुद्राराक्षस—यह विशाखदत्त की सर्वश्रेष्ठ तथा अन्तिम कृति है। उनकी नाट्य-प्रतिभा का यह सर्वोच्च निदर्शन है।

विशाखदत्त की शैली

नाटककार विशाखदत्त की शैली सुस्पष्ट, प्रभावशाली तथा प्रवाह के औचित्य से पूर्ण है। वैसे तो उनके नाटक 'मुद्राराक्षस' में प्रसाद, माधुर्य एव ओज तीनों ही गुणो का स्वाभाविक रूप से प्रयोग हुआ है किन्तु फिर भी उसमें प्रसाद गुण की प्रधानता दृष्टिगोचर होनी ही है। नाटक के प्रारम्भ मे कुछ दूर तक देखते जाइये, श्लोको में प्रसाद गुण के ही दर्शन होंगे।

कुछ आलोचको ने उनकी शैली के सम्बन्ध में यह आपत्ति की है कि विशाखदत्त के नाटको में कालिदास एव भवभूति के नाटकों के समान काव्यमय भावाभिव्यक्ति नही हो सकी है। किन्तु यदि हम गम्भीरतापूर्वक विचार करे तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि विशाखदत्त की वैयक्तिक विशेषताओं से प्रभावित नाट्य-रचना-शैली को कालिदास तथा भवभूति की तुलना में रखना उचित नहीं है क्योंकि न तो कालिदास और भवभूति के काव्यमय वर्णनों की कल्पना विशाखदत्त में ही दृष्टिगोचर हो सकती है और न विशाखदत्त की नाट्य कल्पना का ही दर्शन कालिदास अथवा भवभूति के नाटको में उपलब्ध हो सकता है। वस्तुत तीनो का अपना-अपना जीवित जागृत व्यक्तित्व है तथा उनको अभि-व्यक्त करने के साधन तथा शक्तियाँ भी अपनी-अपनी ही हैं। विशाखदत्त ने नाटकीय औचित्य की दृष्टि से या तो काव्य-कल्पनाओ को दूर ही रखा है अथवा उनको नाटक के रग में ही रँग दिया है। उदाहरणार्थ मलयकेतु के कचुकी की अग्रलिखित उक्ति को ही देखिये :—

"कामं नन्दमिव प्रमथ्य जरया चाणक्यनीत्या यथा
धर्मो मौर्य इव क्रमेण नगरे नीतः प्रतिष्ठां मयि।
तं सम्प्रत्युपचीयमानमपि मे लब्धान्तरः सेवया
लोभो राक्षसवञ्चनाय यतते जेतुं न शक्नोति च ॥" २।१९॥

इस उद्धरण में कवि-कल्पना की उड़ान का दर्शन भले ही न हो किन्तु नाटकीय-वृत्त और चरित्र की अभिव्यञ्जना बड़ी ही सुन्दर प्रतीत होती है। इसी प्रकार शकटदास की 'दृष्ट्वा मौर्यमिव......"इत्यादि [मुद्रा० २।२१] उक्ति में नाटककार की काव्य-कल्पना की उड़ान भले ही विद्यमान न हो किन्तु उसमें नाटकीय औचित्य की सतर्कता का दर्शन अवश्य ही होता है।

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि विशाखदत्त की अपनी एक शैली है। वे अपनी कला के स्वयं ही निर्माता तथा निर्वाहकर्त्ता हैं। "राजनीतिक धोखा किस भाँति दिया जाना उचित कहा जा सकता है", इसका सूक्ष्म और यथार्थ विश्लेषण ही उनकी कला की प्रमुख विशेषता है। उनकी शैली नाटक के विषय के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। उसमें स्थान-स्थान पर गम्भीरता, सशक्तता एवं प्रभावोत्पादकता का दर्शन होता है। कथावस्तु का निर्वाह कलात्मक दृष्टि के अनुरूप ही हुआ है। राजनीति सदृश नीरस विषय को काव्य एवं नाटक का विषय बना देना, उसमें सजीवता, सरलता, मनोरंजकता आदि का समावेश कर उसे अभिनय सम्बन्धी गुणों से परिपूर्ण कर देना विशाखदत्त जैसे उन्नत कोटि के कलाकार का ही काम है। इस दृष्टि से उनकी गणना मूर्धन्य कलाकारों की श्रेणी में की जा सकती है। मुद्राराक्षस के प्रथम अंक में वर्णित चाणक्य की स्वगतोक्ति तथा षष्ठ अंक में वर्णित राक्षस की स्वगतोक्ति को नाटकीय दृष्टि से लम्बा तथा विस्तृत अवश्य कहा जा सकता है किन्तु चाणक्य की स्वगतोक्ति से चाणक्य की राजनीति का विशद्-विवेचन उपलब्ध हो जाता है तथा राक्षस की स्वगतोक्ति से राक्षस की मानवीय-प्रकृति का, उसकी कोमल-भावनाओं का तथा उसकी भावात्मक अनुभूतियों का ज्ञान पाठक अथवा दर्शक को स्पष्ट रूप से हो जाता है। एक निराश महान् व्यक्तित्व की प्रकृति के साथ तन्मयता एव एकलयता का जैसा चित्रण उपस्थित किया गया है, भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से उसे अनुपम ही कहा जा सकता है।

विशाखदत्त का गद्य ओज से समन्वित है। उनके पद्यों में भी लालित्यपूर्ण प्रवाह का दर्शन होता है। एक उदाहरण देखिये —

"आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभा
सन्ध्यारुणामिव कला शशलाञ्छनस्य।
जृम्भाविदारितमुखस्य मुखात्स्फुरन्तो
को हर्तुमिच्छति हरे परिभूय दंष्ट्राम् ॥"

इसी प्रसङ्ग में एक उदाहरण और देखिये जिसमें चाणक्य की राजनीति के वैचित्र्य का वर्णन प्रस्तुत किया गया है —

"मुहुर्लक्ष्योद्भेदा मुहुरधिगमाभावगहना
मुहुः सम्पूर्णाङ्गी मुहुरतिकृशा कार्यवशतः।
मुहुर्भ्रश्यद्बीजा मुहुरपि बहुप्रापितफले—
त्यहो चित्राकारा नियतिरिव नीतिर्नयविदः ॥" ५।३॥

नाटककार ने अपने मुद्राराक्षस में सरल पद्यों में शिक्षाप्रद बातों का भी उल्लेख किया है —

"शामनमहता प्रतिपद्यस्व मोहव्याधिर्वैद्यानाम्।
ये प्रथममात्रकटुकं पश्चात्पथ्यमुपदिशन्ति ॥" ४।१६॥

पात्रों का चरित्र चित्रण—उन्होंने अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी अपनी दक्षता दिखलायी है। प्रत्येक पात्र स्वतन्त्र है। वह अपने उद्देश्य की ओर ही प्रेरित है। कोई भी पात्र ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता है जिसकी सार्थकता नाटकीय कथावस्तु की दृष्टि से आवश्यक न हो। चाणक्य और राक्षस दोनों ही कुशल राजनीतिज्ञ हैं। किन्तु दोनों में अन्तर यही है कि चाणक्य धीर तथा दूरदर्शी है और राक्षस अधीर तथा विस्मरणशील। फिर भी नाटककार ने राक्षस में जिस मैत्री भावना का चित्रण किया है वह भारतीय संस्कृति की विशिष्ट देन है।

भाषा—नाटककार विशाखदत्त ने संस्कृत भाषा के अतिरिक्त शौरसेनी, महाराष्ट्री तथा मागधी प्राकृत का भी प्रयोग अपने नाटक मुद्राराक्षस में किया

है। उनकी भाषा में गत्यात्मक गतिशीलता एवं क्रियात्मक तीव्रता का स्पष्ट दर्शन होता है। उन्होंने गद्य तथा पद्य दोनों मे ही कोमल, सरस एवं औचित्य-पूर्ण पदावलि का प्रयोग किया है। उनके भावों का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। भाव के अनुकूल ही भाषा का प्रयोग उनकी एक विशेषता है। वाक्य छोटे-छोटे तथा मुहावरेदार हैं। उन्होंने पाण्डित्यपूर्ण तथा दीर्घ समास-बहुल पदों का प्रयोग अपनी रचना में स्वल्प मात्रा मे ही किया है। इसी कारण उनकी भाषा में दुरूहता का दर्शन नही होता है। उन्होंने पद्यों के बाहुल्य से अपनी नाटकीय शैली को कृत्रिम नहो बनाया है। उनका शब्द-विन्यास पूर्णतया सशक्त तथा प्रभावोत्पादक है। पद्य की अपेक्षा गद्य अधिक ओजपूर्ण प्रतीत होता है। उसमें भावुकता के स्थान पर प्रभविष्णुता का आधिक्य है। यहाँ तक कि कभी-कभी तो एक ही शब्द के प्रयोग से नाटककार अधिक से अधिक अभिप्राय को प्रकट करने मे समर्थ होता है। राक्षस के निम्नलिखित कथन को ही देखिये :—

"सत्यं नगरान्निष्क्रामतो मम हस्ताद् ब्राह्मण्या उत्कण्ठा विनोदार्थं गृहीता।"

—मुद्रा० २।२ श्लोक के पश्चात् राक्षस की उक्ति।

इस स्थल पर 'ब्राह्मण्या' शब्द राक्षस के हृदय की घनीभूत पीड़ा तथा करुणा का प्रतीक है।

इसी प्रकार चन्दनदास के पुत्र की यह उक्ति—"तात् ! किमिदमपि भणितव्यम्। कुलधर्मः खल्वेषोऽस्माकम्" [अङ्क ७ के चतुर्थ श्लोक से पूर्व] जितनी संक्षिप्त तथा अलंकृत है उतनी ही भावपूर्ण तथा मर्मस्पर्शी भी है।

विशाखदत्त द्वारा मुद्राराक्षस मे प्रयुक्त कथोपकथन पूर्णतया स्वाभाविक तथा रोचक और नाटकीय गुणो से परिपूर्ण है। इनकी शोभा अवलोकनीय है :—

राजा— अन्येनैवेदमनुष्ठितम्।

चाणक्यः—आः केन ?

राजा—नन्दकुलविद्वेषिणा दैवेन।

चाणक्यः—दैवमविद्वांसः प्रमाणयन्ति। इत्यादि [३।२६ से पूर्व]

उनका भाषा सम्बन्धी लालित्य एव माधुर्य भी दर्शनीय है। कुछ उदाहरण देखिये —

(१) न प्रयोजनमन्तरा चाणक्यः स्वप्नेऽपि चेष्टते।

—१।१६ के पश्चात् चाणक्य की उक्ति।

(२) तन्मयाप्यस्मिन् वस्तुनि न शयानेन स्थीयते।

—१।१५ के पश्चाद्।

(३) अयमपरो गण्डस्योपरि स्फोटः।

—५।२१ के अनन्तर कही गई राक्षस की उक्ति।

(४) ननु वक्तव्य राक्षस एवास्मदङ्गुलिप्रणयी सवृत्त।

—१।१६ के अनन्तर चाणक्य की उक्ति।

(५) कीदृश पुन तृणानामग्निना सह विरोधः।

—१।२१ के पश्चात् चन्दनदास की उक्ति।

इस प्रकार की कोमलकान्त पदावलि सभी सहृदय पाठकों के चित्त को अवश्य ही अपनी ओर आकर्षित करने मे समर्थ कही जा सकती है।

छन्द—छन्दो का चयन भी विलक्षण ही है। मुद्राराक्षस में १६ प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है जिनमें स्रग्धरा, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित, वसन्ततिलका और अनुष्टुप को प्रमुख कहा जा सकता है। प्रत्येक छन्द का प्रयोग मात्र विषय के प्रकाशन हेतु ही नहीं हुआ है अपितु किसी औचित्य की दृष्टि से अथवा किसी औचित्य की सिद्धि के निमित्त ही प्रयुक्त हुआ है। स्रग्धरा छन्द का प्रयोग मुद्राराक्षस मे १७ स्थानो पर हुआ है। विषय की दृष्टि से उनका औचित्य प्रशसनीय ही है। उदाहरण के लिये प्रथम अङ्क के प्रारम्भिक नान्दी सम्बन्धी दो श्लोको को ही ले लीजिये। 'शिव के शाठ्य' एव 'ताण्डव-नृत्य के अभिनय' सदृश गभीर और असाधारण विषय का सगीतमय ध्वनि मे गम्भीर स्वर लहरी के साथ अभिव्यक्त किया जाना 'स्रग्धरा' जैसे छन्द द्वारा ही सभव था। शार्दूलविक्रीडित नामक छन्द का प्रयोग भी २८ बार हुआ है। "श्यामीकृत्यानने‍न्दुम् इत्यादि १।११ श्लोक का भाव शार्दूलविक्रीडित छन्द के अतिरिक्त यदि किसी अन्य छन्द द्वारा अभिव्यक्त किया गया होता तो सभवतः चाणक्य का

गंभीर-अमर्ष नामक भाव उतनी सशक्तता एवं गंभीरता के साथ प्रस्फुटित न हो सका होता कि जितना उपर्युक्त छन्द के प्रयोग द्वारा प्रस्फुटित हो सका है। इसी भाँति औचित्य की दृष्टि से अन्य छन्दों की भी परीक्षा की जा सकती है।

संक्षेप में यह कहा जाना अनुपयुक्त न होगा कि विशाखदत्त की नाट्य-कला-कुशलता का आधार उनकी औचित्य-दृष्टि ही रही है—

"औचित्यं नाट्यजीवितम्"

ग्रन्थ का नाम मुद्राराक्षस क्यों पड़ा ?—विशाखदत्त ने अपने इस नाटक का नाम 'मुद्राराक्षस' रखा है। यही उनकी सर्वश्रेष्ठ तथा अन्तिम कृति है। उनकी नाट्य-प्रतिभा का पूर्ण विकसित स्वरूप इसी में देखने को मिलता है। इस नाटक में मन्त्री राक्षस ने यह प्रयत्न किया है कि किसी भाँति महाराज चन्द्रगुप्त को गद्दी से हटाया जाय। किन्तु कूटनीतिज्ञ अमात्य चाणक्य के प्रयत्नों के फलस्वरूप राक्षस अपने अभीष्ट को पूरा न कर सका। वह चन्द्रगुप्त का शुभचिन्तक था। उसकी हार्दिक अभिलाषा थी कि राक्षस को चन्द्रगुप्त का मुख्य-मन्त्री बनाऊँ। उसने गुप्तचरों द्वारा राक्षस की राजकीय मुद्रा (मोहर) प्राप्त कर ली तथा उस मोहर को लगा लगाकर राक्षस के समर्थकों के समीप जाली पत्र भेजे। परिणामस्वरूप राक्षस का सहायकों के साथ मतभेद हो गया। उसका एक प्रिय मित्र चन्दनदास उसी के परिवार को छिपाकर रखने के अभियोग में राजा चन्द्र-गुप्त के आदेशानुसार फाँसी पर चढ़ाया जा रहा था। राक्षस उसके बचाने के निमित्त प्रयत्न करता है। चाणक्य ने कहा कि वह उसके मित्र को फाँसी से छुड़वा देगा यदि वह चन्द्रगुप्त का मन्त्री होना स्वीकार कर ले। राक्षस के पास कोई अन्य चारा ही न था। अतः उसने चन्द्रगुप्त का मन्त्री होना स्वीकार कर लिया।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि चाणक्य की इस सफलता का एकमात्र साधन, 'राक्षस की मुद्रा' ही थी। इसी आधार पर इस नाटक का नाम 'मुद्राराक्षस' रखा गया है। संस्कृत मे इसकी व्युत्पत्ति इस भाँति की जाती है :—

"मुद्रया = अङ्गुलिमुद्रया, परिगृहीतः = वशीकृतः, राक्षसः यत्रेति (मध्यमपदलोपि समासः) तदधिकृत्य कृतो ग्रन्थः, मुद्राराक्षसम्। यहाँ "अधिकृत्य कृते ग्रन्थे" सूत्र से अण् प्रत्यय हुआ है और तत्पश्चात् अण् प्रत्यान्त-पद होने के

कारण "यद्वद्गवगलणवुल्ब्धाश्च" के अनुसार नपुंसक लिङ्ग होकर 'मुद्राराक्षसम्' पद बना है। अथवा—मुद्रया गृहीतः राक्षसः यस्मिन् तत् मुद्राराक्षसम्—व्युत्पत्ति भी की जा सकती है।

नाटककार को नाटक का उक्त नाम रखने की प्रेरणा सम्भवतः महाकवि शूद्रक के 'मृच्छकटिक' अथवा महाकवि कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तल' से प्राप्त हुई होगी। 'मृच्छकटिक' नाटक का नायक चारुदत्त है किन्तु उसके चरित-चित्रण में मिट्टी की गाड़ी (मृच्छकट) की जो घटना है उसका अपना एक विशिष्ट महत्त्व है। इसी घटना के आधार पर नाटककार ने चारुदत्त का पूर्वापर चरित परस्पर सश्लिष्ट रूप से चित्रित किया है। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में भी अभिज्ञान—अंगूठी की पहचान से शकुन्तला की पहचान की घटना अपना विशेष महत्त्व रखती है और यही वह घटना है जो कि नायक दुष्यन्त के पूर्वापर चरित का समन्वय करती है। इसी भाँति मुद्राराक्षस नाटक में भी मुद्रा द्वारा राक्षस के पकड़े जाने की घटना एक ऐसी घटना है जिस पर इस नाटक के नायक (चाणक्य) की सम्पूर्ण कूटनीति आधारित है।

नाटककार इस नाटक का अन्य नाम भी रख सकता था किन्तु वे इतने अधिक आकर्षक नहीं हो सकते थे। अतः पाठकों एवं दर्शकों के आकर्षण की दृष्टि से नाटककार ने 'मुद्राराक्षस' यह नाम उचित तथा सार्थक ही रखा है।

मुद्राराक्षस के कथानक का मूल अथवा मुद्राराक्षस के इतिवृत्त का आधार—

विष्णुपुराण, भागवत तथा अन्य पुराणों में भी कौटिल्य (चाणक्य) द्वारा नन्दवंश के सर्वनाश तथा चन्द्रगुप्त मौर्य की साम्राज्य-प्रतिष्ठा का वर्णन स्पष्ट शब्दों में उपलब्ध होता है। इतिहास-लेखकों के अनुसार नन्द-वंश का अन्तकाल ईस्वी सन् से ३२६ वर्ष पूर्व माना गया है। उस समय से लेकर नाटककार के समय तक लगभग ८०० वर्षों के अन्दर चाणक्य एवं चन्द्रगुप्त से सम्बन्धित अनेक किंवदन्तियाँ चारों ओर फैल चुकी थीं। नाटककार इन किंवदन्तियों से अवश्य परिचित रहा होगा किन्तु नाटकीय इतिवृत्त में किसी किंवदन्ती का कोई संकेत उपलब्ध नहीं होता। नन्द-विनाश के निमित्त एक स्थल (अंक ४।१२)

पर चाणक्य द्वारा प्रयुक्त अभिचार-कर्म का संकेत अवश्य मिलता है किन्तु उसका मुद्राराक्षस के कथानक से कोई सम्बन्ध दृष्टिगोचर नहीं होता।

दशम शताब्दी की रचना 'दशरूपक' के आधार पर यह सिद्ध होता है कि मुद्राराक्षस का कथानक 'वृहत्कथा' से लिया गया है। दशरूपक में आता है :—

"तत्र वृहत्कथामूलं मुद्राराक्षसम्।
चाणक्य नाम्ना तेनाद्य शकटारगृहे रहः॥
कृत्यां विधाय सहसा सपुत्रो निहतो नृपः॥
योगानन्दे यशः शेषे पूर्वनन्द सुतस्ततः।
चन्द्रगुप्तः कृतो राज्ये चाणक्येन महौजसा॥"

'वृहत्कथा' पैशाची-प्राकृत भाषा का ग्रन्थ है कि जो इस समय अप्राप्य भी है। 'कथासरित्सागर' को वृहत्कथा के तात्विक अंश का यथार्थ रूपान्तर माना जाता है। किन्तु 'कथासरित्सागर' में मुद्राराक्षस की कथावस्तु का विस्तृत विवरण उपलब्ध नही होता है। जो थोड़ा-बहुत मिलता भी है—उसमें नाटक के प्रतिनायक 'राक्षस' का नाम अथवा उसके कार्यों का उल्लेख तक नही प्राप्त होता है। अतः यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि नाटकीय कथावस्तु का अधिकांश भाग नाटककार की अपनी कल्पना पर ही आधारित है।

यह भी संभव हो सकता है कि लोक में प्रचलित तथा पुराणादिकों में बीज रूप मे उपलब्ध कथानक ही मुद्राराक्षस की सम्पूर्ण कथावस्तु का मूल आधार रहा हो तथा नाटककार ने अपनी कल्पनाओं के आधार पर उसे पल्लवित किया हो। इस आधार पर मुद्राराक्षस नाटक के मूलवृत्त को 'प्रख्यात' कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त 'मुद्राराक्षस' में वर्णित कथावस्तु तथा उससे सम्बन्धित पूर्वकथा—पूर्ण—तथा ऐतिहासिक है। अतः उसको 'प्रख्यात' श्रेणी में रखना उचित ही है।

'मुद्राराक्षस' मे वर्णित कथावस्तु से पूर्व की कथा—

लोक-परम्परा की दृष्टि से यह पूर्वकथा दो रूपों में उपलब्ध होती है। इन दोनो का सूक्ष्म वर्णन क्रमशः नीचे दिया जा रहा है :—

(१) प्राचीन काल में मगध नाम का एक राज्य था। इसकी राजधानी कुसुमपुर (पुष्पपुर) अथवा (आधुनिक पटना) पाटलिपुत्र थी। पहले यहाँ

जरासंध इत्यादि पुरुवंशी राजा राज्य करते रहे थे। बाद में नन्दवंशीय राजाओं ने पुरुवंशी लोगों को निकालकर तथा विजय प्राप्त कर राज्य किया। धीरे-धीरे इनका प्रभाव सम्पूर्ण भारत में व्याप्त हो गया। इसी वंश में महानन्द नामक राजा का जन्म हुआ। यह अत्यन्त पराक्रमी तथा वीर था। इसके दो मन्त्री थे। मुख्य मन्त्री का नाम शकटार तथा दूसरे का राक्षस था। इनमे प्रथम शूद्र वर्ण का तथा दूसरा ब्राह्मण वर्ण का था। दोनो ही महान् प्रतिभाशाली थे। इनमे से शकटार उद्धत था। इसी कारण महानन्द उससे अप्रसन्न हो गये और उसे बन्दी बना दिया।

कुछ समय पश्चात् शकटार छूट गया किन्तु अपने अपमान के कारण उसका मन क्षुब्ध बना रहा। प्रतिहिंसा की भावना उसके हृदय में धधकती रही। एक दिन वह बाहर घूमता हुआ जा रहा था। मार्ग में उसने एक कृष्ण वर्ण के ब्राह्मण को देखा जो कि कुशो की जडो को खोद-खोदकर उसमे मट्ठा डाल रहा था। शकटार वहाँ खडा हो गया तथा उस ब्राह्मण से उसके द्वारा किये जाते हुये कार्य के बारे में पूछने लगा। उसने उत्तर दिया कि मैं विष्णुगुप्त चाणक्य नाम का एक ब्राह्मण हूँ। मैं एक आवश्यक कार्यवश बाहर जा रहा था, मार्ग में ये कुश मेरे पैर मे गड गये जिसके कारण मेरा कार्य न हो सका। अत: मैं इन कुशों को समूल नष्ट कर देने के लिये इनकी जडो मे मट्ठा डाल रहा हूँ।

शकटार अपने मन ही मन मे सोचने लगा कि यदि यह ब्राह्मण महानन्द से असन्तुष्ट हो जाय तो मेरे उद्देश्य की सिद्धि हो सकती है। अत वह ऐसे अवसर की प्रतीक्षा करने लगा। महानन्द के यहाँ श्राद्ध होने वाला था। शकटार ने इस श्राद्ध के लिये उस ब्राह्मण को भी निमन्त्रित कर दिया। श्राद्ध के समय वह स्वयं कहीं चला गया क्योंकि वह जानता था कि महानन्द काले ब्राह्मण को देखकर क्रोधित हो जायगा तथा उसे हटा देगा। हुआ भी ऐसा ही। श्राद्ध-भवन में जब राजा ने उस अनिमन्त्रित काले ब्राह्मण को देखा तो उसे अत्यधिक क्रोध आ गया। उसने उसे निकाल देने की आज्ञा दे दी। इस भयकर अपमान से अपमानित चाणक्य ने वहीं खडे होकर नन्दवंश के विनाश की प्रतिज्ञा की और तत्पश्चात् वहाँ से चला गया।

महानन्द के ८ पुत्र थे तथा एक चन्द्रगुप्त मौर्य नाम का दासी पुत्र भी था।

महानन्द के आठों पुत्र शूद्र होने के कारण उसे घृणा की दृष्टि से देखते थे। वैसे वह अत्यन्त बुद्धिमान् तथा चतुर था। आयु में बड़ा होने के कारण वह अपने को राज्य का अधिकारी समझता था और इसी कारण राज-परिवार से उसका वैमनस्य था। चाणक्य तथा शकटार दोनो ने सलाह की कि राज्य का लोभ देकर उसे अपनी ओर मिला लिया जाय तथा नन्दों का नाश कर देने के पश्चात् उसी को राजा बनाया जाय।

इसके अनन्तर चाणक्य अपनी कुटी में जाकर रहने लगा। उधर शकटार महानन्द की एक दासी विचक्षणा को तथा चन्द्रगुप्त को अपनी ओर फोड़ने लगा। चाणक्य ने एक ऐसा विषयुक्त पकवान तैयार कराया कि जिसे खाते ही प्राणान्त हो जाय किन्तु परीक्षा करने पर उसका पता न लगाया जा सके। विचक्षणा ने यह पकवान आठो पुत्रों सहित महानन्द को खिला दिया जिससे सभी का प्राणान्त हो गया। इसके अनन्तर शकटार की मृत्यु हो गयी। चाणक्य चन्द्रगुप्त को राजा बनाने की बात सोचने लगा। उसने पर्वतक नामक राजा को आधा राज्य दे देने का प्रलोभन देकर अपनी ओर मिला लिया। उसका पुत्र मलयकेतु तथा भाई वैरोधक था। पर्वतक के साथ पाँच म्लेच्छ राजा और थे।

उधर राक्षस नामक मन्त्री राजा के मर जाने से अत्यन्त दुखी हुआ। उसने उसके सम्बन्धी सर्वार्थसिद्धि को राज-सिंहासन पर बिठालकर राज-कार्य चलाना शुरू किया। किन्तु कुछ समय के पश्चात् सर्वार्थसिद्धि वन को चला गया और वहाँ चाणक्य ने उसे मरवा डाला। ऐसी दशा में राक्षस ने राज्य का प्रलोभन देकर राजा पर्वतक को अपनी ओर मिला लिया तथा चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करने की तैयारी की। चाणक्य को इस बात का पता लग गया। उसने एक विषकन्या पर्वतक के पास भेजी। कामी पर्वतक उसके चक्कर में फँस गया और उसके साथ संसर्ग करते ही उसका देहावसान हो गया। उसका पुत्र मलयकेतु भयभीत होकर भाग गया। इसके अनन्तर राक्षस चन्द्रगुप्त का अनिष्ट करने के लिये पूर्णरूप से उतारू हो गया। इसके पश्चात् मुद्राराक्षस का अपना कथानक प्रारम्भ हो जाता है।

(२) नन्द नाम के कुछ राजा पूर्वकाल में हो चुके हैं। इनमें सबसे बड़ा राजा 'उग्रधन्वा' था। उसके वक्रनाम आदि चार मन्त्री थे। उनमें सबसे अधिक

बुद्धिमान् एव चतुर राक्षस नाम का मन्त्री था जो कि राज्य का सचालन करता था। उस राजा की 'सुनन्दा' नाम की पटरानी थी। उसके एक रूपवती दासी भी थी जिसका नाम 'मुरा' था—यह शूद्रा थी किन्तु राजा को अति प्रिय थी। एक बार एक तपस्वी राजा के समीप आये। राजा ने उनकी अच्छी आवभगत की। अभ्यर्चना के अनन्तर उनका चरणोदक रानी तथा मुरा की ओर छिडक दिया गया। रानी के सिर पर नौ बूदें तथा मुरा के सिर पर एक बूद गिरी। बडी श्रद्धा एव भक्ति के साथ मुरा ने उसे स्वीकार किया। उसकी भक्ति से तपस्वी अति प्रसन्न हुये। उनके आशीर्वाद से मुरा को एक गुणी पुत्र उत्पन्न हुआ। सुनन्दा के एक साथ नौ पुत्र उत्पन्न हुये। उनका पालन पोषण राक्षस द्वारा किया गया। वे सब बडे वीर थे। राजा ने उन सभी का नाम 'नन्द' रखा तथा मुरा के पुत्र का नाम चन्द्रगुप्त रखा। नन्द के देहावसान के पश्चात् ये नवो नन्द राज्याभिषिक्त हुये।

एक बार सिंहल देश के राजा ने एक मोम का सिंह बनवाया तथा उसे पिंजडे में बन्द कर नन्दों के पास इस सदेश के साथ भेजा कि यदि आपके यहाँ कोई बुद्धिमान् व्यक्ति हो तो पिंजडे को बिना खोले ही इस सिंह को बाहर निकाल दे। इस सन्देश का श्रवणकर सभी नन्द मौन रह गये। किन्तु चन्द्रगुप्त ने पिंजडे के चारो ओर आग जलाकर उस सिंह को पिघलाकर बाहर निकाल दिया। सभी आश्चर्य मे पड गये। नन्द उससे ईर्ष्या करने लगे तथा उसे देव एव पितरो के कार्य का पचायक बना दिया। चन्द्रगुप्त समय की प्रतीक्षा करता रहा। नन्दों का अपकार करने हेतु वह विष्णुगुप्त नामक एक क्रोधी एव नीतिज्ञ ब्राह्मण के समीप पहुँचा तथा उससे मैत्री भी कर ली।

नन्दो के यहाँ श्राद्ध कर्म मे चन्द्रगुप्त ने उसे निमन्त्रित कर दिया। वह कुरूप था। नन्दों ने उसे देखकर उसे अग्रासन से उठा दिया। इस अपमान से अपमानित उस ब्राह्मण ने अपनी चोटी खोलकर प्रतिज्ञा की कि जब तक मैं नन्दो का समूल नाश नही कर दूगा तब तक चोटी नहीं बाधूगा।

यह कहकर वह नगर से बाहर चला गया। उसके समुचित उपायो द्वारा नन्द का विनाश हो गया और उसकी कृपा से चन्द्रगुप्त मौर्य राजा बना दिया गया। यहीं से 'मुद्राराक्षस' की कथा का प्रारम्भ होता है।

अंकानुसार 'मुद्राराक्षस' की संक्षिप्त कथावस्तु

प्रथम अङ्क—भगवान् शंकर की स्तुतिरूप नान्दी के अनन्तर नाटककार प्रस्तावना प्रस्तुत करता है जिसमें सूत्रधार द्वारा सूक्ष्म कवि-परिचय के साथ 'मुद्राराक्षस' के अभिनीत किये जाने की सूचना दर्शकों को दी जाती है। ऐसा कहकर वह अभिनय में भाग लेने हेतु अपनी पत्नी को बुलाने के लिये घर जाता है। वहाँ पहुँचकर वह अपनी पत्नी को चन्द्रग्रहण के उपलक्ष्य में ब्रह्म भोज का आयोजन करने में व्यस्त देखता है। वह अपनी पत्नी से कहता है कि तिथि आदि की दृष्टि से आज चन्द्रग्रहण का होना किसी भी दशा में संभव नही है। नेपथ्य से चाणक्य 'चन्द्रग्रहण' शब्द को सुनकर तथा 'चन्द्रगुप्त मौर्य का पकड़ा जाना' अर्थ लेकर कहता है :—

"आः, क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति।"

और तदनन्तर रंगमंच पर आकर घोषणा करता है कि "अरे! वह कौन है कि जो अपनी मृत्यु को स्वयं ही बुला रहा है और कभी की बँध चुकने वाली मेरी चोटी को इस समय भी बँधते हुये नहीं देखना चाहता है।" फिर वह मन ही मन सोचता है—'तपोवन में तपस्या करने के लिये गये हुये सर्वार्थसिद्धि को मरवा दिया गया है। प्रजा में यह समाचार फैला दिया गया है कि राक्षस ने ही विषकन्या को भेजकर पर्वतक को मरवाया है। भागुरायण ने मलयकेतु को यह कहकर भगा दिया है कि तुम्हारे पिता को चाणक्य ने मरवाया है। मन्त्री राक्षस की गतिविधियों पर दृष्टि रखने के निमित्त गुप्तचरों की नियुक्ति की जा चुकी है। अपना सहपाठी विष्णुशर्मा जैन संन्यासी के रूप में कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) भेजा जा चुका है जो कि राक्षस का विश्वासपात्र बनकर उसके सम्पूर्ण कार्यों का भेद ले रहा है।

नन्दों के प्रति अटूट एवं निश्चल राक्षस की श्रद्धा और भक्ति को देखकर चाणक्य उसे अपनी ओर मिलाकर चन्द्रगुप्त का प्रधान अमात्य बनाने का भी इच्छुक है।

तदनन्तर यम का चित्र हाथ में लिये हुए योगी वेषधारी चाणक्य का गुप्तचर निपुणक चाणक्य को सूचना देता है कि चन्द्रगुप्त के विरोधी तथा राक्षस

के परम मित्र तीन व्यक्ति हैं—(१) जीवसिद्धि क्षपणक, (२) शकटदास और (३) सेठ चन्दनदास (जिसने मन्त्री राक्षस के परिवार को अपने घर मे शरण द रखी है।) इतना कहकर वह चाणक्य को राक्षस के नाम से अङ्कित एक मुद्रा देकर चला जाता है।

एकान्त मे बैठकर चाणक्य एक पत्र लिखता है और शकटदास के लेख मे उसकी प्रतिलिपि कराने के निमित्त सिद्धार्थक को देता है। सिद्धार्थक शकटदास से प्रतिलिपि कराके ले आता है। इस प्रतिलिपि-पत्र को राक्षस की मुद्रा से मुद्रित कर चाणक्य सिद्धार्थक को देते हुए बतलाता है कि तुम वध-स्थान पर जाकर क्रोधावेश मे वधिकों को अपनी आँख का सङ्केत करना। उस संकेत के आधार पर जब वे भाग जायँ तब तुम शकटदास को वहाँ से भगाकर राक्षस के समीप ले जाना तथा उसके प्राणों की रक्षा के फलस्वरूप राक्षस से पारितोषिक प्राप्तकर कुछ काल पर्यन्त उसी की सेवा में संलग्न रहना। इसके पश्चात् चाणक्य सिद्धार्थक के कान में कुछ कहकर उसे विदा कर देता है।

इसके पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य की प्रतीहारी द्वारा यह सूचना प्राप्त कर कि महाराज चन्द्रगुप्त राजा पर्वतेश्वर का श्राद्ध करना चाहते हैं और उसमे उनके आभूषणों का दान भी करना चाहते हैं, चाणक्य इस कार्य के निमित्त विश्वावसु आदि तीन ब्राह्मणों की नियुक्ति कर देते हैं।

इसके अनन्तर चाणक्य अपने शिष्य शाङ्गरव द्वारा कालपाशिक एव दण्ड-पाशिक के समीप अपने निम्नलिखित दो आदेशों का प्रेषित करता है —

(१) क्षपणक-जीवसिद्धि पर यह आरोप लगाकर नगर से बाहर निकाल दिया जाय कि उसने राक्षस की प्रेरणा से विषकन्या द्वारा पर्वतक को मरवा डाला है।

(२) शकटदास पर यह दोष लगाकर कि वह प्रतिदिन हमारे विरुद्ध षड्यन्त्र रचा करता है, शूली पर चढा दिया जाय।

इसके उपरान्त चाणक्य अपने शिष्य द्वारा सेठ चन्दनदास को बुलवाता है और उनसे कहता है कि तुमने राक्षस के परिवार को अपने घर में छिपा रखा है। उसे हमको सौंप दो। इसके उत्तर मे सेठ चन्दनदास कहता है—राक्षस का

परिवार मेरे घर में नहीं है। यदि रहा होता तो भी मैं आपको नहीं सौंपता। इसी बीच नेपथ्य में हुये कोलाहल से सूचना मिलती है कि क्षपणक जीवसिद्धि को देशनिकाला दे दिया गया है तथा शकटदास को सूली पर चढ़ाने के लिये ले जाया जा रहा है। चाणक्य चन्दनदास को डरवाते हुये कहता है कि सेठ जी! आप देख नही रहे हैं कि राजा चन्द्रगुप्त राजद्रोहियों के प्रति कितना कठोर है। अतः तुम राक्षस के परिवार को हमारे हवाले कर दो। जब चन्दनदास इस बात को किसी भी दशा में स्वीकार नही करता है तब चाणक्य अपने शिष्य द्वारा विजयपाल से कहलाता है कि सेठ चन्दनदास की सारी सम्पत्ति जब्त कर ली जाय और उसके परिवार को कारागार में डाल दिया जाय।

इसी समय नेपथ्य से यह सूचना मिलती है कि सिद्धार्थक वध-स्थान से शकटदास को भगाकर ले गया है। चाणक्य इसे सुनकर प्रसन्न होता है क्योंकि उसी के आदेश से ऐसा हुआ है। वह जानता है कि सिद्धार्थक जब शकटदास को रक्षा कर राक्षस के समीप उसे ले जायगा तो राक्षस उससे प्रसन्न हो जायेगा और वह राक्षस का विश्वासपात्र भी बन जायगा। ऐसी स्थिति में उसे राक्षस का सम्पूर्ण भेद मिलता रहेगा।

द्वितीय अङ्क—इस अङ्क के प्रारम्भ में जीर्णविष नामक सँपेरा सर्वप्रथम रङ्गमञ्च पर आता है। यह राक्षस का गुप्तचर विराधगुप्त ही है। वह राक्षस से मिलना चाहता है।

इसके पश्चात् अपने भवन में पलँग पर आसीन चिन्तानिमग्न राक्षस दृष्टि-गोचर होता है। उसकी चिन्ता का विषय है—दिवंगत स्वामी नन्द को प्रसन्न करना। लक्ष्मी को बुरा-भला कहने के पश्चात् वह सोचता है कि चन्दनदास के घर में अपने परिवार को छोड़कर मैंने उचित ही किया है। चन्द्रगुप्त को मरवाने तथा शत्रुपक्ष के लोगों को फोड़ने के निमित्त मैंने शकटदास को नियुक्त किया है। शत्रु के समाचार जानने हेतु जीवसिद्धि को रख रखा है। इसी समय मलय-केतु द्वारा प्रेषित कंचुकी जाजलि राक्षस के समीप आता है तथा मलयकेतु के अपने शरीर से उतारकर दिये गये आभूषण को राक्षस को पहनाकर चला जाता है।

इसके पश्चात् भँवेरा आकर अपना परिचय देकर कुसुमपुर के सम्पूर्ण समाचारों से राक्षस को अवगत कराता हुआ कहता है —

पाटलिपुत्र के चारो ओर से घिर जाने पर सर्वार्थसिद्धि सुरग के मार्ग से निकलकर भाग गये। आप भी नन्द-साम्राज्य की पुनःस्थापना हेतु सुरग के मार्ग से ही बाहर आ गये। विषकन्या द्वारा पर्वतक की मृत्यु कर दी गयी और तदनन्तर कुमार मलयकेतु भी पाटलिपुत्र छोड कर चले गये। ऐसे निष्कण्टक समय के आ जाने पर चाणक्य ने राजभवन मे चन्द्रगुप्त के प्रवेश करने की तिथि की घोषणा कर दी। शिल्पियो द्वारा सूचित किया गया कि चन्द्रगुप्त के राजभवन मे प्रवेश के उपलक्ष्य मे दारुवर्मा ने पूर्वीय द्वार की साज सज्जा कर दी है। चाणक्य उसकी चाल को समझ गया। निश्चित समय पर अर्धरात्रि के समय पर्वतक के भाई वैरोचक को चन्द्रगुप्त के साथ एक ही आसन पर बिठाकर राज्याभिषेक कर दिया। तदनन्तर चन्द्रगुप्त के राजभवन में प्रवेश करते समय चन्द्रगुप्त की हथिनी चन्द्रलेखा के ऊपर वैरोचक को बैठा दिया। इस स्थिति मे चन्द्रगुप्त की भ्रान्ति में वैरोचक पर ही यन्त्र-तोरण गिराने के लिये दारुवर्मा ने तैयारी की। दूसरी ओर आप द्वारा नियुक्त महावत बर्बरक वैरोचक को ही चन्द्रगुप्त जानकर अपनी सोने की छडी से कटार निकालने लगा। हथिनी ने यह समझा कि अब यह छडी मेरे ऊपर पडने ही वाली है, अतः अपनी चाल तेज कर दी। परिणामस्वरूप यन्त्र तोरण के गिरने के समय न तो चन्द्रगुप्त ही मारा जा सका और न वैरोचक ही। बेचारा बर्बरक ही मार दिया गया। ऐसा होने पर दारुवर्मा ने अपनी मृत्यु को निश्चित समझकर यन्त्र की कील से चन्द्रगुप्त के भ्रम मे वैरोचक को मार दिया। वैरोचक के पीछे चलने वाले लोगो ने ढेलों को मार-मारकर दारुवर्मा को मार दिया। अभयदत्त नामक वैद्य को भी, जिसने चन्द्रगुप्त को मार देने के निमित्त विष-मिश्रित औषधि तैयार की थी, उसी औषधि को पिलाकर मार दिया गया। शयन-कक्ष का अधिकारी प्रमोदक भी असगत उत्तर देने के उपलक्ष्य में मार दिया गया। बीभत्सकादि जो दीवाल की सुरग में चन्द्रगुप्त को मार देने के निमित्त रह रहे थे, वे भी उस सुरग में आग लगवाकर मार दिया गया। क्षपणक जीवसिद्धि को विषकन्या द्वारा पर्वतेश्वर की हत्या कराये जाने के अपराध मे देश-निकाला दे दिया गया। शकटदास पर यह

अपराध लगाकर कि उसी ने दारुवर्मा आदि शिल्पियों की नियुक्ति की थी, फाँसी के दण्ड से दण्डित किया गया। इसी भाँति चन्दनदास को आपके परिवार को छिपाकर अपने घर में रखने के आरोप में स्त्री-पुत्रादि सहित कारागार में डाल दिया गया।

इसी बीच शकटदास को लेकर सिद्धार्थक वहाँ आ जाता है। शकटदास बतलाता है कि प्रिय मित्र सिद्धार्थक की ही कृपा से मेरे प्राण बच सके। इस उपकार के बदले राक्षस मलयकेतु द्वारा प्रेषित आभूषण को अपने शरीर से उतारकर सिद्धार्थक को दे देता है। सिद्धार्थक राक्षस से प्रार्थना करता है कि मैं इस स्थान पर अपरिचित हूँ। अतएव अभी आप इसे अपने पास रख लें—जब मुझे आवश्यकता पड़ेगी, आपसे ले लूँगा। अब सिद्धार्थक राक्षस का विश्वासपात्र बनकर उसी के पास रहने लगता है।

इसके अनन्तर विराधगुप्त राक्षस को पुनः सूचना देता है कि मलयकेतु के भाग आने के पश्चात् चन्द्रगुप्त और चाणक्य में फूट उत्पन्न हो गई है। इसी कारण अब चन्द्रगुप्त चाणक्य के आदेशों को पूर्ववत् नही मानता है।

तत्पश्चात् राक्षस उसी वेश में विराधगुप्त को 'स्तनकलश' से सन्देश कहने के लिये कुसुमपुर भेजता है। सन्देश यह है कि तुम अपनी स्तुतियों द्वारा चन्द्रगुप्त को चाणक्य के विरोध में भडकाने का प्रयत्न करना तथा यदि कोई गुप्त सूचना हो तो करभक द्वारा मेरे पास भेजना।

इसके पश्चात् तीन आभूषण खरीदे जाते हैं। तदनन्तर राक्षस करभक को कुछ आदेश देकर कुसुमपुर भेज देता है।

तृतीय अङ्क—पाटलिपुत्र में कंचुकी द्वारा घोषणा की जाती है कि महाराज चन्द्रगुप्त की आज्ञा है कि कौमुदी-महोत्सव के अवसर पर कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) को भली भाँति से सजाया जावे।

तदनन्तर वह सुगांग नामक महल की छत से नगर की शोभा का निरीक्षण करता है, किन्तु उसे नगर में कोई चहल-पहल दृष्टिगोचर नही होती है। कौमुदी-महोत्सव मनाये जाने का कोई चिह्न तक नही दिखलायी पड़ता है। कंचुकी द्वारा यह ज्ञात होने पर, कि आर्य चाणक्य ने कौमुदी-महोत्सव मनाये जाने का विरोध कर दिया है, वह आर्य चाणक्य को बुलवाता है।

चाणक्य के निवास स्थान पर पहुँचकर कंचुकी उसे चिन्तित अवस्था में पाता है। चाणक्य सोच रहा है कि राक्षस को किस भाँति वश में किया जाय।

वह सोचता है कि मेरे गुप्तचरों से मलयकेतु घिरा हुआ है। अब मैं चन्द्रगुप्त के साथ कृत्रिम-कलह उत्पन्न करके राक्षस को मलयकेतु से अलग कर दूँगा। इसी बीच कंचुकी चन्द्रगुप्त का सन्देश चाणक्य से कह देता है। चाणक्य कंचुकी से पूछता है कि क्या चन्द्रगुप्त को कौमुदी-महोत्सव के न मनाये जाने सम्बन्धी मेरे आदेश का पता लग गया है? कंचुकी द्वारा 'हां' कह दिये जाने पर वह क्रोधावेश में चन्द्रगुप्त के समीप चल देता है।

चाणक्य के आ जाने पर चन्द्रगुप्त उन्हें प्रणाम कर उचित आसन पर बैठाता है। चाणक्य उसे सार्वभौम सम्राट होने सम्बन्धी आशीर्वाद देता है। चन्द्रगुप्त द्वारा कौमुदी-महोत्सव के निषेध का कारण पूछे जाने पर चाणक्य उत्तर देता है—यह बात मन्त्री से सम्बद्ध है। तुम सचिवायत्त सिद्धि हो, अतः तुमको कारण जानने से क्या प्रयोजन? इसी मध्य दो वैतालिक राजा की स्तुति करते हुये श्लोक पाठ करते हैं। इनमें प्रथम राजा का अपना व्यक्ति है तथा दूसरा राक्षस का आदमी है—स्तनकलश। यह दूसरा वैतालिक स्तुति के बहाने से चन्द्रगुप्त को चाणक्य से फोड़ने की बात कहता है। चाणक्य इसे समझ लेता है। चन्द्रगुप्त दोनों को प्रभूत धनराशि पारितोषिक रूप में देने का आदेश दे देता है। चाणक्य इसका निषेध करता है। इस पर चन्द्रगुप्त कहता है "आप पग-पग पर मेरे कार्यों में हस्तक्षेप करते हैं। अतएव यह राज्य मेरे लिये राज्य न होकर, एक प्रकार का बन्धन ही बन गया है।" चाणक्य उत्तेजना के साथ कहता है—तो तुम अपना कार्य स्वयं ही देखो, मैं भी अपने श्रोत्रिय सम्बन्धी कार्य में संलग्न हो जाऊंगा। राजा पुनः कौमुदी-महोत्सव के निषेध का कारण पूछता है। चाणक्य कहता है—हमारे भद्रभट आदि सेनाध्यक्ष मलयकेतु से जाकर मिल गये हैं तथा आक्रमण की तैयारी में व्यस्त हैं। उक्त स्थिति में हमारे लिये सैन्य-सज्जा करना उचित है अथवा कौमुदी-महोत्सव का मनाना? चन्द्रगुप्त पुनः प्रश्न करता है कि आपने मलयकेतु एवं राक्षस को भाग जाने का अवसर क्यों दिया? इसका भी चाणक्य द्वारा उत्तर दिया जाता है किन्तु उससे चन्द्रगुप्त को सन्तोष नहीं होता है और वह कहता है—मैं आपसे तर्क-वितर्क नहीं करना चाहता हूँ, मैं तो आपसे अधिक राक्षस को ही प्रशंसनीय समझता हूँ क्योंकि उसने पाटलिपुत्र में रहते हुये हमारे व्यक्तियों को फोड़ लिया और हम कुछ न

कर सके। इस पर चाणक्य अत्यधिक क्रुद्ध हो जाता है और कहता है कि यदि तुम राक्षस को मुझसे अधिक योग्य समझते हो तो यह शस्त्र मन्त्री राक्षस को ही दे दो। यह कहकर शस्त्र को पृथ्वी पर पटककर चला जाता है।

तदनन्तर चन्द्रगुप्त अपने कंचुकी वैहीनरि को आज्ञा देता है कि राज्य मे घोषणा कर दो कि आज से चन्द्रगुप्त ने चाणक्य को मन्त्रि-पद से अलग कर दिया है। वह अपना राज-काज स्वयं देखेगा।

राक्षस का गुप्तचर 'स्तनकलश' इस कृत्रिम कलह को वास्तविक समझता है। कंचुकी भी इस कलह को वास्तविक ही समझता है।

चतुर्थ अङ्क—राक्षस का गुप्तचर करभक पाटलिपुत्र से आता है। वह द्वारपाल से राक्षस से मिलने के निमित्त कहता है। किन्तु रात्रि में देर तक जागने के कारण राक्षस शिरोवेदना से पीड़ित है। अतः द्वारपाल उसे थोड़ी देर प्रतीक्षा करने के लिये कहता है।

इधर शयनागार में पड़ा हुआ राक्षस सोच रहा है कि सम्पूर्ण रात्रियाँ जागते-जागते ही व्यतीत हो रही हैं। जिस काम को करने की सोचता हूँ वही चाणक्य की कुटिल नीति के कारण विफल हो जाता है। यह राजनीति भी एक विचित्र प्रकार का नाटक है। संभव है कि चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त में फूट उत्पन्न हो जाय। अवसर पाकर द्वारपाल करभक के आगमन की सूचना राक्षस को देता है। वह उसे अन्दर बुलवा लेता है। इसी बीच राक्षस की शिरोवेदना का समाचार पाकर मलयकेतु भी भागुरायण के साथ वहाँ जाता है। (यह भागुरायण चाणक्य का गुप्तचर है और मलयकेतु का कपट मित्र। वह आते समय मार्ग में कुछ ऐसी बातें करता रहा था कि जिससे प्रभावित होकर मलयकेतु और राक्षस में फूट पड़ जाय। मार्ग में मलयकेतु ने भागुरायण से पूछा कि भद्रभट इत्यादि ने जो मुझसे यह कहा था कि हम लोग मन्त्री राक्षस द्वारा आपके आश्रय में नही आये हैं। हम लोग सेनापति शिखरसेन द्वारा आपके आश्रय में आये हैं—इसका क्या अभिप्राय है? इसके उत्तर में भागुरायण कहता है—राक्षस की शत्रुता चाणक्य से है न कि चन्द्रगुप्त से। यह हो सकता है कि चन्द्रगुप्त चाणक्य को अपने मन्त्री पद से पृथक् कर दे और राक्षस अपने मित्र चन्दनदास की रक्षा के निमित्त चन्द्रगुप्त से सन्धि कर ले। यदि यह बातें

सत्य हो जायँ तो आप हम लोगों पर अविश्वास न कर बैठें—इस कारण उनका कथन है कि शिखरसेन द्वारा ही आपके आश्रय में आये हैं।) किन्तु वे दोनों करभक को राक्षस से पाटलिपुत्र का समाचार बतलाते हुये सुनकर छिप जाते हैं और दोनों का वार्तालाप सुनते हैं। करभक कौमुदी-महोत्सव से सम्बन्धित चाणक्य एवं चन्द्रगुप्त की कलह का सम्पूर्ण वृत्तान्त राक्षस को बतलाता है। तत्कालीन अन्य घटनाओं का भी वर्णन करता है और अन्त में कहता है कि इसी कलह के परिणामस्वरूप चन्द्रगुप्त ने मन्त्री राक्षस के गुणों की प्रशंसा कर चाणक्य को मन्त्रिपद से हटा दिया। चन्द्रगुप्त चाणक्य से इस कारण भी कुपित है कि उसने भागने हुये मलयकेतु और मन्त्री राक्षस की उपेक्षा की। चाणक्य अभी पाटलिपुत्र में ही है, किन्तु वह शीघ्र ही तपोवन चला जायगा, ऐसा सुना जाता है।

उपर्युक्त समाचार पर राक्षस को विश्वास नहीं होता है। किन्तु शकटदास उसे समझाता है कि यह बात सम्भव हो सकती है क्योंकि प्रतिज्ञा पूरी करने में किन महान् कष्टों का सामना करना पड़ता है, यह चाणक्य जानता है। अतः अब वह नगर में भी न रहेगा, तपोवन चला जायेगा।

इन सभी बातों का विपरीत अर्थ लगाकर भागुरायण मलयकेतु के मन में राक्षस के प्रति सन्देह उत्पन्न करने का प्रयत्न करता है और बतलाता है कि राक्षस चन्द्रगुप्त से प्रेम करता है। वह इसी प्रतीक्षा में है कि चाणक्य यदि चला जायगा तो चन्द्रगुप्त का मन्त्री बनकर सारा कार्य करेगा।

इसके पश्चात् राक्षस के आदेश से शकटदास के साथ करभक विश्राम करने चला जाता है तथा मलयकेतु राक्षस के समक्ष उपस्थित होकर उसके सिर-दर्द का हाल पूछता है। राक्षस कहता है कि "जब तक आपको महाराज पद से सुशोभित नहीं देख लेता हूँ तब तक मेरा सिर-दर्द कैसे ठीक हो सकता है (अर्थात् तब तक मुझे चैन कहाँ ?)" यह सुनकर मलयकेतु पूछता है कि हमको अब कितने दिनों तक आक्रमण के अवसर की प्रतीक्षा करनी होगी ? राक्षस उत्तर देता है कि विलम्ब करने की कोई आवश्यकता नहीं है। शीघ्र ही शत्रु-विजय के निमित्त प्रस्थान किया जाय क्योंकि चाणक्य चन्द्रगुप्त से पृथक् हो गया है तथा सचिवायत्तसिद्धि वाला होने के कारण चन्द्रगुप्त के लिये यह एक बड़ा भारी

संकट है। अतः हमारी सफलता को निश्चित ही समझिये। यह सुनकर मलयकेतु अपनी सैन्य-शक्ति की प्रशंसा करता है और तदनन्तर चला जाता है।

तदनन्तर राक्षस आक्रमण के शुभ मुहूर्त्त को जानने के निमित्त ज्योतिषी को बुलवाना चाहता है। उसी समय क्षपणक जीवसिद्धि, जो एक ज्योतिषी भी है, वहाँ आ जाता है। वह मुहूर्त्त बतलाता है कि पूर्णिमा के दिन सूर्यास्त के पश्चात् पूर्ण चन्द्रोदय होने पर, 'बुध' नक्षत्र का योग होने पर तथा केतु के उदय होकर अस्त हो चुकने पर प्रस्थान करना उचित है। राक्षस अन्य ज्योतिपियो से भी परामर्श लेने के लिये क्षपणक से आग्रह करता है। इस पर क्षपणक रुष्ट होकर चला जाता है।

पंचम अङ्क— चाणक्य का गुप्तचर सिद्धार्थक, जो राक्षस की सेवा में रह रहा था, राक्षस से प्राप्त आभूषण के साथ कुसुमपुर के लिये जा रहा है। मार्ग मे उसकी भेंट क्षपणक जीवसिद्धि से हो जाती है। वह सिद्धार्थक को बतलाता है कि तुम भागुरायण से मुद्रा (पारपत्र) प्राप्त किये बिना कुसुमपुर नही जा सकते हो। मैं भी मुद्रा-प्राप्ति हेतु भागुरायण के समीप जा रहा हूँ। इस पर सिद्धार्थक कहता है कि मैं तो मन्त्री राक्षस का सेवक हूँ, इस कारण मुझे मुद्रा की कोई आवश्यकता नहीं है। इसके पश्चात् सिद्धार्थक क्षपणक से कार्य-सिद्धि सम्बन्धी आशीर्वाद चाहता है। क्षपणक आशीर्वाद देता है। फिर दोनों अपने-अपने मार्ग की ओर चल देते हैं।

जिस समय क्षपणक-जीवसिद्धि भागुरायण के समीप पहुँचता है उसी समय मलयकेतु भी भागुरायण से मिलने वहाँ आता है। किन्तु वह भागुरायण के सामने होने से पूर्व भागुरायण एव जीवसिद्धि की परस्पर चल रही बातचीत को छिपकर सुनता है। जीवसिद्धि भागुरायण से कहता है कि मै राक्षस से बहुत दूर चला जाना चाहता हूँ जिससे कि उसका नाम तक भी मुझे सुनने को प्राप्त न हो। इसका कारण यह है कि मैं कुसुमपुर में रहते समय दुर्भाग्य से राक्षस का मित्र बना और फिर उसके कथनानुसार विषकन्या का प्रयोग कर मैने पर्वतेश्वर की हत्या करवा दी। फलस्वरूप चाणक्य ने मुझे निर्वासित कर दिया। अब भी राक्षस कुछ ऐसा [illegible] रे द्वारा करवाना चाहता है कि जिसके परिणाम स्वरूप मुझे कहीं [illegible] च न कर जाना पड़े।

उपर्युक्त बातों का श्रवणकर मलयकेतु को विश्वास हो जाता है कि मेरे पिता को राक्षस ने ही मरवाया है। भागुरायण जीवसिद्धि से कहता है कि आप मुद्रा ले लीजिये, किन्तु कुमार मलयकेतु के समीप चलकर यह सब बातें उससे कह दीजिये। इसी बीच मलयकेतु अपने को प्रकट कर देता है और कहता है कि मैंने सब सुन लिया है। उसका पितृ-जन्य दुःख दूना हो गया। क्षपणक वहाँ से चला जाता है। अब भागुरायण चाणक्य के आदेश "राक्षस के प्राणों की सर्वथा रक्षा की जाय" का स्मरण करते हुये मलयकेतु को समझाने लगता है कि राजनीति में शत्रु और मित्र स्वार्थवश हुआ करते हैं। उस समय राक्षस सर्वार्थसिद्धि को राजा बनाना चाहता था। इस कारण वह पर्वतेश्वर को चन्द्रगुप्त से भी अधिक शत्रु मानता था। अब वह बात नहीं है। अतः आप नन्द-राज्य को वापिस लेने के समय तक शान्त रहिये।

इसी बीच बिना मुद्रा के बाहर जाता हुआ सिद्धार्थक पकड़ा जाता है और भागुरायण तथा मलयकेतु के समक्ष लाया जाता है। उसके हाथ में एक पत्र है जिस पर राक्षस की मोहर लगी हुई है। भागुरायण मलयकेतु को यह पत्र दिखलाता है तथा सिद्धार्थक के सही-सही उत्तर न देने पर उसे पिटवाता है। पिटते समय उसकी बगल से एक आभूषणों की पेटी गिर जाती है। उस पेटी से वही आभूषण निकलता है जिसे मलयकेतु ने राक्षस के पहनने के निमित्त भेजा था। अधिक पूछे जाने पर वह कहता है कि राक्षस ने वह पत्र तथा यह आभूषण देकर मुझे चन्द्रगुप्त के समीप भेजा है।

पत्र में लिखित तथा सिद्धार्थक द्वारा मौखिक कहा गया संदेश था—(वस्तुतः सिद्धार्थक चाणक्य का गुप्तचर है।) आप द्वारा प्रेषित तीन आभूषण प्राप्त हो गये हैं। मेरे पाँच प्रिय मित्रों—चित्रवर्मा, पुष्कराक्ष, सिंहनाद, सिन्धुसेन और मेघनाद—में से प्रथम तीन तो मलयकेतु का राज्य चाहते हैं तथा शेष दो क्रमशः गजसेना और कोष को चाहते हैं। अतः इनकी इच्छा की पूर्ति कीजिये। पत्र की रिक्तता के निवारणार्थ यह आभूषण प्रेषित है।

इसके पश्चात् मलयकेतु राक्षस को बुलवाने के लिये प्रतीहारी को भेजता है। राक्षस युद्ध-यात्रा के लिये व्यूह-रचना के प्रकार के बारे में सोच रहा है। उसी समय प्रतीहारी सूचना देती है कि मलयकेतु आपसे मिलना चाहते हैं।

राक्षस मलयकेतु के पास जाते समय उन आभूषणों में से एक को धारण कर लेता है कि जिनको उसने क्रय किया था। जब राक्षस मलयकेतु के समीप पहुँच जाता है तब आवश्यक शिष्टाचार के अनन्तर मलयकेतु राक्षस की आक्रमण सम्बन्धी योजना को जानना चाहता है। राक्षस योजना बतलाता है—सबसे आगे वह स्वयं रहेगा, उसके पीछे खश और मगध की सेनाये, मध्य में गान्धार, अन्त में चीन तथा हूणों से युक्त शक राजा लोग और शेष कौलूतादि पाँच राजा मलयकेतु की रक्षा करेंगे। इस योजना को सुनकर मलयकेतु सोचता है कि जो मेरे मारने के लिये नियुक्त हैं वही मेरे रक्षक बनाये जा रहे हैं।

अब मलयकेतु राक्षस से पुनः पूछता है कि आपने सिद्धार्थक को कुसुमपुर क्यों भेजा है? इसको भागुरायण और अधिक स्पष्ट करते हुये कहता है कि आपने पत्र, आभूषण तथा मौखिक संदेश देकर सिद्धार्थक को चन्द्रगुप्त के पास क्यो भेजा है? साथ ही वह पत्र भी उसे पढने को देता है तथा आभूषण भी दिखलाता है और सिद्धार्थक को भी उसके समक्ष उपस्थित करता है। पत्र देखकर राक्षस कहता है कि यह पत्र उसका नहीं है, यह शत्रु का प्रयोग है। हाँ, यह आभूषण सिद्धार्थक को इनाम के रूप में मैंने अवश्य दिया था। इस पर अंकित मुद्रा भी कपट मुद्रा ही है। इतना सुनकर भागुरायण सिद्धार्थक से पूछता है कि यह पत्र किसका लिखा हुआ है? सिद्धार्थक उत्तर देता है—शकटदास का। राक्षस बडा दुःखी हो जाता है और कहता है कि यदि शकटदास ने लिखा है तो मेरा ही लिखा समझिये। मलयकेतु शकटदास को बुलाना चाहता है किन्तु भागुरायण "कहीं वास्तविकता न खुल जाय—इस भय से" शकटदास को न बुलवाकर उसके लेख की प्रतिलिपि मँगवाता है। प्रतिलिपि उस पत्र से मिल जाती है। अब राक्षस के मन में शकटदास के बारे में सन्देह उत्पन्न हो जाता है। इस बीच मलयकेतु राक्षस के द्वारा धारित आभूषण को देखकर पूछता है कि यह आभूषण तो पिता जी का है? राक्षस उत्तर देता है कि इसे मैंने खरीदा है। अब मलय-केतु को विश्वास हो जाता है कि यह आभूषण चन्द्रगुप्त द्वारा भिजवाये गये तीन आभूषणो में से एक है।

इसके अनन्तर मलयकेतु राक्षस पर अभियोग लगाता हुआ कहता है कि आपने ही विषकन्या भेजकर मेरे पिता को मरवाया था। इसका प्रमाण जीव-

सिद्धि है। जीवसिद्धि का नाम सुनते ही राक्षस आश्चर्य मे पड जाता है और सोचता है कि यह भी शत्रु का ही आदमी निकला।

तदनन्तर मलयकेतु शिखरसेन को (जो वस्तुत चाणक्य का ही गुप्तचर है।) आज्ञा देता है कि चित्रवर्मा, पुष्कराक्ष, सिंहनाद सुषेण और मेघनाद—इन पांचों राजाओ को मार डालो। ये पांचो मार दिये जाते हैं। फिर मलयकेतु राक्षस से कहता है —

"गच्छ, समाश्रीयतां सर्वात्मना चन्द्रगुप्त"

अर्थात् जाओ, पूर्णरूप से चन्द्रगुप्त का आश्रय लो। शोक-संतप्त राक्षस चित्रवर्मा आदि राजाओ का वध सुनकर दुःखी होता है तथा अपने परम मित्र चन्दनदास को छुड़ाने के निमित्त चला जाता है।

षष्ठ अङ्क—सिद्धार्थक मलयकेतु के शिविर से लौट आया है तथा उसने वहाँ की पूरी घटना मे चाणक्य और चन्द्रगुप्त दोनो को ही अवगत करा दिया है। इसके पश्चात् वह अपने मित्र सुमिद्धार्थक के समीप गया। मित्र द्वारा पूछे जाने पर सिद्धार्थक कहता है कि चाणक्य के भद्रभट, पुरुषदत्त, हिङ्गुरात आदि गुप्तचरों ने मलयकेतु को कैद कर लिया है तथा राक्षस मलयकेतु के शिविर से निकलकर पुन पाटलिपुत्र में आ गया है। राक्षस के पीछे भी चाणक्य का गुप्तचर उदुम्बर लगा हुआ है। चाणक्य के आदेशानुसार हम दोनो को चन्दनदास का वध्यभूमि मे ले जाकर मार डालना है।

तत्पश्चात् एक पुरुष, जो चाणक्य का गुप्तचर है, राक्षस के समक्ष फाँसी लगाने का अभिनय करता है। राक्षस अपने घनिष्ठ मित्र का पता लगाने हेतु पाटलिपुत्र के जीर्ण उद्यान मे आया हुआ है। वहाँ पर बैठा हुआ वह सोच रहा है कि भाग्य ने हमारे सभी प्रयत्नों को विफल कर दिया है। नन्द वंश के नष्ट हो जाने पर पर्वतेश्वर को आधार बनाकर महाराज नन्द के राज्य को वापिस ले लेने का मैंने प्रयत्न किया। किन्तु दुर्भाग्य से उनके भी दिवंगत हो जाने पर मैंने मलयकेतु को अपना आधार बनाया। किन्तु मुझे सदैव असफलता ही मिली। अब क्या किया जाय? इतने में अचानक ही उसकी दृष्टि उस आत्म फाँसी लगाने वाले पुरुष पर पडती है। वह उसके समीप जाकर पूछता है कि तुमको क्या कष्ट है कि जिसके कारण तुम फाँसी लगा रहे हो?

बड़े दुःख के साथ वह उत्तर देता है कि इस नगर में जिष्णुदास नामक एक सेठ है जो कि मेरा परम मित्र है। उसने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति दान में दे दी है और वह अग्नि में जल मरने के लिये नगर से बाहर चला गया है। अतः उसकी मृत्यु के समाचार को सुनने से पूर्व ही मैं अपना प्राणान्त कर देने के लिये फाँसी लगा रहा हूँ। यह सुनकर राक्षस उस पुरुष के मित्र के मरने के कारण को जानना चाहता है। पुरुष बतलाता है—मेरे मित्र का एक अभिन्न मित्र चन्दनदास इसी नगर का निवासी है। उसने मन्त्री राक्षस के परिवार को अपने यहाँ छिपा रखा है। चाणक्य एवं चन्द्रगुप्त द्वारा बार-बार माँगे जाने पर भी वह राक्षस के परिवार को उनके संरक्षण में नहीं दे रहा है। अतः उसे फाँसी का दण्ड दिया गया है। इसी कारण उसका मित्र जिष्णुदास उसकी मृत्यु से पूर्व ही अपने को अग्नि मे भस्मसात् कर देना चाहता है। और मैं भी अपने मित्र जिष्णुदास के मरने से पूर्व ही मर जाना उचित समझता हूँ। यह सुनकर राक्षस उस पुरुष से कहता है कि तुम जाकर जिष्णुदास को मरने से रोको। मैं भी चन्दनदास के प्राणों की रक्षा अपनी तलवार से करूँगा। बाद में जब वह पुरुष यह जान लेता है कि यही मन्त्री राक्षस हैं तो वह उनके पैरों पर गिर जाता है और कहता है—"आप तलवार द्वारा चन्दनदास को बचाने का उपाय न करें क्योकि शकटदास सम्बन्धी घटना के पश्चात् बधिक लोग अत्यधिक सतर्क हो गये हैं। यदि वे लोग वध्यस्थल पर सशस्त्र आते हुये किसी को देख लेते हैं तो वध्य व्यक्ति को तुरन्त ही मार डालते हैं।" इसके अनन्तर वह पुरुष चला जाता है।

तदनन्तर राक्षस सोचता है कि चाणक्य महान् कूटनीतिज्ञ है। यदि उसने अपनी योजना के अनुसार शकटदास को मेरे समीप भिजवाया था तो उसको मारने के लिये नियुक्त वधिको को क्यों प्राणदण्ड दिया? और यदि शकटदास उसकी योजना का अंग नहीं है तो उसने मेरे विरुद्ध ऐसा कूट-पत्र क्यों लिखा?

इस भाँति सोचता हुआ राक्षस निश्चय करता है कि यदि शस्त्र-बल से चन्दनदास को बचाना कठिन है तो मैं उसके छुटकारे के लिये आत्मसमर्पण ही कर देना उचित समझता हूँ।

सप्तम अङ्क—वधिको के साथ वध्यवेष को धारण किये हुये चन्दनदास

चला जा रहा है। उसके साथ उसकी स्त्री और बच्चे भी चल रहे हैं। एक वधिक आगे-आगे यह घोषणा करता हुआ चल रहा है कि हट जाओ लोगो, हट जाओ। यदि तुम लोगों को अपने प्राण, धन-सम्पत्ति तथा परिवार में मोह हो तो विष के सदृश राजद्रोह से अपने को बचाये रहो।

वध्यस्थान पर पहुँचकर चन्दनदास अपनी पत्नी को समझाता है कि मुझे यह दण्ड किसी अनुचित आचरण के कारण नहीं दिया गया है, मित्र के कार्य में ही मुझे यह दण्ड मिला है। अतः यह रोने का समय न होकर प्रसन्नता का है। अब तुम वापिस घर जाओ। रुदन करता हुआ उसका पुत्र उसे प्रणाम करते हुये अपने भावी कर्तव्य के बारे में उससे पूछता है। चन्दनदास कहता है—"बेटा! वहाँ जाकर रहना, जहाँ चाणक्य न पहुँच सके।" इतने में वधिक चन्दनदास से कहता है "सेठ जी! शूली गड़ चुकी है, तैयार हो जाइये।" यह सुनते ही चन्दनदास की पत्नी चिल्लाने लगती है—"लोगो, बचाओ रे बचाओ।" इसी समय राक्षस आकर वहाँ उपस्थित हो जाता है और वधिकों से कहता है—"चन्दनदास को मत मारो और दुष्ट चाणक्य से कह दो कि राक्षस आ गया है वह यहाँ वध्यशाला में स्थित है।"

यह समाचार पाकर चाणक्य आता है। वह राक्षस के चरणों का स्पर्श कर प्रणाम करता है। राक्षस कहता है कि मैं चाण्डालों द्वारा छुआ जा चुका हूँ अतः मुझे न छुइये। यह सुनकर चाणक्य उसे बतलाता है कि ये चाण्डाल नहीं हैं। इनमें से एक तो आपका सेवक सिद्धार्थक है और दूसरा राजपुरुष है जिसका नाम सुसिद्धार्थक है। इन्हीं दोनों के द्वारा विश्वास उत्पन्न कर शकटदास द्वारा, बिना उसके कुछ भी जाने-बूझे, मैंने ही वह कूट-पत्र लिखवाया था। भद्रभट, जीवसिद्धि आदि सभी मेरे ही गुप्तचर हैं। जीर्ण उद्यान में फाँसी लगाने वाला पुरुष भी मेरा ही गुप्तचर था। यह सब कार्य मैंने आपसे चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध स्थापित करने के निमित्त किया है।

इतने में चन्द्रगुप्त भी वहाँ आ जाता है और विनीत भाव से राक्षस को प्रणाम करता है। राक्षस उसे विजयी होने का आशीर्वाद देता है।

इसके पश्चात् चाणक्य राक्षस से कहता है कि यदि आप वस्तुतः चन्दनदास का जीवन चाहते हैं तो इस शस्त्र को ग्रहण कर चन्द्रगुप्त के मन्त्रि-पद को

स्वीकार कीजिये। लाचार होकर राक्षस शस्त्र ग्रहण कर लेता है। इसी समय एक पुरुष आकर सूचना देता है कि भद्रभट, भागुरायण आदि के द्वारा कैदी के रूप में बँधा हुआ मलयकेतु द्वार पर उपस्थित है। किन्तु चाणक्य उस पुरुष से कहता है कि अब इस बारे में राक्षस से निवेदन करो। राक्षस द्वारा यह कहे जाने पर कि मैं मलयकेतु के समीप कुछ समय तक रह चुका हूँ, अतः इसके प्राण न लिये जायँ; चन्द्रगुप्त मलयकेतु को जीवनदान देता है तथा उसे अपने पैतृक राज्य पर स्थापित करा देता है।

तदनन्तर चाणक्य चन्दनदास को सभी नगरों का 'जगत्-सेठ' बना देता है। वह दुर्गपाल एवं विजयपाल को बुलाकर आदेश देता है कि हाथी-घोड़ों को छोड़कर सभी लोगों को बन्धन-मुक्त कर दिया जाय। अब केवल मेरी शिखा का ही बन्धन हो क्योंकि मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण हो चुकी है। यह कहकर वह अपनी चोटी (शिखा) बाँध लेता है।

अन्त में राक्षस भरतवाक्य द्वारा चन्द्रगुप्त को पुनः आशीर्वाद देता है।

इतिवृत्त (कथावस्तु) सम्बन्धी सूक्ष्म आलोचना—इस भाँति इसकी कथा-वस्तु का अध्ययन करने के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि मुद्राराक्षस का इतिवृत्त (कथावस्तु) वस्तुतः चातुर्यपूर्ण एव सुसम्बद्ध तथा सप्रयोजन है। जो व्यक्ति प्रथम बार ही मुद्राराक्षस का अध्ययन कर रहा हो अथवा उसका अभि-नय देख रहा हो उसे छठे अङ्क तक विभिन्न क्रिया-कलापों का, कार्यों के घात-प्रतिघातों का, राजनैतिक दाँव-पेंच सम्बन्धी युद्धों का, विशृङ्खलित-सा प्रतीत होने वाला जाल-सा प्रतीत होगा। किन्तु जैसे-जैसे मुख्य कथानक आगे की ओर बढ़ता जायगा वैसे ही वैसे सम्पूर्ण विशृङ्खलित कार्य-कलाप एक दिशा की ओर अग्रसर होते हुये दृष्टिगोचर होगा तथा सप्तम अङ्क में पहुँचकर वे सभी कार्य-कलाप एकत्रित होकर प्रयोक्ता को अभीष्ट फल प्रदान करते हुये दिखलाई देंगे। सम्पूर्ण क्रिया-कलाप राक्षस को ही वश में करने हेतु किया गया प्रतीत होता है तथा अन्त में परिणाम भी यही होता है कि राक्षस चाणक्य के समक्ष आत्म-समर्पण कर देता है।

मुद्राराक्षस का छोटे से छोटा भी ऐसा कार्य अथवा पात्र नहीं है जो कथा-नक को आगे बढ़ाने में अपना अमूल्य सहयोग प्रदान न करता हो अथवा

जिसके अभाव में नाटक का कथानक अपूर्ण न रह जाता हो। इस नाटक में कोई भी ऐसा कार्य नहीं है जिसकी कि अपनी स्वतन्त्र सत्ता हो। सभी कार्य परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। कथावस्तु की ऐसी सफल तथा चातुर्यपूर्ण योजना सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य के नाटकों में कठिनता से ही उपलब्ध होगी। सम्पूर्ण योजना का गठबन्धन ऐसा सुसम्बद्ध दृष्टिगोचर होता है कि कहीं भी शिथिलता का दर्शन होना सम्भव नहीं है। प्रो० वेबर के मतानुसार सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य में घटना-सामञ्जस्य का इससे उत्तम उदाहरण मिलना सर्वथा असम्भव ही है।

विशाखदत्त ने अङ्कों का विभाजन दृश्यों के आधार पर किया है। उनकी यह अपनी मौलिकता है। अन्य नाटकों में अङ्कों का विभाजन पात्रों को आधार मान कर किया गया है। प्रमुख पात्र प्रारम्भ से अन्त तक रङ्गमञ्च पर प्रायः बने रहते हैं। किन्तु मुद्राराक्षस में ऐसा नहीं हुआ है। इसमें दृश्यों को आधार मानकर अङ्कों का विभाजन किया गया है। इस दृष्टि से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कथावस्तु की योजना के साथ ही साथ दृश्य विधान भी विलक्षण तथा सुव्यवस्थित है।

मुद्राराक्षस का नेता (नायक)

इस नाटक में 'नेता' विषयक प्रश्न विवादास्पद है। कुछ विद्वान् इसका नेता (नायक) चन्द्रगुप्त को मानते हैं तथा कुछ चाणक्य को। चाणक्य का नेता मानने वालों की संख्या अधिक है।

साहित्य-शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार फल का भोक्ता (अथवा प्राप्तिकर्त्ता) ही नेता कहलाता है। परम्परा भी इसी प्रकार की चली आ रही है। मुद्राराक्षस में भी फल का भोक्ता चन्द्रगुप्त है, राक्षस उसी का मन्त्री बनता है तथा अपनी सेवाओं को उसने चन्द्रगुप्त को ही अर्पित किया है। इसके विपरीत चाणक्य का अस्तित्व चाणक्य रूप में ही अवशिष्ट रह गया है। इस आधार पर कुछ विद्वानों ने चन्द्रगुप्त को ही मुद्राराक्षस का नायक स्वीकार किया है।

अधिकांश विद्वानों का कथन है कि परम्परा की दृष्टि से चन्द्रगुप्त को भले ही नेता मान लिया जाय किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से नेता के बारे में विचार करने पर

तथा चाणक्य की चारित्रिक विशेषताओं का सम्यक् अध्ययन करने पर चाणक्य ही प्रस्तुत नाटक का नेता (नायक) सिद्ध होता है। नाटककार विशाखदत्त का अभिमत भी चाणक्य को ही नायक मानने की ओर परिलक्षित होता है। नाटक में स्थान-स्थान पर ऐसे संकेत उपलब्ध होते हैं कि जिनसे चाणक्य का ही नेता होना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। छठे अंक में उसकी नीति का एक उद्धरण देखिये :—

"जयति जयनसज्जं या अकृत्वा च सैन्यं
प्रतिहतपररक्षा आर्यचाणक्यनीतिः ॥" ६।१॥

यदि फल प्राप्ति सम्बन्धी बात को ही प्रमुख मान लिया जाय तो भी चाणक्य का ही नायक होना सिद्ध हो जाता है क्योंकि नन्द वंश को समूल नष्ट कर देने सम्बन्धी प्रतिज्ञा की पूर्ति कर लेने के अनन्तर शिखाबन्धन रूप फल का भोक्ता वही है।—वह स्वयं कहता है :—

"पूर्णप्रतिज्ञेन मया केवलं बध्यते शिखा ॥" ७।१७।

चाणक्य के इस कथन से ही उसका नायक होना स्वयं प्रतिध्वनित होता है। राक्षस को विवश कर चन्द्रगुप्त का मन्त्री बनाने रूपी फल की प्राप्ति भी चाणक्य को ही हुई है।

नायक में जिन गुणों का होना अपेक्षित है, वे सभी चाणक्य में विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त नायक का चरित्र सम्पूर्ण नाटक में क्रमशः विकास को प्राप्त होता जाय, यह भी आवश्यक है। ऐसा क्रमिक विकसित चरित्र चाणक्य का ही दृष्टिगोचर होता है, चन्द्रगुप्त का नहीं। चन्द्रगुप्त के चरित्र का तो विकसित स्वरूप प्रायः नगण्य रूप में ही परिलक्षित होता है। अतः इस आधार पर भी चाणक्य का ही नायक होना सिद्ध होता है।

नाटक का "मुद्राराक्षस" नाम भी इसी पक्ष की पुष्टि करता है। "मुद्रया गृहीतो राक्षसो यस्मिन् तत् मुद्राराक्षसमन्नाम नाटकम्"। चाणक्य ने ही मुद्रा का प्रयोग किया है। उसी की सफल राजनीति का यह चमत्कार है कि मुद्रा के द्वारा राक्षस पकड़ा ज

नाटककार विश ने से पूर्व लिखे गये "अभिज्ञानशाकुन्तल" तथ

'मृच्छकटिक' जैसे रूपकों (नाटको) का अध्ययन किया होगा तथा उनसे प्रभावित हुए होगे । इन दोनो में क्रमश: अंगूठी सम्बन्धी तथा मिट्टी की गाडी सम्बन्धी छोटी सी घटनाये ही नाटकों की कथावस्तु मे निर्णायक सिद्ध हुई हैं। ऐसी घटनाओ सम्बन्धी तत्वो का प्रवत्तन नायक द्वारा ही हुआ करता है। नायक-नायिका अथवा नायक-प्रतिनायक ही इस प्रकार की घटनाओ के दो छोर सिद्ध हुआ करते हैं। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की अंगूठी सम्बन्धी घटना ही नायक एव नायिका के चरित के विकास में प्रमुख है। इसी भांति 'मृच्छकटिक' में मिट्टी की गाडी ही नायक, नायिका एव प्रतिनायक के चरित को विकसित करती है। इसी प्रकार 'मुद्राराक्षस' मे भी मुद्रा सम्बन्धी घटना ही चाणक्य (नायक) एव राक्षस (प्रतिनायक) के चरित्रो को विकसित करने का प्रमुख आधार है। अत इस नाटक का नायक चाणक्य को ही समझा जाना अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

चरित्र-चित्रण—चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इस नाटक को अनूठा ही कहा जा सकता है। नाटककार ने चरित्रो के विकास को एक नवीन रूप मे चित्रित करने का सफल प्रयास किया है। यदि इस नाटक मे अन्य विशेषतायें न होतीं, केवल चरित्र-चित्रण ही होता तब भी यह नाटक ग्राह्य एव उपादेय होता। इस नाटक में अधिकाश पात्र युगल रूप मे चित्रित किये गये हैं। दो पात्रो के पारस्परिक विरोध तथा सघर्ष में ही प्रत्येक पात्र का चरित्र विकसित हुआ है। जैसे—कूटनीति के प्रयोता चाणक्य और राक्षस, परस्पर विरोधी गुणो को धारण करने वाले राजा चन्द्रगुप्त तथा राजा मलयकेतु, भागुरायण और सिद्धार्थक। चाणक्य को नन्दवशीय राजाओ के प्रति प्रबल प्रतिशोध की भावना से युक्त चित्रित किया गया है। वह उनके समूल विनाश के लिए उद्यत है। उसका सर्वाधिक कृपापात्र चन्द्रगुप्त है। किन्तु राक्षस की स्थिति पूर्णतया इसकी उलटी ही दृष्टिगोचर होती है—वह नन्दवश के प्रति सच्ची श्रद्धा एव भक्ति से परिपूर्ण है। वह चन्द्रगुप्त को नष्ट कर राज्य को पुन नन्दवशीय राजाओ को दिलवाने का इच्छुक है। वह चाणक्य द्वारा प्रयुक्त नीति से सघर्ष करने वाला है।

नाटककार विशाखदत्त ने ऐसे चरित्रों की उद्भावना की है जो कि नाटकीय होते हुए भी वास्तविक प्रतीत होते हैं, यथार्थ होते हुए भी जो आदर्श हैं,

साधारण होते हुये भी असाधारण हैं। नायक चाणक्य तथा प्रतिनायक राक्षस दोनों किसी स्त्री अथवा राज्य की प्राप्ति के उद्देश्य से परस्पर विरोधी नही है। उनकी कलह तो महान् आदर्शो को लिये हुये है। चाणक्य का आदर्श है :—

"बुद्ध्या निगृह्य वृषलस्य कृते क्रियाया-
मारण्यकं गजमिव प्रगुणी करोमि ॥" १।२६॥

तथा राक्षस का आदर्श है :—

"देवः स्वर्गगतोऽपि शात्रववधेनाराधितः स्यादिति ॥" २।५॥

दोनों के ही आदर्श पूर्णतया निःस्वार्थ तथा निरीह है। दोनों के द्वारा प्रयुक्त राजनीति अपने लिये न होकर किसी अन्य के लिये है। दोनो की दृष्टि मे जय अथवा पराजय का उतना महत्त्व नही है जितना कि अपने-अपने कर्त्तव्य-निर्वाह का। इस भाँति यह स्पष्ट हो जाता है कि नाटककार को नाटकीय पात्रो का चरित्र-चित्रण ही प्रधान रूप से अभीष्ट था तथा इसके निर्वाह मे उसे सर्वाधिक सफलता भी उपलब्ध हुई है।

मुद्राराक्षस नाटक के प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण

नायक चाणक्य—संस्कृत नाट्य-साहित्य के अन्तर्गत एक भी ऐसा नायक दृष्टिगोचर नही होता है कि जिसकी समता चाणक्य से की जा सके। इतना अधिक प्रभावशाली एवं शक्तिसम्पन्न नायक किसी अन्य नाटक मे उपलब्ध ही नही होता है। उसका चरित्र इतना अलौकिक तथा महान् है कि जिसकी गणना नायक के किसी प्रकार के अन्तर्गत किया जाना सभव ही प्रतीत नही होता है। फिर भी उसकी गणना प्रधान रूप से धीरोद्धत नायक के अन्तर्गत तथा गौणरूप से धीरशान्त नायक के अन्तर्गत की जा सकती है। धीरोद्धत का लक्षण है :—

"दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाच्छद्मपरायणः।
धीरोद्धतस्त्वहङ्कारी चलश्चण्डो विकत्थनः ॥" दशरूपक २।५-६॥

इस नायक के प्रायः सभी उपर्युक्त गुण चाणक्य मे विद्यमान है।

"सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः ॥" दशरूपक २।४॥

धीरशान्त के इस लक्षण के अनुसार चाणक्य का ब्राह्मण होना तो स्पष्ट ही है किन्तु अन्य लक्षणों का स्पष्ट रूप चाणक्य मे दृष्टिगोचर नहीं होता है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार का नायक प्रायः 'प्रकरण' में ही हुआ करता है।

'मुद्राराक्षस' में उसका प्रत्यक्ष दर्शन प्रधान रूप मे तीन अङ्को में ही होता है। प्रथम अङ्क मे—जिसमे चाणक्य की राजनीति का बीज प्राप्त हुआ है, तृतीय अङ्क मे—जिसमे उसने राक्षस को धोखा देने के उद्देश्य से चन्द्रगुप्त के साथ कृत्रिम कलह की है एवं सप्तम अङ्क में—जिसमे राक्षस द्वारा आत्मसमर्पण कर दिये जाने के पश्चात् वह राक्षस को चन्द्रगुप्त के मन्त्रिपद पर आसीन कराता है। इस भाँति चाणक्य का सक्षम एवं अलौकिक शक्ति सम्पन्न होना स्पष्ट हो जाता है।

उसको अपनी बुद्धि पर पूर्ण विश्वास है। वह "बुद्धिर्यस्य बल तस्य" इस उक्ति का जीता-जागता प्रमाण है। प्रथम अङ्क की समाप्ति पर वह कहता है कि चाहे मेरा सर्वस्व चला जावे किन्तु सैकड़ों सेनाओं को अपने चातुर्य से पराजित कर देने में सक्षम मेरी बुद्धि न जावे :—

"एका केवलमर्थसाधनविधौ सेनाशतेभ्योऽधिका
नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम ॥" १।२६॥

उसका जीवन आत्माभिमान की भावना से ओत-प्रोत है। वह अपने आत्म-सम्मान का महान् रक्षक है। चन्द्रगुप्त द्वारा यह कहे जाने पर कि "विद्वान् भी आत्मप्रशंसक नही हुआ करते हैं" (विद्वांसोऽप्यविकत्थना भवन्ति।) वह पुनः प्रतिज्ञा करने के निमित्त उद्यत हो जाता है (देखिए ३।२९)। वह अपने अथवा अपने आश्रित के विरुद्ध एक भी वचन नही सुन सकता है। वह अपने को चन्द्रगुप्त का अभेद्य कवच समझता है। वह निष्फल क्रोध कभी नही किया करता है। नन्द ऐश्वर्य में साक्षात् कुबेर थे, शक्ति में इन्द्र सदृश थे। किन्तु चाणक्य के क्रोधानल में जलकर सभी भस्म हो गये। इसी क्रोध के कारण वह अपने युग में कुटिलमति (कौटिल्य) नाम से विख्यात था —

"कुटिलमति स एष येन क्रोधाग्नौ प्रसभमदाहि नन्दवंश. ॥" १।७।

नाटक की प्रस्तावना में :—

"क्रूरग्रहः सकेतुः सम्पूर्णमण्डलमिदानीम् । अभिभवितुमिच्छति बलात्"

इन शब्दों को श्रवणकर और यह समझकर कि "शत्रु चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करना चाहता है" उसका क्रोध जाग्रत हो जाता है और वह तडपता हुआ कहने लगता है :—

"आः क एष मयि स्थिते चन्द्रमभिभवितुमिच्छति ?"

वह निरीह तथा स्वार्थहीन व्यक्ति है। इतने बड़े साम्राज्य का प्रधान मन्त्री होने पर भी उसे अपने सुख-समृद्धि की चिन्ता नही है। "सादा जीवन उच्च विचार" ही उसके जीवन का लक्ष्य है। चन्द्रगुप्त के कंचुकी के शब्दों में उसकी इस विशेपता का स्पष्ट परिचय मिलता है :—

"अहो ! राजाधिराजमन्त्रिणो गृहभूतिः !! -कुतः ।

उपलशकलमेतद्भेदकं गोमयानां
वटुभिरुपहृतानां बर्हिषां स्तोम एषः ।
शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभि—
र्विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम् ।।" ३।१५।।

निरीहाणामीशस्तृणमिव तिरस्कारविषयः ।।" ३।१६।।

उसने अपने प्रयत्न से समूल नन्दवंश का नाश कर चन्द्रगुप्त मौर्य को गद्दी पर बिठा दिया किन्तु फिर भी स्वयं निर्लिप्त ही रहा।

वह दैव (भाग्य) में विश्वास नहीं करता है। चन्द्रगुप्त के मुख से जब वह यह सुनता है कि नन्दवंश का विनाश दैव ने किया (श्लोक सं० ३।२९ से पूर्व) तो वह कहता है :—

"दैवमविद्वान्सः प्रमाणयन्ति" ।

इसके साथ ही उसे अपने पुरुषार्थ पर ही पूर्ण विश्वास है।

वह गुणग्राहक भी है। शत्रु के गुणो की भी प्रशंसा वह निःसंकोच भाव से करता है। वह राक्षस के गुणो से पूर्णतया प्रभावित है। इसीलिये वह यह जानता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रधान मन्त्री यदि राक्षस को बना दिया जायेगा तो उसका शासनकाल पूर्ण शान्ति तथा निश्चिन्तता से बीतेगा तथा कोई अन्य राजा

का एकाएक परिवर्तन हमें दृष्टिगोचर होता है तथा हम उसे मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त के प्रधान मन्त्री के पद पर आसीन पाते हैं। इस भांति नाटक का समूचा कथानक राक्षस के दुर्भाग्य की ही गाथा-सी प्रतीत होता है। यद्यपि वह प्रत्येक परिस्थिति का डटकर सामना करता है किन्तु परिणाम में असफलता ही उसके हाथ लगती है। इस प्रकार उसका नाटकीय जीवन "यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोष." का जीता-जागता उदाहरण-सा प्रतीत होता है। आत्मसमर्पण कर दिये जाने के पश्चात् के उसके परिवर्तित जीवन की ओर दृष्टिपात करने पर महाकवि भास द्वारा लिखित निम्नलिखित उक्ति की चरितार्थता स्पष्ट रूप से सत्य प्रतीत होती है —

"नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।"

राक्षस के जीवन में बुद्धि, पराक्रम एवं भक्ति की सुमधुर त्रिवेणी सदा प्रवाहित होती हुई दृष्टिगोचर होती है। उसकी प्रतिभाशालिनी बुद्धि का लोहा तो स्वयं चाणक्य ने भी स्वीकार किया है। चाणक्य राक्षस को देखकर अपने मन ही मन कह रहा है —

"चाणक्य —(विलोक्य सहर्षं स्वगतम्) अये। अयममात्यराक्षस, नये महात्मना—

गुरुभि कल्पनाक्लेशैर्दीर्घजागरहेतुभि।
चिरमायासिता सेना वृषलस्य मतिश्च मे॥" ७।८॥

"पराक्रम' की दृष्टि से उसकी वीरता उच्च कोटि की थी। वह अपने समय का गण्यमान्य योद्धा था। वह नन्द का मुख्य मन्त्री तो था ही, साथ ही साथ वह उसका प्रधान सेनापति भी था। नन्द को उसकी वीरता पर पूर्ण विश्वास था (देखिये अङ्क २—श्लोक सं० १३ व १४)। उसके अन्दर चन्द्रगुप्त के सेनापतियों को अकेले ही मार देने की पूर्ण क्षमता विद्यमान थी। चाणक्य कह रहा है —

"अयं तव बलमुख्यान्नाशयेत् मापि पीडा"

उसे अपनी तलवार पर पूर्ण विश्वास था। उसकी तलवार चलाने की कला का लोहा शत्रु भी स्वीकार करते थे (देखिये श्लोक सं० ६।१६)। उत्साही

तो वह इतना अधिक था कि एकाकी ही सामरि-सदृश चन्द्रगुप्त की सेना को नष्ट कर चाणक्य के पंजे से चन्दनदास को छुड़ा लाने के लिये प्रयत्नशील है (देखिये ६।१८ के पश्चात् राक्षस का कथन)।

नन्दो के विनाश के पश्चात् कुसुमपुर पर चाणक्य एवं चन्द्रगुप्त का अधिकार हो जाने पर भी वह उस नगर मे अपनी इच्छानुसार निवास करता रहा। शत्रु के कार्यों में विघ्न उपस्थित करता रहा। उसके वक्षस्थल पर दाल दलता रहा। चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त उसका कुछ बिगाड़ भी न सके क्योंकि वे उसके पराक्रम और शक्ति से भयभीत थे (देखिये श्लोक सं० ३।२६।।)।

उसमे अपने स्वामी के प्रति अटूट श्रद्धा तथा भक्ति थी। वह दिवगत स्वामी की आत्मा को सन्तुष्ट करने हेतु कठोर अध्यवसाय करता है, अपने परिवार को भी भीषण संकट में डाल देता है। उसके इन्ही गुणो से चाणक्य अत्यधिक प्रभावित है। वह कहता है :—

"अहो राक्षसस्य नन्दवंशे निरतिशयो भक्तिगुणः।"

इत्यादि (अंक १)।

वह राक्षस पर मुग्ध है। अतएव उसकी प्रशंसा करता हुआ कहता है—

"ऐश्वर्यादनपेतमीश्वरमयं लोकोऽर्थतः सेवते
तं गच्छन्त्यनु ये विपत्तिषु पुनस्ते तत्प्रतिष्ठाशया।
भर्त्तुर्ये प्रलयेऽपि पूर्वसुकृतासङ्गेन निःसङ्गया
भक्त्या कार्यधुरां वहन्ति बहवस्ते दुर्लभास्त्वादृशाः।।" १।१४।।

वह राक्षस के बारे मे यही सोचता है कि किस भाँति यह (राक्षस) चन्द्रगुप्त के मन्त्रिपद को ग्रहण करके (हम लोगो पर) कृपा करने वाला होगा :—

"कथमसौ वृषलस्य साचिव्यग्रहणेन सानुग्रहः स्यादिति।।"

राक्षस के इन्हीं गुणों से प्रभावित उसका मित्र शकटदास भी उसके बारे में कहता है :—

"पृथिव्यां स्वामिभक्तानां प्रमाणे परमे स्थितः।।" २।२२।।

अर्थात् "राक्षस पृथिवी पर विद्यमान स्वामिभक्तो में सर्वश्रेष्ठ है।"

अत्यन्त राजनीतिज्ञ एव कूटनीतिज्ञ होते हुये भी वह मानवता का धनी है। जिसके साथ उसकी मैत्री हो गई—उसे वह अन्त तक निभाता है। वह अपने मित्रों को अपने से अभिन्न ही मानता है। यदि चन्दनदास राक्षस के लिये अपने प्राणों का बलिदान करने में तनिक भी सकोच नही करता है तो राक्षस भी बलिदान की इस भावना का बदला चुकाने को उद्यत है। वह चन्दनदास की रक्षा के निमित्त अपने को शत्रु के हाथो में समर्पित करने को तैयार है (देखिये श्लोक स० ७।२१)। चन्दनदास का परिवार सहित कारागार में बन्द किया जाना वह अपना ही बन्द किया जाना समझता है —

"ननु वक्तव्य सयमित सपुत्रकलत्रो राक्षस इति।"

मलयकेतु द्वारा राक्षस का महान् अपमान किया गया है। वह पकडा जाकर जब चाणक्य एव चन्द्रगुप्त के समक्ष लाया जाता है तो उस समय राक्षस चन्द्रगुप्त से कहता है —"विदितमेव ते यथा वय मलयकेतौ कचित्कालमुषिता-स्तत्परिरक्ष्यन्तामस्य प्राणा।" (अङ्क ७)। इस भाँति उसका सच्चा एव वास्तविक मित्र होना स्पष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त वह बात का धनी है। वह अपने कथन से कभी डिगता नही है। इन्ही उपर्युक्त सभी गुणों से प्रभावित होने के कारण चाणक्य उसे चन्द्रगुप्त का मन्त्री बनाने का इच्छुक है।

राक्षस शास्त्रो का श्रेष्ठ ज्ञाता भी है। राजनीति का तो वह अद्भुत खिलाडी है (श्लोक स० ७।८)। उसे ज्योतिष का भी उत्तम ज्ञान है। वह कहता है —

"भदन्त, तिथिरेव न शुध्यति।"

उसका न्याय एव नाट्यशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान भी प्रशसनीय है (देखिये—४।३ तथा ५।१० श्लोक)।

वह शकुन एव अपशकुनो पर भी विश्वास करता है। वह सर्पदर्शन तथा क्षपणक के दर्शन को अपशकुन ही समझता है। वह कहता है—"कथ प्रथममेव सर्पदर्शनम्।" इत्यादि २॥ वह पूर्ण भाग्यवादी भी है। नाटक में स्थान-स्थान पर उसकी भाग्यवादिता का दर्शन होता है। वह तो नन्दवश का विनाशक

"देव" को ही मानता है, चाणक्य को नहीं—"देवं हि नन्दकुलशत्रुरसौ न विप्रः ॥" ६।७॥ इत्यादि ।

राक्षस में जहाँ इतने गुण हैं वहाँ उसमें कुछ कमियाँ भी हैं । वह दूसरों पर शीघ्र ही विश्वास कर लेता है । इसी कारण उसे पराजय का भी सामना करना पड़ा है । यदि वह सिद्धार्थक तथा जीवसिद्धि पर विश्वास न करता तो उसकी पराजय न हुई होती । उसमें अधिकतर उतावलापन भी दृष्टिगोचर होता है । बीती हुई घटना का विराधगुप्त द्वारा श्रवण करते-करते ही वह वर्तमान काल में उसे समझकर एकाएक कहने लगता है—

राक्षसः—[शस्त्रमाकृष्य ससम्भ्रमम्] मयि स्थिते कः कुसुमपुरमुपरोत्स्यति ? प्रवीरक ! प्रवीरक ! क्षिप्रमिदानीम्—

"प्राकारं परितः शरासनधरैः क्षिप्रं परिक्रम्यताम्
द्वारेषु द्विरदैः प्रतिद्विपघटाभेदक्षमैः स्थीयताम् ।
त्यक्त्वा मृत्युभयं प्रहर्तुमनसः शत्रोर्बले दुर्बले
ते निर्यान्तु मया सहैकमनसो येषामभीष्टं यशः ॥२।१३।"

चाणक्य एवं राक्षस का तुलनात्मक चरित्र-चित्रण

नाटककार विशाखदत्त के मुद्राराक्षस में पात्रों का चरित्र प्रायः विरोध की पृष्ठभूमि के साथ चित्रित हुआ है । किन्तु उनका यह विरोध नाटककार की कल्पना-मात्र ही न होकर पात्रों की स्वाभाविकतापूर्ण चारित्रिक विशेषताओं से युक्त है । चाणक्य एवं राक्षस के चरित्र सम्बन्धी तुलनात्मक विवेचन में दोनों के साधर्म्य एवं वैधर्म्य की ओर दृष्टिपात करना आवश्यक है । पहले दोनों के साधर्म्य के बारे में विचारना उचित होगा—

कुल की दृष्टि से दोनों ही ब्राह्मण-कुल की शोभा हैं । दोनों ने अत्यन्त साहसपूर्ण योजनाओं का निर्माण किया है किन्तु साधनों की चिन्ता कभी नहीं की । चाणक्य चन्द्रगुप्त के राज्य को तथा राक्षस मलयकेतु को नन्दों की राजगद्दी पर आसीन कर उसे दृढ़ बनाने हेतु कृतसंकल्प हैं । एतदर्थ दोनों के द्वारा किये गये प्रयास पूर्णतया निःस्वार्थ हैं । दोनों कर्तव्यनिष्ठ होने के साथ ही साथ पूर्ण राजनीतिज्ञ, साहसी तथा बहुविध-साधन-सम्पन्न हैं । अपने-अपने उद्देश्यों की

पूर्ति के निमित्त दोनों ही तुच्छ से तुच्छ कार्य करने में हिचकते नहीं हैं। दोनों की दृष्टि में साधन की अपेक्षा साध्य का मूल्य अधिक है। एक दूसरे को नीचा दिखलाने अथवा पराजित करने के निमित्त दोनों ही उत्तम राजनीति का आश्रय लेते हैं। अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिये दोनों ने ही धोखा तथा हत्या का आश्रय लिया है, भेदनीति का आश्रय लिया है, भेदनीति का प्रयोग भी किया है। 'शत्रोरपि गुणा वाच्या" के सिद्धान्त के आधार पर दोनों ने एक दूसरे के गुणों की प्रशंसा की है। दोनों ही आत्मविश्वास के धनी हैं, शास्त्रज्ञ हैं।

इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों ही साधनों की बहुलता में, अपने अभीष्ट को पूर्णतया सिद्ध करने में, राजनीति के क्षेत्र में, कूटनीतिक षड्यन्त्रों के करने में समान हैं।

अब दोनों का चारित्रिक वैधर्म्य भी देखिये—

चाणक्य को अपनी बुद्धि पर भरोसा है, राक्षस को अपनी तलवार पर। एक में बुद्धि की प्रधानता है तथा दूसरे में पराक्रम की। चाणक्य धीर-प्रकृति वाला है, राक्षस अधीर प्रकृति का है तथा उसकी स्मरण शक्ति भी चाणक्य की अपेक्षा अधिक दुर्बल है। चाणक्य के हृदय में नन्दों के प्रति घृणा कूट कूटकर भरी हुई है। राक्षस की उनके प्रति अगाध श्रद्धा एवं भक्ति है। चाणक्य कठोर-हृदय तथा किसी के भी समक्ष न झुकनेवाला है, राक्षस स्वभाव से ही कोमल तथा सहृदय व्यक्ति है। चाणक्य दैव अथवा भाग्य के प्रति कोई आस्था नहीं रखता, वह पूर्णरूपेण पुरुषार्थवादी है। वह कहता है—'दैवमविद्वांसः प्रमाणयन्ति।"

राक्षस पूर्ण भाग्यवादी है तथा भाग्य पर ही आधारित है। नाटक में स्थान-स्थान पर उसकी भाग्यवादी विचारधारा अभिव्यक्त हुई है (देखिये २।८, २।१६ तथा ६।६)। वह अपनी असफलताओं के लिये भाग्य को ही दोषी ठहराता है—"दैवं हि नन्दकुलशत्रुरसौ न विप्रः।"

चाणक्य संसार में किसी भी व्यक्ति का विश्वास नहीं करता है। वह अत्यन्त शङ्कालु है। किन्तु राक्षस सभी पर विश्वास करता है—यहाँ तक कि वह चाणक्य के गुप्तचरों [illegible] समझकर उन पर भी विश्वास कर लेता [illegible] भी होना पड़ा है। अन्त में जब वह

चाणक्य के षड्यन्त्रों के चक्कर में फंस जाता है तो कहने लगता है—"हन्त, रिपुभिर्मे हृदयमपि स्वीकृतम् ।"

राक्षस में चाणक्य सदृश स्मरणशक्ति भी नहीं है। चाणक्य को यह पूर्णतया ज्ञात है कि कौन-सा व्यक्ति किस कार्य में लगाया गया है। किन्तु राक्षस यह भूल जाता है कि उसने किस व्यक्ति को किस कार्य के निमित्त नियुक्त किया था। वह एक स्थल पर कहता है—"कस्मिन् प्रयोजने मयायं प्रहित इति प्रयोजनानां बाहुल्यान्न खल्ववधारयामि ।"

राक्षस में चाणक्य सदृश दृढ़ता का भी अभाव-सा है। वह भावुक एवं सरल-हृदय है। द्वितीय अङ्क में विराधगुप्त की दशा देखकर वह रोने लगता है तथा पूरे वार्तालाप तक उसका यह क्रम शनैः शनैः चलता रहता है।

चाणक्य अपने प्रत्येक कार्यक्रम में सफलता को प्राप्त करता है। वह अपने कुशल गुप्तचर भागुरायण की कपटपूर्ण भेदनीति द्वारा राक्षस एवं मलयकेतु के बीच आन्तरिक फूट को उत्पन्न कर देने में सफलता प्राप्त करता है। किन्तु चाणक्य और चन्द्रगुप्त के मध्य भेद तथा फूट डालने सम्बन्धी राक्षस के सम्पूर्ण प्रयत्न असफल हो जाते हैं।

राक्षस राज्यलक्ष्मी को पुनः वापिस लेना चाहता है तथा उसकी प्राप्ति न होने पर वह निराशा की अनुभूति करता है। चाणक्य राज्यलक्ष्मी के प्रति उदासीन है। अतः उसकी दृष्टि में उसका कोई मूल्य नहीं है। उसके जीवन में निराशा का भाव कभी उत्पन्न ही नही होता। अपनी सफलता के निमित्त राक्षस को अपने सहायकों पर आश्रित रहना पड़ता है किन्तु चाणक्य केवल अपनी बुद्धि पर ही आश्रित है।

युद्ध-कौशल में राक्षस अत्यन्त निपुण है जबकि चाणक्य को शून्य ही कहा जा सकता है। इसी कारण चाणक्य उसके साथ युद्ध करने से कतराता है और अपने कूटनीतिक प्रयोगों द्वारा ही उसको वश में करने का प्रयास करता है।

इतना सब कुछ होने पर भी दर्शक अथवा पाठक की पूर्ण सहानुभूति राक्षस के साथ ही रहती है तथा उसकी पराजय से उन्हें दुःख भी होता है। अपने मित्र चन्दनदास की मैत्री को अमर बनाने के निमित्त वह आत्मसमर्पण को भी

अपने कर्तव्य के रूप में स्वीकार कर लेता है। राक्षस की यह त्यागपूर्ण भावना हम सभी पाठकों अथवा दर्शकों को उसके समक्ष नतमस्तक कर देती है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि राक्षस में सामान्य-मानव-दुर्बलताओं के साथ ही महापुरुषों सदृश महान् गुण भी विद्यमान हैं।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों राज-नीतिज्ञों में अत्यधिक वैधर्म्य भी है। इस अन्तर को चाणक्य के शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है :—

"चाणक्यस्त्वमपि च नैव केवलं ते
साधर्म्यं मदनुकृते प्रधानवैरम् ॥"

अर्थात् हे राक्षस ! तुम भी चाणक्य नहीं हो। केवल मुख्य (राजाओं के प्रति—चाणक्य की राजा नन्द के प्रति, राक्षस की राजा चन्द्रगुप्त के प्रति) शत्रुता तुम्हारे तथा मेरे अनुकरण की समानता (अवश्य) रखती है।

चन्द्रगुप्त—समूचे नाटक में चन्द्रगुप्त का चरित्र उस रूप में विकसित नहीं हो सका है कि जिस रूप में एक सम्राट् का चरित्र-चित्रित होना चाहिये था। इसका कारण यही हो सकता है कि नाटककार को प्रधानतया मात्र चाणक्य का ही चरित्र-चित्रित किया जाना अभीष्ट रहा हो। वस्तुतः चन्द्रगुप्त का चरित तो चाणक्य के ही चरित का पोषक है। सम्पूर्ण नाटक में एक भी स्थल ऐसा उपलब्ध नहीं होता है कि जो चन्द्रगुप्त की स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता का बोधक हो। इसी कारण उसका प्रभाव नगण्य सदृश है। उसे इस बात का दुःख है कि चाणक्य की कूटनीति के कारण उसे अपना पौरुष दिखलाने का अवसर ही प्राप्त नहीं हो सका है। वह स्वयं कहता है :—

"विनैव युद्धादार्येण जितं दुर्जयं परबलमिति लज्जित एवास्मि।"
[७।१० के पूर्व]

नाटककार ने भी चन्द्रगुप्त की राज्य के प्रति उदासीनता का वर्णन चाणक्य के निम्नलिखित शब्दों द्वारा किया है —

"वृषल एव केवलं प्रधानप्रकृतिरस्मास्वारोपितराज्यतन्त्रभारः सततमुदास्ते"

राक्षस भी उसको मन्त्री चाणक्य के आश्रित रहने वाला तथा लोक-व्यवहार-शून्य कहता है :—

"चन्द्रगुप्तस्तु दुरात्मा नित्यं सचिवायत्तसिद्धावेव स्थितश्चक्षुर्विकल इवाप्रत्यक्षलोकव्यवहार: कथमिव स्वयं प्रतिविधातुं समर्थ: स्यात्"
[४।१२ तथा ४।१३ के मध्य]।

अतः इन उपर्युक्त उद्धरणों द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि चन्द्रगुप्त का चरित्र चाणक्य के ही चरित्र का पोषक है।

चन्द्रगुप्त राजा नन्द की रखैल शूद्रा स्त्री मुरा के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। अतः वह शूद्र था। इसी कारण चाणक्य द्वारा उसे अनेक स्थलों पर 'वृषल' कहा गया है। चाणक्य की कृपा से ही वह पृथ्वीपति अथवा सम्राट् बन सका है। वह अत्यन्त तेजस्वी है (किमु लोकाधिकं तेजो बिभ्राणः पृथिवीपतिः ॥४।१२॥) हिमालय से लेकर दक्षिण-सागर पर्यन्त विद्यमान राजा-महाराजा उसकी आज्ञा के पालन में सदैव तत्पर रहा करते हैं (२।१६ तथा २४)। बाल्यकाल में ही राक्षस सदृश योग्य पारखी द्वारा उसकी इस प्रकार की उन्नति के लक्षण देखे जा चुके थे [२।१२॥]।

उसके चरित्र का विकसित स्वरूप तृतीय अङ्क में दृष्टिगोचर होता है। वह एक योग्य तथा विचारशील शासक है। कञ्चुकी के शब्दों (३।३॥) से इस बात की पुष्टि हो जाती है। चाणक्य की दृष्टि में वह एक व्यवहारकुशल राजा है—"अभिज्ञः खल्वसि लोकव्यवहाराणाम्"—(१।२० से पूर्व चाणक्य के कथन में)। उसके राज्य में किसी प्रकार के छल के लिये स्थान नहीं है। वह विद्रोहियों के प्रति अति कठोर है। उनको भयंकर दण्ड देने वाला है—"एवमपथ्यकारिषु तीक्ष्णदण्डो राजा" (चाणक्य का चन्दनदास के प्रति कथन—प्रथम अङ्क)। वह प्रकृति प्रेमी हैं। इसी कारण 'कौमुदी महोत्सव' मनाये जाने की घोषणा उसने करायी है तथा उसकी शोभा के निरीक्षणार्थ वह महल की छत पर चढ़ता है और प्रकृति की शोभा का निरीक्षण करता है।

वह पूर्ण रूप से अपने गुरु चाणक्य के संरक्षण में है तथा उनका परम भक्त है। उनकी आज्ञा का उल्लंघन किया जाना उसके लिये कथमपि संभव नहीं है। चाणक्य के रहते वह न तो विलासिता की ओर ही उन्मुख हो सका है और

न अधार्मिक रूप में राज्य का संचालन करने में ही। इस बारे में चन्द्रगुप्त का अपना ही कथन है —

"राज्य हि नाम राजधर्मानुवृत्तिपरस्य नृपतेर्महदप्रीतिस्थानम्"

चाणक्य के आदेश से वह उनके साथ कृत्रिम-कलह करने को उद्यत हो जाता है किन्तु फिर भी वह इस कार्य को पाप के सदृश ही मानता है :—"स च कयमपि मया पातकमिवाभ्युपगतः (३।५ के पश्चात्)। इस कृत्रिम-कलह के मध्य जब वह चाणक्य के कृत्रिम क्रोध को देखता है तो भय से सशङ्क होकर कहने लगता है "(सवेगमात्मगतम्) अये कथ सत्यमेवार्य कुपित ?" (श्लोक स० ३।३० मे पूर्व राजा की उक्ति)।

प्रजा का अनुरञ्जन करना ही उसके जीवन का लक्ष्य है "चन्द्रगुप्तस्य तु भवतामपरिक्लेश एव" (अङ्क १ मे चन्द्रगुप्त का कथन)।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि चन्द्रगुप्त अत्यन्त नम्र, उदार, गुरुभक्त, न्यायप्रिय, मन्त्री के अधीन राज्य भार को रखने वाला, प्रजानुरञ्जक तथा राजा के उदात्त गुणों से परिपूर्ण एक योग्य शासक है।

मलयकेतु—यह एक पर्वतीय राजकुमार है। इसके पिता का नाम पर्वतक था। विषकन्या द्वारा इसके पिता की मृत्यु कराई गई थी। इसमे चाणक्य का हाथ था—इस बात से मलयकेतु भली भाँति अवगत है। राक्षस ने इसका आश्रय इस विश्वास के साथ ले रखा है कि वह अपने पिता की मृत्यु का बदला अवश्य लेगा। इससे राक्षस के दो उद्देश्यों की पूर्ति होगी—(१) नन्दवंश के समूल नष्ट हो जाने का बदला तथा (२) अपने पिता की मृत्यु से कुपित मलयकेतु को नन्द के राज्य पर स्थापित करना। निस्सन्देह वह बड़ा पराक्रमी है, विजय का अभिलाषी भी है किन्तु राजनीति का ज्ञान उसे नाममात्र को भी नहीं है। परिणाम को बिना सोचे-समझे वह कार्य करने लगता है। बुद्धि का सदुपयोग करना तो वह जानता ही नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति का बिना सोचे समझे विश्वास कर लिया करता है। उसके हृदय में गम्भीरता भी नहीं है। वह उद्धत, अशान्त तथा धीरोद्धत प्रकृति का है। उसकी बुद्धि अपरिपक्व है—अतः मनुष्यों को पहचानने की सामर्थ्य इसमें नहीं है।

मलयकेतु का सर्वप्रथम प्रवेश चतुर्थ अङ्क में होता है। उसके स्वगत कथन से यह ज्ञात होता है कि उसके पिता का देहावसान हुए दस मास बीत चुके हैं किन्तु वह अपनी प्रतिज्ञा के कारण उनका पिंड दानादि अभी तक नहीं कर सका है। उसकी प्रतिज्ञा है कि शत्रुओं का वध करके ही वह अपने पिता का श्राद्ध आदि करेगा। अतः वह शीघ्रातिशीघ्र चन्द्रगुप्त पर आक्रमण कर देना चाहता है (४।१६ तथा १७)। उसका पिता अत्यन्त वीर था—अतः उसका भी शूरवीर होना स्वाभाविक ही है।

इन विशेषताओं के होने पर भी वह विवेकशून्य है। भावावेश में आकर कुछ का कुछ करने लगता है। चतुर्थ अङ्क में जब वह शिरोवेदना से पीड़ित राक्षस को देखने जाता है तब मार्ग में वह भागुरायण से कहता है कि यहाँ आने वाले भद्रभट आदि ने मुझसे कहा है कि हम लोगों ने सेनापति शिखरसेन के प्रभाव से प्रभावित होकर ही आपका आश्रय प्राप्त किया है, राक्षस के प्रभाव से नहीं। कई दिन तक विचार करने पर भी मैं इसका अभिप्राय न समझ सका। इसी बात के स्पष्टीकरण के साथ ही भागुरायण विवेकशून्य मलयकेतु के मन में राक्षस के प्रति दुर्भावना का बीज बोना आरम्भ कर देता है तथा आगे चलकर राक्षस विषयक यथार्थ को अयथार्थ और अयथार्थ को यथार्थ समझने लगता है। राक्षस की सीधी एवं सत्य बातों को भी छलपूर्ण समझने लगता है। इस भाँति शत्रुओं के षड्यन्त्रों को समझने में उसकी बुद्धि तनिक भी कार्य नहीं करती है। अपना तथा पराया कौन है? यह समझ सकने की भी सामर्थ्य उसमें नहीं है। इस विवेकशून्यता के कारण वह यही सोचने में प्रसन्न है कि—"दिष्ट्या न सचिवायत्तोऽस्मि" अर्थात् भाग्य से मैं मन्त्री (राक्षस) के अधीन नहीं हूँ।

इस भाँति भागुरायण नामक चाणक्य के गुप्तचर द्वारा वह ठग लिया गया है। पंचम अङ्क में मलयकेतु द्वारा राक्षस पर यह अभियोग लगाया जाता है कि उसने मलयकेतु के प्रति विश्वासघात तथा चन्द्रगुप्त के साथ सन्धि की वार्त्ता करना प्रारम्भ कर दिया है। इस अभियोग की अन्तिम परिस्थिति उस समय होती है जब कि पत्र के लेख को मिलाने के निमित्त शकटदास को न बुलाकर भागुरायण के कथनमात्र से उसके लेख की प्रतिलिपि ही मँगवाई जाती है। यदि वह प्रतिलिपि न मँगवाकर शकटदास को ही बुलवा लेता तो नाटक का अन्त

और मलयकेतु का मार्ग कुछ दूसरा ही रहा होता किन्तु वह तो भागुरायण द्वारा राक्षस के विरोध में इतना अधिक भरा जा चुका है कि अब उसे राक्षस की प्रत्येक गतिविधि ही षड्यन्त्र प्रतीत होने लगी है। अतः वह राक्षस को बहुत बुरा भला कहता है तथा उसका घोर अपमान करता है और बिना सोचे-विचारे ही राक्षस के मित्र कौलूत आदि राजाओं को भी मरवा देता है (श्लोक नं० ५।२२ के पूर्व का मलयकेतु का कथन)। अपमानित राक्षस के मुख से यह शब्द निकल ही पड़ते हैं—"अहो विवेकशून्यता म्लेच्छस्य"।

मलयकेतु राक्षस के इतने अपमान से भी सतुष्ट नहीं होता और कहता है कि हे कृतघ्न! तुमने मेरे पिता के ऊपर विषकन्या का प्रयोग कर उनकी हत्या की। अब भी हमारे शत्रु (चन्द्रगुप्त) के महामन्त्री के पद पर अपनी आखें लगाये हुये तुम यही चाहते हो कि हम मांस के टुकड़ों के समान बिक जायें और तुम उसकी कृपा का प्रसाद प्राप्त कर लो (५।२१ श्लोक)। यह सुनकर राक्षस के मुख से इतना ही निकलता है—' शान्त पाप शान्त पापम्। नाहं पर्वतेश्वरे विषकन्या प्रयुक्तवान्।"

इस विवेकशून्यता का परिणाम अन्त मे मलयकेतु के समक्ष आ जाता है कि जब वह भागुरायण इत्यादि के द्वारा कैद होकर चाणक्य के समक्ष उपस्थित कर दिया जाता है। किन्तु उस समय भी वह राक्षस द्वारा ही छुड़वा दिया जाता है। अतः मलयकेतु के बारे में यह कहा जाना उचित ही है कि वह विवेकशून्य है तथा पुरुषों को पहचानने में पूर्णतया असमर्थ है।

चन्द्रगुप्त और मलयकेतु का तुलनात्मक चरित्र-चित्रण

साधर्म्य की दृष्टि से दोनों के चरित्र मे कुछ समानता दृष्टिगोचर होती है। दोनों ही क्षत्रिय कुमार हैं। दोनों युवावस्था मे विद्यमान हैं तथा महत्त्वाकांक्षी हैं। दोनों ही क्रमशः चाणक्य और राक्षस के राजनीतिक शतरंज के मोहरे हैं। मलयकेतु राक्षस का स्नेहभाजन है और चन्द्रगुप्त चाणक्य का वात्सल्य-भाजन है। हाँ, इतना अवश्य है कि चन्द्रगुप्त पूर्णरूपेण चाणक्य के आश्रित है। वह अपनी बुद्धि से कुछ भी कार्य नहीं करता है किन्तु मलयकेतु ने अपने व्यक्तित्व को पूर्णरूपेण राक्षस के हाथों नहीं सौंपा है। वह अपनी बुद्धि से अनेक कार्य करता

है। चन्द्रगुप्त की चाणक्य के प्रति असीम श्रद्धा तथा विश्वास है किन्तु ऐसी आस्था राक्षस के प्रति मलयकेतु की नहीं है। वह अपने परम हितैषी राक्षस पर भागुरायण के बहकावे में आकर अविश्वास कर लेता है तथा उसको कटु शब्दों में भर्त्सना भी करता है [मित्रं ममेदमिति...इत्यादि ५।७]। चन्द्रगुप्त नीच जाति में उत्पन्न होने पर भी महत्त्वाकांक्षी है, शिक्षित तथा योग्य है। इसके विपरीत मलयकेतु मिथ्याभिमानी तथा अयोग्य और हठी है। चन्द्रगुप्त शान्त एवं गम्भीर है, मलयकेतु अशान्त एवं उद्धत है। चन्द्रगुप्त योग्य और विचारशील शासक है, मलयकेतु बुद्धिहीन, अयोग्य तथा अपरिपक्व बुद्धि वाला है। युवावस्था के मद में चूर, परिस्थितियों का विश्लेषण करने मे सर्वथा असमर्थ, शीघ्रकारी और विवेकशून्य है। यहाँ तक कि वह राक्षस को, "भीतर ही भीतर चन्द्रगुप्त के साथ मिलकर षड्यन्त्र करने वाला" समझ लेता है। उसे तो यदि चाणक्य के गुप्तचरों के हाथों का खिलौना ही कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसी कारण उसका पतन हुआ है।

अपने उद्देश्य की प्राप्ति में निराश राक्षस चन्द्रगुप्त और मलयकेतु के चरित्र का विश्लेषण करता हुआ मन ही मन कहता है :—

द्रव्यं जिगीषुमधिगम्य जडात्मनोऽपि,
नेतुर्यशस्विनि पदे नियता प्रतिष्ठा।
अद्रव्यमेत्य भुवि शुद्धनयोऽपि मन्त्री,
शीर्णाश्रयः पतति कूलजवृक्षवृत्त्या ॥ ७।१४ ॥

अर्थात् योग्य तथा विजय की इच्छा रखने वाले राजा को पाकर अल्पबुद्धि मन्त्री की भी स्थिति यशस्वी पद पर निश्चित रूप से रहा करती है (फिर बुद्धिमान मन्त्री का तो कहना ही क्या ?)। किन्तु अयोग्य (राजा) को पाकर योग्य तथा नीतिज्ञ मन्त्री भी जर्जरित आधार से युक्त तट पर उत्पन्न होने वाले वृक्ष के सदृश पतन को ही प्राप्त हुआ करता है।

चन्द्रगुप्त कृतवेदी है किन्तु मलयकेतु उपकार करने वाले व्यक्ति को भी नहीं पहचान पाता है। इस भाँति यह कहा जाना अनुपयुक्त न होगा कि दोनों के चरित्र ३६ के अंक के सदृश एक दूसरे के विपरीत हैं।

चन्दनदास—इस नाटक में सर्वाधिक हृदय को स्पर्श करने वाला चरित्र

चन्दनदास का ही है। प्रथम अंक के मध्य में तथा सप्तम अंक के आरम्भ में वह दर्शकों के समक्ष आता है। वह मणिकार श्रेष्ठी है, जौहरियों का नेता है तथा जाति से वैश्य है। वह राक्षस का परम विश्वसनीय मित्र है। वह अपने मित्र राक्षस के लिये बड़ी प्रसन्नता के साथ मृत्यु का आलिङ्गन करने में भी तनिक संकोच नहीं करता है। वह अपना प्राण तथा स्त्री-पुत्र का संकट में डालना स्वीकार कर लेता है किन्तु राक्षस के परिवार को चाणक्य को सौंपना स्वीकार नहीं करता। चाणक्य जब उसे तीक्ष्ण दण्ड देने की धमकी देता है तब वह कहता है —

"सज्जोऽस्मि। अनुतिष्ठतु आर्य आत्मनोऽधिकारानुरूपम्" ॥अंक-१॥

अपने मित्र राक्षस के लिए प्राणोत्सर्ग करते हुए उसे अपने पर गर्व है। वध्यस्थान पर विलाप करती हुई अपनी पत्नी से वह कहता है :—

"आर्ये! सत्यम्, मित्रकार्येण मम विनाशो, न पुरुषदोषेण, तत् किं हर्षस्थानेऽपि रोदिषि?" [अंक-७]।

इस भाँति चन्दनदास ने आत्मत्याग सम्बन्धी एक सुन्दर उदाहरण उपस्थित किया है। इसी कारण चन्दनदास के प्राणों की रक्षा के निमित्त आत्मसमर्पण करते हुए राक्षस कहता है —

"दुष्कालेऽपि कलावसज्जनरुचौ प्राणैः परं रक्षता
नीतं येन यशस्विनातिलघुतामौशीनरीयं यशः।
बुद्धानामपि चेष्टितं सुचरितैः क्लिष्टं विशुद्धात्मना
पूजार्होऽपि स यत्कृते तव गतो वध्यत्वमेषोऽस्मि सः ॥७।५॥

अर्थात् अनुचित लोक प्रवृत्ति वाले पापी (इस) कलियुग में भी (अपने) प्राणों से दूसरे की रक्षा करते हुए जिस यशस्वी ने शिवि के यश को भी तुलना में अत्यन्त लघु बना दिया है। जिस पवित्र आत्मा ने अपने पवित्र आचरणों से बुद्धों के भी आचरणों को तिरस्कृत कर दिया है। पूजा के योग्य वह महात्मा जिस मेरे लिये तुम्हारा शत्रु बन गया है, वही मैं यहाँ उपस्थित हूँ।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि चन्दनदास का चरित्र एक आदर्श-चरित्र है तथा समाज के लिये सर्वथा अनुकरणीय है।

रस

'मुद्राराक्षस' का अङ्गी (प्रधान) रस वीर है। इस रस का परिपाक मुद्राराक्षस में जिस रूप में हुआ है वह संस्कृत के काव्य एवं नाट्यसाहित्य में अपना एक अद्भुत और अपूर्व ही स्थान रखता है। मुद्राराक्षस के वीर रस को यदि नाटककार के व्यक्तित्व का निष्पन्द ही कह दिया जाय तो अनुचित न होगा।

युद्ध सम्बन्धी वीरता में मानवता के अतिरिक्त पशुता का भी हाथ रहा करता है किन्तु राष्ट्र-हित-चिन्तन-सम्बन्धी जिस महान् आत्मोत्साह नामक भाव का चित्रण वीर-रस में हुआ करता है वह मानव के एक मात्र स्वकीय व्यक्तित्व का ही प्रतिबिम्ब हुआ करता है। इसी प्रकार के वीर-रस की योजना नाटककार विशाखदत्त द्वारा इस नाटक में की गई है।

जिस भाँति महाकवि कालिदास की रस-भाव-योजना अपने क्षेत्र में अपूर्व तथा अनुपम कही जाती है उसी भाँति नाटककार विशाखदत्त की रस-भाव-योजना को भी उनके अपने क्षेत्र की दृष्टि से अपूर्व ही कहा जा सकता है। उनकी जैसी रस-भाव-योजना का कोई उद्धरण सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य में उपलब्ध ही नहीं होता है।

संस्कृत-नाटकों के आलोचकों का कहना है कि मुद्राराक्षस में 'महावीर-चरित' अथवा 'वेणीसंहार' जैसी वीर-रस-भाव-योजना की अभिव्यक्ति दृष्टिगोचर नहीं होती है। उनका यह कथन समीचीन प्रतीत नही होता है क्योंकि उक्त दोनों वीर-रस प्रधान नाटकों का वातावरण कुछ दूसरे ही प्रकार का है और मुद्राराक्षस का कुछ दूसरे ही प्रकार का। 'मुद्राराक्षस' में जिस वातावरण में वीर-रस की अभिव्यंजना हुई है उसका दर्शन अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता है। मुद्राराक्षस की वीर-रस सम्बन्धी अभिव्यक्ति में तत्कालीन राजनीतिक-जीवन की उन्नतिशीलता के लिये उत्सुक एक कर्मठ राजनीतिक नेतृत्व की अदम्य आत्मोत्सर्ग की भावना तथा आत्मोत्साह की प्रबल प्रेरणा का स्पष्ट दर्शन होता है जिसका अन्यत्र दर्शन दुर्लभ है।

शृङ्गार का आभास तथा विषय के बौद्धिक स्तर का होने के कारण मुद्राराक्षस कुछ नीरस-सा अवश्य प्रतीत होता है किन्तु फिर भी उसमें काव्योचित उदात्तता का अभाव नही है। चाणक्य की उत्साह-शक्ति अपूर्व है। उसकी

उक्तियो में वीर-रस का सम्यक् परिपाक हुआ है। वह, ऐसा सिंह है कि जिसके जबड़े के मध्य हाथ डालकर उसकी दाढ़ उखाड़ने का दुस्साहस कोई कर नहीं सकता। अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार के द्वारा व्यंजित वीर-रस सम्बन्धी उक्त चित्र का दर्शन इस पद्य में कीजिये :—

"आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभा
सन्ध्यारुणामिव कलां शशलाञ्छनस्य।
जृम्भाविदारितमुखस्य मुखात्स्फुरन्तीं
को हर्तुमिच्छति हरेः परिभूय दंष्ट्राम् ॥१।८॥

उसने राक्षस के देखते हुए, संसार के समक्ष यह भीषण प्रतिज्ञा की थी कि वह नन्दों का वंशसहित (समूल) नाश कर देगा। इस प्रतिज्ञा के समय क्रोध के आवेश में कम्पनयुक्त उसकी अँगुलियों ने बड़ी शीघ्रता के साथ अपनी शिखा को खोल डाला था। परिणामस्वरूप नन्दों का समूल नाश हुआ [देखिये श्लोक न० १।२७॥]।

मलयकेतु तथा राक्षस की उक्तियों में भी वीर रस सम्बन्धी परिपाक के दर्शन होते हैं।

राक्षस की वीरता का मर्मस्पर्शी चित्र छठे अंक में देखने को मिलता है। परिस्थितियों वश उसे मलयकेतु से पृथक् होना पड़ा है। वह अब पूर्णतया असहाय है किन्तु फिर भी चन्दनदास पर आई हुई विपत्ति का समाचार पाकर उसका रक्त खौलने लगता है। उसकी सहायक एकमात्र उसकी खड्ग ही है। वह कहता है :—

"निस्त्रिंशोऽयं विगतजलदव्योमसङ्काशमूर्ति-
र्युद्धश्रद्धापुलकित इव प्राप्तसख्यः करेण।
सत्त्वोत्कर्षात् समरनिकषे दृष्टसारः परैर्मे
मित्रस्नेहाद्विवशमधुना साहसे मां नियुङ्क्ते ॥६।१६॥"

वीरता के इस गम्भीर वातावरण के मध्य प्रणय की कोमलता का कैसा सजीव चित्रण प्रस्तुत किया गया है, दर्शनीय है।

उपर्युक्त अङ्गी रस के अतिरिक्त कुछ अन्य रसों का भी परिपाक नाटककार

द्वारा गौण-रसों के रूप में किया गया है। दो एक शृङ्गार सम्बन्धी चित्र देखिये। प्रथम उद्धरण में शृङ्गारी-चित्र अप्रस्तुत के रूप में वर्णित है तथा द्वितीय उद्धरण में निषेध-पद्धति के आश्रय के साथ :—

"वामां बाहुलतां निवेश्य शिथिलं कण्ठे निवृत्तानना
स्कन्धे दक्षिणणा बलान्निहितयाऽप्यङ्के पतन्त्या मुहुः।
गाढालिङ्गनसङ्गपीडितसुखं यस्योद्यमाशङ्किनी
मौर्यस्योरसि नाधुनाऽपि कुरुते वामेतरं श्रीः स्तनम् ॥२-१२॥"

चन्द्रगुप्त को इस बात का दुःख है कि उसके द्वारा घोषणा करा दिये जाने पर भी पुष्पपुर (पटना) निवासी कौमुदी महोत्सव नहीं मना रहे हैं :—

"धूर्तैरन्वीयमानाः स्फुटचतुरकथाकोविदैर्वेशनार्यो
नालङ्कुर्वन्ति रथ्याः पृथुजघनभराक्रान्तमन्दप्रयातैः।
अन्योन्यं स्पर्द्धमाना न च गृहविभवैः स्वामिनो मुक्तशङ्काः
साकं स्त्रीभिर्भजन्ते विधिमभिलषितं पार्वणं पौरमुख्याः ॥३।१०॥

इसी प्रकार कुछ अन्य गौण रसों सम्बन्धी वर्णन भी 'मुद्राराक्षस' में उपलब्ध होते है।

मुद्राराक्षस का वैशिष्ट्य

यह नाटक विशुद्ध कूटनीति से परिपूर्ण राजनीति-प्रधान नाटक है। यह नाटक प्रायः सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य के उपलब्ध नाटकों में अपने प्रकार का एक अनोखा ही नाटक है। इस नाटक की प्रमुख विशेषतायें ये हैं :—

(१) किसी नायिका का न होना, इस नाटक की प्रमुख विशेषता है। चन्द्रगुप्त एवं मलयकेतु की प्रतीहारी शोणोत्तरा और विजया को छोड़कर सम्पूर्ण नाटक में केवल एक ही स्त्री पात्र है—चन्दनदास की पत्नी। सप्तम अङ्क में यह स्वपुत्रसहित दर्शकों के समक्ष आती है। इन तीनों स्त्री पात्रों में भी किसी प्रकार की शृङ्गार सम्बन्धी भावनाओं का दर्शन नहीं होता। प्रकृति घटनाओं को गतिशील बनाने के लिये ये तीनों साधन मात्र हैं। चन्दनदास की पत्नी अपने पति के प्रति आत्म-त्याग तथा कठोर कर्त्तव्य की दृढ़ भावना के साथ रंगमंच पर उपस्थित होती है। वह कहती है :—"भर्तुश्चरणावनुगच्छन्त्या

प्रयास किया है। परिणामस्वरूप चरित्र-चित्रण ही इस नाटक का प्राण बन गया है। केवल इसी आधार पर इस नाटक को पूर्णरूपेण-सफल कहा जा सकता है, अन्य विशेषताओं की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। दो पात्रों के पारस्परिक विरोध एवं संघर्ष मे प्रत्येक पात्र के चरित्र का पूर्ण विकास हुआ है। इस भांति इस नाटक मे अधिकांश पात्रो का चित्रण युगलरूप में हुआ है— (अ) कूटनीति प्रधान राजनीति मे चतुर चाणक्य और राक्षस। (ब) परस्पर विरोधी गुणों से युक्त एक दूसरे के शत्रु राजा चन्द्रगुप्त और मलयकेतु तथा (स) भागुरायण तथा सिद्धार्थक। चाणक्य को नन्दवंशीय राजाओं का महान् विरोधी रूप में चित्रित किया गया है। साथ ही उसे नन्द वंश का विनाशक भी दिखलाया गया है। उसका सर्वाधिक स्नेहभाजन चन्द्रगुप्त है। इसके विपरीत राक्षस नन्द के पक्ष में है। नन्दवंश के प्रति उसकी आस्था उतनी ही दृढ तथा अविचल है जितनी चाणक्य की नन्दवंश के प्रति घृणा। [इसका विस्तृत विवेचन चरित्र-चित्रण शीर्षक में देखिये।]

इस भांति यह स्पष्ट हो जाता है कि नाटककार ने ऐसे पात्रो की कल्पना की है, जो साधारण होते हुए भी असाधारण प्रतीत होते हैं, देश-काल से परिच्छिन्न होते हुए भी अपरिच्छिन्न हैं, नाटकीय होते हुए भी वास्तविक हैं तथा यथार्थ होते हुए भी आदर्श हैं। चाणक्य एवं राक्षस दोनों का संघर्ष कामिनी अथवा कांचन के लिये न होकर महान् आदर्शों के निमित्त ही है। चाणक्य का आदर्श है —

"बुद्धया निगृह्य वृषेलस्य कृते क्रियाया-
मारण्यकं गजमिव प्रगुणीकरोमि ॥" १।२६ ॥

तथा राक्षस का लक्ष्य है —

"दैवं स्वर्गगतोऽपि शात्रववधेनाराधितं स्यादिति ॥" २।५ ॥

दोनों ही निष्काम तथा निरीह हैं। दोनों ने राजनीति का प्रयोग अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये न कर किसी अन्य के लिये किया है। दोनों की दृष्टि में जय-पराजय का उतना महत्त्व नहीं है जितना कि कर्त्तव्य-निर्वाह का। इस भांति यह स्पष्ट हो जाता है कि नाटककार द्वारा चित्रित चरित्र-चित्रण ही इस नाटक का प्रमुख आधार है।

(७) अङ्कों का पृथक्-पृथक् दृश्यों के साथ विभाजन किया जाना भी इस नाटक की अपनी एक विशेषता है। यह शैली नाटककार की मौलिकता की प्रतीक है। भास, कालिदास आदि नाटककारों ने अपने नाटकों में अङ्कों का विभाजन पात्रों को लक्ष्य कर किया है, दृश्यों को लक्ष्य बनाकर नहीं। अतः यह बात स्पष्ट है कि इस नाटक में विलक्षण कथावस्तु की योजना तथा सुव्यवस्थित दृश्य-विधान का अपना एक विशिष्ट स्थान है।

(८) सक्रिय-राजनीति की दृष्टि से लिखा गया यह नाटक अपने रूप मे अनोखा ही है। चाणक्य तथा राक्षस दोनों की ही दृष्टि में लक्ष्य का महत्त्व सर्वाधिक है, साधन का नही। पाश्चात्य आलोचकों द्वारा निर्धारित मापदण्ड के आधार पर एकमात्र यही ऐसा नाटक है कि जो खरा उतरता है।

(९) नाट्यशास्त्र में नाटक के जिन आवश्यक तत्त्वों का वर्णन किया गया है उन सभी का निर्वाह इस नाटक में पूर्णरूप से हुआ है। इनमें से प्रमुख तत्त्वो (नेता, वस्तु और रस) का विशद विवेचन इसी भूमिका में विस्तार से किया गया है।

अन्त में यह कह देना अनुचित न होगा कि अनेक दृष्टियों से यह नाटक (मुद्राराक्षस) संस्कृत-साहित्य की अनुपम देन है।

मुद्राराक्षस में सुभाषितों का प्रयोग

प्रथम अंक—

(१) प्रज्ञाविक्रमभक्तय: समुदिता येषां गुणा भूतये ।
ते भृत्या नृपते: कलत्रमितरे सम्पत्सु चापत्सु च ॥ १५ ॥

(२) श्रोत्रियाक्षराणि प्रयत्नलिखितान्यपि नियतमस्फुटानि भवन्ति ।

(३) यथानुचित उपचारो हृदयस्य परिभवादपि दु:खमुत्पादयति ।

(४) अत्यादर: शङ्कनीय: ।

(५) कीदृशस्तृणानामग्निना सह विरोध: ।

(६) शिरसि भयमतिदूरे तत्प्रतीकार: ।

द्वितीय अंक—

(१) प्रकृत्या वा काशप्रभवकुसुमप्रान्तचपला ।
पुरन्ध्रीणां प्रज्ञा पुरुषगुणविज्ञानविमुखी ॥ ७ ॥

(२) किं शेषस्य भरव्यथा न वपुषि क्ष्मां न क्षिपत्येष यत्
किं वा नास्ति परिश्रमो दिनपतेरास्ते न यन्निश्चल: ।
किं त्वङ्गीकृतमुत्सृजन्कृपणवच्छ्लाघ्यो जनो लज्जते
निर्व्यूढ: प्रतिपन्नवस्तुषु सतामेतद्धि गोत्रव्रतम् ॥ १८ ॥

(३) भव्यं रक्षति भवितव्यता ।

तृतीय अंक—

(१) परायत्त: प्रीते: कथमिव रसं वेत्ति पुरुष: ॥ ४ ॥

(२) श्रीर्लब्धप्रसरेव वेशवनिता दुःखोपचर्या भृशम् ॥ ५ ॥

(३) सेवां लाघवकारिणीं कृतधिय: स्थाने श्ववृत्तिं विदु: ॥१४॥

(४) निरीहाणामीशस्तृणमिव तिरस्कारविषय: ॥ १६ ॥

(५) न निष्प्रयोजनमधिकारवन्त: प्रभुभिराहूयन्ते ।

(६) दैवमविद्वांस: प्रमाणयन्ति ।

(७) विद्वांसोऽप्यविकत्थना भवन्ति ।

चतुर्थ अंक—

(१) त्वद्बाहुच्छायान्तरितानि सम्प्रति विभो तिष्ठन्ति साध्यानि न: ॥ १५ ॥

(२) प्रायो भृत्यास्त्यजन्ति प्रचलितविभवं स्वामिनं सेवमाना: ॥ २२ ॥

पंचम अंक—

(१) मुण्डितमुण्डो नक्षत्राणि पृच्छसि ।

(२) अधिकारपदं नाम निर्दोषस्यापि पुरुषस्य महदाशंकास्थानम् ।

(३) अयमपरो गण्डस्योपरि स्फोटः ।

षष्ठ अंक—

(१) तत्किंनिमित्त कुकविकृतनाटकस्येवान्यन्मुखेऽन्यन्निर्वहणे ।

(२) दैवेनोपहतस्य बुद्धिरथवा सर्वा विपर्यस्यति ।। ८ ।।

(३) अलक्षितनिपाताः पुरुषाणां समविषमदशापरिणतयो भवन्ति ।

(४) सोऽयमभ्यर्णः शोकवज्रपातो हृदयस्य ।

सप्तम अंक—

(१) कार्याणां गतयो विधेरपि न यान्त्यालोचनागोचरम् ।। १६ ।।

(२) किं कर्तव्यमतः परम् ।

प्रकारादिक्रम से श्लोको की सूची

	श्लोक	अक	श्लोक		श्लोक	अक	श्लोक
१	अक्षीणमक्ति.	२	२५	२४	इष्टात्मजः	२	८
२	*अतिशयगुरु—	६	१	२५	इह हि रचयन्	३	६
३	अत्याहिमुहे	४	१६	२६	उच्छ्रिक्षाश्रय—	६	५
४	अत्युच्छ्रिते	४	१३	२७	उत्तुङ्गस्तुङ्ग—	४	१६
५	अदिसअगुरु—	६	३	२८	उदितमत्त'	१	१२
६	अन्तः शरीर—	६	११	२९	उच्चच्छ्ता	४	६
७	अपामुद्वृत्ताना	३	८	३०	*उपरि घन	१	२२
८	अप्राज्ञेन	१	१५	३१	उपलशकल—	१	१५
९	अम्भोधीना	१	२४	३२	उल्लङ्घयन्	१	१०
१०	*अर्हंता प्रणमामो	५	२	३३	उवरिघण	१	२२
११	अलिहन्ताण	५	२	३४	*एकगुणा भवति	४	२०
१२	अश्वैः सार्द्धमजस्र—	७	१५	३५	एक्कगुणा होई	४	२०
१३	*अस्ताभिमुखे	४	१६	३६	एतानि तानि	५	१६
१४	अस्माभिरमु—	२	२०	३७	ऐश्वर्यादन—	१	१४
१५	आकर. सर्व	७	७	३८	कन्या तस्य	२	१६
१६	आकाश काश—	३	२०	३९	कन्या तीव्रविष—	५	२१
१७	आनन्दहेतु—	२	६	४०	कमलाणां	१	१६
१८	आरुह्यारूढ—	१	२७	४१	*कमलानां	१	१६
१९	आर्याजयेव	३	११	४२	कर्णेनेव	२	१५
२०	आलिङ्गन्तु—	१	२	४३	काम नन्दमिव	२	६
२१	आविर्मूतानु—	४	२२	४४	कार्योपक्षेप—	४	१
२२	आश्लेषे द्रा—	३	१६	४५	किं शेषस्य	२	१८
२३	आस्वादित—	१	८	४६	किं गच्छामि	५	२४

*इस चिह्न वाले श्लोक प्राकृत पद्यो की सस्कृत छाया हैं।

श्लोक	अंक	श्लोक
४७. किमौषध—	६	१६
४८. कुले लज्जायां	५	४
४९. कृतागाः कौटिल्यो	३	११
५०. केनोत्तुङ्ग—	७	६
५१. कौटिल्य।	१	७
५२. कौटिल्यधी—	२	२
५३. कौमुदी कुमुदा—	४	९
५४. कौलूतश्चित्र—	१	२०
५५. क्रूरग्रहः	१	६
५६. क्षताङ्गानां	६	१२
५७. गम्भीरगर्जित—	४	१७
५८. गुणवत्युपाय—	१	५
५९. गुरुभिः कल्पना—	७	८
६०. गृध्रैराबद्ध—	३	२८
६१. गौडीनां लोध्र—	५	२३
६२. चन्द्रगुप्तस्य	५	१७
६३. चाणक्कम्मि	१	२१
६४. चाणक्यतः	३	३१
६५. *चाणक्येऽस्मिन्	१	२१
६६. चीयते बालि—	१	३
६७. छग्गुणसंजोअ—	६	४
६८. जअदि जलद—	६	१
६९. जइ लक्खिदुं	७	१
७०. जगतः	७	१३
७१. *जयति जलद—	६	१
७२. जाणन्ति तन्त—	२	१
७३. *जानन्ति तन्त्र—	२	१
७४. जोअणसअं	४	१
७५. तिप्पन्तीए गुणेसु	५	९
७६. तीक्ष्णादुद्विजते	३	५
७७. *तृप्यन्त्यै गुणेषु	५	९
७८. त्यजत्यप्रियवत्—	१	२५
७९. त्वय्युत्कृष्ट—	४	१५
८०. दुष्कालेऽपि	७	५
८१. *दूरे प्रत्यासत्तिः	४	४
८२. दूले पच्चासत्ती	४	४
८३. दृष्ट्वा मौर्यमिव	२	२१
८४. देवस्य येन	४	११
८५. देवे गते	६	७
८६. द्रव्यं जिगीषु—	७	१४
८७. धन्या केयं	१	१
८८. धूर्तैरन्वीयमाना	३	१०
८९. न तावन्निर्दयैः	२	१०
९०. नन्दकुलकाल—	१	९
९१. नन्दस्नेहकरणाः	७	१६
९२. नन्दैर्वियुक्त—	३	१८
९३. नायं निस्त्रिंश	६	२१
९४. निस्त्रिंशोऽयं	६	१९
९५. नृपोऽपकृष्टः	४	१४
९६. नेदं विस्मृत—	५	५
९७. पणमह जमस्स	१	१७
९८. पतिं त्यक्त्वा	६	६
९९. परार्थानुष्ठाने	३	४
१००. पाउणणिरवसेस	२	११

श्लोक	अंक	श्लोक	श्लोक	अंक	श्लोक
१०१ पादस्यावि—	१	२	१२७ मद्भृत्यैः	३	१३
१०२ पादाग्रं दृष—	५	१३	१२८ मम विमृशतः	४	२
१०३. पितृन् पुत्राः	६	१७	१२९. मित्रं ममायमिति	१	१७
१०४ *पीत्वा निरव—	२	११	१३० मित्राणि शत्रुत्व—	५	१८
१०५ पुरिमस्म	१	१८	१३१ *मुक्त्वा आमि—	७	१३
१०६. *पुरुषस्य	१	१८	१३२ मुद्रा तस्य	५	१५
१०७ पृथिव्या किं	२	७	१३३ मुहूर्तस्या—	५	१३
१०८ पौरैरङ्गुलि—	६	१०	१३४ मोहूर्ण आमि—	७	३
१०९ प्रकुर्वन्	६	१४	१३५ मौर्यस्तेजसि	२	२३
११०. प्रत्यग्रोमेष—	३	२१	१३६ मौर्योऽसौ	५	१६
१११ *प्रणमत यमस्य	१	१७	१३७ यत्रैषा	२	१४
११२ प्रस्यातव्य पुर—	६	११	१३८ *यदि रक्षितुं	७	१
११३ प्राकारं परितः	२	१३	१३९ यदि न शक्टो	६	२०
११४ प्रारभ्यते न	२	१७	१४० येन स्वामिकुल	७	४
११५ फलयोगमवाप्य	७	१०	१४१ ये याताः	१	२६
११६ बाल एव हि	७	१२	१४२ *योजनशत	४	१
११७ *बुद्धिजलनिर्झरैः	५	१	१४३ यो नन्दमौर्य—	३	१७
११८ बुद्धिजलनिर्झरैः	५	१	१४४ यो नष्टानपि	६	८
११९ भक्त्या नन्दकुला—	५	५	१४५ राक्षसेन सम	७	१७
१२० भव तावत्	५	१२	१४६ राज्ञा चूडा—	४	१२
१२१ भर्तुस्तथा	३	६	१४७ रूपादीन्	३	१
१२२ *भवति पुरुषस्य	७	२	१४८ लग्ने होई	४	२१
१२३ भूषणाद्युप—	३	२३	१४९ *लग्न भवति	४	२१
१२४ भृत्यत्वे परि—	५	२०	१५० लङ्घाया पुरि	३	२६
१२५ भृत्या भद्रभट—	७	६	१५१ वक्षस्ताडन—	४	५
१२६ भेत्तव्य यते.	३	१४	१५२ वहति जलमिय	१	४
			१५३ वामा बाहुलता	२	१२

श्लोक	अंक	श्लोक
१५४. वाराहीमात्य—	७	१६
१५६. विक्रान्तैर्नय—	१	२३
१५६. विगुणीकृत—	७	११
१५७. विपर्यस्तं	६	११
१५८. विरुद्धयो—	२	३
१५९. विष्णुगुप्तं च	५	२२
१६०. वृष्णीनामिव	२	४
१६१. शनैः शान्ताः	३	७
१६२. शार्ङ्गज्याकृष्टि—	६	९
१६३. *शासनमर्हतां	४	१८
१६४. शिखां मोक्तुं	३	२९
१६५. शिवेरिव	६	१८
१६६. शोचन्तो	१	१२
१६७. श्यामीकृत्या—	१	११
१६७. श्रावितोऽस्मि	६	१५
१६६. श्रुतं सखे	५	६
१७०. *षड्गुणसंयोग—	६	४
१७१. संभस्पन्दि—	३	३०
१७२. सत्त्वभङ्गभया—	४	८
१७३. सत्त्वोत्कर्षस्य	३	२२
१७४. स दोषः	३	३२
१७५. सद्यः क्रीडारस—४		१०
१७६. *सन्तापयन्तः	६	२
१७७. सन्तावेन्ता	६	२
१७८. समुत्खाता नन्दाः	१	१[illegible]
१७९. सवाहन—	७	१८
१८०. स हि मृशमभि—३		२५
१८१. साव्ये निश्चित—५		१०
१८२. सासरणमलि—	४	१८
१८३. सुलभेष्वर्थ—	१	२४
१८४. सुविश्रब्धैः	३	[illegible]
१८५. सोत्सेधैः	४	७
१८६. स्तुवन्त्यश्रान्ता—३		१[illegible]
१३७. स्मृतं स्यात्	५	१४
१८८. स्वच्छन्दमेक—	१	२७
१८९. स्वयमाहृत्य	१	१६
१९०. परिहृतभयश्च	२	१९
१९१. होदि पुलिसस्स	७	२

ओम्

श्रीविशाखदत्तप्रणीतम्

मुद्राराक्षसम्

प्रथमोऽङ्कः

धन्या केयं स्थिता ते शिरसि शशिकला किन्नु नामैतदस्या
नामैवास्यास्तदेतत् परिचितमपि ते विस्मृतं कस्य हेतोः ।
नारीं पृच्छामि नेन्दुं कथयतु विजया न प्रमाणं यदीन्दु-
र्देव्या निह्नोतुमिच्छोरिति सुरसरितं शाठ्यमव्याद्विभोर्वः ॥१॥

अन्वयः—ते शिरसि स्थिता इयं का धन्या ? शशिकला । एतत् अस्याः नाम नु किम् ? अस्याः नाम एव । तदेतत् ते परिचितमपि कस्य हेतोः विस्मृतम् ? नारीं पृच्छामि इन्दुं न । यदि इन्दुः प्रमाणं न, विजया कथयतु ।—इति देव्याः सुरसरितं निह्नोतुम् इच्छोः विभोः शाठ्यं वः अव्यात् ॥१॥

व्याख्या—ते—तव, शिरसि—मस्तके, स्थिता—आसीना, इयं—दृश्य-माना, का—अनिर्वचनीया, धन्या—सौभाग्यशालिनी रमणी अस्तीति शेषः ? शशिकला—शशिनः इन्दोः कला रेखा । एतत्—शशिकला इति, अस्याः—रमण्याः, नाम—संज्ञा, नु किम् ? अस्याः—मदुत्तमाङ्गस्थितायाः, नाम एव—आख्या एव । तत्—प्रसिद्धम्, एतत् —नाम, ते—तव, परिचितमपि—सुविज्ञात-मपि, कस्य हेतोः—केनकारणेन, विस्मृतम्—विस्मृतिम् अगच्छत् ? नारीं–(तव शि-रसि स्थितां) रमणीम्, (अधिकृत्य त्वाम्) पृच्छामि—जिज्ञासामि, इन्दुः—चन्द्रम्, (अधिकृत्य) न—नहि, (पृच्छामि) । यदि—चेत्, इन्दुः—चन्द्रः, (प्रष्टव्यत्वेन) प्रमाणं—विश्वासपात्रं, न, (ते अस्ति तर्हि) विजया—एतन्नामिका तव सखी (एव), कथयतु—वक्तु । इति—एतत् उक्तरूपं, देव्याः—पार्वत्याः, सुरसरितं—जाह्नवीं, निह्नोतुम्—गोपायितुम्, इच्छोः—लिप्सोः, विभोः—शङ्करस्य, शाठ्यं—कैतवं, वः—युष्मान्, अव्यात् —रक्षतु ॥१॥

हिन्दी अनुवाद—(गौरी का प्रश्न) तुम्हारे सिर पर बैठी हुई यह कौन सौभाग्यशालिनी (स्त्री) है ? (शिव का उत्तर) चन्द्र-कला । (गौरी) यह इसका नाम है क्या ? (शिव) इसका नाम ही है और यह (नाम) तुम्हारा परिचित होता हुआ भी भुला क्यों गया ? (गौरी) मैं स्त्री को पूछ रही हूँ चन्द्रमा को नहीं। (शिव) यदि चन्द्रमा (पुरुषवर्ग के होने के नाते तुम्हारे लिये) प्रामाणिक नहीं है तो (तुम्हारी सखी) विजया बतावे (कि यह इसका नाम है या नहीं) । इस प्रकार गौरी से गंगा को छिपाने के इच्छुक शंकर का छल आप लोगों की रक्षा करे ॥१॥

टिप्पणी—मुद्राराक्षसम्—यह प्रस्तुत नाटक का नाम है । मुद्रा = मुहर । राक्षस = नन्द का प्रधान मन्त्री । इस नाटक में मुहर खुदी हुई अँगूठी के द्वारा राक्षस को फँसाया गया है, इसलिए 'मुद्राराक्षस' इसका नाम पड़ा है । मुद्रागृहीत राक्षस मुद्राराक्षस मध्यमपदलोपी स० । तम् अधिकृत्य कृत नाटकम् इति मुद्रा-राक्षस+अण्, 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' इत्यनेन, तत्र मकारोत्तरअकारस्य 'यस्येति च' इत्यनेन लोप । अत्र लुप्तस्य 'नाटकम्' इति पदस्य विशेषणत्वात् अत्र नपुंसक-त्वम् । धन्या—भाग्यशालिनी । धन लब्धा इति धन+यत्+टाप् स्त्रियाम् । पौरा-णिक कथा है कि भगीरथ की तपस्या से सन्तुष्ट गंगाजी भूतल पर उतरने से पूर्व शंकर जी के मस्तक पर गिरी । शिव ने पत्नी के रूप में गंगा को स्वीकार कर अपने मस्तक पर धारण कर लिया । तब गंगा आत्मरूप से शिव-मस्तक पर रहते हुए भी धारारूप में भूतल पर बहते हुए समुद्र में पहुँच गईं । इधर शंकर जब गंगा को धारण किए हुए पार्वती के पास आए तब गौरी शंकर के मस्तक पर अजनबी स्त्री को देखकर पूछ बैठी—'यह कौन परम सौभाग्यवती स्त्री है, जो आपके सिर पर विराजमान है । मैं अर्धांगिनी होती हुई भी आपके वाम पार्श्व में ही स्थान पा सकी हूँ, किन्तु इसका ऐसा अहोभाग्य है कि यह आपके सिर पर शोभा पा रही है ।' इस प्रकार यहाँ 'धन्या' शब्द ईर्ष्या को व्यक्त करता है । परिचितमपि ते —तुम्हारा जाना-समझा हुआ भी । परि√चि+क्त कर्मणि वर्तमाने=परिचितम् अतएव 'ते' इत्यत्र 'क्तस्य च वर्तमाने' इति सूत्रेण अनुक्ते कर्तरि षष्ठी । कस्य हेतो —अत्र 'सर्वनाम्नस्तृतीया च' इति सूत्रेण षष्ठी । नारीं पृच्छामि नेन्दुम् —अत्र 'अकथितं च' इति सूत्रेण द्विकर्मकप्रच्छधातुयोगे कर्मसंज्ञा—द्वितीया । अतएव 'त्वा = शिवं नारीं पृच्छामि नेन्दुम्' इति वाक्यरचना कार्या । देव्या — अत्र 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' इति सूत्रेण अपादानसंज्ञा—पञ्चमी । यहाँ 'अन्तर्धौ

येनादर्शनमिच्छति' सूत्र से पञ्चमी नही हो सकती है, क्योंकि उक्त सूत्र से छिपने के अर्थ में पञ्चमी होती है और यहाँ 'निह्नोतुम्' का अर्थ छिपाना है। निह्नोतुम् —नि√ह्नु (अपनयने)+तुमुन्। इच्छोः—इच्छा करने वाले। इच्छतीति इच्छुः इष् धातोः 'विन्दुरिच्छुः' इति सूत्रेण निपातनात् सिद्धम्, तस्य। विभोः—शिव का। विशेषेण भवति इति√भू+डु (उणा०) = विभुः तस्य। शाठ्यम् —छल। 'कुसृतिर्निकृतिः शाठ्यम्' इत्यमरः। शठस्य भावः इति शठ+ष्यञ्। वः—आप लोगों की, दर्शकों की। यह रूप युष्मद् शब्द के द्वितीया-बहुवचन में वस् आदेश होकर सिद्ध होता है। अव्यात्—रक्षा करे। √अव्+लिङ् (आशिषि)—यात्। इसका कर्ता 'शाठ्यम्' है।

यह नान्दीश्लोक है। नान्दी में काव्यार्थ या नाटकीय कथावस्तु की सूचना दे दी जाती है। यहाँ जिस प्रकार शंकर के छल ने गौरी से गंगा की रक्षा की है उसी प्रकार चाणक्य के छल ने भी राक्षस से चन्द्रगुप्त की रक्षा की है, इसकी सूचना मिलती है। इस श्लोक मे व्याजोक्ति अलंकार है और स्रग्धरा छन्द है, जिसका लक्षण यह—'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' ॥१॥

अपि च—

और भी—

पादस्याविर्भवन्तीमवनतिमवने रक्षतः स्वैरपातैः
संकोचेनैव दोष्णां मुहुरभिनयतः सर्वलोकातिगानाम्।
दृष्टिं लक्ष्येषु नोग्रां ज्वलनकणमुचं बध्नतो दाहभीते-
रित्याधाराऽनुरोधात् त्रिपुरविजयिनः पातु वो दुःखनृत्यम् ॥२॥

अन्वयः—आविर्भवन्तीम् अवनेः अवनतिं पादस्य स्वैरपातैः रक्षतः, सर्वलोकातिगानां दोष्णां मुहुः संकोचेनैव अभिनयतः, दाहभीतेः लक्ष्येषु ज्वलनकणमुचम् उग्रां दृष्टिं न बध्नतः, त्रिपुरविजयिनः आधारानुरोधात् इति दुःखनृत्यं वः पातु ॥२॥

व्याख्या—आविर्भवन्तीम्—उत्पत्स्यमानाम्, अवनेः—पृथ्व्याः अवनतिम्—अधोगमनं, पादस्य—चरणस्य, स्वैरपातैः—सतर्कतापूर्वकविन्यासैः वा मन्दविक्षेपैः, रक्षतः—दूरीकुर्वतः, सर्वलोकातिगानाम्—निखिलभुवनातिक्रमण-

कर्तृणा, दोष्णा—बाहूना, मुहु—बारबारम्, सकोचेनैव—सक्षेपेणैव, अभिनयत—अभिनयकार्यं कुर्वन, दाहभीते—अभिज्वलनशङ्कया, लक्ष्येषु—दृष्टिविषयेषु, ज्वलनकणमुचम्—अग्निस्फुलिंगमोचनशीलाम्, उग्रा—घोरा, दृष्टि—नेत्र भाललोचनमित्यर्थ, न—नहि, बध्नत—निक्षिपत, त्रिपुरविजयिन—महादेवस्य, आधारानुरोधात्—आधारस्य आश्रयस्य रङ्गभूमे ब्रह्माण्डोदरस्य इत्यथ अनुरोधात्—अनुक्रोशात् अर्थात् ब्रह्माण्डोदरम् अपर्याप्त पूर्णताण्डवस्य इति हेतो, दु खनृत्य—दु खेन कष्टेन नृत्य नर्तन विकलताण्डवम् इति यावत्, व—युष्मान्, पातु—रक्षतु ॥२॥

हिन्दी अनुवाद—उत्पन्न होने वाली धरती की धँसान को पैरों के मद सचालन से बचाते हुए (अर्थात् कही धरा धमक से धँस न जाय इस कारण धीरे-धीरे पैरो को रखते हुए), समस्त लोगो का अतिक्रमण करने वाली भुजाओ को बार-बार सकुचित करके ही अभिनय करते हुए (अर्थात् कही भुजाओ के आघात से सम्पूर्ण लोक नष्ट न हो जायें इस भय से दृश्य पदार्थो पर अग्नि-स्फुलिगो को छोडने वाली भयानक दृष्टि को न डालते हुए शिव का आधार के अनुरोध से (अर्थात् पूर्ण ताडव के लिए पर्याप्त न होने वाले निखिल ब्रह्माड रूपी रगभूमि के कारण) कृच्छ्रतापूर्ण नृत्य आप सब की रक्षा करे ॥२॥

टिप्पणी—आविर्भवन्तीम्—उत्पन्न होने वाली। आविस्√भू+लट् 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इत्यनेन भविष्यदर्थे, लट शत्रादेश स्त्रियाम्=आविर्भवन्ती, ताम्। यह 'अवनतिम्' का विशेषण है। अवनतिम्—नीचे जाने को, धँसान को। अव√नम्+क्तिन् भावे स्त्रियाम्=अवनति ताम्। स्वैरपातै—सतर्कतापूर्वक या शनै शनै रखने से। ईरणम् ईर √ईर्+घञ् भावे। स्व ईर एषु इति स्वैरा बहुव्रीहि स०, 'स्वादीरेरिणा' इति वार्तिकेन वृद्धि। तादृशा पाता कर्मधारय स०, तै। करणे तृतीया। 'मन्दस्वच्छन्दयो स्वैर' इत्यमर। रक्षत—बचाते हुए, दूर करते हुए। √रक्ष्+लट्—शतृ कर्तरि=रक्षत्, तस्य। यह 'त्रिपुरविजयिन' का विधेयात्मक विशेषण है। सर्वलोकातिगानाम्—सभी लोको को पार कर जाने वाली। सर्वे लोका सर्वलोका कर्मधारय स०। तान् अतिगच्छन्ति इति सर्वलोक-अति√गम्+ड कर्तरि। तेषाम्। यह 'दोष्णाम्' का विशेषण है। दोष्णाम्—भुजाओ

को। यह दोष् शब्द के षष्ठीबहुवचन का रूप है। यहाँ 'पद्दन्नोमास्'—सूत्र से दोष् के स्थान में दोषन् आदेश हो जाता है। **अभिनयतः**—अभिनय या अंगविक्षेप करते हुए। अभि√नी+लट्—शतृ कर्तरि=अभिनयत्, तस्य। यह भी 'त्रिपुरविजयिनः' का विधेयात्मक विशेषण है। **दाहभीतेः**—दाहात् भीतिः पञ्चमीतत्०, तस्याः। हेतौ पञ्चमी 'विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्' इति सूत्रेण। तत्र विभाषेति योगविभागात् अगुणे स्त्रियां च क्वचित् पञ्चमी भवति। **ज्वलनकणमुचम्**—अग्नि-कणों को छोडने वाली। ज्वलनस्य=अग्नेः कणाः पष्ठीतत्०। तान् मुञ्चति इति ज्वलनकण√मुच्+क्विप् कर्तरि, उपपद स० ताम्। यह 'दृष्टिम्' का विशेषण है। **दृष्टिम्**—नेत्र को। यहाँ शंकर के ललाटस्थ तृतीय नेत्र से तात्पर्य है। **न बध्नतः**—न डालते हुए।√बन्ध्+लट्—शतृ कर्तरि बध्नत्, तस्य। यह भी 'त्रिपुरविजयिन.' का विधेयात्मक विशेषण है। **त्रिपुरविजयिनः**—त्रिपुर के विजेता, शंकर का। मय नामक दानव के बनाये हुए स्वर्ग, अन्तरिक्ष तथा पृथ्वी पर के तीन नगरो को त्रिपुर कहते है। इन नगरों को शंकर ने जलाया था और इनके अधिपति त्रिपुर नामक असुर को मारा था। इसलिए शंकर त्रिपुरविजयी कहलाते है। **आधारानुरोधात्**—आधार के अनुरोध से अर्थात् शिव के ताण्डव नृत्य के लिए अखिल ब्रह्माण्ड रूपी रगभूमि अपर्याप्त है इस कारण। आध्रियते अस्मिन् अनेन वा इति आ√धृ+घञ् अधिकरणे करणे वा=आधारः। तस्य अनुरोधः पष्ठीतत्०, तस्मात्। हेतौ पञ्चमी। **दुःखनृत्यम्**—अपूर्ण ताण्डव, दुःखपूर्ण नृत्य। दुःखयति इति दुःखम्√दुःख्+णिच्+अच् कर्तरि। दुःख नृत्यम् कर्मधारय स०। यहाँ 'स्वैरपात' शब्द कहता है कि ताण्डव करने के समय शिव को पादक्षेप मे असुविधा है, 'संकोच' बताता है कि उन्हे हस्त-विक्षेप मे कष्ट है और 'दृष्टिं न बध्नतः' से सूचित होता है कि उन्हे दृष्टिपात को रोकना पड़ता है, सुतराम् उनका नृत्य 'दुःखनृत्य' है।

यह श्लोक भी नान्दी है। अतएव इसमे भी नाटकीय वस्तु की सूचना है। यहाँ 'आधार' पद से अमात्य राक्षस को लक्षित किया गया है। और उसको वशीभूत करने में चाणक्य को जो क्लेश हुआ, वही 'दुःखनृत्य' है। क्योकि 'राक्षस के प्राण बचाने है' यह संकल्प करके चाणक्य ने जिस कूटनीति का प्रयोग किया, वह नीति कष्टपूर्ण रही। यदि राक्षस का अनुरोध या सुरक्षा की चिन्ता उन्हे न करनी पडती तो वे क्षण मे ही मलयकेतु का काम तमाम

करवा डालते। इस पद्य में सम्बन्धरूपातिशयोक्ति अलङ्कार है और स्रग्धरा छन्द है ॥ २ ॥

[नान्द्यन्ते]

सूत्रधार—अलमतिप्रसङ्गेन । आज्ञापितोऽस्मि परिषदा यथा—'अद्य त्वया सामन्तवटेश्वरदत्तपौत्रस्य महाराजपदभाक्पृथुसूनोः कवेर्विशाखदत्तस्य कृतिः अभिनवं मुद्राराक्षसं नाम नाटकं नाटयितव्यम्' इति । यत्सत्यं काव्यविशेषवेदिन्या परिषदि प्रयुञ्जानस्य ममापि सुमहान् परितोषः प्रादुर्भवति । कुतः ।

चीयते बालिशस्यापि सत्क्षेत्रपतिता कृषिः ।
न शालेः स्तम्बकरिता वप्तुर्गुणमपेक्षते ॥ ३ ॥

व्याख्या—नान्द्यन्ते—नान्द्याः मङ्गलाचरणस्य अन्ते—अवसाने, सूत्रधारः—नाटकीयकथासूचको नटप्रमुखः कथयतीति शेषः, अतिप्रसङ्गेन—अतिविस्तरेण, अलम्—पर्याप्तम् । परिषदा—समित्या सामाजिकवृन्देनेत्यर्थः, आज्ञापितोऽस्मि—आदिष्टोऽस्मि, यथा—सामन्तवटेश्वरदत्तपौत्रस्य—सामन्तस्य माण्डलिकस्य वटेश्वरदत्तस्य यः पौत्रः तथा महाराजपदभाक्पृथुसूनोः—महाराजपदं महाराजपदवीं यो भजते तस्य पृथोः पृथुसंज्ञकस्य सामन्तनृपतेः यः सूनुः आत्मजः तस्य, कवेः—काव्यरचयितुः, विशाखदत्तस्य, कृतिः—रचना, अभिनवं—नूतनं, मुद्राराक्षसं नाम, नाटकं, नाटयितव्यम्—अभिनेतव्यतम् । यत्सत्यम्—नूनम्, काव्यविशेषवेदिन्या—काव्यवैशिष्ट्यज्ञायाम्, परिषदि—सभायाम्, प्रयुञ्जानस्य—अभिनयं कुर्वतः, ममापि—सूत्रधारस्यापि, सुमहान्—भूयान्, परितोषः—सन्तोषः, प्रादुर्भवति—उत्पद्यते । कुतः—यतो हि ।

अन्वय—बालिशस्यापि सत्क्षेत्रपतिता कृषिः चीयते, शालेः स्तम्बकरिता वप्तुः गुणम् न अपेक्षते ॥३॥

व्याख्या—बालिशस्यापि—मूर्खस्यापि कृषिकर्मणि अनिपुणस्यापीति यावत्, सत्क्षेत्रपतिता—सत्क्षेत्रे उत्तमभूमौ उर्वरायां भुवीत्यर्थः, पतिता प्रयुक्ता (सती), कृषिः—लक्षणया बीजं, चीयते—वर्धते । शालेः—धान्यविशेषस्य, स्तम्बकरिता—गुच्छकारिता निबिडभवनमिति यावत्, वप्तुः—वपनकर्तुः, गुणः—निपुणता, न अपेक्षते—न अनुरुध्यते ॥३॥

[नान्दी के बाद]

हिन्दी अनुवाद—सूत्रधार—अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है। सभा ने मुझे आदेश दिया है कि आज तुम्हें सामन्त वटेश्वरदत्त के पौत्र और महाराज की उपाधि से भूषित पृथु के पुत्र कवि विशाखदत्त की रचना नूतन मुद्राराक्षस नामक नाटक का अभिनय करना है। सचमुच, काव्य की विशेषता को समझने वाली सभा में अभिनय करते हुए मुझे भी अत्यन्त आनन्द हो रहा है। क्योंकि—

मूर्ख का भी अच्छे खेत में डाला हुआ बीज वृद्धि को प्राप्त करता है। (क्योंकि) जड़हन धान्य का गुच्छा वांधना बोने वाले के गुण की अपेक्षा नहीं करता है ॥३॥

टिप्पणी—नान्द्यन्ते—नान्दी के समाप्त होने पर। नन्दयतीति नन्दः √नन्द्+अच् कर्तरि पचादित्वात्। नन्द एव नान्दः नन्द+अण् स्वार्थे प्रज्ञादित्वात्। नान्द+ङीप्=नान्दी। नान्द्याः अन्तः नान्द्यन्तः षष्ठीतत्पुरुष स०, तस्मिन् 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' इत्यनेन भावे सप्तमी। नाटक आरंभ करने से पहले उसकी निर्विघ्न समाप्ति के लिए देवता आदि की जो स्तुति की जाती है, उसे नान्दी कहते है। भरतमुनि ने कहा है कि नाटक में विघ्नशान्त्यर्थ नान्दी पाठ अवश्य करना चाहिए—'यद्यप्यङ्गानि भूयांसि पूर्वरङ्गस्य नाटके। तथाप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नप्रशान्तये ॥' नान्दी का लक्षण यह है—'अशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रज्युयते। देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥' साहित्यदर्पण। अर्थात्—देवता, ब्राह्मण और राजा आदि की अशीर्वादयुक्त स्तुति इसके द्वारा की जाती है, अतः इसे नान्दी कहते हैं। आशीर्नमस्क्रियारूपः श्लोकः काव्ययार्थसूचकः। नान्दीति कथ्यते'। आदिभरत। अर्थात् आशीर्वाद और नमस्कार से युक्त श्लोक नान्दी कहलाता है। उसमें काव्य के कथानक का संकेत भी होना चाहिये। 'देवद्विजनृपादीनामाशीर्वचनपूर्विका। नन्दन्ति देवता यस्यां तस्मान्नान्दीति कीर्तिता ॥ नन्दन्ति काव्यानि कवीन्द्रवर्गाः कुशीलवाः पारिषदाश्च सन्तः। यस्मादलं सज्जनसिन्धुहंसी तस्मादियं सा कथितेह नान्दी ॥' नाट्यप्रदीप। नान्दी के विस्तार आदि के विषय में कहा गया है—'अष्टाभिर्दशभिर्वापि नान्दी द्वादशभिः पदैः। आशीर्नम-

स्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् ।।' अर्थात् नान्दी मे आठ, दस या बारह पद होने चाहिए। इसमें आशीर्वाद, नमस्कार या कथावस्तु का निर्देश होना चाहिए। यहाँ अष्टपदा नान्दी है, क्योंकि चार-चार पद वाले दो श्लोक हैं। जहाँ सक्षेप मे श्लेप वा समासोक्ति के द्वारा काव्यार्थ बता दिया जाता है, उसे पत्रावली नान्दी कहते है। अत यहाँ पर पत्रावली नान्दी है। उसका लक्षण यह है—'यस्या बीजस्य विन्यासो ह्यभिधेयस्य वस्तुन । श्लेपेण वा समासोक्त्या नाम्ना पत्रावलीति मा।' **सूत्रधार**—रगशाला का व्यवस्थापक। सूत्र धारयति इति सूत्र√धृ+णिच्+अण् कर्तरि 'कर्मण्यण्' इत्यनेन, उपपद स०। इसका लक्षण यह है—'वर्णनीयतया सूत्र प्रथम येन सूच्यते। रङ्गभूमि समाक्रम्य सूत्रधार स उच्यते।' सगीतसवस्व। अथवा 'नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते। सूत्र धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते।।' **अतिप्रसङ्गेन**—बहुत अधिक विस्तार करना या एक ही विषय को देर तक चलाना। प्रसञ्जनमिति प्रसङ्ग प्र√सञ्ज्+घञ् भावे। अतिशयित प्रसङ्ग अतिप्रसङ्ग प्रादितत्०, तेन। अल शब्दयोगे तृतीया अथवा करणे तृतीया। यद्वा लुप्त 'नास्ति' क्रिया के प्रति करणत्व है। कहा भी है—'गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका'। **आज्ञापित**—जिसे आज्ञा मिली हो। आ√ज्ञा+ णिच्, पुक्+क्त कर्मणि। **परिपदा**—सभा ने। परि समन्तात् सीदन्ति अस्याम् इति परि√सद्+क्विप् अधिकरणे = परिषत्, तया। अनुक्ते कर्तरि तृतीया। **सामन्त**—माडलिक, बडा जमीदार। **यत्सत्यम्**—वस्तुत, सचमुच। यह एक अव्यय है। **काव्यविशेपवेदिन्याम्**—(दृश्य और श्रव्य दोनो प्रकार के) काव्य की विशेपता (विशिष्ट गुण) को जानने वाली। वि√शिप्+घञ् भावे विशेप। काव्यस्य विशेप। त वेत्ति इति काव्यविशेप√विद्+णिनि कर्तरि ताच्छील्ये, उपपद स०, स्त्रियां ङीप् = काव्यविशेपवेदिनी, तस्याम्। **प्रयुञ्जानस्य**—प्रयोग या अभिनय करते हुए। प्र√युज्+लट् 'प्रोपाभ्या युजेरयज्ञपात्रेपु' इत्यनेन आत्मनेपदत्वम्, तत शानच् कर्तरि = प्रयुञ्जान, तस्य। यह 'मम' का विशेपण है। **वालिशस्य**—मूर्ख अर्थात् अनाडी किसान का। यहाँ सूत्रधार ने अपनी तुलना मूर्ख कृपक से की है, इससे उसकी विनम्रता सूचित होती है। √वाड्+इन्, वाडि श्यति इति वाडि√शो+ड, डलयोरभेद = वालिश, तस्य। **सत्क्षेत्रपतिता**—बढिया खेत मे बोया गया। यहा सत्क्षेत्र से परिपद् की तुलना की गई है। कृपि—खेती, किन्तु यहा लक्षणया बीज अर्थ है। इससे नाटक की तुलना की गई है। **चीयते**—

बढ़ता है। √चि + लट् कर्मकर्तरि। शालेः—जडहन चावल, जिसका पौधा रोपा जाता है। स्तम्बकरिता—गुच्छा बनाना या बाँधना। स्तम्बं करोति इति स्तम्ब√कृ + इन् कर्तरि 'स्तम्बशकृतोरिन्' इति सूत्रेण = स्तम्बकरिः। तस्य भावः स्तम्बकरि + तल्—टाप्। इस पद्य मे अर्थान्तरन्यास अलंकार है और श्लोक या पथ्यावक्त्र छन्द है, जिसका लक्षण यह है—'श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्। द्विचतुः पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः' ॥ ३ ॥

तद्यावदिदानीं गृहं गत्वा गृहिणीमाहूय गृहजनेन सह सङ्गीतकमनुतिष्ठामि। [परिक्रम्यावलोक्य च] इमे नो गृहाः। तद्यावत् प्रविशामि। [नाट्येन प्रविश्यावलोक्य च] अये, तत् किमिदमस्मद्गृहेषु महोत्सव इव दृश्यते। स्वस्वकर्मणि अधिकतरमभियुक्तः परिजनः। तथाहि—

> वहति जलमियं पिनष्टि गन्धा-
> नियमियमुद्ग्रथते स्रजो विचित्राः।
> मुसलमिदमियञ्च पातकाले
> मुहुरनुयाति कलेन हुंकृतेन ॥ ४ ॥

व्याख्या—तत्—तस्मात्, इदानीम्—अधुना, गृहं—गेहं, गत्वा—प्राप्य, गृहिणीम्—पत्नीम्, आहूय—आमन्त्र्य, गृहजनेन—परिवारेण, सह—साकं, सङ्गीतकं—गानम्, यावत् इति वाक्यालंकारे, अनुतिष्ठामि—आयोजयामि, परिक्रम्य—परितो गत्वा रङ्गमञ्चमिति शेषः, अवलोक्य च—दृष्ट्वा च आहेति शेषः। इमे—दृश्यमानाः, नः—अस्माकं, गृहाः—भवनानि। तत्—तस्मात्, प्रविशामि—अन्तर्गच्छामि। अये—आश्चर्यम्, तत् इति वाक्यालङ्कारे, इदं किम्, अपरम्—अन्यत्, पश्यामि—अवलोकयामि ? अस्मद्गृहेषु—मद्भवने, महोत्सवः—महान् उत्सवः इव, दृश्यते—विलोक्यते। (यतो हि) परिजनः—अनुचरगणः स्वस्वकर्मणि—निजकार्ये, अधिकतरम्—अत्यन्तरम्, अभियुक्तः—व्यस्तः। तथाहि—व्यस्तताधिक्यादेव—

अन्वयः—इयं जलं वहति, इयं गन्धान् पिनष्टि, इयं विचित्राः स्रजः उद्ग्रथते, इयं च पातकाले मुहुः कलेन हुंकृतेन इदं मुसलम् अनुयाति ॥ ४ ॥

व्याख्या—इयम्—एका, जलं—पानीयं, वहति—आनयति, इयम्—

अपरा, गन्धान्—सुगन्धिद्रव्याणि, पिनष्टि—चूर्णयति, इयम्—इतरा, विचित्रा—अनेकवर्णा, स्रज—पुष्पमाल्यानि, उद्ग्रथते—ग्रथ्नाति रचयति इति यावत्, इयम् च—अपरा च, पातकाले—(उदूखले) पातनसमये, मुहु—वारवार, कलेन—मधुरास्फुटेन, हुङ्कृतेन—हुम् इति शब्दोच्चारणेन (सह), इद—दृश्यमान, मुसलम्—धान्यकुट्टनस्थूलदण्डविशेषम्, अनुयाति—अनुसरति ॥ ८ ॥

हिन्दी अनुवाद—इसलिए अभी घर जाकर पत्नी को बुलाता हूँ और घर के लोगो के साथ सगीत का आयोजन करता हूँ। [चारो ओर घूमकर और देखकर] ये मेरे घर है। इसलिए भीतर जाता हूँ। [हाव-भाव के साथ प्रवेश करके और देखकर] अरे, यह क्या, यह तो मेरे घर मे बडा उत्सव-सा दिखाई दे रहा है। गृह्यजन अपने-अपने कार्य मे अत्यन्त व्यस्त है क्योकि—

यह जल ला रही है, यह सुगन्धित पदार्थो को पीस रही है, यह अनेक रगो के पुष्पहार गूथ रही है और यह (ओखली मे) गिराने के समय बार-बार 'हूँ' इस अव्यक्त मधुर शब्द के साथ इस मूसल का अनुसरण कर रही है (अर्थात् ओखली मे मूसल से चोट देने के समय 'हूँ' शब्द कर रही है) ॥ ८ ॥

टिप्पणी—यावत्—यह अवधारणार्थक अव्यय है। इसके योग मे 'अनुतिष्ठामि' मे 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' से भविष्यत्काल के अर्थ मे लट् हुआ है। गृहिणीम्—पत्नी को। गृहम् अस्या अस्ति इति गृह+इनि मत्वर्थे= गृहिणी, ताम्। यह 'आहूय' का कर्म है। गृहजनेन—घर के लोगो के साथ। गृहस्य जन गृहजन मध्यमपदलोपी स०, तेन। सहशब्दयोगे तृतीया। जातौ एकवचनम्। गृहजनै इत्यर्थ। सङ्गीतकम्—नृत्य, गीत और वाद्य। 'गीत वाद्य नर्तन च त्रय सगीतमुच्यते'। सम√गै+क्त भावे=सङ्गीतम्। तदेव इति सगीत+कन् स्वार्थे। गृहा—गृह शब्द पुल्लिंग मे केवल बहुवचनान्त है। 'गृहा पुसि च भूम्न्येव' इत्यमर। स्वस्वकर्मणि—अपने-अपने काम मे। अत्र वीप्सायां द्विर्वचनम्। स्व स्व कर्म स्वस्वकर्म, तस्मिन्। किन्तु त्रिपद तत्पुरुष समास का विधायक सूत्र नही मिलता है। इसलिए 'स्व कर्म स्वकर्म कर्मधारय स०। स्वस्य स्वकर्म स्वस्वकर्म षष्ठीतत्०, इस प्रकार समास करना चाहिए। अत्र अधिकरणे सप्तमी। अभियुक्त—लगा हुआ। अभि√युज्+क्त कर्तरि। गन्धान्—सुगन्धित द्रव्यो को। यहा गन्ध शब्द गन्धद्रव्यवाची है। विचित्रा—

विविध वर्णों वाली अथवा आश्चर्यजनक। विशेषेण चित्राः विचित्राः प्रादि तत्०। यह 'स्रजः' का विशेषण है। स्रजः—फूलों की मालाओं को। √सृज् + क्विन् कर्मणि = स्रजः, ताः। यह 'उद्ग्रथते' का कर्म है। उद्ग्रथते—गूँथ रही है। यह पाणिनीय व्याकरण के अनुसार अशुद्ध रूप है। इसका शुद्ध रूप 'उद्ग्रथ्नाति' होगा। हुंकृतेन—'हुँ' इस शब्दोच्चारण के साथ। हुम्√कृ + क्त भावे = हुंकृतम्, तेन। सहार्थे तृतीया। अनुयाति—अनुसरण कर रही है। अनु√या + लट्—ति। इस पद्य मे स्वभावोक्ति अलंकार है और पुष्पिताग्रा छन्द है, जिसका लक्षण यह है—'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' ॥ ४ ॥

भवतु। कुटुम्बिनीमाहूय पृच्छामि। [नेपथ्याभिमुखमवलोक्य]

गुणवत्युपायनिलये स्थितिहेतोः साधिके त्रिवर्गस्य।
मद्भवननीतिविद्ये कार्याचार्ये द्रुतमुपेहि ॥ ५ ॥

व्याख्या—भवतु—अस्तु। कुटुम्बिनीम्—पत्नीम्, आहूय—आकार्य, पृच्छामि—जिज्ञासामि। नेपथ्याभिमुखम्—नेपथ्यस्य वेपरचनास्थानस्य अभिमुखं सम्मुखं यथा स्यात् तथा, अवलोक्य—दृष्ट्वा।

अन्वयः—गुणवति ! उपायनिलये ! स्थितिहेतोः त्रिवर्गस्य साधिके ! कार्याचार्ये ! मद्भवननीतिविद्ये ! द्रुतम् उपेहि ॥ ४ ॥

व्याख्या—गुणवति—दयादाक्षिण्यादियुक्ते !, उपायनिलये—उपायानां गृहकार्यकुशलतादीनां निलये आश्रयभूते !, स्थितिहेतो—स्थितेः गृहस्थाश्रमस्थितेः यो हेतुः निमित्तं तस्य, त्रिवर्गस्य—धर्मकामार्थरूपस्य, साधिके—सम्पादिके !, कार्याचार्ये—कार्यस्य कर्तव्यस्य आचार्ये उपदेष्ट्रि ! मद्भवननीतिविद्ये—मद्भवनस्य मद्गृहस्य नीतिविद्ये नयशास्त्रस्वरूपे !, द्रुतम्—शीघ्रम्, उपेहि—आगच्छ। कूटनीतिपक्षे—गुणवति—सन्धिविग्रहादिसम्पन्ने !, उपायनिलये—सामदानादियुक्ते !, स्थितिहेतोः—राज्यस्थितिनिमित्तभूतस्य, त्रिवर्गस्य—वृद्ध्यादेः, साधिके—सिद्धिकारिके ! कार्याचार्ये—विहितकार्योपदेशिके ! मद्भवननीतिविद्ये ! द्रुतम् उपेहि ॥ ५ ॥

हिन्दी अनुवाद—अच्छा, पत्नी को बुलाकर पूछता हूँ। [**नेपथ्य की ओर देखकर**]

हे गुणशालिनी ! (घरेलू) उपायों की आधार ! (गृहस्थाश्रम की) स्थिति के निमित्त स्वरूप धर्म, अर्थ और काम का सम्पादन करने वाली ! कर्तव्य का उपदेश करने वाली ! मेरे घर की नीतिविद्या स्वरूप ! (तुम) शीघ्र आओ ॥४॥

टिप्पणी—भवतु—यद्यपि यह क्रिया है, किन्तु बहुधा अव्यय की तरह प्रयुक्त होता है। कुटुम्बिनीम्—भार्या को। कुटुम्बम् अस्ति अस्या इति कुटुम्ब+इनि+ङीप् = कुटुम्बिनी, ताम्। नेपथ्याभिमुखम्—नेपथ्य की ओर। परदा और परदे के पीछे रूप-धारण-स्थान दोनों को नेपथ्य कहते हैं—इसका लक्षण यह है—'कुशीलवकुटुम्बस्य गृहं नेपथ्यमुच्यते' अर्थात् जहाँ अभिनेता अपने को सजाते और अभिनयोचित वेष धारण करते हैं, उसे नेपथ्य कहते हैं। √नी+णिच् क्तरि = ने। तस्य पथ्यम् नेपथ्यम्। तस्य अभिमुखम् नेपथ्याभिमुखम्। गुणवति—गुणों से सम्पन्न ! प्रशस्ता गुणा सन्ति अस्या इति गुण+मतुप्, वत्व, ङीप् = गुणवती। तत्सम्बोधने हे गुणवति। छः गुणों से युक्त भार्या बड़े भाग्य से मिलती है। उसके छहों गुण इस श्लोक में बताये गए हैं—कार्येषु मन्त्री वचनेषु दासी भोज्येषु माता शयनेषु रम्भा। धर्मानुकूला क्षमया धरित्री भार्या च षाड्गुण्यवतीह दुर्लभा ॥' इसी तरह राजनीति के भी छह गुण होते हैं—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैध और आश्रय। उपायनिलये—(गृह-व्यवस्था) के उपायों की आश्रय ! उपाया निलीयन्ते अस्याम् इति उपाय-नि√ली+अच् अधिकरणे स्त्रियाम् टाप् = उपायनिलया। तत्सम्बोधने हे उपाय-निलये। राजनीति में चार प्रकार के उपाय व्यवहृत होते हैं—साम, दान, दण्ड और भेद। स्थितिहेतो—स्थिति के कारणभूत। स्थितेः हेतु षष्ठीतत्०, तस्य। यह 'त्रिवर्गस्य' का विशेषण है। त्रिवर्गस्य—धर्म, अर्थ और काम की। राजनीति में त्रिवर्ग कहते हैं क्षय, स्थान और वृद्धि को। त्रयाणां वर्ग त्रिवर्ग षष्ठीतत्०, तस्य। कार्याचार्ये—कर्तव्य का उपदेश करने वाली। आ√चर्+ण्यत् कर्मणि स्त्रियाम्, टाप् = आचार्या। कार्याणाम् आचार्या षष्ठीतत्०, तत्सम्बोधने हे कार्याचार्ये इति। उपेहि—पास आओ। उप-आ√इ+लोट्—हि। यहाँ 'उप+एहि' इस अवस्था में 'ओमाङोश्च' से पररूप होता है। इस पद्य में अर्थालंकार है और आर्या छन्द है, जिसका लक्षण यह है—'यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या' ॥४॥

[प्रविश्य]

नटी—अज्ज, इअम्मि । अण्णाणिओएण मं अज्जो अणुगेह्णदु । (आर्य, इयमस्मि । आज्ञानियोगेन मामार्योऽनुगृह्णातु ।)

सूत्रधारः—आर्ये, तिष्ठतु तावदाज्ञानियोगः । कथय किमद्य भवत्या तत्रभवतां ब्राह्मणानामुपनिमन्त्रणेन कुटुम्बकमनुगृहीतमभिमता वा भवन-मतिथयः सम्प्राप्ता यत एष पाकविशेषारम्भः ।

नटी—अज्ज, आमन्तिद मए भअवन्तो बह्मणा । (आर्य, आमन्त्रिता मया भगवन्तो ब्राह्मणाः ।)

सूत्रधारः—कथय कस्मिन्निमित्ते ।

नटी—उवरज्जदि किल भअवं चन्दो त्ति । (उपरज्यते किल भगवान् चन्द्र इति ।)

सूत्रधारः—आर्ये, क एवमाह ।

नटी—एवं खु णअरवासि जणो मन्तेदि । (एवं खलु नगरवासी जनो मन्त्रयते ।)

व्याख्या—प्रविश्य—आगत्य रङ्गमञ्चमिति शेषः, नटी—सूत्रधारपत्नी (आह), आर्य—मान्य !, इयमस्मि—एषा अहं प्राप्ता । आर्यः—भवान्, आज्ञानियोगेन—आदेशप्रदानेन, माम्, अनुगृह्णातु—अनुगृहीतां करोतु । आज्ञानि-योगः, तावत्—तत्कालं, तिष्ठतु—आस्ताम् दूरे इति शेषः । कथय—ब्रूहि, अद्य, भवत्या—त्वया, तत्रभवतां—पूज्यानां, ब्राह्मणानां—विप्राणाम्, उप-निमंत्रणप्रदानेन, कुटुम्बकम्—परिजनवृन्दम्, अनुगृहीतं किम् ? वा—अथवा, अभिमताः—सम्मान्याः, अतिथयः—अभ्यागताः, सम्प्राप्ताः—आगताः, (किम् ?) यतः—यस्मात्, एषः—अयम्, पाकविशेषारम्भः—विशिष्टभोजन-निर्माणम् (दृश्यते) । मया, भगवन्तः—श्रीमन्तः, ब्राह्मणाः, आमन्त्रिताः । कस्मिन् निमित्ते—कस्मात् । भगवान् चन्द्रः, उपरज्यते किल—राहुग्रस्तो भविष्यति खलु, इति—अस्माद्धेतोः । कः, एवम्, इत्थम् आह—कथयति ? नगरवासी—नागरिका इत्यर्थः, जनः—मनुष्याः इत्यर्थः, मन्त्रयते—कथयन्ति इत्यर्थः ।

[प्रवेश कर]

हिन्दी अनुवाद—नटी—आर्य ! यह मैं हूँ । आप मुझे आज्ञा देकर अनुगृहीत करें ।

सूत्रधार—आर्ये ! आज्ञा अभी रहने दो । यह तो बताओ कि क्या आज तुमने पूज्य ब्राह्मणों को निमन्त्रण देकर परिजनों को कृतार्थ किया है, अथवा माननीय अतिथिगण घर पर पधारे है, जिससे यह विशिष्ट भोजन का आयोजन हो रहा है ।

नटी—आर्य ! मैंने महिमाशाली ब्राह्मणों को निमत्रित किया है ।

सूत्रधार—कहो, किसलिए ।

नटी—भगवान् चन्द्रमा का ग्रहण लग रहा है ।

सूत्रधार—आर्ये ! किसने ऐसा कहा है ।

नटी—नगर के लोग ऐसा कह रहे हैं ।

टिप्पणी—आर्य—पूज्य ! आराद् याता इति आर्या अर्थात् 'आराद् दूरसमीपयो' इत्यनेन आराद्=असभ्यतादुराचारादिदोषेभ्यो दूर गताश्च शिक्षासभ्यताविद्यादिभि देवास्पदत्व प्राप्ता इति आर्या । पृषोदरादित्वात् साधुत्वम् । अथवा अर्तुं योग्या आर्या $\surd$ऋ (गतौ) + ण्यत् 'ऋहलोण्यत्' इत्यनेन । वसिष्ठ के मत से आर्य का लक्षण यह है—'कर्तव्यमाचरन् काममकर्तव्यमनाचरन् । तिष्ठति प्रकृताचारे स वा आर्य इति स्मृत ॥' नटी और सूत्रधार परस्पर 'आर्य' और 'आर्या' कहकर एक दूसरे को सम्बोधित करते हैं—'वाच्यौ नटीसूत्रधारावार्य नाम्ना परस्परम्' । आज्ञानियोग—आदेश द्वारा कार्य में लगाना । नि $\surd$युज् + णिच् + घञ् भावे = नियोग । आज्ञया नियोग आज्ञानियोग-तृतीयातत्० । तत्रभवताम्—पूज्य । भवत् शब्द के साथ 'तत्र' और 'अत्र' जोड देने से आदर सूचित होता है । किन्तु उपस्थित व्यक्ति के लिए 'अत्र' और अनुपस्थित के लिए 'तत्र' जोडना चाहिये । तेषा भवताम् इति तत्रभवताम् । यहाँ 'तेषाम्' 'तत्र' के रूप में परिणत हो जाता है । तद् + त्रल् 'इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते' इत्यनेन । अतएव 'तत्र' और 'भवताम्' अलग-अलग मानना चाहिए । यदि एक ही शब्द मानना हो तो इस प्रकार समास करना चाहिए—'ते भवन्त तत्रभवन्त

सुप्सुपा वा कर्मधारय स०, तेषाम्। यह 'ब्राह्मणानाम्' का विशेषण है। कुटुम्बकम्—पोष्यवर्ग। कुटुम्बानां समूहः इति कुटुम्ब+कन्। अतिथयः—अभ्यागत, मेहमान। अतति गच्छति न तिष्ठति इति √अत्+इथिन्, अथवा नः विद्यते द्वितीया तिथिः यस्य स अतिथिः नञ्बहुव्रीहि स०। मनु ने कहा है—'एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः; अनित्यं हि स्थितो यस्मात् तस्मादतिथिरुच्यते ॥' पाकविशेषारम्भः—उत्तम भोजन की तैयारी। वि√शिष्+घञ् भावे=विशेषः। पाकस्य विशेषः। तस्य आरम्भः षष्ठीतत्०। कस्मिन् निमित्ते—अत्र 'निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम्' इति वार्तिकेन सप्तमी। उपरज्यते—ग्रहणयुक्त या राहुग्रस्त हो रहे है। उप√रञ्ज्+लट् ते कर्मणि। उपराग=ग्रहण। आह√ब्रू+लट्—तिप् तिपः णल्, ब्रुवः आहादेशः। कभी-कभी 'आह' भूतकाल में 'उवाच' की जगह प्रयुक्त होता है। वहाँ इसे एक अव्यय समझना चाहिए।

सूत्रधारः—आर्ये! कृतश्रमोऽस्मि चतुः षष्ट्यङ्गे ज्योतिःशास्त्रे। तत् प्रवर्त्त्यतां भगवतो ब्राह्मणानुद्दिश्य पाकः। चन्द्रोपरागं प्रति तु केनापि विप्रलब्धासि। पश्य—

> क्रूरग्रहः स केतुश्चन्द्रमसम्पूर्णमण्डलमिदानीम्।
> अभिभवितुमिच्छति बलात्—[इत्यर्द्धोक्ते]

[नेपथ्ये]

आः, क एष मयि स्थिते—

सूत्रधारः— रक्षत्येनं तु बुधयोगः ॥ ६ ॥

व्याख्या—आर्ये—माननीये, चतुःषष्ट्यङ्गे—चतुःषष्टिसंख्यकशाखायुक्ते, ज्योतिःशास्त्रे—ग्रहादिस्थितिबोधके शास्त्रे, कृतश्रमः—कृताभ्यासः, अस्मि। तत्—तस्मात्, (कथयामि यत्) भगवतो ब्राह्मणान्, उद्दिश्य—निमित्तीकृत्य, पाकः—भोजन-निर्माण, प्रवर्त्त्यतां—क्रियताम्, तु—किन्तु, चन्द्रोपरागं प्रति—चन्द्रग्रहणसम्बन्धे (त्वं) केनापि—केनचित् जनेन, विप्रलब्धासि—प्रतारितासि (अर्थात् अद्य चन्द्रग्रहणं न भविष्यति)।

अन्वयः—स क्रूरग्रहः केतुः इदानीम् असम्पूर्णमण्डलम् चन्द्रम् बलात् अभिभवितुम् इच्छति।

व्याख्या—स —प्रसिद्ध क्रूरग्रह —पापग्रह , केतु —राहु , इदानीम्—अधुना अद्येति यावत्, असम्पूर्णमण्डलम्—असमग्रपरिधिं, चन्द्रम्—चन्द्रमसम् बलात्—हठात्, अभिभवितुम्—ग्रसितुम्, इच्छति—वाञ्छति, ('सकेतु' इति पाठभेदे तु 'क्रूरग्रह —पापग्रह राहु , सकेतु —केतुसहित (सन्), इदानीम्'—इत्यादि व्याख्या कार्या) । पक्षान्तरे—क्रूरग्रह —क्रूर भयङ्कर ग्रह (चन्द्रगुप्ताभिभव प्रति) आग्रह यस्य स राक्षस इत्यर्थं, सकेतु —केतुना मलयकेतुना सहित (सन्), इदानीम्—अधुना, असम्पूर्णमण्डलम्—अवशीकृतप्रकृतिमण्डलम्, चन्द्रम्—चन्द्रगुप्तम्, बलात्—म्लेच्छबलसमुद्भूतात् दर्पात्, अभिभवितुम्—पराभवितुम्, इच्छति, इति—इत्थम्, अर्द्धोक्ते—सूत्रधारेण अर्धं कथिते, (कश्चित्) नेपथ्ये—वेषरचनाभूमौ, (सकोपमाह) मयि—रक्षके, स्थिते—विद्यमाने (सति क चन्द्रगुप्तम् अभिभवितुम् इच्छति ?) सूत्रधार (समापयति), तु—परन्तु, बुधयोग —बुधेन बुधग्रहेण यो योग एकराशिस्थिति स , एन—चन्द्रमस, रक्षति—त्रायते ग्रासात् इति शेष । पक्षान्तरे—तु—परन्तु, बुधयोग —बुधस्य विदुष चाणक्यस्य यो योग उपाय स , एन—चन्द्रगुप्तम् रक्षति—त्रायते पराभवात् इति शेष ॥ ६ ॥

हिन्दी अनुवाद—सूत्रधार—आर्ये ! मैंने चौंसठ अंगो समेत ज्योतिष शास्त्र मे परिश्रम किया है। इसलिए तुम महिमाशाली ब्राह्मणो को उद्देश्य करके भोजन की तैयारी करो (इसमे मुझे कोई आपत्ति नही है)। किन्तु चन्द्रग्रहण के बारे मे तुम्हे किसी ने धोखा दे दिया है। देखो—

वह पापग्रह राहु (अथवा पापग्रह, केतु के साथ होकर) इस समय अपूर्ण परिधिवाले चन्द्रमा को हठात् कवलित करना चाहता है। (पक्षान्तर मे—दुराग्रही राक्षस मलयकेतु के साथ होकर इस समय अपूर्ण प्रकृतिमण्डल वाले चन्द्रगुप्त को दर्प से पराजित करना चाहता है।) [ऐसा आधा कहने पर]

[नेपथ्य में]

आह, मेरे रहते यह कौन—

सूत्रधार—परन्तु बुध (ग्रह) का योग इस (चन्द्रमा) की रक्षा कर रहा

है। (पक्षान्तर मे—किन्तु विद्वान् (चाणक्य) का उपाय इस (चन्द्रगुप्त) की रक्षा कर रहा है।) ॥ ६ ॥

टिप्पणी—चतुःषष्ट्यङ्गे—चौंसठ अंगों वाले। ज्यौतिष शास्त्र के तीन भेद है—गणित, फलित और होरा। फिर इन तीनों के २४ अंग और ४० उपांग है। चतुःषष्टिः अङ्गानि यस्य तत् बहुव्रीहि स०, तस्मिन्। **प्रवर्त्यताम्**—आयोजन करो। प्र √वृत्+णिच्+लोट्—ताम् कर्मणि। कामचारानुज्ञायाम्। **चन्द्रोपरागम्**—उप √रञ्ज्+घञ् भावे=उपरागः। चन्द्रस्य उपरागः षष्ठीतत्०, तम्। अत्र 'लक्षणेत्थंभूताख्यान'—इति सूत्रेण 'प्रति' इत्यस्य कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां तद्योगे द्वितीया। **विप्रलब्धा**—छली गई। वि—प्र √लभ्+क्त कर्मणि। **क्रूरग्रहः**—भयंकर ग्रह, राहु। गृह्णाति रवितेजांसि इति √ग्रह्+अच् कर्तरि=ग्रहः। क्रूरः ग्रहः कर्मधारय स०। दूसरे पक्ष में—भयंकर आग्रह अर्थात् दुराग्रह से युक्त, राक्षस। √ग्रह्+अप् भावे=ग्रहः। क्रूरः ग्रहः यस्य सः बहुव्रीहि स०। **सकेतुः**—केतु के साथ। कहते है कि जब विष्णु देवताओं को अमृत बाँटने लगे तब राहु स्वरूप बदलकर देवमंडली में जा बैठा। सूर्य और चन्द्रमा के बता देने पर विष्णु ने अपने शंख से राहु का शिर काट दिया। किन्तु तब तक वह अमृत पी चुका था इसलिए वह मरा नही; बल्कि उसके दो रूप हो गए। तब से उसका शिर राहु कहलाने लगा और धड़ केतु। बदला लेने की भावना से वह सूर्य और चन्द्रमा को समय-समय पर कवलित कर लेता है। उसी का नाम ग्रहण है। पक्षान्तर में—केतु से मलयकेतु लिया जाता है। **असम्पूर्णमण्डलम्**—अपूर्ण मंडल वाले, जो पूरे घेरे से युक्त न हो, ऐसे। दूसरे पक्ष में—अपूर्ण प्रकृतिमंडल वाले। स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और दल—ये सात राज्यांग या प्रकृतिमंडल कहलाते हैं। **बलात्**—हठपूर्वक। यह एक अव्यय है। दूसरे पक्ष में—म्लेच्छ सेना से। बलमुपसंगृह्य इति ल्यब्लोपे पञ्चमी। **बुधयोगः**—बुध के साथ एक राशि पर स्थित होना। ज्यौतिष शास्त्र के अनुसार, बुध का योग होने पर ग्रहण नही होता है—'ग्रहापञ्चकसंयोगं दृष्ट्वा न ग्रहणं वदेत्। यदि न स्याद्बुधस्तत्र तं दृष्ट्वा ग्रहणं वदेत्॥' व्याससंहिता। दूसरे पक्ष मे—बुध=विद्वान् अर्थात् नीतिज्ञ चाणक्य का योग=साम, दान आदि उपाय। यहाँ दूसरे पक्ष के अर्थ से काव्यवस्तु का उपक्षेप होता है। इस पद्य मे कुवलयानन्दोक्त लक्षण के अनुसार मुद्रा नामक अलंकार है और

दर्पणोक्त लक्षण के अनुसार श्लेषालकार है। इसमे आर्या छन्द है। लक्षण श्लोक ५ की टिप्पणी मे देखिए ॥६॥

नटी—अज्ज ! को उण एसो धरणीगोअरो भविअ चन्द ग्गहाभिजो- आदो रक्खिदु इच्छदि। (आर्य ! क पुनरेष धरणीगोचरो भूत्वा चन्द्र ग्रहाभियोगाद्रक्षितुमिच्छति।)

सूत्रधार —आर्ये ! यत्सत्य मयापि नोपलक्षित । भवतु। भूयोऽ- भियुक्त स्वरव्यक्तिमुपलप्स्ये। ['क्रूरग्रह '—इत्यादि पुनस्तदेव पठति।]

[नेपथ्ये]

आ , क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति।

सूत्रधार —[आकर्ण्य] आर्ये ! ज्ञातम्। कौटिल्य ।

[नटी भय नाटयति]

सूत्रधार —कौटिल्य कुटिलमति स एष येन
क्रोधाग्नौ प्रसभमदाहि नन्दवश ।
चन्द्रस्य ग्रहणमिति श्रुते सनाम्नो
मौर्य्यन्दोर्द्विषदभियोग इत्यवैति ॥७॥

तदित आवा गच्छाव । [इति निष्क्रान्तौ।]

इति प्रस्तावना।

व्याख्या—नटी प्राह, आर्य !, एष ,क , पुन , धरणीगोचर —धरणी पृथ्वी गोचर देशो यस्य स तादृश , भूत्वा—नेपथ्यस्थित एवेत्यर्थ , चन्द्र—चन्द्रमस, ग्रहाभियोगात्—ग्रहस्य राहो अभियोगात् पीडनात्, रक्षितु—त्रातुम्, इच्छति— वाञ्छति। सूत्रधार कथयति, आर्ये, यत्सत्यम्—वस्तुत , मयापि, न उपलक्षित — न निरूपित । भवतु—अस्तु, भूय —पुन , अभियुक्त —अवहित (सन्), स्वरव्यक्तिम्—स्वरस्य कण्ठध्वने व्यक्तिम् अभिव्यञ्जनम्, उपलप्स्ये—प्राप्स्यामि ज्ञास्यामि इति यावत्। (पुन तदेव 'क्रूरग्रह '—इत्यादि पठति।) नेपथ्यस्थित पुरुषोऽपि पुन सकोपम् 'आ , क एष '—इत्यादि पठति । आकर्ण्य—श्रुत्वा, सूत्रधार वक्ति, ज्ञातम्—अवगतम्, कौटिल्य —चाणक्य अयम् इति। नटी, \`\`\`\`, नाटयति—सविलासदर्शयति।

अन्वयः—येन क्रोधाग्नौ नन्दवंशः प्रसभम् अदाहि स एष कुटिलमतिः कौटिल्यः चन्द्रस्य ग्रहणम् इति श्रुतेः सनाम्नः मौर्येन्दोः द्विपदभियोग इति अवैति ॥७॥

व्याख्या—येन बुधेन, क्रोधाग्नौ—कोपवह्नौ, नन्दवंशः—राज्ञो नन्दस्य कुलम्, अदाहि—भस्मीकृतः, स एषः—नेपथ्यावस्थितो जनः, कुटिलमतिः—क्रूरबुद्धिः, कौटिल्यः—चाणक्यः, 'चन्द्रस्य ग्रहणम्' इति श्रुतेः—श्रवणात्, सनाम्नः—समानाख्यस्य, मौर्येन्दोः—इन्द्रसदृशस्य चन्द्रगुप्तस्य, द्विपदभियोगः—द्विपता शत्रुणा, अभियोगः आक्रमणम्, इति—एतत्, अवैति—जानाति ॥७॥

तत्—तस्मात्, इतः—अस्मात् स्थानात्, आवां, गच्छावः । इति, निष्क्रान्तौ—रङ्गमञ्चादपगतौ । इति एतन्मात्रं, प्रस्तावना—कथामुखम् ।

हिन्दी अनुवाद—नटी—आर्य । फिर यह कौन है, जो पृथ्वी पर स्थित होकर चन्द्र को ग्रह के आक्रमण से बचाना चाहता है ?

सूत्रधार—आर्ये ! सत्य तो यह है कि मैंने भी नही पहचाना । अच्छा, पुनः सावधान होकर गले की पहचान करूँगा । [फिर वही 'क्रूरग्रहः' इत्यादि पढ़ता है ।]

[**नेपथ्य में**]

आह, यह कौन मेरे रहते चन्द्रगुप्त को जीतने की इच्छा करता है ?

सूत्रधार—[**सुनकर**] आर्ये ! समझ गया । (ये) कौटिल्य है ।

[**नटी भय का नाट्य करती है ।**]

सूत्रधार—जिन्होंने क्रोध की अग्नि मे नन्दवंश को हठात् जला दिया, वहीं ये कुटिल बुद्धि वाले चाणक्य 'चन्द्र का ग्रहण' यह सुनने से समान नाम वाले चन्द्रगुप्त पर शत्रु (राक्षस और मलयकेतु) का आक्रमण हो रहा है—ऐसा मानते है ॥७॥

इसलिए यहाँ से हम दोनों चले । [**दोनों चल देते है ।**]

प्रस्तावना समाप्त

टिप्पणी—धरणीगोचरः—पृथ्वी पर दिखाई पडने वाला (ग्रह) । गावः चरन्ति अस्मिन् इहि गो√चर्+घ अधिकरणे संज्ञायाम्=गोचरः । गोचर

चरागाह को कहते हैं, किन्तु स्थान की भी यह संज्ञा है। धरणी गोचरो यस्य स बहुव्रीहि स०। यह 'र' का विधेयात्मक विशेषण है। ग्रहाभियोगात्—ग्रह के आक्रमण से। अभि√युज्+घञ् भावे अभियोग। ग्रहस्य अभियोग षष्ठीतत्०, तस्मात् 'भीत्रार्थानां भयहेतु' इत्यनेन पञ्चमी। अभियुक्त—लगा हुआ, सावधान। अभि√युज्+क्त कर्तरि। स्वरव्यक्तिम्—स्वर की स्पष्टता को। वि√अञ्ज्+क्तिन् भावे=व्यक्ति। स्वरस्य व्यक्ति षष्ठीतत्० ताम्। उपलप्स्ये—उपलब्ध करूंगा, पहचानूंगा। उप√लभ्+लृट्—स्ये। नन्दवंश—नन्द ने चाणक्य का अपमान किया था। उसका बदला चुकाने के लिए चाणक्य ने अपनी कूटनीति से नन्दवंश को समूल नष्ट कर दिया था। प्रसभम्—बलात्कार, तत्क्षण। कहते हैं कि सात दिन के भीतर आठ पुत्रों समेत नन्द को चाणक्य ने मरवा दिया था। अदाहि—भस्मसात् कर दिया। √दह्+लुङ्—त कर्मणि। इसका कर्ता 'येन' है। कुटिलमति—कुटिल बुद्धि वाले। कुटिला मति यस्य स। चाणक्य बड़े कठोर राजनीतिज्ञ थे और उनकी बुद्धि दुर्ज्ञेय थी। अतएव उन्हें कुटिलमति कहा गया है। कौटिल्य—चाणक्य। कुटिलस्य भाव कौटिल्यम् कुटिल+ष्यञ् भावे। तत् अस्ति अस्य इति कौटिल्य+अच्। अथवा कुटिल एव कौटिल्य कुटिल+ष्यञ् स्वार्थे। कुछ लोग चाणक्य का नाम कौटल्य कहते हैं। कुटल उनके पिता का नाम था। कुटल की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है—'कुट कुटपूर्णं धान्यं लाति गृह्णाति इति कुटल=घटपरिमित धान्य का सग्रह करने वाला अथवा कुट परिवार को भी कहते हैं। तब अर्थ होगा—जो केवल अपने परिवार की जीविका चलाने मात्र धन का सचय करता है। तस्य, कुटलस्य अपत्य पुमान् कौटल्य कुटल+यञ्। चन्द्रस्य ग्रहणम्—यह पद छन्द के अनुरोध से रखा गया है। अन्यथा 'चन्द्रम् अभिभवितुम् इच्छति' इन शब्दों का प्रयोग होना चाहिए था, जो चूर्णक में आये है। श्रुते—सुनने से। √श्रु+क्तिन् भावे=श्रुति, तस्या हेतौ पञ्चमी। सनाम्न—तुल्य नाम वाले। समान नाम यस्य स सनामा बहुव्रीहि स०, 'ज्योतिजनपद'—इति सूत्रेण समानस्य सादेश, तस्य। यह 'मौर्येन्दो' का विशेषण है। मौर्येन्दो—चन्द्रगुप्त का। पुराण के अनुसार मुरा नाम की एक शूद्रा राजा नन्द की उपपत्नी थी। उसी का पुत्र चन्द्रगुप्त था। मुराया अपत्य पुमान् इति मुरा+ण्य 'कुर्वादिभ्यो ण्य' इत्यनेन=मौर्य। मौर्य इन्दुरिव इति मौर्येन्दु उपमित स०, तस्य। शेषे षष्ठी अथवा 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' इत्यनेन कर्मणि षष्ठी। द्विषदभियोग—शत्रु का

आक्रमण। द्विषतः वा द्विषता अभियोगः 'शेषे विभाषा' इति वार्तिकेन षष्ठी वा तृतीया। ततः षष्ठीतत्० वा तृतीयातत्०। 'द्विषदभियोगः' इत्यत्र इतियोगे प्रथमा। अवैति—जानता है। अव√इ+लट्—ति। इसका कर्ता 'कौटिल्यः' है। इस पद्य में उपमासंसृष्टश्लिष्टपरम्परितरूपक अलंकार है और प्रहर्षिणी छन्द है, जिसका लक्षण यह है—'त्र्याशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम्' ॥ ७ ॥

प्रस्तावना—प्रस्तावयति प्रतिपाद्यविषयमुत्थापयति या वाक्यावली सा प्रस्तावना प्र√स्तु+णिच्+युच् भावे स्त्रियाम्। नाटक के उस अंश को प्रस्तावना कहते है, जिसमे सूत्रधार के नटी, विदूषक या पारिपार्श्विक नामक नट के साथ होने वाले संलाप में आगे आने वाले विषय की सूचना रहती है—"नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा। सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते॥ चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः। आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा॥' इसके पाँच भेद होते है—उद्घात्यक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक और अवलगित। यहाँ कथोद्घात नामक प्रस्तावना है; क्योकि सूत्रधार का वाक्य लेकर पात्र प्रवेश करता है—'स्वेतिवृत्तसम वाक्यमथवा यत्र सूत्रिणः। गृहीत्वा प्रविशेत् पात्रं कथोद्घातो द्विधैव सः॥'

[ततः प्रविशति मुक्तां शिखां परामृशंश्चाणक्यः।]

चाणक्यः—कथय क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति। पश्य—

आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभां
सन्ध्यारुणामिव कलां शशलाञ्छनस्य।
जृम्भाविदारितमुखस्य मुखात्स्फुरन्ती
को हर्तुमिच्छति हरेः परिभूय दंष्ट्राम् ॥८॥

व्याख्या—ततः—पश्चात्, मुक्ताम्—असंयतां, शिखां—चूडां, परामृशन्, स्पृशन्, चाणक्यः—कौटिल्यः, प्रविशति—रङ्गमञ्चमायाति (वक्ति च), मयि—चाणक्ये, स्थिते—वर्तमाने, क एष चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति।

अन्वय—कः जृम्भाविदारितमुखस्य हरेः मुखात् आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभां शशलाञ्छनस्य सन्ध्यारुणां कलाम् इव स्फुरन्ती दंष्ट्रां परिभूय हर्तुम् इच्छति ॥ ८ ॥

व्याख्या—क—एप, जृम्भाविदारितमुखस्य—जृम्भया शरीरस्वभावभूतयाऽऽस्यव्यादानात्मकक्रियया विदारित प्रसारित मुखम् आनन यस्य तस्य, हरे—सिंहस्य, मुखात्, आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभाम्—आस्वादित सपीत यद् द्विरदशोणित गजरक्त तेन शोणा रक्तवर्णा शोभा कान्ति यस्या तादृशीम्, (अतएव) शशलाञ्छनस्य—चन्द्रमस, सन्ध्यारुणा—सन्ध्यया सूर्यास्तमनवेलया अरुणा रक्तवर्णीकृता, कलाम् इव—मुखकान्तिमिव, स्फुरन्ती—विजृम्भमाणा, दंष्ट्रा—दशन, परिभूय—अवनाय, हर्तुम्—उत्पाटयितुम्, इच्छति—वाञ्छति ॥ ८ ॥

हिन्दी अनुवाद—[उसके बाद खुली हुई शिखा का स्पर्श करते हुए चाणक्य का प्रवेश]

चाणक्य—मेरे रहते यह कौन चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करना चाहता है ? देखो—

कौन जँभाई के कारण फैलाये हुए मुख वाले सिंह के मुख से, पिये हुए हाथी के रक्त से लाल छविवाली और (अतएव) चन्द्रमा की सन्ध्याकालीन अरुण कान्ति-सी चमकने वाली दाढ को अवहेलनापूर्वक निकालना चाहता है ॥ ८ ॥

टिप्पणी—मुक्ता शिखाम्—पहले चन्द्रगुप्त को राज्य दिलाने के लिए चाणक्य ने अपनी शिखा खोलकर प्रतिज्ञा की थी। वह शिखा चन्द्रगुप्त को राज्य दिला देने के बाद भी इसलिए खुली हुई थी कि अभी चन्द्रगुप्त की राज्यलक्ष्मी सुस्थिर नहीं हो सकी थी। परामृशन्—स्पर्श करते हुए। परा-आ √मृश् + लट्—शतृ कर्तरि। यह दृश्य पाटलिपुत्र में चाणक्य के घर में प्रस्तुत होता है। कथय क एष मयि स्थिते—यहा से लेकर मुखसन्धि का निबन्धन किया गया है। मुखसन्धि मे 'बीज' अर्थप्रकृति और 'आरम्भ' नामक अवस्था का सयोग होता है। यहा राक्षस को वश मे करना कार्य है, चन्द्रगुप्त की लक्ष्मी को स्थिर करना उस कार्य का फल है, अनुकूल भाग्य हेतु है और चाणक्य की नीति का प्रयोग 'बीज' है। उस बीज की 'आरम्भावस्था' चाणक्य की उत्सुकता है और चाणक्य की उत्सुकता यह है कि मेरे जागरूक होते हुए भी मेरे पुरुषार्थ को कुछ न समझकर राक्षस मौर्य-लक्ष्मी का हरण करना चाहता है। अतएव अत्यन्त वीर, दण्ड-नीति में निष्णात और स्वामी नन्द के कार्य-भार को वहन करने में समर्थ राक्षस

को अवश्य ही वश में करना चाहिए। मयि स्थिते—अत्र 'षष्ठी चानादरे' इति सूत्रेण सप्तमी। जृम्भाविदारितमुखस्य—जँभाई लेने के कारण खोले हुए मुख वाले। जृम्भया विदारितं मुखं यस्य सः त्रिपदव्यधिकरणबहुव्रीहि स०, तस्य। यह 'हरेः' का विशेषण है। आस्वादित०—पिये गये गजराज के रक्त की लाली से रक्ताभ। द्वौ रदौ दन्तौ अस्य इति द्विरदः। तस्य शोणितम् षष्ठीतत्०। आस्वादितं द्विरदशोणितम् कर्मधारय स०। तेन शोणा शोभा यस्याः सा त्रिपद-व्यधि०, ताम्। यह 'दंष्ट्राम्' का विशेषण है। यहाँ चाणक्य हरि है और चन्द्रगुप्त की राज्य-श्री उसकी दंष्ट्रा है। इस पद्य में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है और वसन्ततिलका छन्द है। उसका लक्षण यह है—'ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः' ॥ ८ ॥

अपि च—

नन्दकुलकालभुजगीं कोपानलबहुलनीलधूमलताम्।
अद्यापि बध्यमानां वध्यः को नेच्छति शिखां मे ॥ ९ ॥

अन्वय—वध्यः कः नन्दकुलकालभुजगीं कोपानलबहुलनीलधूमलतां मे शिखाम् अद्यापि बध्यमानां न इच्छति ॥ ९ ॥

व्याख्या—वध्यः—हन्तुं योग्यः, कः—जनः, नन्दकुलकालभुजगीं—नन्द-कुलस्य नन्दवंशस्य कालभुजगीं कृष्णसर्पिणीम् (इव), कोपानलबहुलनीलधूम-लतां—कोपः क्रोध एव अनलः अग्निः तस्य बहुलनीलाम् अतिकृष्णाम् (०बहल-लोल० इति पाठभेदे तु बहला घनीभूता चासौ लोला व्याप्तदिक् च या तथाभूताम् इति व्याख्येयम्) धूमलताम् धूमसन्ततिम् (इव), मे—मम, शिखाम्, बध्यमानां—संयम्यमानां, न—नहि, इच्छति—वाञ्छति ॥ ९ ॥

हिन्दी अनुवाद—और भी—वध के योग्य (यह) कौन (है, जो) नन्दवंश की कालसर्पिणी और क्रोधाग्नि की अत्यन्त काली धूमरेखा (के समान) मेरी शिखा को अभी भी बँधती हुई (देखना) नहीं चाहता है ॥ ९ ॥

टिप्पणी—वध्यः—मार डालने योग्य। यहाँ वध्य मलयकेतु है, क्योंकि वही चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करना चाहता है। वधमर्हति इति वध्यः वध+य। अथवा √हन्+यत् वधादेशश्च 'हनो वा यद्वधश्च वक्तव्यः' इति वार्तिकेन। नन्दकुलकालभुजगीम्—नन्दवंश के लिए कालसर्पिणी (के समान)। काली

चासौ भुजगी कर्मधारय स० । नन्दस्य कुलम्, तस्य कालभुजगी षष्ठीतत्०, ताम् । यह 'शिखाम्' का विशेषण है । कोपानल०—क्रोध रूपी अग्नि की अत्यन्त कृष्ण धूमलता (के समान) । बहुल नीला धूम्रुपा स० । बहुलनीला धूमलता कर्मधारय स० । कोप अनल इव इति कोपानल उपमित स० । तस्य बहुनील-धूमलता षष्ठीतत्०, ताम् । यह भी 'शिखाम्' का विशेषण है । अद्यापि—आज भी, अभी भी अर्थात् नन्दवश का विनाश करके मेरी प्रतिज्ञा पूरी हो चुकने के उपरान्त भी । वध्यमानाम्—बांधी जाती हुई । √बन्ध्+लट् कर्मणि—शानच्, स्त्रिया टाप्=बध्यमाना, ताम् । यह 'शिखाम्' का विधेयात्मक विशेषण है । इस पद्य मे अश्लिष्टशब्दनिबन्धनमालारूप परम्परित रूपक अलकार है और आर्या छन्द है । आर्या का लक्षण श्लोक ५ की टिप्पणी मे देखिए ॥ ९ ॥

अपि च—

उल्लङ्घयन् मम समुज्ज्वलत प्रताप
कोपस्य नन्दकुलकाननधूमकेतो ।
सद्य परात्मपरिमाणविवेकमूढ
क शालभेन विधिना लभता विनाशम् ॥ १० ॥

अन्वय—परात्मपरिमाणविवेकमूढ क मम समुज्ज्वलत नन्दकुलकानन धूमकेतो कोपस्य प्रतापम् उल्लङ्घयन् शालभेन विधिना सद्य विनाश लभताम् ॥१०॥

व्याख्या—परात्मपरिमाणविवेकमूढ —परस्य शत्रो आत्मन स्वस्य च यत् परिमाण तारतम्य तस्य विवेके विमर्शे मूढ मुग्धमति असमर्थ इति यावत्, क — जन , मम—मे, समुज्ज्वलत —दीप्यमानस्य, नन्दकुलकाननधूमकेतो —नन्दकुलम् नन्दवश एव कानन वन तस्य धूमकेतो दावाग्ने , कोपस्य—क्रोधस्य, प्रताप—प्रखरदाहम्, उल्लङ्घयन्—अतिक्रमिष्यन्, शालभेन विधिना—पतङ्गरीत्या, सद्य — झटिति, विनाश—क्षय, लभताम्—प्राप्नोतु ॥ १० ॥

हिन्दी अनुवाद—और भी—पराये और अपने बलाबल के विचार से शून्य (यह) कौन (है, जो)मेरे देदीप्यमान तथा नन्दवश रूपी वन (को जलाने) के लिए अग्निस्वरूप क्रोध की लपटो को लाँघता हुआ पतग की रीति से शीघ्र ही विनाश को प्राप्त हो (रहा है) ॥ १० ॥

टिप्पणी—परात्म०—शत्रु की और अपनी सामर्थ्य को पहचानने में

असमर्थ । परश्च आत्मा च द्वन्द्व स० । तयोः परिमाणम्, तस्य विवेकः षष्ठीतत्० । तस्मिन् मूढः सुप्सुपा स०। यह 'कः' का विशेषण है । नन्दकुल०—नन्द्रवंश रूपी वन की दावाग्नि । धूमः केतुः यस्य स धूमकेतुः=अग्निः । नन्दकुलमेव काननम् मयूरव्यंसकादि स० । तस्य धूमकेतुः षष्ठी तत्०, तस्य । यह 'कोपस्य' का विशेषण है । उल्लङ्घयन—अत्र वर्तमानसामीप्ये लट् । शालभेन विधिना—जैसे पतंग अग्नि के ऊपर मंडराता है और अपने प्राण गवाँ देता है उसी तरह । लभताम्—अत्र विधौ लोट् न त्वाशिषि यथा माघस्य 'तव दुरासदवीर्यविभावसौ शलभतां लभतामसुहृद्गणः' इत्यत्र भवति । इसका कर्त्ता 'कः' है । इस पद्य में परम्परित रूपक अलंकार निदर्शना अलंकार से संसृष्ट है और वसन्ततिलका छन्द है । लक्षण श्लोक ८ की टिप्पणी मे देखें ।। १० ।।

शाङ्र्गरव शाङ्र्गरव

[प्रविश्य]

शिष्यः—उपाध्याय ! आज्ञापयतु ।

चाणक्यः—वत्स ! उपवेष्टुमिच्छामि ।

शिष्यः—उपाध्याय ! नन्वियं सन्निहितवेत्रासनैव द्वारप्रकोष्ठशाला । तदस्यामुपवेष्टुमर्हत्युपाध्यायः ।

चाणक्यः—वत्स ! कार्याभिनियोग एवास्मान् व्याकुलयति, न पुनरुपाध्यायसहभूः शिष्यजने दुःशीलता । [नाट्येनोपविश्यात्मगतम्] कथं प्रकाशतां गतोऽयमर्थः पौरेषु, यथा किल नन्दकुलविनाशजनितरोषो राक्षसः पितृवधामर्षितेन सकलनन्दराज्यपरिपणनप्रोत्साहितेन प्रर्वतकपुत्रेण मलयकेतुना सह सन्धाय तदुपगृहीतेन च महता म्लेच्छराजबलेन परिवृतो वृषलमभियोक्तुमुद्यत इति । [विचिन्त्य] अथवा येन मया नन्दवंशवधं सर्वलोकप्रकाशं प्रतिज्ञाय निस्तीर्णा दुस्तरा प्रतिज्ञासरित् सोऽहमिदानीं प्रकाशीभवन्तमप्येनमर्थं न समर्थः किं प्रशमयितुम् ?

व्याख्या—प्रविश्य—प्रवेशं कृत्वा । उपाध्याय—आचार्य ! आज्ञापयतु—आज्ञां ददातु । वत्स—चिरञ्जीव ! उपवेष्टुम्—आसनासीनो भवितुम्, इच्छामि—वाञ्छामि । इयं—दृश्यमाना, द्वारप्रकोष्ठशाला—द्वारप्रकोष्ठे द्वाराङ्गने या शाला कुटी सा, सन्निहितवेत्रासनैव—सन्निहितं समीपवर्ति वेत्रासनं वेत्रनिर्मितमासनं

यस्या तथाविधा एव । तत्—तस्मात्, अस्याम्—शालायाम्, उपाध्याय, उपवेष्टुम्, अर्हति—शक्नोति । कार्याभिनियोग एव—कार्ये राक्षससंग्रह प्रति अभिनियोग अभिनिवेश एव, अस्मान्—मा, व्याकुलयति—व्याकुलीकरोति, न पुन — न खलु, उपाध्यायसहभू —उपाध्यायानाम् सहभू सहजा स्वाभाविकी इत्यर्थ, शिष्यजने—छात्र प्रति, दु शीलता—उपालम्भनशीलता । नाट्येनोपविश्य—उपवेशनमभिनीय,आत्मगतम्—मनसि (आह), अयमर्थ —एप वृत्तान्त ,पौरेषु—नागरिकेषु, कथ केन प्रकारेण, प्रकाशता गत —प्रचार प्राप्त , यथा किल—यत् खलु, नन्दकुलविनाशजनितरोष —नन्दकुलस्य विनाशेन क्षयेण जनित उत्पादित रोष क्रोध यस्य तथाविध , राक्षस —एतन्नामको नन्दामात्य, पितृवधामर्षितेन—पितृवधेन पितु हत्यया कारणेन अमर्षितेन क्रुद्धेन, सकलनन्दराज्यपरिपणनप्रोत्साहितेन—सकलनन्दराज्यस्य सम्पूर्णनन्दराज्यस्य यत् परिपणन शुल्कत्वेन अवस्थापन तेन प्रोत्साहितेन, पर्वतकपुत्रेण—पर्वताख्यनृपस्य सुतेन, मलयकेतुना, सह—साक, सन्धाय—सन्धि कृत्वा, तदुपगृहीतेन—तेन मलयकेतुना सम्भृतेन, महता—विशालेन, म्लेच्छराजबलेन—यवनराजसैन्येन, परिवृत युक्त (सन्)वृषलम्—शूद्र चन्द्रगुप्तमिति यावत्, अभियोक्तुम्—आक्रमितुम्,उद्यत —सनद्ध इति । विचिन्त्य—विचार्य, अथवा—आहोस्वित्, येन मया, सर्वलोकप्रकाश—सर्वेषु समस्तेषु लोकेषु जनेषु प्रकाश प्रकट यथा स्यात् तथा, नन्दवशवध—नन्दकुलविनाश, प्रतिज्ञाय—प्रतिश्रुत्य, दुस्तरा—दुर्लंघ्या, प्रतिज्ञासरित्—प्रतिज्ञारूपा नदी, निस्तीर्णा—अतिक्रान्ता, स अहम्, इदानीम्—अधुना, प्रकाशीभवन्तमपि—प्रचार गच्छन्तमपि, एनमर्थं—राक्षसाक्रमणविषय, प्रशमयितु—शान्त कर्तुं, न समर्थ —न क्षम , किं क्षम एव ।

हिन्दी अनुवाद—शार्ङ्गरव ! शार्ङ्गरव !!

[प्रवेश करके]

शिष्य—गुरुदेव ! आज्ञा दीजिए ।

चाणक्य—वत्स ! मैं बैठना चाहता हूँ ।

शिष्य—गुरुदेव ! प्रवेश-द्वार के निकट वाले कमरे में बेत का आसन बिछा ही है । अतएव इस कमरे मे गुरुदेव बैठ सकते हैं ।

चाणक्य—वत्स ! कार्य-व्यस्तता ही मुझे व्याकुल करती है न कि छात्र के प्रति (बरता जाने वाला) आचार्यों का स्वाभाविक रूखापन (मुझमे विद्यमान

है)। [**हाव-भाव के साथ बैठकर मन ही मन**] नागरिकों में यह बात कैसे फैल गई कि नन्दवंश के विनाश से उत्पन्न क्रोध वाला राक्षस पिता के वध से क्रुद्ध तथा समस्त नन्द-साम्राज्य के स्वामित्व-प्रदान की शर्त से प्रेरित पर्वतक-पुत्र मलयकेतु के साथ सन्धि करके उस (मलयकेतु) के द्वारा इकट्ठी की गयी म्लेच्छ राजाओं की विशाल वाहिनी से युक्त होकर चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करने के लिए तैयार है ? [**सोचकर**] अथवा जिस मैंने सब लोगों के सामने नन्दवंश के वध की प्रतिज्ञा करके कठिनाई से पार करने योग्य प्रतिज्ञा रूपी नदी को पार कर डाला, वह मैं क्या इस समय फैलती हुई इस बात को भी दबा देने में समर्थ नही हूँ ?

टिप्पणी—**शाङ्‌र्गरव**—यह चाणक्य के शिष्य का नाम है। यहाँ संभ्रम (उतावली) में इसका दो बार उच्चारण किया गया है। **उपाध्याय !**—आचार्य, गुरुदेव ! नाटक में आचार्य को उपाध्याय कह कर सम्बोधित किया जाता है—'आर्येति ब्राह्मणं ब्रूयान्महाराजेति पर्थिवम्। उपाध्यायेति चाचार्यम्'— नाट्य-शास्त्र। उपेत्य अस्मात् अधीते इति उपाध्यायः उप-अधि√इ+घञ् अपादाने संज्ञायाम्। तस्य सम्बोधने उपाध्याय इति। **वत्स**···यह शिष्य के प्रति एक प्रकार का कोमल उपालम्भ है। क्योकि चाणक्य देर से खडे है। उन्होने शिष्य का बिछाया हुआ आसन नही देखा। इसलिए मीठी फटकार देते हुए वे कहते है कि मैं बैठना चाहता हूँ, आसन तुमने बिछाया ही नही। **ननु**—यह आक्षेपसूचक अव्यय है। 'नन्वाक्षेपे परिप्रश्ने प्रत्युक्तावववधारणे' इति हैमः। शिष्य कुछ उत्ते-जित होकर उत्तर देता है; क्योकि वह आसन पहले ही बिछा चुका है। **सन्निहित-वेत्रासना**—जिसके समीप वेत का आसन रखा हो। सम्-नि√धा+क्त कर्मणि=सन्निहितम्। वेत्रनिर्मितम् आसनम् वेत्रासनम् मध्यमपदलोपी स०। सन्निहितं वेत्रासनं यस्याम् सा बहुव्रीहि स०। **कार्याभियोगः**—कार्य के प्रति एकाग्रता। अभि√युज्+घञ् भावे=अभियोगः। कार्ये अभियोगः सुप्सुपा स०। **व्याकुलयति**—व्याकुल किया करती है। वि-आ√कुल्+अच् कर्तरि व्याकुलः। व्याकुलं करोति इति व्याकुल+णिच्+लट्—तिप्। **उपाध्याय-सहभूः**—आचार्यों की सहज। सह युगपत् भवति इति सह√भू+क्विप् कर्तरि=सहभूः उपाध्यायानां सहभूः षष्ठीतत्०। यह 'दुःशीलता' का विशेषण है। इससे यह सूचित किया गया है कि आचार्य लोग शिष्य के प्रति कठोरता से व्यवहार

करते हैं। गुरु-शिष्य के सम्बन्ध मे प्राचीन मान्यता भी यही है कि 'लालना श्रयिणो दोपास्ताडनाश्रयिणो गुणा ।तस्मात् पुत्र च शिष्य च ताडयेन्न तु लालयेत् ॥' आजकल इसके विपरीत वरता जा रहा है । नन्दकुलविनाशजनितरोप — नन्दवश के विनाश से उत्पन्न क्रोध वाला । नन्दस्य कुलम्, तस्य विनाश षष्ठीतत्० । तेन जनित रोप यस्य स व्यधिकरणबहुव्रीहि स० । पितृवधामर्पितेन—पिता (पर्वतक) की हत्या के कारण क्रुद्ध । मर्पण मर्प √मृष् + घञ् भावे । न मर्प अमर्प । अमर्प सञ्जात अस्य इति अमर्प + इतच् = अमर्पित अथवा अमर्पेण योजित इति अमर्प + णिच् + क्त कर्मणि = अमर्पित । पितृवधेन अमर्पित तृतीयातत्०, तेन । यह 'मलयकेतुना' का विशेपण है ।सकलनन्दराज्यपरिपणनप्रोत्साहितेन—सम्पूर्ण नन्दराज्य को बदले मे देने की शर्त से प्रोत्साहित । परि√पण (व्यवहारे) + ल्युट् भावे = परिपणनम् । सकल च तत् नन्दराज्यम् कर्मधारय स० । तस्य परिपणनम् षष्ठीतत्० । तेन प्रोत्साहित तृतीयातत्०, तेन । यह भी 'मलयकेतुना' का विशेपण है । म्लेच्छराजबलेन—म्लेच्छ राजाओ की सेना से । म्लेच्छन्ति इति √म्लेच्छ + अच् कर्तरि = म्लेच्छा । तेपा राजान म्लेच्छराजा , तेपा बलम् षष्ठीतत्० तेन । वृषलम्—चन्द्रगुप्त पर । वृषल शूद्र को कहते हैं । चन्द्रगुप्त शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न हुआ था । इसलिए उसे वृषल कहा गया है । वृष धर्मं लाति नाशयति इति वृषल वृष√ला + क । कुछ कोशकारो ने वृषल चन्द्रगुप्त का एक नाम माना है—'वृषलो शृङ्गन शूद्रे चन्द्रगुप्ते च राजनि' । √वृष् + कलच् = वृषल , तम् । सर्वलोकप्रकाशम्—सारे ससार के सामने । सर्वे च ते लोका कर्मधारय स० । तेपु प्रकाश सुप्सुपा स०, तत क्रियाविशेपणत्वात् द्वितीया नपुसकत्व च । निस्तीर्णा—पार किया । निर् वा निस्√तॄ + क्त कर्मणि । दुस्तरा—जिसे पार करना कठिन हो । दुर् वा दुस्√तॄ + खल् कर्मणि । उभयत्र 'अपदान्तस्य मूर्धन्य ' इति प्रतिपेधात् न षत्वम् । 'दुष्कर , निष्क्रम्य' इत्यादौ तु 'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य' इत्यनेन षत्व भवति । प्रकाशीभवन्तम्—फैलती हुई (बात) । न प्रकाश अप्रकाश , स च प्रकाश सम्पद्यमान इति प्रकाशीभवन् प्रकाश + च्वि√भू + लट्—शतृ कर्तरि, तम् । यह 'अर्थम्' का विशेपण है ।

कुत । यस्य मम—

श्यामीकृत्याननेन्दूनरियुवतिदिशा सन्तते शोकधूमै

काम मन्त्रिद्रुमेभ्यो नयपवनहृत मोहभस्म प्रकीर्य ।

दग्ध्वा सम्भ्रान्तपौरद्विजगणरहितान् नन्दवंशप्ररोहान्
दाह्याभावान्न खेदाज्ज्वलन इव वने शाम्यति क्रोधवह्निः ।।११।।

अन्वय—(यस्य मम) क्रोधवह्निः अरियुवतिदिशाम् आननेन्दून् सन्ततैः शोक-धूमैः श्यामीकृत्य मन्त्रिद्रुमेभ्यः नयपवनद्रुतं मोहभस्म कामं प्रकीर्य सम्भ्रान्तपौर-द्विजगणरहितान् नन्दवंशप्ररोहान् दग्ध्वा वने ज्वलन इव दाह्याभावात् शाम्यति न खेदात् ।।११।।

व्याख्या—(यस्य मम—चाणक्यस्य) क्रोधवह्निः—कोपाग्निः, अरियुवति-दिशाम्—अरीणाम् रिपूणाम् नन्दानामिति यावत् युवतयः रमण्यः एव दिशः दिग्विभागाः तासाम्, आननेन्दून्—आननानि मुखानि एव इन्दवः चन्द्राः तान्, सन्ततैः—अविच्छिन्नैः, शोकधूमैः—शोकः प्रियमरणादिरूपाः क्लेशभावाः त एव धूमाः तैः, श्यामीकृत्य—मलिनीकृत्य, मन्त्रिद्रुमेभ्यः—मन्त्रिरूपेभ्यो वृक्षेभ्यः नय-पवनहृतं—नयः नीतिः तद्रूपेण पवनेन वायुना हृतम् आनीतं, मोहभस्म—कर्त-व्यमूढतारूपं भस्म, कामं—यथेप्सितं, प्रकीर्य—विक्षिप्य, सम्भ्रान्तपौरद्विजगणर-हितान्—सम्भ्रान्ताः सन्त्रस्ताः मान्याः वा ये पौराः नागरिकाः त एव द्विजगणाः पक्षिसंघाः तैः रहितान् परित्यक्तान्, नन्दवंशप्ररोहान्—नन्दरूपो वंशः वेणुः तस्य प्ररोहाः अङ्कुराः तान्, दग्ध्वा—भस्मसात् कृत्वा, वने—अरण्ये, ज्वलन इव—अग्निरिव दावाग्निरिवेत्यर्थः, दाह्याभावात्—दाह्यस्य भस्मीकरणीयस्य (अपरस्य वस्तुनः) अभावात् असत्त्वात्, शाम्यति—विरमति, न खेदात्—नहि श्रमात् (शाम्यति) ।।११।।

हिन्दी अनुवाद—क्योकि, जिस मेरी—क्रोधाग्नि शत्रु-नारी रूपी दिशाओ के मुख रूपी चन्द्रों को घनीभूत शोकरूपी धुँओ से काले करके मन्त्री रूपी वृक्षो पर नीति रूपी वायु के द्वारा लाये हुए मोह रूपी भस्म को प्रचुरता से बिखेरकर भयभीत वा कुलीन नागरिक रूपी पक्षि-समूहों से शून्य नन्द रूपी बाँस के अंकुरों को जलाकर, जंगल मे दावाग्नि के समान, जलाने योग्य वस्तु के अभाव के कारण शान्त हो रही है न कि थकावट के कारण (शान्त हो रही है) । (तात्पर्य यह है कि जैसे वन मे दावाग्नि चारो दिशाओं को धुँएँ से मलिन करके सजीव वृक्षो पर राख फैलाकर और पक्षियों से परित्यक्त बाँसों या सूखे वृक्षों को जलाकर शान्त हो जाती है, उसी तरह चाणक्य की क्रोधाग्नि भी शोक से शत्रु-स्त्रियों के

मुखों को मलिन करके, (नन्द के) मन्त्रियों को कर्तव्यविमूढ बनाकर और सम्भ्रान्त नागरिकों से परित्यक्त नन्दवंश का विनाश करके शत्रु के न रह जाने के कारण शान्त हो रही है।) ॥११॥

टिप्पणी—यस्य—यहाँ 'पश्य' पाठ उचित प्रतीत होता है। क्योंकि 'कृत' के बाद 'यस्य' का अन्वय ठीक नहीं बैठ रहा है। सन्तते—निरन्तर, अविच्छिन्न घनीभूत। सम्+तन=सन्तत वा सतत 'समो वा ततहितयो' इति कारिकया विकल्पेन मलोपात्। श्यामीकृत्य—मलिन करके। श्याम+च्वि, ईत्व√कृ+क्त्वा—ल्यप्। मन्त्रिद्रुमेभ्य—अत्र 'क्रियया यमभिप्रेति सोऽपि सम्प्रदानम्' इति वार्तिकेन सम्प्रदानसंज्ञा—चतुर्थी। प्रकीर्य—फैलाकर बिखेर-कर। प्र√कृ+क्त्वा—ल्यप। इस पद्य में सागरूपक अलंकार पग्मिरुया अलंकार से संकीर्ण हैं और स्रग्धरा छन्द है। छन्द का लक्षण श्लोक १ की टिप्पणी में देखिए ॥ ११ ॥

अपि च—

> शोचन्तोऽवनतैर्नराधिपभयाद् धिक्शब्दगर्भैर्मुखै-
> र्मामग्रासनतोऽवकृष्टमवशं ये दृष्टवन्तः पुरा।
> ते पश्यन्ति तथैव सम्प्रति जना नन्दं मया सान्वयं
> सिंहेनेव गजेन्द्रमद्रिशिखरात् सिंहासनात् पातितम् ॥१२॥

अन्वय—पुरा ये नराधिपभयात् अवनतैः धिक्शब्दगर्भैः मुखैः शोचन्तः अवशं माम् अग्रासनतः अवकृष्टं दृष्टवन्तः, ते जनाः सम्प्रति सिंहेन गजेन्द्रम् अद्रिशिखरात् इव मया सान्वयं नन्दं सिंहासनात् तथैव पातितं पश्यन्ति ॥ १२ ॥

व्याख्या—पुरा—पूर्वस्मिन् समये, ये—जनाः, नराधिपभयात्—राजभीतेः, अवनतैः—नम्रैः, (किन्तु) धिक्शब्दगर्भैः—धिक् नन्दम् इति शब्दः उत्क्रोश-ध्वनिः गर्भे अन्तः येषां तादृशैः, मुखैः (उपलक्षिताः), शोचन्तः—शोकं कुर्वन्तः, अवशं—प्रतीकारासमर्थं, माम्—चाणक्यम्, अग्रासनतः—मुख्यासनात्, अवकृष्टं—च्यावितं, दृष्टवन्तः—अवलोकितवन्तः, ते—जनाः, सम्प्रति—अधुना, सिंहेन—मृगेन्द्रेण, गजेन्द्रम्—गजराजम्, अद्रिशिखरात्—पर्वतशृङ्गात्, इव—तद्वत्, मया, सान्वयं—ससन्ततिं, नन्दं, सिंहासनात्—राजासनात्, तथैव—तेनैव प्रकारेण, पातितं—भ्रंशितम्, पश्यन्ति—अवलोकयन्ति ॥ १२ ॥

हिन्दी अनुवाद—और भी—पहले जिन्होंने राजा (नन्द) के डर से झुके किन्तु भीतर धिक्कार के शब्दो से युक्त मुखों से शोक करते हुए विवशता की दशा में मुझे प्रधान आसन से हटाये जाते देखा था, वे इस समय सिंह के द्वारा पहाड की चोटी पर से (गिराये गये) गजराज की तरह मेरे द्वारा राजसिंहासन से उसी प्रकार गिराये गये सन्तान समेत नन्द को देख रहे है ॥१२॥

टिप्पणी—नराधिपभयात्—नराधिपात् भयम् इति नराधिपभयम् 'पञ्चमी भयेन' इत्यनेन पञ्चमी तत्०, तस्मात् । हेतौ पञ्चमी । धिक्शब्दगर्भैः—(नन्द ! तुमको) धिक्कार है, यह शब्द जिनके भीतर है ऐसे । धिक् इति शब्दः कर्मधारय स० । सः गर्भे येषाम् तानि धिक्शब्दगर्भाणि व्यधिकरणबहुव्रीहि स०, तैः । यह 'मुखैः' का विशेषण है । अवकृष्टम्—अवज्ञापूर्वक उठाये गये या गिराये गये । यह बात कथासरित्सागर तथा पुराणो में नही है । सान्वयम्—सन्तान समेत । अन्वयेन सहितः सान्वयः 'तेन सह'—इति बहुव्रीहि स०, 'वोपसर्जनस्य' इत्यनेन सहस्य सभावः, तम् । यह 'नन्दम्' का विशेषण है । 'सन्ततिर्गोत्रजननकुलान्यभिजनान्वयौ' इत्यमरः । पश्यन्ति—अत्र 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इत्यनेन निकटभूतार्थे लट् । इस पद्य मे पूर्णोपमा अलंकार है और शार्दूलविक्रीडित छन्द है । इस छन्द का लक्षण यह है—'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' ॥१२॥

सोऽहमिदानीमवसितप्रतिज्ञाभरोऽपि वृषलापेक्षया शस्त्रं धारयामि । येन मया—

समुत्खाता नन्दा नव हृदयरोगा इव भुवः
कृता मौर्ये लक्ष्मीः सरसि नलिनीव स्थिरपदा ।
द्वयोः सारं तुल्यं द्वितयमभियुक्तेन मनसा
फलं कोपप्रीत्योर्द्विषति च विभक्तं सुहृदि च ॥१३॥

व्याख्या—सः—तदानी कृतप्रतिज्ञः, अहं—चाणक्यः, इदानीम्—अधुना, अवसितप्रतिज्ञाभरोऽपि—अवसितः समाप्तः प्रतिज्ञाभरः व्रतपीडा यस्य तादृशोऽपि, वृषलापेक्षया—वृषले चन्द्रगुप्ते या अपेक्षा आदरः तया हेतुना, शस्त्रम्—आयुधम् उद्योगं वा, धारयामि—वहामि । येन मया—

अन्वयः—भुवः हृदयरोगा इव नव नन्दाः समुत्खाताः, सरसि नलिनी इव

मौर्यलक्ष्मी स्थिरपदा कृता, कोपप्रीत्योः द्वयोः सारम् द्वितयम् फलम् अभियुक्तेन मनसा द्विषति च सुहृदि च तुल्य विभक्तम् ॥१३॥

व्याख्या—भुव —पृथिव्या, हृदयरोगा इव—हृदयस्य रोगा व्याधय इव, नव—एतत्सख्यका, नन्दा —सर्वार्थसिद्धे नवपुत्रा अथवा अष्टपुत्रसमेतो नन्द, समुत्खाता —समूलमुन्मूलिता, सरसि—सरोवरे, नलिनी इव—कमलिनी इव, मौर्ये—चन्द्रगुप्ते, लक्ष्मी —राज्यश्री, स्थिरपदा—निश्चलस्थिति, कृता—विहिता, कोपप्रीत्यो —कोप अवज्ञाजनित क्रोध प्रीति सेवाजनित प्रसाद तयो, द्वयो —उभयो, सारम्—न्याय्यम्, द्वितय—द्विविध, फलम्—परिणामम्, अभियुक्तेन—निविष्टेन, मनसा—चेतसा, द्विषति च—शत्रौ च सुहृदि च मित्रे च, तुल्य—समान, विभक्तम्—विभज्य स्थापितम् ॥१३॥

हिन्दी अनुवाद—सो मैं इस समय प्रतिज्ञा के बोझ को उतार चुकने पर भी चन्द्रगुप्त के लिए शस्त्र धारण कर रहा हूँ। जिस मैंने—

पृथ्वी के हृदय-रोग के समान नौ नन्दों को उखाड़ फेंका है, सरोवर मे कमलिनी की भाँति चन्द्रगुप्त मे राज्यलक्ष्मी को अचल कर डाला है और (इस प्रकार) क्रोध और प्रसन्नता दोनो के दो प्रकार के यथोचित फल (निग्रह और अनुग्रह) को पूरे मनोयोग से शत्रु (नन्द) और मित्र (चन्द्रगुप्त) मे बाँट दिया है ॥१३॥

टिप्पणी—अवसितप्रतिज्ञाभर —प्रतिज्ञा के कष्ट से निवृत्त हो चुकने वाला। अव √सो + क्त कर्मणि = अवसित। वृषलापेक्षया—चन्द्रगुप्त के अनुरोध से। अत्र हेतौ तृतीया। शस्त्र धारयामि—शस्त्र (वेत्रयष्टि या तलवार) धारण करता हूँ। यह इसलिए कहा गया है कि चाणक्य उस समय चन्द्रगुप्त के प्रधान मन्त्री थे और युद्ध के अवसर पर प्रधान मन्त्री को सेनापतित्व का भार भी संभालना पडता था। हृदयरोगा —हृदय के रोग या शूल। हृदयस्य रोगा हृदयरोगा। 'वा शोकष्यञ्रोगेषु' इस सूत्र मे विकल्प से हृदय को हृद आदेश होने के कारण 'हृद्रोगा' और 'हृदयरोगा, दोनो रूप साधु हैं। द्वितयम्—दो प्रकार का। द्वौ अवयवौ अस्य इति द्वि + तयप्। इस पद्य मे उत्प्रेक्षा अलकार, उपमा अलकार और यथासख्य अलकार की ससृष्टि है और शिखरिणी छन्द है। इसका लक्षण यह है—'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलाग शिखरिणी' ॥१३॥

अथवा, अगृहीते राक्षसे किमुत्खातं नन्दवंशस्य, किं वा स्थैर्यमुत्पादितं चन्द्रगुप्तलक्ष्म्याः [विचिन्त्य] अहो ! राक्षसस्य नन्दवंशे निरतिशयो भक्तिगुणः । स खलु कस्मिंश्चिदपि जीवति नन्दान्वयावयवे वृषलस्य साचिव्यं ग्राहयितुं न शक्यते । तदभियोगं प्रति निरुद्योगः शक्यः अवस्थापयितुमस्माभिः इति अनयैव बुद्ध्या तपोवनं गतोऽपि घातितस्तपस्वी नन्दवंशीयः सर्वार्थसिद्धिः । यावदसौ मलयकेतुमङ्गीकृत्य अस्मदुच्छेदाय विपुलतरं प्रयत्नम् उपदर्शयत्येव । [प्रत्यक्षवदाकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा] साधु, अमात्य राक्षस ! साधु । साधु, श्रोत्रिय ! साधु । साधु, मन्त्रिबृहस्पते ! साधु ! कुतः—

व्याख्या—अथवा—पक्षान्तरे, अगृहीते—अवशीकृते, राक्षसे—नन्दामात्ये, नन्दवंशस्य—नन्दकुलस्य, किम्, उत्खातम्—उन्मूलितम् न किञ्चिदपीत्यर्थः, वा—अथवा, चन्द्रगुप्तलक्ष्म्याः—वृषलराज्यश्रियः, किम्, स्थैर्यं—स्थिरता, उत्पादितं—जनितं न किमपीत्यर्थः । विचिन्त्य—विचार्य, अहो—आश्चर्य, राक्षसस्य, नन्दवंशे, निरतिशयः—अत्यधिकः, भक्तिगुणः—भक्तिरूपो गुणः (अस्ति) । सः—राक्षसः, खलु—निश्चितं, कस्मिंश्चिदपि—नगण्येऽपि, नन्दान्वयावयवे नन्दान्वयस्य नन्दवंशस्य अवयवे अंशे, जीवति—प्राणधारणं कुर्वति (सति), वृषलस्य, साचिव्यम्—अमात्यत्वम्, ग्राहयितु, कारयितु, न शक्यते—न क्षम्यते । तदभियोगं प्रति—तस्य नन्दान्वयावयवस्य अभियोगं प्रति प्रतिष्ठापनाभिमानं प्रति, निरुद्योगः—उद्यमहीनः, अवस्थापयितुम्—आसयितुम्, अस्माभिः शक्यः, इति अनयैव वुद्या—एवमेव मत्वा, नन्दवशीयः—नन्दकुलोत्पन्नः, तपस्वी—वराकः, सर्वार्थसिद्धिः, तपोवनं गतोऽपि—तपस्यार्थमरण्यं यातोऽपि, घातितः—नाशितः । यावत्—पक्षान्तरे, असौ—राक्षसः, मलयकेतुम्, अङ्गीकृत्य—स्वीकृत्य, अस्मदुच्छेदाय—अस्माकमुन्मूलनाय, विपुलतरम्—अत्यन्तम्, प्रयत्नम्— उद्योगम्, उपदर्शयत्येव—प्रकटयत्येव । प्रत्यक्षवत्—दृष्टिगोचरे वस्तुनि इव, आकाशे—गगने, लक्ष्य वद्ध्वा—दृष्टि निधाय, साधु अमात्य राक्षस, साधु—श्लाघनीयमेतत् कार्य ते, साधु, श्रोत्रिय—सुब्राह्मण, साधु—सुन्दरमेतत्ते । साधु, मन्त्रिवृहस्पते—वृहस्पतितुल्य-मन्त्रिन्, साधु—शोभनमेतत्ते कुतः—यतो हि—

हिन्दी अनुवाद—अथवा राक्षस को वश में किये विना मैंने नन्दवंश का

क्या उच्छेद किया ? और क्या चन्द्रगुप्त की राजलक्ष्मी को स्थिर कर लिया ? [सोचकर] ओह ! नन्दवंश के प्रति राक्षस का भक्तिरूप गुण महान् है। वह नन्दवंश के किसी भी अंश (व्यक्ति) के जीवित रहते चन्द्रगुप्त का मंत्री नहीं बनाया जा सकता और (इसलिए) नन्दवंश के अंश को राज्य पर प्रतिष्ठित करने के प्रति उसे उद्यमहीन बनाने के विचार से ही हमने बेचारे नन्दवंशी सर्वार्थसिद्धि को तपोवन में चले जाने पर भी मरवा डाला। किन्तु तब भी यह मलयकेतु का सहारा लेकर हमारी जड़ खोदने के लिए अधिक से अधिक प्रयत्न दिखा ही रहा है। [प्रत्यक्ष के समान आकाश में दृष्टि बांधकर अर्थात् मानो शून्य में राक्षस को ही एकटक देखते हुए] धन्य हो अमात्य राक्षस, (तुम) धन्य हो। धन्य हो द्विजवर ! धन्य हो। बृहस्पति-तुल्य मंत्री ! धन्य हो। क्योंकि—

टिप्पणी—अगृहीते—वशीभूत किये गये बिना। यह 'राक्षस' का विशेषण है, जिसमें 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' से सप्तमी हुई है। राक्षस को वश में करना ही चाणक्य का लक्ष्य है और यही इस नाटक का मुख्य उद्देश्य है। उत्खातम्—उन्मूलन किया। उत्√खन्+क्त कर्मणि। स ग्राहयितुं शक्यते—यह कर्मवाच्य का प्रयोग है। कर्तृवाच्य में होगा—'तं ग्राहयितुं शक्नोमि'। तपस्वी—बेचारा। यावत्—पक्षान्तर। 'यावत् तात्कार्त्स्न्येऽवधारणे' इत्युपक्रम्य 'पक्षान्तरे च' इति मेदिनी। यहाँ एक पक्ष तो है सर्वार्थसिद्धि के मरवा डालने पर राक्षस को चन्द्रगुप्त के विरोध करने से विरत किया जा सकता है और दूसरा पक्ष है सर्वार्थसिद्धि के मरवा डालने पर भी राक्षस विरोध कर ही रहा है। अस्मदुच्छेदाय—हमारे विनाश के लिए। अस्माकम् उच्छेदः अस्मदुच्छेदः, तस्मै। तादर्थ्ये चतुर्थी। अमात्य—मंत्री ! अमा = सह वसति इत्यर्थे अमा+त्यप् = अमात्य। सम्बोधने अमात्य इति। श्रोत्रिय—वेदविद्यासम्पन्न ब्राह्मण ! इसका लक्षण यह है—'जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैः द्विज उच्यते। विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते।' छन्दः अधीते इति छन्दस्+घ, छन्दस इत्यस्य श्रोत्रादेशश्च 'श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते' इत्यनेन = श्रोत्रिय। मन्त्रिबृहस्पते—बृहस्पति के समान मंत्री। बृहतां वाचां पतिः बृहस्पतिः 'तद्बृहतोः करपत्योः'—इत्यनेन सुट् तलोपश्च। मन्त्री बृहस्पतिरिव इति मन्त्रिबृहस्पतिः उपमितसमास। सम्बोधने मन्त्रिबृहस्पते इति।

ऐश्वर्यादनपेतमीश्वरमयं लोकोऽर्थतः सेवते
तं गच्छन्त्यनु ये विपत्तिषु पुनस्ते तत्प्रतिष्ठाशया।
भर्तुर्ये प्रलयेऽपि पूर्वसुकृतासङ्गेन निःसङ्गया
भक्त्या कार्यधुरां वहन्ति बहवस्ते दुर्लभास्त्वादृशाः ॥१४॥

अन्वयः—अयं लोकः ऐश्वर्यात् अनपेतम् ईश्वरम् अर्थतः सेवते। ये पुनः विपत्तिषु तमनुगच्छन्ति ते तत्प्रतिष्ठाशया। त्वादृशाः कृतिनः ये भर्तुः प्रलयेऽपि पूर्वसुकृतासङ्गेन निःसङ्गया भक्त्या कार्यधुरां वहन्ति ते दुर्लभाः ॥१४॥

व्याख्या—अयम्—एषः, लोकः—संसारः, ऐश्वर्यात्—वैभवात्, अनपेतम्—युक्तम्, ईश्वरम्—स्वामिनम्, अर्थतः—प्रयोजनवशात्, सेवते—भजते। ये पुनः—पक्षान्तरे ये जनाः, विपत्तिषु—आपत्तिकालेषु, तम्—स्वामिनम्, अनुगच्छन्ति—अनुसरन्ति, ते जनाः, तत्प्रतिष्ठाशया—तस्य स्वामिनः या प्रतिष्ठा, पुनः राज्य-प्राप्तिः तत्र या आशा अपेक्षा तयैव (तथा कुर्वन्ति)। त्वादृशाः—भवादृशाः, कृतिनः—कृतराजकृत्याः, कृतज्ञा वा, ये, भर्तुः—स्वामिनः, प्रलयेऽपि—नाशेऽपि, पूर्वसुकृतासङ्गेन—पूर्वसुकृतस्य पूर्वकृतोपकारस्य, आसङ्गेन सम्बन्धेन अविस्मरणेनेत्यर्थः, निःसङ्गया—फलासक्तिरहितया, भक्त्या—अनुरागेण, कार्यधुरां—कर्तव्यभारं, वहन्ति—धारयन्ति, ते, दुर्लभाः—दुष्प्रापाः (भवन्ति) ॥१४॥

हिन्दी अनुवाद—यह संसार स्वार्थ-साधन के लिए सम्पत्तिशाली स्वामी की सेवा करता है और जो विपत्ति के समय स्वामी का अनुगमन करते है, वे स्वामी की पुनः राज्य-प्राप्ति की आशा से (ऐसा करते हैं)। किन्तु तुम्हारे जैसे कर्मवीर, जो स्वामी के मर जाने पर भी पहले से किये हुए उपकारके अविस्मरण से निःस्वार्थ भक्ति के द्वारा कार्य के भार को वहन करते है (अर्थात् उसी का कार्य करते चलते है), वे दुर्लभ होते है ॥१४॥

टिप्पणी—अर्थतः—स्वार्थवश। हेतौ तृतीया। ततः तस्। तम्—अत्र अनु इति कर्मप्रवचनीययोगे द्वितीया। तत्प्रतिष्ठाशया—उसकी प्रतिष्ठा या अभ्युदय की आशा से। प्रति√स्था+अङ् भावे=प्रतिष्ठा। तस्य प्रतिष्ठा तत्प्रतिष्ठा षष्ठीतत्०। तस्याम् आशा तत्प्रतिष्ठाशा सुप्सुपा स०, तया। हेतौ तृतीया। कृतिनः—कृतकार्य, जिन्होंने अच्छे कार्य किये हों। कृतम् अस्ति एषाम् इति कृत+इनि। पूर्वसुकृतासङ्गेन—पूर्व किये गये उपकार की स्मृति अथवा

अतीत पुण्यस्मृति से । आ√सञ्ज्+घञ् भावे=आसङ्ग पूर्वं सुकृत पूर्वसुकृतम् सुप्सुपा स० । तस्य आसङ्ग पूर्वसुकृतासङ्ग, तेन । हेतौ तृतीया । निःसङ्गया—आसक्तिरहित, निःस्वार्थ । यहाँ 'निर् या निस्√सञ्ज्+घञ् अधिकरणे स्त्रियाम्, ऐसी व्युत्पत्ति करने से 'निःषङ्गा' रूप बनेगा, क्योंकि 'उपसर्गात् सुनोति'—सूत्र से षत्व हो जाएगा । अतएव इस तरह व्युत्पत्ति करनी चाहिए—निर्गत सङ्ग अस्या इति निःसङ्गा प्रादिबहुव्रीहि स०, तया । यह 'भक्त्या' का विशेषण है, जहाँ करण में तृतीया हुई है । कार्यधुराम्—कार्य के धुरा या भार को । कार्यस्य धूः कार्यधुरा 'ऋक्पूरब्धूः'—इति समासान्त अप्रत्यय, 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' इति सूत्रनियमात् स्त्रीलिङ्गत्वम्, ततष्टाप्=कार्यधुरा, ताम् । दुर्लभा—दुःखेन लभ्यन्ते इति दुर्लभा दुर्√लभ्+खल् कर्मणि । इस पद्य में व्यतिरेक अलंकार है, शार्दूलविक्रीडित छन्द है । लक्षण श्लोक १२ की टिप्पणी में देखिए ॥१८॥

अतएवास्माकं त्वत्संग्रहे प्रयत्नः, कथमसौ वृषलस्य साचिव्यग्रहणेन सानुग्रहः स्यादिति । कुतः—

अप्राज्ञेन च कातरेण च गुणः स्याद्भक्तियुक्तेन कः
प्रज्ञाविक्रमशालिनोऽपि हि भवेत् किं भक्तिहीनात् फलम् ।
प्रज्ञाविक्रमभक्तयः समुदिता येषां गुणा भूतये
ते भृत्या नृपतेः कलत्रमितरे सम्पत्सु चापत्सु च ॥१९॥

व्याख्या—अतएव—अस्मात् कारणात्, कथ—केन प्रकारेण, असौ—राक्षस, वृषलस्य—चन्द्रगुप्तस्य, साचिव्यग्रहणेन—मन्त्रित्वस्वीकारेण, सानुग्रहः स्यात्—अस्मान् अनुगृह्णीयात्, इति चिन्त्यमानानाम्, अस्माकं—मम, त्वत्संग्रहे—तव वशीकरणे, प्रयत्नः—आयासः ।

अन्वय—भक्तियुक्तेन अप्राज्ञेन च कातरेण च कः गुणः स्यात्, प्रज्ञाविक्रमशालिनः अपि भक्तिहीनात् किं हि फलं भवेत्, समुदिताः प्रज्ञाविक्रमभक्तयः येषां गुणाः ते भृत्याः नृपतेः सम्पत्सु च आपत्सु च भूतये, इतरे कलत्रम् ॥१९॥

व्याख्या—भक्तियुक्तेन—सानुरागेण, (किन्तु) अप्राज्ञेन च—अबुद्धिमता, कातरेण च—निर्विक्रमेण, (भृत्येन) कः गुणः स्यात्—किं भवेत्? न किमपीत्यर्थः । प्रज्ञाविक्रमशालिनः अपि—बुद्धिशौर्यसम्पन्नादपि, भक्तिहीनात्—अनुरागरहितात्, (भृत्यात्) किं हि फलं भवेत्—को लाभः स्यात्? न किमपीत्यर्थः ।

समुदिताः—मिलिताः, प्रज्ञाविक्रमभक्तयः—बुद्धिशौर्यानुरागाः, येषां—भृत्यानां, गुणाः; (सन्ति) ते, भृत्याः—सेवकाः, नृपतेः—राज्ञः, सम्पत्सु च—सम्पत्तिकालेषु च, आपत्सु च—विपत्तिकालेषु च, भूतये—ऐश्वर्याय, (भवन्ति)। इतरे—ये केवलं भक्तिमन्तः ये वा केवलं प्रज्ञाविक्रमशालिनः ते सर्वे, कलत्रम्—भार्या (इव सर्वासु समविषमदशासु राज्ञा पोष्यमात्रम्) ॥१५॥

हिन्दी अनुवाद—इसीलिए तुम्हे वश में करने के लिए हमारा प्रयत्न हो रहा है कि कैसे तुम चन्द्रगुप्त का मन्त्रित्व स्वीकार कर हमे अनुगृहीत करोगे। क्योंकि—

भक्ति से युक्त किन्तु बुद्धि और बल से रहित (सेवक) से क्या लाभ ? और बुद्धि तथा पराक्रम से सम्पन्न किन्तु भक्ति से हीन (सेवक) से भी क्या लाभ ? जिन सेवकों में बुद्धि, पराक्रम तथा भक्ति—इन (तीनों) गुणो का समुदाय हो, वे राजा के अच्छे और बुरे दिनो मे भी कल्याण के लिए होते है और दूसरे (जो या तो केवल बुद्धिविक्रमशाली हो या केवल भक्तिमान् हो वे) स्त्री (के समान अच्छे-बुरे सभी दिनो मे केवल पोष्य हुआ करते) है ॥१५॥

टिप्पणी—त्वत्संग्रहे—तुमको वश मे करने का। सम्√ग्रह्+अप् भावे= संग्रहः। तव संग्रहः त्वत्संग्रहः षष्ठीतत्०; तस्मिन्। विषयाधिकरणे सप्तमी। प्रज्ञाविक्रमशालिनः—बुद्धि और पराक्रम से युक्त। प्रज्ञा च विक्रमश्च इति प्रज्ञाविक्रमौ द्वन्द्व स०। ताभ्यां साधु शालते श्लाघते इति प्रज्ञाविक्रम√शाल्+ णिनि साधुकारिणि, तस्मात्। भृत्याः—सेवक। भृत्य का लक्षण यह है— 'यस्मिन् कृत्यं समावेश्य निर्विशङ्केन चेतसा। आस्यते सेवकः स स्यात् कलत्रमिव चापरम्।' भ्रियन्ते इति√भृ+क्यप्। भूतये—ऐश्वर्य के लिए। तादर्थ्ये चतुर्थी। इस पद्य मे व्यतिरेक अलंकार है और शार्दूलविक्रीडित छन्द है। लक्षण श्लोक १२ में दे० ॥१५॥

तन्मयाप्यस्मिन् वस्तुनि न शयानेन स्थीयते, यथाशक्ति क्रियते तद्ग्रहण प्रति यत्नः। कथमिव ? अत्र तावद् वृषलपर्वतकयोरन्यतरविनाशेनापि चाणक्यस्यापकृतं भवतीति विषकन्यया राक्षसेनास्माकमत्यन्तोपकारि मित्रं घातितस्तपस्वी पर्वतक इति सञ्चारितो जगति जनापवादः। लोकप्रत्ययार्थमस्यैवार्थस्याभिव्यक्तये 'पिता ते चाणक्येन घातित' इति

रहसि त्रासयित्वा भागुरायणेनापवाहित पर्वतकपुत्रो मलयकेतु । शक्य खलु एप राक्षसमतिपरिगृहीतोऽनि व्युत्तिष्ठमान प्रज्ञया निग्रहीतुम् । न पुनरस्य निग्रहात् पर्वतकवधोत्पन्न राक्षसस्यायश प्रकाशीभवत् प्रमार्ष्टुमिच्छामि ।

व्याख्या—तत्—तस्मात्, मयापि—चाणक्येनापि, अस्मिन् वस्तुनि—राक्षससग्रहकार्ये, शयानेन—स्वपता अलसेनेति यावत्, न स्थीयते—न समयक्षेप क्रियते, (प्रत्युत) तद्ग्रहण प्रति—राक्षसवशीकरण प्रति, यथाशक्ति—शक्त्यनुसार, यत्न—उद्योग , क्रियते—विधीयते । कथमिव—येन प्रकारेण, अत्र तावत्—अस्मिन् कर्मणि खलु, वृषलपर्वतकयो — चन्द्रगुप्तपर्वतकयो , अन्यतरविनाशेनापि—अन्यतरस्यापि एकस्यापि विनाशेन वधेन, चाणक्यस्य, अपकृतम्—अपकार , भवति—जायते, इति कृत्वा, राक्षसेन, विषकन्यया—स्पर्शघातिन्या कन्यया कयाचित्, अस्माकम्, अत्यन्तोपकारि—परमोपकारक, मित्र—सुहृत्, तपस्वी—वराक , पर्वतक , घातित —मारित , इति—एवविध , जनापवाद —जनश्रुति , जगति—ससारे, सञ्चारित —प्रचारित । लोकप्रत्ययार्थम्—लोकाना जनाना प्रत्ययार्थ विश्वासाथम्, अस्यव अर्थस्य—राक्षसकर्तृकपर्वतकवधरूपस्य, अभिव्यक्त्यै—प्रकटीभवनाय, ते—तव, पिता—जनक , चाणक्येन, घातित , इति—एवम्, रहसि—एकान्ते, भागुरायणेन—एतन्नामकेनास्मत्प्रणिधिना, पर्वतकपुत्र , मलयकेतु , त्रासयित्वा—भीषयित्वा, अपवाहित —अपसारित । व्युत्तिष्ठमान —युद्धार्थं प्रयतमान , एप —मलयकेतु , राक्षसमतिपरिगृहीतोऽपि—राक्षसस्य मत्या बुद्ध्या परिगृहीतोऽपि अवलम्बितोऽपि, प्रज्ञया—बुद्ध्या, निग्रहीतु—वशीकर्तु , शक्य खलु—सुसाध्य एव । पुन —पक्षान्तरे, प्रकाशीभवत्—प्रचार गच्छत्, पर्वतकवधोत्पन्न—पर्वतकहत्याजनित, राक्षसस्य, अयश —कुख्यातिम्, अस्य—मलयकेतो , निग्रहात्—पर्वतकवधकाले एव दण्डनात्, प्रमार्ष्टुम्—प्रक्षालयितु, न इच्छामि—(तदानीं) न अवाञ्छम् ।

हिन्दी अनुवाद—इसलिए म भी इस विषय मे सोया-पडा नही हूँ, बल्कि उसे वश मे करने के लिए यथासाध्य प्रयत्न कर रहा-हूँ । कैसे ? (तो सुनो,) इस विषय मे (पहला प्रयत्न तो यह है कि) 'चन्द्रगुप्त या पर्वतक इन दोनो मे से एक का भी नाश हो जाने पर चाणक्य की क्षति होगी' ऐसा सोचकर राक्षस ने विषकन्या के द्वारा हमारे परमोपकारी मित्र बेचारे पर्वतक को मरवा दिया है—

ऐसी जनश्रुति लोक में फैला दी गई है। (दूसरा यह है कि) लोगों के विश्वास के लिए इसी बात को स्पष्ट करने के लिए (हमारे गुप्तचर) भागुरायण ने 'तुम्हारे पिता को चाणक्य ने मरवाया है' ऐसा एकान्त में भय दिखाकर पर्वतक के पुत्र मलयकेतु को भगा दिया है। यह (मलयकेतु) राक्षस की बुद्धि के अनुसार चलकर युद्ध के लिए प्रयत्नशील होता हुआ भी (मेरी) बुद्धि के द्वारा वश में किया जा सकता है। फिर मैं इस (मलयकेतु) को कैद कर पर्वतक की हत्या से उत्पन्न होकर फैलते हुए राक्षस के कलंक को धोना नही चाहता हूँ।

टिप्पणी—'मयापि न शयानेन स्थीयते'—यहाँ से लेकर 'तेनेदानीं महत्प्रयोजनमनुष्ठेयं भविष्यति' तक समाधान नामक मुखसन्ध्यङ्ग है। **विषकन्यया**—विषाक्त कन्या के द्वारा। प्राचीन काल में शत्रु को मरवाने के लिए विषकन्या का उपयोग किया जाता था—'लावण्यभूषणा कान्ता योषितं क्रमशो विषैः। युवती योजयेत् कामिरिपुभूपान्नघातने।' किसी सुन्दरी लडकी के शरीर को बचपन से ही ओषधि के प्रयोग द्वारा शनैः शनैः इतना विषयुक्त कर दिया जाता था कि कालान्तर में उससे संभोग करने वाले की मृत्यु हो जाती थी। विषतुल्या वा विषदिग्धा वा विषसिद्धा कन्या विषकन्या मध्यमपदलोपी स०, तया। करणे तृतीया। **अत्यन्तोपकारि**—बहुत उपकार करनेवाला। अत्यन्तम् उपकारि सुप्सुपा स०। पर्वतक ने कुसुमपुर के चारो ओर घेरा डालने में चन्द्रगुप्त की सैनिक सहायता की थी। इसी से वह उपकारी था। **अभिव्यक्तये**—स्पष्टता के लिए। अभि√वि-अञ्ज्+क्तिन् भावे=अभिव्यक्तिः, तस्यै। तादर्थ्ये चतुर्थी। **राक्षसमतिपरिगृहीतः**—राक्षस की बुद्धि पर अवलम्बित अर्थात् बिलकुल राक्षस के कथनानुसार काम करने वाला। परि समन्तात् गृहीतः इति परि√ग्रह्+क्त कर्मणि=परिगृहीतः। **व्युत्तिष्ठमानः**—युद्ध के लिए उठता हुआ या यत्न करता हुआ। वि—उद्√स्था+शानच् कर्तरि। अत्र 'उदोऽनूर्ध्वकर्मणि' इति सूत्रेण आत्मनेपदत्वम्। **प्रमार्ष्टुम्**—पोंछने के लिए। प्र√मृज्+तुमुन्, 'मृजेर्वृद्धिः' इति सूत्रेण वृद्धिः=प्रमार्ष्टुम् वा प्रमार्जितुम्।

प्रयुक्ताश्च स्वपक्षपरपक्षयोरनुरक्तापरक्तजनजिज्ञासया बहुविधदेशवेषभाषाचारसञ्चारवेदिनो नानाव्यञ्जनाः प्रणिधयः। अन्विष्यते च कुसुमपुरवासिनां नन्दामात्यसुहृदां निपुण प्रचारगतम्। तत्तत्कारणमुत्पाद्य कृतकृत्यतामापादिताश्चन्द्रगुप्तसहोत्थायिनो भद्रभटप्रभृतयः प्रधानपुरुषाः। शत्रुप्रयुक्तानां च तीक्ष्णरसदायिनां प्रतिविधानं प्रत्यप्रमा-

दिन परीक्षितभक्तय क्षितिपतिप्रत्यासन्ना नियोजितास्तत्राप्तपुरुषा । अस्ति चास्माक सहाध्यायि मित्रमिन्दुशर्मा नाम ब्राह्मण । स चौशनस्या दण्डनीत्या चतु षष्ट्यङ्गे ज्योति शास्त्रे च पर प्रावीण्यमुपगत । स मया क्षपणकलिङ्गधारी नन्दवशवधप्रतिज्ञानन्तरमेव कुसुमपुरमुपनीय सर्वनन्दामात्यै सह सख्य ग्राहितो विशेषतश्च तस्मिन्राक्षस समुत्पन्नविश्रम्भ । तेनेदानी महत्प्रयोजनमनुष्ठेय भविष्यति ।

व्याख्या—स्वपक्षपरपक्षयो — स्वपक्षे आत्मन पक्षे परपक्षे शत्रो पक्षे च, अनुरक्तापरक्तजनजिज्ञासया—अनुरक्ता भक्ता अपरक्ता विरक्ताश्च ये जना तेषा जिज्ञासया परिज्ञानार्थं, बहुविधदेशवेषभाषाचारसञ्चारवेदिन —बहुविधाना नानाप्रकाराणा देशाना यो वेष परिच्छेद या च भाषा य आचार व्यवहार यश्च सञ्चार आवागमन तत् सर्वं विदन्ति जानन्ति ये ते तादृशा , नानाव्यञ्जना —बहुरूपधारिण , प्रणिधय —गुप्तचरा , प्रयुक्ता —नियुक्ता । कुसुमपुरवासिना—पाटलिपुत्रवास्तव्याना, नन्दामात्यसुहृदा—नन्दामात्यस्य राक्षसस्य सुहृदा मित्राणा, प्रचारगत—गमनागमनविषयर, (सर्वं) निपुण—सूक्ष्मम्, अन्विष्यते—निरीक्ष्यते । चन्द्रगुप्तसहोत्थायिन —चन्द्रगुप्तेन सह उत्थायिन उत्तिष्ठमाना , भद्रभटप्रभृतय —भद्रभटादय , प्रधानपुरुषा —मुख्यकर्मचारिण , तत्तत्कारण—सन्तोषकारणम्, उत्पाद्य—घटयित्वा, कृतकृत्यताम्—कृतार्थताम्, आपादिता —प्रापिता । शत्रुप्रयुक्ताना—शत्रुणा राक्षसेन प्रयुक्ताना नियुक्ताना, तीक्ष्णरसदायिना—विषदायिना, प्रतिविधान—निवारण प्रति, अप्रमादिन —सावधाना , परीक्षितभक्तय —परीक्षिता प्रमाणिता भक्ति अनुराग येषा ते तादृशा , क्षितिपतिप्रत्यासन्ना —क्षितिपते राज्ञ चन्द्रगुप्तस्येत्यर्थ प्रत्यासन्ना —निकटस्था , आप्तपुरुषा —विश्वस्तजना , नियोजिता —व्यापारिता । अस्माक—मम, सहाध्यायि—सहपाठि, मित्र—बन्धु , इन्दुशर्मा नाम—इन्दुशर्माख्य , ब्राह्मण —विप्र , अस्ति—वर्तते । स च—इन्दुशर्मा, औशनस्या—शुक्राचार्यप्रणीताया, दण्डनीत्या—नीतिशास्त्रे, चतु षष्ट्यङ्गे—चतु षष्टिसख्यकशाखायुक्ते, ज्योति शास्त्रे च, परम्—अत्यन्तम्, प्रावीण्यम्—दक्षताम्, उपगत —प्राप्त । नन्दवशवधप्रतिज्ञानन्तरमेव—नन्दवशविनाशप्रतिज्ञापरम्पराण एव, क्षपणकलिङ्गधारी—क्षपणकस्य बौद्धधर्मयोगिन लिङ्गधारी वेषभृत्, स —इन्दुशर्मा, मया, कुसुमपुरम्—पाटलिपुत्रम्, उपनीय—आनीय, सर्वनन्दामात्य —सर्व समस्तै नन्दामात्यै नन्दसचिवै , सह—सार्धं, सख्य—मित्रता, ग्राहित —कारित , च—पुन , राक्षस , तस्मिन्—

इन्दुशर्मणि, विशेपतः—आधिक्येन, समुत्पन्नविश्रम्भः—जातविश्वासः। इदानीम्—अधुना, तेन—इन्दुशर्मणा, महत्—श्रेष्ठं, प्रयोजनं—कार्यम्, अनुष्ठेयम्—सम्पादनीयं, भविष्यति।

हिन्दी अनुवाद—(तीसरा यह है कि) अपने पक्ष में तथा शत्रु के पक्ष में कौन अनुरक्त (साथ देने वाले) और कौन विरक्त (साथ न देने वाले) है, ऐसे लोगो को जानने की इच्छा से नाना प्रकार के छद्मवेशधारी और भिन्न-भिन्न देशों के भेस, भाषा, व्यवहार तथा आवागमन के जानकार गुप्तचरो को नियुक्त कर दिया गया है। (चौथा यह है कि) पाटलिपुत्र मे रहनेवाले नन्द के मत्री के मित्रों की गतिविधि का पता सतर्कता से लगाया जा रहा है। (पाँचवाँ यह है कि) सन्तुष्ट होने के कारणो को उत्पन्न करके चन्द्रगुप्त के साथ उठने-बैठने वाले भद्रभट आदि प्रधान राजपुरुषो को कृतार्थ कर दिया गया है। (छठा यह है कि) शत्रु के द्वारा प्रयुक्त विप देने वालो का निवारण करने के लिए ऐसे विश्वस्त, सावधान और राजा (चन्द्रगुप्त) के पास रहने वाले व्यक्तियों को नियुक्त कर दिया गया है, जिनकी राजभक्ति की परीक्षा ली जा चुकी है। (और सातवाँ यह है कि) मेरा सहपाठी मित्र इन्दुशर्मा नाम का ब्राह्मण है। वह शुक्राचार्य की बनाई हुई दण्डनीति और चौसठ अगो वाले ज्यौतिप शास्त्र में पारंगत है। नन्दवंश-विनाश की प्रतिज्ञा के पश्चात् ही मैने उसे बौद्ध सन्यासी के वेष मे पाटलिपुत्र लाकर नन्द के सभी मत्रियो से (उसकी) मित्रता करा दी और वह विशेष रूप से राक्षस का विश्वासपात्र बन गया है। उससे इस समय बहुत बड़ा काम निकाला जाएगा।

टिप्पणी—अनुरक्तापरक्तजनजिज्ञासया—अनुरक्त और विरक्त लोगों की जानकारी प्राप्त करने की इच्छा से। अनु√रञ्ज्+क्त कर्तरि = अनुरक्त। अप√रञ्ज्+क्त कर्तरि = अपरक्त। √ज्ञा+सन्, द्वित्वादि+अ भावे = जिज्ञासा। हेतौ तृतीया। **नानाव्यञ्जनाः**—अनेक प्रकार के छद्मवेश धारण करने वाले। व्यज्यन्ते एभिः इति वि√अञ्ज्+ल्युट् करणे = व्यञ्जनानि। नाना शब्द अव्यय है। नाना व्यञ्जनानि एपाम् इति नानाव्यञ्जनाः बहुव्रीहि स०। **प्रणिधयः**—गुप्तचर। प्रणिधीयन्ते इति प्र—नि√धा+कि कर्मणि प्रणिधयः। **प्रचारगतम्**—संचार संबंधी अर्थात् गतिविधि। प्रचारं गतम् प्रचारगतम् द्वितीया तत्०। **कृतकृत्यताम्**—पूर्ण सन्तुष्टता को। कृतं कृत्यम् एभिः इति कृत-

कृत्या। तेषा भावः इति कृतकृत्य+तल्+टाप्, कृतकृत्यता, ताम। चन्द्रगुप्त-सहोत्थायिनः—चन्द्रगुप्त के साथ उठने-बैठने वाले। ये लोग पहले नन्द के पार्श्वचर थे, पर अब चन्द्रगुप्त के अन्तरङ्ग बन गए हैं। सह उत्थातुं शीलमेषाम् इति सहोत्थायिनः सह—उद्√स्था+णिनि कर्तरि ताच्छील्ये। चन्द्रगुप्तस्य सहोत्थायिनः षष्ठी तत्०। परीक्षितभक्तयः—परीक्षित भक्ति वाले, जिनकी राजभक्ति की परीक्षा हो गई है। परीक्षित भक्तिः एषाम् इति परीक्षितभक्तयः बहुव्रीहि स०। अत्र 'परीक्षितम्' इति सामान्ये नपुंसकम् यथा 'विदितभक्ति' इत्यत्र। सहाध्यायि—साथ-साथ पढने वाला। सह अधीते इति सह—अधि√इङ्+णिनि साधुकारिणि कर्तरि सहाध्यायि। यह 'मित्रम्' का विशेषण होने के कारण नपुंसकलिङ्ग है। औशनस्याम्—शुक्राचार्यप्रणीत। उशनस इयम् इति उशनस्+अण् स्त्रियाम् औशनसी, तस्याम्। दण्डनीत्याम्—नीतिशास्त्र में। दण्ड = राज-दण्ड। दण्डस्य नीतिः दण्डनीतिः, तस्याम्। अधिकरणे सप्तमी। प्रावीण्यम्—प्रवीणता, दक्षता को। प्रकृष्टा वीणा अस्य इति प्रवीणः। जो वीणा बजाने में दक्ष है, अतः सामान्य रूप में दक्ष के भाव में इस शब्द का प्रयोग होने लगा। तस्य भावः इति प्रवीण+ष्यञ् = प्रावीण्यम्। क्षपणकलिङ्गधारी—बौद्ध या जैन सन्यासी का चिह्न धारण करने वाला। क्षपणकस्य लिङ्गम् षष्ठी तत्०। तत् धरतीति क्षपणकलिङ्ग√धृ+णिनि साधुकारिणि कर्तरि = क्षपणकलिङ्गधारी। सख्यं ग्राहितः—मित्र बनवाया हुआ। यहां ग्रह् धातु द्विकर्मक होने से द्विकर्मक है। अतएव वाक्यप्रयोग इस तरह होगा—'स तस्य सख्यं गृहीतवान् = चाणक्यः तं सख्यं ग्राहितवान् = चाणक्येन स सख्यं ग्राहितः'। महत् प्रयोजनम्—यह प्रयोजन पांचवें अंक में विस्तार से बताया गया है।

तदेवमस्मत्तो न किञ्चित् परिहास्यते। वृषल एव केवलः प्रधान-प्रकृतिरस्मास्वारोपितराज्यतन्त्रभारः सततमुदास्ते। अथवा यत्स्वयम-भियोगदुःखैरसाधारणैरपाकृतं तदेव राज्यं सुखयति। कुतः—

स्वयमाहृत्य भुञ्जाना बलिनोऽपि स्वभावतः।
गजेन्द्राश्च नरेन्द्राश्च प्रायः सीदन्ति दुःखिताः ॥ १६ ॥

व्याख्या—तत्—तस्मात् कारणात्, एवम्—अनेन प्रकारेण, अस्मत्तः—मत्तः, न किञ्चित् परिहास्यते—न्यून भविष्यति। केवलः, प्रधानप्रकृतिः—मुख्य-प्रकृतिः, वृषल एव—चन्द्रगुप्त एव, अस्मासु—मयि, आरोपितराज्यतन्त्रभारः—

आरोपितः न्यस्तः राज्यस्य यः तन्त्रः शासनं तस्य भारः भरः येन स तथाविधः, सततम्—सन्ततम्, उदास्ते—उदासीनः सन् तिष्ठति। अथवा—पक्षान्तरे, यत् राज्यं,—स्वयं—साक्षात्, असाधारणैः—असामान्यैः, अभियोगदुःखैः—कार्याभिनिवेशजनितखेदैः, अपाकृतं—वर्जितं, तदेव राज्यं, सुखयति—सुखीकरोति। कुतः—कस्मात् (इति चेत् शृणु—)

अन्वयः—स्वयम् आहृत्य भुञ्जानाः नरेन्द्राश्च गजेन्द्राश्च स्वभावतः बलिनोऽपि प्रायः दुःखिताः (सन्तः) सीदन्ति ॥ १६ ॥

व्याख्या—स्वयम्—आत्मना, आहृत्य—संगृह्य, भुञ्जानाः—भोगं कुर्वाणाः, नरेन्द्राश्च—राजानश्च, गजेन्द्राश्च—गजराजाश्च, स्वभावतः—प्रकृत्या, बलिनोऽपि—बलवन्तोपि, प्रायः—बाहुल्येन, दुःखिताः—दुःखमनुभवन्तः सीदन्ति—क्लिश्यन्ति ॥ १६ ॥

हिन्दी अनुवाद—तो इस प्रकार मैं कोई कसर नहीं उठा रखूँगा। केवल राज्य के प्रधान अंग चन्द्रगुप्त ही हम पर राज्य-शासन का भार छोड़कर सतत उदासीन रहता है। अथवा जो स्वयं कार्यव्यस्तताजन्य असाधारण क्लेशों से रहित होता है, वही राज्य सुख देता है। क्योंकि—

स्वयं (साधन-सामग्री) जुटा-जुटाकर उपभोग करने वाले राजा और हाथी स्वभावतः शक्तिशाली होते हुए भी प्रायः दुःखित एवं खिन्न रहा करते हैं॥ १६ ॥

टिप्पणी—अस्मत्तः—हमसे। अस्माभिः इति अस्मद्+तसि तृतीयायाम्। हेतौ तृतीया। परिहास्यते—न्यून हो जाएगी। परि√हा+लृट्—ते कर्मकर्तरि। प्रधानप्रकृतिः—मुख्य प्रकृति। राज्याङ्ग को प्रकृति कहते है। राज्य के सात अंग होते है—'स्वाम्यमात्यसुहृत्कोषराष्ट्रदुर्गबलानि च। राज्याङ्गानि प्रकृतयः' इत्यमरः। प्रधाना प्रकृतिः प्रधानप्रकृतिः मध्यमपदलोपी स०। तन्त्र—राज्य की रक्षा या योगक्षेम को तन्त्र कहते है—'स्वमण्डलपालनाभियोगस्तन्त्रम्' तन्त्+णिच् स्वार्थे+घञ् भावे। उदास्ते—उदासीन रहता है। उद्√आस्+लट्—ते। स्वयमभियोगदुःखैः—व्यक्तिगत व्यस्तता के दुःखो से। स्वयम् अभियोगः सुप्सुपा स०। तस्य दुःखानि षष्ठीतत्०, तैः। भुञ्जानाः—भोग करते हुए। √भुज्+लट् 'भुजोऽनवने' इत्यनेन आत्मनेपदत्वम्, 'ताच्छील्यवयोवचन-

शक्तिषु चानश्' इत्यनेन चानण्। यह 'नरेन्द्र' और 'गजेन्द्र' दोनों का विधेयात्मक विशेषण है। स्वभावत —स्वभावेन इति स्वभाव+तसि तृतीयायाम्। 'प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्' इति वार्तिकेन तृतीया। इस पद्य में दीपक अलंकार और अनुष्टुप् छन्द है ॥ १६ ॥

[तत प्रविशति यमपटेन चर ।]

चर —

पणमह जमस्स चलणे कि कज्ज देवएहिं अणेहिं ।
एसो खु अण्णभत्ताण हरइ जीअ चडफडन्तम् ॥ १७ ॥
(प्रणमत यमस्य चरणौ किं कार्यं देवतैरन्यैः ।
एष खल्वन्यभक्तानां हरति जीवं परिस्फुरन्तम् ॥)

तत —तदनन्तर, यमपटेन—यममूर्त्या चित्रितेन पटेन सह, चर —चाणक्यस्य गुप्तचर कश्चित्, प्रविशति—समायाति—रङ्गभूमिम् इति शेष ।

अन्वय —यमस्य चरणौ प्रणमत, अन्यै दैवतै किं कार्यम्। एष खलु अन्यभक्तानां परिस्फुरन्त जीवं हरति ॥ १७ ॥

व्याख्या—यमस्य—धर्मराजस्य, चरणौ—पादौ, (यूय) प्रणमत—भजत, अन्यै —इतरै , दैवतै —देवै , किं कार्यम्—किं प्रयोजनम् न किमपीत्यर्थ , एष खलु—यम , अन्यभक्तानाम्—इतरान्तरोपासकानां, परिस्फुरन्त—स्पन्दमान, जीव—जीवन, हरति—नाशयति ॥ १७ ॥

हिन्दी अनुवाद—[उसके बाद यमपट के साथ गुप्तचर आता है।]

गुप्तचर—यमराज के चरणों को प्रणाम करो, दूसरे देवताओं से क्या प्रयोजन ? य (यमराज) दूसरे (देवताओं) के भक्तों के छटपटाते हुए प्राणों को हर लेते हैं ॥ १७ ॥

टिप्पणी—यमपटेन—यमराज के चित्रों से अंकित वस्त्र से। पहले इस प्रकार के वस्त्र रखने वाले भिक्षुक लोग को शुभाशुभ फल बताया करते थे। चाणक्य का यह गुप्तचर भी ऐसे ही भिक्षुक के वेश में जासूसी करता था। प्रणमत—इस पद्य का गूढ अर्थ यह है कि यमराज की तरह चाणक्य अपने भक्तों को समृद्ध बनाता है और राक्षस के भक्तों को मारता है। इसलिए चाणक्य

की ही वन्दना करो। इस पद्य में अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है और आर्या छन्द है ॥ १७ ॥

अवि अ—

पुरिसस्स जीविदव्वं णिसमादो होइ भत्तिगाहिआदो।
मारेइ सव्वलोअं जो तेण जमेण जीआमो ॥ १८ ॥

जाव एदं गेहं पविसिअ जमपडं दंसअन्तो गीआइं गाआमि।

(अपि च—

पुरुषस्य जीवितव्यं विषमाद्भवति भक्तिगृहीतात्।
मारयति सर्वलोकं यस्तेन यमेन जीवामः ॥

यावदिदं गृहं प्रविश्य यमपटं दर्शयन्गीतानि गायामि।)

[इति परिक्रामति।]

अन्वयः—भक्तिगृहीतात् विपमात् पुरुषस्य जीवितव्यं भवति। यः सर्वलोकं मारयति तेन यमेन जीवामः ॥ १८ ॥

व्याख्या—भक्तिगृहीतात्—भक्तया अनुरागेण गृहीतात् वशीकृतात्, विषमात्—क्रूरात्, पुरुपस्य—प्राणिमात्रस्य, जीवितव्य—जीवनं, भवति—सिध्यति। यः—यमः, सर्वलोकं—समस्तं जगत्, मारयति—नाशयति, तेन यमेन, (वयं) जीवामः—जीवनधारणं कुर्मः ॥ १८ ॥

हिन्दी अनुवाद—और भी—

भक्ति के द्वारा वश में किये गए भयंकर (यम) से प्राणियो का जीवन चलता है। जो सारे संसार को मारा करता है, उस यम से हम जीवन धारण करते हैं ॥ १८ ॥

तो इस घर मे प्रवेश करके यमपट दिखाता हुआ गीत गाता हूँ।

[घूमता है।]

टिप्पणी—भक्तिगृहीतात्—भक्ति से प्राप्त या वशीभूत। जीवितव्यम्—जीवन। √जीव्+तव्य भावे। विषमात्—विभिन्नः समेभ्यः इति विपमः प्रादितत्० तस्मात्। अपादाने पञ्चमी। इस श्लोक का तात्पर्यार्थ यह है कि

चाणक्य को लोग क्रूर समझते हैं, किन्तु वस्तुत वह क्रूर नहीं है। जो उनकी भक्ति करते हैं, उन्हे वह बहुत देता है। इसमे भी अप्रस्तुत प्रशसा अलकार तथा आर्या छन्द है। ॥ १८ ॥

शिष्य —[विलोक्य] भद्र ! न प्रवेष्टव्यम्।

चर —[विहस्य] हहो बह्मण, कस्स एद गेहम् ? (अहो ब्राह्मण, कस्येद गृहम् ?)

शिष्य —अस्माकमुपाध्यायस्य सुगृहीतनाम्न आर्यचाणक्यस्य।

चर —[विहस्य] हहो बह्मण, अत्तकेरकस्स जेव्व मह धम्मभादुणो घर होदि। ता देहि मे पवेस जाव दे उवज्झाअस्स जमपड पसारिअ धम्म उवदिसामि। (अहो ब्राह्मण, आत्मीयस्यैव मम धर्मभ्रातुर्गृह भवति। तस्माद्देहि मे प्रवेश यावत्तवोपाध्यायस्य यमपट प्रसार्य धर्ममुपदिशामि।)

शिष्य —[सक्रोधम्] धिङ् मूर्ख, किं भवानस्मदुपाध्यायादपि धर्मवित्तर ?

चर —हहो बह्मण, मा कुप्प। णहि सव्वो सव्व जाणादि। ता किंवि ते उवज्झाओ जाणादि, किंवि अम्हारिसा जाणादि। (अहो ब्राह्मण, मा कुप्य। नहि सर्व सर्व जानाति। तत् किमपि ते उपाध्यायो जानाति, किमप्यस्मादृशा जानन्ति।)

शिष्य —मूर्ख, सर्वज्ञतामुपाध्यायस्य चोरयितुमिच्छसि ?

चर —हहो बह्मण, जइ तव उवज्झाओ सव्व जाणादि ता जाणादु दाव कस्स चन्दो अणिभिप्पेदो त्ति। (अहो ब्राह्मण, यदि तवोपाध्याय सर्व जानाति तर्हि जानातु तावत्कस्य चन्द्रोऽनभिप्रेत इति।

शिष्य—[देखकर] महादय ! (भीतर) प्रवेश न करना।

गुप्तचर—अहा ब्राह्मण ! यह किसका घर है ?

शिष्य—हमारे आचार्य प्रात स्मरणीय आर्य चाणक्य का।

गुप्तचर—[हंसकर] ब्राह्मण देवता ! (तब तो) मेरे अपने ही धर्म-

भाई का घर है। इसलिए मुझे भीतर जाने दो, जिससे कि यमपट फैला कर तुम्हारे आचार्य को धर्म का उपदेश करूँ।

शिष्य—[क्रोध के साथ] छिः मूर्ख ! क्या आप मेरे आचार्य से भी बढकर धर्म के जानने वाले है ?

गुप्तचर—ब्राह्मण देवता ! क्रोध में न आओ। सब लोग सब कुछ नही जाना करते। अतएव कुछ तो तुम्हारे आचार्य जानते है और कुछ हमारे जैसे लोग जानते है।

शिष्य—मूर्ख (मेरे) आचार्य की सर्वज्ञता को चुराना चाहते हो ?

गुप्तचर—ब्राह्मण देवता ! यदि तुम्हारे आचार्य सब कुछ जानते है तो बतावें कि चन्द्रमा को कौन नही चाहता।

टिप्पणी—सुगृहीतनाम्नः—प्रातःस्मरणीय। 'स सुगृहीतनामा स्यात् यः प्रातः स्मर्यते जनैः।' सुष्ठु गृहीतं सुगृहीतम्। तादृशं नाम यस्य स सुगृहीतनामा बहुव्रीहि स०, तस्य। धर्मभ्रातुः—धर्मभाई का। उन्ही की तरह मैं भी लोगो को धर्म का उपदेश करता हूँ, इसलिए समान कार्य करने से हम दोनों धर्मतः भाई है। धर्मेण भ्राता सुप्सुपा स०। यहाँ छिपा हुआ भाव तो यह है कि एक ही राजा चन्द्रगुप्त की सेवा करने से हम दोनो धर्मभाई है। धर्मेण सेवाधर्मेण भ्राता धर्मभ्राता, तस्य। उपाध्यायस्य—यहाँ सम्बन्धविवक्षा में षष्ठी हुई। अन्यथा 'प्रसार्य' इस क्रिया के योग में चतुर्थी होनी चाहिए थी। धिङ् मूर्ख—यहाँ 'हे मूर्ख ! त्वां धिक्' ऐसी विवक्षा है, अन्यथा 'उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिपु त्रिषु। द्वितीयाम्रेडितान्तेपु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ॥' इस कारिका के बल से मूर्ख शब्द मे द्वितीया हो जाएगी। धर्मवित्तरः—अधिक धर्मवेत्ता। धर्मं वेत्ति इति धर्म√विद्+क्विप् कर्तरि। अतिशयेन धर्मवित् इति धर्मवित्तरः धर्मवित्+तरप्। मा कुप्य—क्रोध मत करो। √कुप् (दिवादि) लोट्—सिप्—हि—लुक्, श्यन्=कुप्य। यहाँ माङ् का मा नही है, इसलिए, 'माङि लुङ्' से लुङ् लकार नहीं हुआ। अस्मादृशाः—हमारे ऐसे, वयमिव पश्यन्ति इति अस्मद्√दृश्+कञ् कर्तरि 'त्यदादिशु दृशोऽनालोचने कञ्च' इत्यनेन। अनभिप्रेतः—अभीष्ट नहीं। अभि-प्र√इ+क्त कर्मणि=अभिप्रेतः न अभिप्रेतः अनभिप्रेतः नञ्तत्०।

शिष्य—मूर्ख, किमनेन ज्ञातेनाज्ञातेन वा ?

चर—तव उवज्झाओ एव्व जाणिस्सदि ज इमिणा जाणिदेण होदि। तुम दाव एत्तिअं जाणासि कमलाण चन्दो अणभिप्पेदो त्ति। ण पेक्ख—

कमलाण मणहराण वि रूआहिन्तो विसवदइ सीलम्।
सपुण्णमण्डलम्मि वि जाइं चन्दे विरुद्धाइं ॥१६॥

(तवोपाध्याय एव ज्ञास्यति यदेनेन ज्ञातेन भवति। त्वं तावदेतावद् जानासि कमलाना चन्द्रोऽनभिप्रेत इति। ननु पश्य—

कमलाना मनोहराणामपि रूपाद्विसंवदति शीलम्।
सम्पूर्णमण्डलेऽपि यानि चन्द्रे विरुद्धानि ॥)

हिन्दी अनुवाद—शिष्य—मूर्ख ! इसके जानने या न जानने से क्या (होना है) ?

गुप्तचर—तुम्हारे आचार्य ही समझेंगे, जो इसके जानने से होता है। तुम तो इतना ही जानते हो कि कमलों को चन्द्रमा पसन्द नहीं है। अच्छा देखो—

अन्वय—मनोहराणामपि कमलाना शील रूपात् विसंवदति। यानि सम्पूर्णमण्डलेऽपि चन्द्रे विरुद्धानि ॥१६॥

व्याख्या—मनोहराणामपि—सुन्दराणामपि, कमलाना—पद्माना, शील-स्वभाव आचरित वा, रूपात्—आकृते, विसंवदति—रूपमननुहरति। यानि—कमलानि, सम्पूर्णमण्डलेऽपि—षोडशकलाभिसमन्वितेऽपि, चन्द्रे—चन्द्रमसि, विरुद्धानि—विपरीतानि नानुरक्तानीत्यर्थः ॥१६॥

हिन्दी अनुवाद—मनोहर (होते हुए) भी कमलों का स्वभाव (उनकी) आकृति से उलटा हुआ करता है। (क्योंकि) जो (अर्थात् वे कमल) पूर्ण बिम्ब से युक्त होने पर भी चन्द्रमा के विरुद्ध (आचरण करते) हैं ॥१६॥

टिप्पणी—रूपात्—अत्र 'ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च' इति वार्तिकेन पञ्चमी। रूपमपेक्ष्येत्यर्थः। विसंवदति—विपरीत आचरण करता है। सम्पूर्णमण्डलेऽपि—पूर्णमडल अर्थात् सोलहो कलाओं से युक्त होने पर भी।

अपूर्ण मंडल में तो कहना ही क्या—यह 'अपि' शब्द का अर्थ है। **चन्द्रे**—यहाँ चन्द्रमा और चन्द्रगुप्त दोनो अर्थ विवक्षित है। श्लोक का गूढार्थ यह है कि राक्षस के भक्त बहुत-मे सुन्दराकृति जन नगर मे विचरण करते है, वे असम्पूर्ण मण्डल वाले चन्द्रगुप्त के विरुद्ध तो है ही पूर्ण मण्डल होने पर भी विरुद्ध जाएँगे। यहाँ चन्द्रपक्ष मे मंडल का अर्थ है बिम्ब और राजपक्ष में उसका अर्थ होता है—निकट और दूर के पडोसी शत्रु, मित्र आदि राज्यो का समूह। इस पद्य मे अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार है और आर्या छन्द है ॥१९॥

चाणक्यः—[**आकर्ण्यात्मगतम्**] अये, चन्द्रगुप्तादपरक्तान् पुरुषान् जानामीत्युपक्षिप्तमनेन।

शिष्यः—मूर्ख, किमिदमसम्बद्धमभिधीयते ?

चरः—हंहो बह्मण, सुसंबद्धं जेव्व एवं भवे। (अहो ब्राह्मण, सुसम्बद्धमेवैतद्भवेत्।)

शिष्यः—यदि किं स्यात्।

चरः—जदि सुणिदुं जाणन्तं लहे। (यदि श्रोतुं जानन्तं लभे।)

चाणक्यः—भद्र, विश्रब्धं प्रविश। लप्स्यसे श्रोतारं ज्ञातारं च।

चरः—एसो पविसामि। (एष प्रविशामि।) [**प्रविश्योपसृत्य च**] जेदु अज्जो। (जयत्वार्यः।)

चाणक्यः—[**विलोक्यात्मगतम्**] कथमयं प्रकृतिचित्तपरिज्ञाने नियुक्तो निपुणकः। [**प्रकाशम्**] भद्र ! स्वागतम्। उपविश।

चरः—ज अज्जो आणवेदि। [**भूमावुपविष्टः।**] (यदार्य आज्ञापयति।)

हिन्दी अनुवाद—चाणक्य—[**सुनकर मन में**] अरे ! चन्द्रगुप्त के विरोधी जनो को जानता हूँ, ऐसा इसने संकेत किया है।

शिष्य—मूर्ख ! यह क्या अटपटी बात बक रहे हो ?

गुप्तचर—ब्राह्मण महाराज ! यह सुसंगत ही होती।

शिष्य—यदि क्या होता ?

गुप्तचर—यदि सुनने के लिये जानकार (व्यक्ति) मिलता।

चाणक्य—भद्र ! विश्वास के साथ भीतर आओ। सुनने और समझने वाले को पा जाओगे।

गुप्तचर—यह आया। [प्रवेश करके और समीप जाकर] आर्य की जय हो।

चाणक्य—[देखकर मन में] क्यों, यह तो प्रजा की मनोवृत्ति जानने के लिए नियुक्त किया गया निपुणक है। [प्रकट] भद्र ! (तुम्हारा) स्वागत है। बैठो।

गुप्तचर—आर्य की जैसी आज्ञा। [भूमि पर बैठ जाता है।]

टिप्पणी—चन्द्रगुप्तात्—अत्र अपादाने पञ्चमी। उपक्षिप्तम्—इंगित किया। उप√क्षिप्+क्त कर्मणि। इसका अनुक्त कर्ता 'अनेन' है। असम्बद्धम्—असंगत, ऊटपटांग। सम्√बध्+क्त कर्मणि = सम्बद्धम्। न सम्बद्धम् असम्बद्धम् नञ्तत्०। यह 'अभिधीयते' का उक्तकर्म है। उक्ते कर्मणि प्रथमा। अभिधीयते=कथ्यते। अभि√धा+लट्—ते कर्मणि। भवेत्, स्यात्—अत्र 'हेतु-हेतुमतोर्लिङ्' इत्यनेन लिङ्। कथम्—यह आश्चर्यसूचक अव्यय है। यहाँ किसी पुस्तक में यह अधिक पाठ है—'कथं प्रभूतत्वात् कार्याणां कस्य परिज्ञाने नियुक्तो निपुणक इति न ज्ञायते। आ ज्ञातम्, अये।' इसका अर्थ है—'कार्य की अधिकता के कारण यह ध्यान में नहीं आ रहा है कि निपुणक को किस बात की जानकारी के लिए नियुक्त किया था। हाँ, समझ गया। अरे !'

चाणक्य—भद्र, वर्णयेदानीं स्वनियोगवृत्तान्तम्। अपि वृषलमनुरक्ताः प्रकृतयः ?

चर—अह इ ? अज्जेण क्खु तेसु तेसु विराअकारणेसु परिहरिअतेसु सुगहीदणामहेए देवे चन्दउत्ते दिढं अनुरत्ताओ पकिदिओ। किंदु उण सन्ति एत्थ णअरे अमच्चरक्खसेण सह पढमं समुप्पण्णसिणेहबहुमाणा तिण्णि पुरिसा, जे देवस्स चन्दसिरिणो सिरिं ण सहन्दि। (अथ किम् ? आर्येण खलु तेषु तेषु विरागकारणेषु परिह्रियमाणेषु सुगृहीतनामधेये देवे चन्द्रगुप्ते दृढमनुरक्ताः प्रकृतयः। किन्तु पुनः सन्त्यत्र नगरे अमात्यराक्षसेन सह प्रथमं समुत्पन्नस्नेहबहुमानास्त्रयः पुरुषाः, ये देवस्य चन्द्रश्रियः श्रियं न सहन्ते।)

चाणक्यः—[**सक्रोधम्**] ननु वक्तव्यं स्वजीवितं न सहन्ते इति । भद्र, अपि ज्ञायन्ते नामधेयतः ?

चरः—कहं अजाणिअणामहेआ अज्जस्स णिवेदिअन्ति ? (कथमज्ञातनामधेया आर्यस्य निवेद्यन्ते ?)

चाणक्यः—तेन हि श्रोतुमिच्छामि ।

हिन्दी अनुवाद—चाणक्य—भद्र ? अब बताओ अपने कार्य का समाचार । क्या प्रजाएँ चन्द्रगुप्त में अनुरक्त है ?

गुप्तचर—और क्या ? आपके द्वारा विरक्ति के उन-उन कारणों के दूर कर दिये जाने पर प्रातःस्मरणीय महाराज चन्द्रगुप्त मे प्रजाएँ अत्यन्त अनुरक्त हैं। किन्तु फिर भी इस नगर में पहले से ही अमात्य राक्षस के साथ स्नेह तथा सम्मान का व्यवहार करने वाले ऐसे तीन व्यक्ति हैं, जो चन्द्र तुल्य शोभा वाले महाराज की राज्य-श्री का सहन नही करते है ।

चाणक्य—[**क्रोध के साथ**] तब तो यह कहो कि वे अपने जीवन का सहन नही करते है । भद्र ! क्या उन्हें नामतः जानते हो ?

गुप्तचर—बिना नाम जाने कैसे आप से निवेदन करता ?

चाणक्य—तो सुनना चाहता हूँ ।

टिप्पणी—स्वनियोगवृत्तान्तम्—अपने कार्य का समाचार । स्वस्य नियोगः । तस्य वृत्तान्तः षष्ठीतत्०, तम् । यह 'वर्णय' का कर्म है । **वृषलम्**—अत्र कर्मप्रवचनीययोगे द्वितीया । **अथ किम्**—यह स्वीकारार्थक अव्यय है । **तेषु विरागकारणेषु परिह्रियमाणेषु**—अत्र 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' इति सूत्रेण सप्तमी । **चन्द्रश्रियः**—चन्द्रमा की-सी कान्ति वाले । चन्द्रस्य श्रीः इव श्रीः अस्य बहुव्रीहि स०, तस्य । इसका सम्बन्ध 'श्रियम्' से है । **अपि**—यहाँ प्रश्नवाचक अव्यय है । 'गर्हासमुच्चयप्रश्नशङ्कासम्भावनास्वपि' इत्यमरः । **नामधेयतः**—नाम से । अत्र 'प्रकृत्यादिभ्य उपसख्यानम्' इति वर्तिकेन तृतीया । ततः तृतीयान्तात् नामधेयशब्दात् तसिः स्वार्थे । **आर्यस्य**—यहाँ सम्बन्ध सामान्य में षष्ठी हुई; अन्यथा 'निवेद्यन्ते' के योग मे चतुर्थी होनी चाहिए थी । **निवेद्यन्ते**—नि√विद्+णिच्+लट्—अन्ते कर्मणि ।

, चर —सुणादु अज्जो । पढम दाव अज्जस्स रिपुपक्खे वद्धपक्खवादो खवणओ जीवमिद्धी) । (शृणोत्वार्य । प्रथम तावदार्यस्य रिपुपक्षे बद्ध-पक्षपात क्षपणको जीवसिद्धि ।)

चाणक्य —[सहर्षमात्मगतम्] अस्मद्रिपुपक्षे वद्धपक्षपात क्षपणक !

चर —जीवसिद्धी णाम सो जेण सा अमच्चरक्खसप्पउत्ता विसकण्णा देवे पव्वदीसरे समावेसिदा । (जीवसिद्धिर्नाम स येन सा अमात्यराक्षसप्रयुक्ता विषकन्या देवे पर्वतेश्वरे समावेशिता ।)

चाणक्य —[स्वगतम्] जीवसिद्धिरेष तावदस्मत्प्रणिधि । [प्रकाशम] भद्र, अथापर क ?

चर —अज्ज, अवरो वि अमच्चरक्खसस्स पिअवअस्सो काअत्थो सअडदासो णाम । (आर्य, अपरोऽपि अमात्यराक्षसस्य प्रियवयस्य कायस्थ शकटदासो नाम ।)

चाणक्य —[विहस्यात्मगतम्] कायस्थ इति लघ्वी मात्रा तथापि न युक्त प्राकृतमपि रिपुमवज्ञातुम् । तस्मिन्मया सुहृच्छद्मना सिद्धार्थको विनिक्षिप्त । [प्रकाशम्] भद्र, तृतीय श्रोतुमिच्छामि ।

चर —तिदीओ वि अमच्चरक्खसस्स दुदीअ विअ हिअअ पुप्फउर-णिवासी मणिआरसेट्ठी चन्दणदासो णाम । जस्स गेहे कलत्त णासी-कदुअ अमच्चरक्खसो णअरादो अवक्कन्तो । (तृतीयोऽपि अमात्यराक्ष-सस्य द्वितीयमिव हृदय पुष्पपुरनिवासी मणिकारश्रेष्ठी चन्दन-दासो नाम । यस्य गेहे कलत्र न्यासीकृत्य अमात्यराक्षसो नगराद-पक्रान्त ।)

हिन्दी अनुवाद—गुप्तचर—आर्य सुने। पहला तो आपके शत्रु-पक्ष का बहुत बड़ा पक्षपाती क्षपणक जीवसिद्धि है।

चाणक्य—[हर्ष के साथ मन में] हमारे शत्रु पक्ष का पक्षपाती क्षपणक !

गुप्तचर—जीवसिद्धि नाम का वह (व्यक्ति) है, जिसने अमात्य

राक्षस द्वारा भेजी गई उस विपकन्या को महाराज पर्वतेश्वर के लिए नियुक्त किया था।

चाणक्य—[**मन में**] यह जीवसिद्धि तो हमारा गुप्तचर है। [**प्रकट**] भद्र ! और दूसरा कौन है ?

गुप्तचर—आर्य ! दूसरा भी अमात्य राक्षस का प्रिय मित्र कायस्थ शकट-दास (नामक व्यक्ति) है।

चाणक्य— [**हँसकर मन में**] 'कायस्थ' यह छोटी मात्रा है (अर्थात् कायस्थ की क्या हस्ती है)। तो भी छोटे शत्रु की भी उपेक्षा करना ठीक नही है। उसके लिए तो मैंने मित्र के बहाने सिद्धार्थक को नियुक्त कर रखा है। [**प्रकट**] भद्र ! तीसरे (व्यक्ति) को सुनना चाहता हूँ।

गुप्तचर—तीसरा भी अमात्य राक्षस का अभिन्नहृदय पाटलिपुत्र का रहने वाला सेठ जौहरी चन्दनदास नाम का (व्यक्ति) है, जिसके घर मे (अपनी) पत्नी को थाती रखकर अमात्य राक्षस नगर से बाहर निकला हुआ है।

टिप्पणी—बद्धपक्षपातः—बद्धस्नेहः। पक्षपात (तरफदारी) करने वाला। पक्षे पातः सुप्सुपा स०। बद्धः पक्षपातः अनेन इति बद्धपक्षपातः बहुव्रीहि स०। जीवसिद्धिः—चाणक्य का मित्र इन्दुशर्मा। यह चाणक्य का प्रयोजन सिद्ध करने के लिये नाम और वेश बदल कर राक्षस का प्रबल पक्षपाती बन गया है। यह बात निपुणक को नही मालूम है। इसीलिए यह चाणक्य से उसकी निन्दा करता है। समावेशिता—नियुक्त किया। सम् आ√विश्+णिच्+क्त कर्मणि। प्रणिधिः—गुप्तचर। प्रणिधीयन्ते अस्मिन् इति प्र-नि√धा+कि+ 'कर्मण्यधिकरणे च' इत्यनेन, 'नेर्गदनद'—इत्यादिना णत्वम्। लघ्वी मात्रा—क्षुद्रः अंशः। छोटी मात्रा, तुच्छ बात। कायस्थ की उत्पत्ति क्षत्रिय पिता और शूद्रा माता से मानी गई है। उसका कार्य लिखना है, न कि युद्ध करना। इसी से उसकी अल्पप्राणता की ओर संकेत करते हुए चाणक्य ने उसके लिए 'लघ्वी मात्रा' शब्द का प्रयोग किया है। सुहृच्छद्मना—मित्रच्छलेन। विनिक्षिप्तः—विनियोजितः। मणिकारश्रेष्ठी—जौहरी, सेठ। मणीन् करोति इति मणिकारः मणि√कृ+अण् 'कर्मण्यण्' इत्यनेन। श्रेष्ठानि श्रेष्ठवस्तूनि सन्ति अस्य इति श्रेष्ठी श्रेष्ठ+इनि। मणिकारश्चासौ श्रेष्ठी च इति मणिकारश्रेष्ठी

कर्मधारय म० । न्यासीकृत्य—निक्षिप्य । धरोहर रखकर । नि√अस्+घञ् कर्मणि=न्यास । अन्यास न्यास कृत्वा इति न्यास+च्वि√कृ, ईत्व+क्त्वा —ल्यप् । अपक्रान्त —भाग निकला । अप√क्रम्+क्त कर्तरि ।

चाणक्य —[आत्मगतम्] नून सुहृत्तम । न अनात्मसदृशेषु राक्षस कलत्र न्यासीकरिष्यति । [प्रकाशम्] भद्र, चन्दनदासस्य गृहे राक्षसेन कलत्र न्यासीकृतमिति कथमवगम्यते ?

चर —अज्ज, इअ अङ्गुलिमुद्दा अज्ज अवगदत्थ करिस्सदि (आर्य, इयमङ्गुलिमुद्रा आर्यमवगतार्थं करिष्यति ।) [इत्यर्पयति ।]

चाणक्य —[मुद्रामवलोक्य गृहीत्वा राक्षसस्य नाम वाचयति । सहर्ष स्वगतम् ।] ननु वक्तव्य राक्षस एवास्मदङ्गुलिप्रणयी सवृत्त इति । [प्रकाशम्] भद्र, अङ्गुलिमुद्राधिगम विस्तरेण श्रोतुमिच्छामि ।

चर —सुणादु अज्जो । अत्थि दाव अह अज्जेण पौरजणचरिदअण्णेसणे णिउत्तो परघरप्पवेसे परस्स अणासङ्कणिज्जेण इमिणा जमपडेण हिण्डन्तो मणिआरसेट्ठिचन्दणदासस्स गेह पविट्ठोम्हि । तहिं जमपड पसारिअ पउत्तोम्हि गीदाइ गाइदु । (शृणोत्वार्य । अस्ति तावदहमार्येण पौरजनचरितान्वेषणे नियुक्त परगृहप्रवेशे परस्यानाशङ्कनीयेन अनेन यमपटेन आहिण्डमानो मणिकारश्रेष्ठिचन्दनदासस्य गृह प्रविष्टोऽस्मि । तत्र यमपट प्रसाय प्रवृत्तोऽस्मि गीतानि गातुम् ।)

चाणक्य —तत किम् ?

हिन्दी अनुवाद—चाणक्य —[मन मे] सचमुच परम मित्र है । (क्योकि) अपने से भिन्न जनो के पास राक्षस (अपनी) भार्या को नही रखेगा । [प्रकट] भद्र ! चन्दनदास के घर में राक्षस ने (अपनी) स्त्री को रखा है—यह कैसे (तुम) जानते हो ?

गुप्तचर—आर्य ! यह अँगूठी आपको सब कुछ बता देगी । [अँगूठी देता है ।]

चाणक्य—[अँगूठी को देखकर, लेकर राक्षस का नाम बांचता है । हर्ष के साथ मन में] कहना तो यह चाहिए कि राक्षस ही हमारी उँगलियो का प्रेमी

हो गया (अर्थात् हमारी मुट्ठी में आ गया)। [**प्रकट**] भद्र ! अँगूठी की प्राप्ति के बारे में विस्तार से सुनना चाहता हूँ।

गुप्तचर—आर्य सुनें। नागरिकों के चरित्र का पता लगाने के लिए आपके द्वारा नियुक्त किया हुआ मैं दूसरे के घर में प्रवेश करने पर किसी के संदेह न करने योग्य इस यमपट के साथ घूमता हुआ सेठ जौहरी चन्दनदास के घर मे प्रविष्ट हुआ। वहाँ यमपट को फैलाकर गीत गाने लगा।

चाणक्य—उसके बाद क्या हुआ ?

टिप्पणी—सुहृत्तमः—परम बन्धु। अतिशयेन सुहृत् इति सुहृत्तमः सुहृद्+तमप्। अनात्मसदृशेषु—आत्मसदृशाः निजानुरूपाः ये न तादृशेषु। जो अपने अनुरूप या अभिन्नहृदय न हो, ऐसे लोगों के पास। न्यासीकरिष्यति—निधास्यति। रखेगा। अवगतार्थम्—ज्ञात विषय वाला। अवगतः विदितः अर्थः विषयः प्रश्नवस्तु इति यावत् येन, तम्। वारयति—उच्चारयति। बाँचता है। √वच्+णिच्+लट्—तिप्। अस्मदङ्गुलिप्रणयी--अस्माकम् अङ्गुलयः अस्मदङ्गुलयः षष्ठीतत्०। तासु प्रणयी सुप्सुपा स०। हमारी उँगलियों का स्नेही अर्थात् हमारे हस्तगत। विस्तरेण—विस्तार से। वि√स्तृ+अप् भावे=विस्तरः, तेन। विस्तार शब्दे तु 'प्रथने वावशब्दे' इति सूत्रेण घञ् प्रत्ययः। अतएव 'वाक्यस्य विस्तरः' 'पटस्य विस्तारः' इत्यादि। अस्ति—यह एक अव्यय है। इसका अर्थ होता है—यह है कि। आर्येण—भवता। पौरजनस्य—नागरिकस्य। चरितान्वेषणे—व्यापारज्ञाने। अनाशङ्कनीयेन—सन्देहायोग्येन। आहिण्डमानः—भ्रमन्।

चरः—तदो एक्कादो अववरकादो पञ्चवरिसदेसीओ पिअदंसणीअसरीराकिदी कुमारओ 'बालत्तणसुलहकोदूहलोप्फुल्लणअणोणिक्कमिदुं पउत्तो। तदो हा णिग्गदो हा णिग्गदो त्ति संकापरिग्गहणिवेदइत्तिओ तस्स एव्व अववरकस्स अब्भन्तरे इत्थिआजणस्स उट्ठिदो महन्तो कलअलो। तदो ईसि दारदेशदाविदमुहीए एक्काए इत्थिआए सो कुमारओ णिक्कमन्तो एव्व णिब्भच्छिअ अवलम्बिदो कोमलाए बाहुलदाए। तस्साए कुमारसंरोधसंभमप्पचलिदङ्गलिदो करादो पुरिसअङ्गलिपरिणाहप्पमाणघडिआ विअलिआ इअं अङ्गुलिमुद्दिआ देहलीबन्धम्मि पडिआ उट्ठिदा ताए अणवबुद्धा एव्व मम चलणपासं समागच्छिअ पणामणि-

हुआ कुलवहु विअ णिच्चला सवुत्ता। मए वि अमच्चरक्खसस्स णाम किदेत्ति अज्जस्स पादमूल पाविदा। ता एसो इमाए आअमो। (ततश्च एकस्मादपवरकात्पञ्चवर्षदेशीय प्रियदर्शनीयशरीराकृति कुमारको वालत्वसुलभकौतूहलोत्फुल्लनयनो निष्क्रमितु प्रवृत्त। ततो हा निर्गतो हा निर्गत इति शङ्कापरिग्रहनिवेदयिता तस्यैवापवरकस्याभ्यन्तरे स्त्रीजनस्योत्थितो महान्कलकल। तत ईषद्द्वारदेशदापितमुख्या एकया स्त्रिया स कुमारको निष्क्रामन्नेव निर्भर्त्स्यावलम्बित कोमलया बाहुलतया। तस्या कुमारसरोधसम्भ्रमप्रचलिताङ्गुले करात्पुरुषाङ्गुलिपरिणाहप्रमाणघटिता विगलितेयमङ्गुलिमुद्रिका देहलीवन्धे पतिता उत्थिता तया अनवबुद्धैव मम चरणपार्श्व समागत्य प्रणामनिभृता कुलवधूरिव निश्चला सवृत्ता। मयापि अमात्यराक्षसस्य नामाङ्कितेति आर्यस्य पादमूल प्रापिता। तस्मादेषोऽस्या आगम।

व्याख्या—ततश्च—गीतगानानन्तर च, एकस्मात्, अपवरकात्—प्रकोष्ठात्, पञ्चवर्षदेशीय—ईषदसमाप्तपञ्चवर्ष, प्रियदर्शनीयशरीराकृति—प्रिया मनोहरा दर्शनीया भव्या शरीरस्य देहस्य आकृति आकारो यस्य स तथाविध, कुमारक—बालक, वालत्वसुलभकौतूहलोत्फुल्लनयन—बालत्वस्य शिशुत्वस्य सुलभ स्वभावज यत् कौतूहल कौतुक तेन उत्फुल्ले विकसिते नयने नेत्रे यस्य स तथोक्त, निष्क्रमितु—निर्गन्तुम्, प्रवृत्त—उद्युक्त। तत—तदनन्तर, हा निर्गत हा निर्गत—हा कष्टमपयात कुमार इति, शङ्कापरिग्रहनिवेदयिता—शङ्काया सन्देहस्य परिग्रह प्राप्ति तस्य निवेदयिता सूचक, तस्यैव अपवरकस्य, अभ्यन्तरे—मध्ये, स्त्रीजनस्य—नारीणा, महान्—विशेष, कलकल—अव्यक्तध्वनि, उत्थित—समुत्पन्न। तत—पश्चात्, ईषद्द्वारदेशदापितमुख्या—ईषत् अल्प द्वारमेव देश प्रदेश तत्र दापित निहित मुखम् आनन यया सा तादृश्या, एकया—केवलया, स्त्रिया—नार्या, स—पूर्वोक्त, कुमारक—बाल, निष्क्रामन्नेव—बहिर्निर्गच्छन्नेव, निर्भर्त्स्य—तिरस्कृत्य, कोमलया—मृद्व्या, बाहुलतया—भुजशाखया, अवलम्बित—धृत। तस्या—स्त्रिया, कुमारसरोधसम्भ्रमप्रचलिताङ्गुले—कुमारस्य बालस्य सरोध बहिर्गमनप्रतिषेध तत्र सम्भ्रम व्याकुलता तेन प्रचलिता प्रकम्पिता अङ्गुलय यस्य स तथाविध तस्मात्, करात्—पाणे, पुरुषाङ्गुलिपरिणाहप्रमाणघटिता—पुरुषस्य पुस अङ्गुलि-

तस्याः परिणाहः विशालता तस्य प्रमाणेन घटिता निर्मिता, इयं—दृश्यमाना, **अङ्गुलिमुद्रिका**—नामाङ्कितमङ्गुलीयकं, **विगलिता**—अङ्गुलितश्च्युता, (सती) **देहलीबन्धे**—देहल्या द्वाराधःप्रदेशस्य बन्धः बन्धनस्थानं तत्र, **पतिता**—भ्रष्टा, **उत्थिता**—अभिघातात् उत्प्लुता, **तया**—नार्या, **अनवबुद्धैव**—अविदिता एव, **मम**—मे, **चरणपार्श्वं**—पादसमीपं, **समागत्य**—समेत्य, **प्रणामनिभृता**—प्रणतिविनीता, **कुलवधूः इव**—कुलाङ्गना इव, **निश्चला**—सुस्थिरा, **संवृत्ता** संजाता। **मयापि**, **अमात्यराक्षसस्य**—राक्षसनाम्नो मन्त्रिणः, **नामाङ्किता**—नाम्ना चिह्निता, **इति**—एवम् अवलोक्येति शेषः, **आर्यस्य**—भवतः, **पादमूलं**—चरणनिकटं, **प्रापिता**—समानीता। **तस्मात्**—अतएव, **एषः**—अयम्, **अस्याः**—अङ्गुलिमुद्रायाः, **आगमः**—प्राप्तिः लाभवृत्तान्त इत्यर्थः।

हिन्दी अनुवाद—उसके बाद एक प्रिय और दर्शनीय शरीर की आकृति वाला लगभाग पाँच साल का बालक, जिसकी आँखे वाल-सुलभ कौतूहल से खिल गईं थी, एक कमरे से निकलने लगा। तदनन्तर उसी कमरे के भीतर स्त्रियो का 'हाय निकल गया, हाय निकल गया' इस प्रकार का सन्देह-सूचक भारी शोर मच गया। उसके बाद एक महिला ने दरवाजे से थोड़ा मुँह निकालकर झाँका और निकलते हुए उस बालक को डाँटकर (अपनी) कोमल वाँहों से पकड़ लिया। लड़के को रोकने की व्याकुलता के कारण काँपती हुई अँगुलियों वाले उस (महिला) के हाथ से निकली हुई यह अँगूठी, जिसकी गढ़न पुरुष की अँगुली की मोटाई के अनुसार है, चौकठ पर गिर पडी और उछलकर उस (स्त्री) के विना जाने ही मेरे ही पैर के पास आकर प्रणाम करने में संलग्न कुलवधू के समान निश्चल हो गई। मैंने भी अमात्य राक्षस के नाम से चिह्नित देखकर इसे आपके चरणों के निकट ला उपस्थित किया। अतएव यह इसकी प्राप्ति (का समाचार) है।

टिप्पणी—अपवरकात्—कमरे से। अपव्रियते अनेन अस्मिन् वा इति अप√वृ+अप् करणे अधिकरणे वा = अपवरः। स एव इति अपवर+कन् स्वार्थे = अपवरकः, तस्मात्। अपादाने पञ्चमी। कोई 'अपवरक' का अर्थ खिड़की करते है। पञ्चवर्षदेशीयः—पाँच साल से कुछ कम अवस्था का। पञ्च वर्षाणि अस्य इति पञ्चवर्षः बहुव्रीहि स०। ईषदूनः पञ्चवर्षः इति पञ्चवर्ष+देशीयर् 'ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः' इत्यनेन। कुमारकः—बालक।

अज्ञात कुमार इति कुमार+ कन् अज्ञाते। उत्फुल्ल—विकसित। उद्√फल्+क्त कर्तरि 'ति च' इति सूत्रेण उत्वम् 'उत्फुल्लसफुल्लयोरुपसख्यानम्' इति वार्तिकेन लत्व च। परिग्रह—उत्पत्ति, प्राप्ति। परि√ग्रह्+अप् भावे। नामाङ्किता—यहाँ के सन्दर्भ से यह पता चलता है कि अमात्य राक्षस उस बालक का पिता है और वह स्त्री उसकी माता है। नगर से पलायन करने के समय राक्षस ने अपने परिवार को चन्दनदास के घर मे छोडकर स्मारक के रूप मे यह नामांकित मुद्रिका अपनी पत्नी को दे रखी है।

चाणक्य—भद्र! श्रुतम्, अपसर। (नचिरादस्य परिश्रमस्यानुरूप फलमधिगमिष्यसि।)

चर—ज अज्जो आणवेदि। (यदार्य आज्ञापयति।) [इति निष्क्रान्त।]

चाणक्य—शार्ङ्गरव! शार्ङ्गरव!

[प्रविश्य]

शिष्य—उपाध्याय! आज्ञापय।

चाणक्य—वत्स! मसीभाजन पत्रञ्चोपानय।

शिष्य—यदाज्ञापयत्युपाध्याय। [इति निष्क्रम्य पुन प्रविश्य] उपाध्याय! इद मसीभाजन पत्रञ्च।

चाणक्य—[पत्र गृहीत्वा स्वगतम्] किमत्र लिखामि? अनेन खलु लेखेन राक्षसो जेतव्य।

[प्रविश्य]

प्रतीहारी—जेदु अज्जो (जयत्वार्य)।

चाणक्य—[सहर्षमात्मगतम्] गृहीतो जयशब्द। [प्रकाशम्] शोणोत्तरे! किमागमनप्रयोजनम्?

हिन्दी अनुवाद—चाणक्य—भद्र! सुन लिया। जाओ। शीघ्र ही इस परिश्रम के अनुरूप फल प्राप्त करोगे।

गुप्तचर—श्रीमान् की जैसी आज्ञा। [बाहर चला जाता है।]

चाणक्य—शार्ङ्गरव ! शार्ङ्गरव !

[**प्रवेश करके**]

शिष्य—आचार्य ! आज्ञा दीजिए ।

चाणक्य—वत्स ! दवात और कागज ले आओ ।

शिष्य—आचार्य की जो आज्ञा । [**बाहर जाकर और फिर प्रवेश करके**] आचार्य ! यह दवात और कागज है ।

चाणक्य—[**पत्र लेकर मन में**] इस पर क्या लिखूं ? इसी लेख से तो राक्षस को जीतना है ।

[**प्रवेश करके**]

प्रतीहारी—आर्य की जय हो ।

चाणक्य—[**हर्षपूर्वक मन में**] 'जय' शब्द का ग्रहण कर लिया (अर्थात् विजय मिल गई) । [**प्रकट**] शोणोत्तरे ! कैसे आना हुआ ?

टिप्पणी—**नचिरात्**—शीघ्र । यहाँ 'न' नञ् से भिन्न निषेधार्थक अव्यय है । 'चिरात्' भी चिरार्थक अव्यय है । न चिरात् सुप्सुपा स० । अपवर्गे तृतीया । अव्ययत्वात् सुब्लोपः । **किमत्र लिखामि**—यहाँ चाणक्य अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये पुनः उद्यम करता है । अतएव गुप्तचर के वृत्तान्त से अन्तरित वीज की पुनः प्रवर्तना होने के कारण यह विन्दु है । कहा भी है—'अवान्तरार्थविच्छेदे विन्दुरच्छेदकारणम्' साहित्यदर्पण । **प्रतीहारी**—राजा के निकटवर्ती द्वार पर रहने वाली स्त्री प्रतिहारी कहलाती है । यह सन्धिविग्रह आदि कार्यों का निवेदन करती है—'द्वारि द्वाःस्थे प्रतीहारः प्रतीहार्यप्यनन्तरे । सन्धिविग्रहसम्बद्धं नानाकार्यसमुत्थितम् ।। निवेदयन्ति याः कार्यं प्रतीहार्यस्तु ताः स्मृताः ।' **राक्षसो जेतव्यः**—चाणक्य जैसे ही इन शब्दो का उच्चारण करता है वैसे ही एक अप्रत्याशित व्यक्ति आकर कहता है—'आपकी जय हो' । चाणक्य इसे शुभ शकुन समझकर अपनी भावी विजय के सम्बन्ध मे आशान्वित होते हुए कह उठता है—'जय मिल गई' । नाटक की परिभापा में इसको 'गण्ड' कहते हैं—'गण्डः प्रस्तुतसम्बन्धिभिन्नार्थं सहसोदितम्' । **गृहीतोऽयं जय शब्दः**—यह इस नाटक का पहला पताकास्थान है, जिसका लक्षण यह है—'यत्रार्थे

चिन्तितेऽस्मिन् तल्लिङ्गोऽय प्रयुज्यते । आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत् ॥ सहसैवार्थसम्पत्ति गुणवत्युपचारत । पताकास्थानकमिद प्रथम परिकीर्तितम् ॥' साहित्यदर्पण ।

प्रतीहारी—अज्ज ! देवो चन्दसिरी सीस कमलमुउलाआरमञ्जलि निवेसिअ अज्ज विणवेदि । इच्छामि अज्जेण अब्भणुण्णादो देवस्स पव्वदेसरस्स पारलोइअ कारेदुम् । तेण अ धारिदपुव्वाइ आहरणाइ बह्मणाण पडिवादेमि त्ति । (आर्य ! देवश्चन्द्रश्री शीर्षे कमलमुकुलाकारमञ्जलि निवेश्य आर्य विज्ञापयति—'इच्छाम्यार्येणाभ्यनुज्ञात देवस्य पर्वतेश्वरस्य पारलौकिक कर्तुम् । तेन च धारितपूर्वाण्याभरणानि ब्राह्मणाना प्रतिपादयामीति ।)

चाणक्य —[सहर्षमात्मगतम] साधु वृषल ! ममैव हृदयेन सह ममन्त्रय सन्दिष्टवानसि । [प्रकाशम्] शोणोत्तरे ! उच्यतामस्मद्वचनाद्वृषल —'साधु वत्स ! अभिज्ञ खल्वसि लोकव्यवहाराणा, तदनुष्ठीयतामात्मनोऽभिप्राय । किन्तु पर्वतेश्वरधृतपूर्वाणि गुणवन्ति भूषणानि गुणवद्भ्य एव ब्राह्मणेभ्य प्रतिपादनीयानि । तदह स्वयमेव परीक्षितगुणान् ब्राह्मणान् प्रेषयामि' ।

प्रतीहारी—ज अज्जो आणवेदि (यदार्य आज्ञापयति) [इति निष्क्रान्ता ।]

चाणक्य —शार्ङ्गरव ! उच्यन्तामस्मद्वचनाद्विश्वावसुप्रभृतय त्रयो भ्रातर —'वृषलात् प्रतिगृह्याभरणानि भवद्भिरह द्रष्टव्य' इति ।

शिष्य —यदाज्ञापयत्युपाध्याय । [इति निष्क्रान्त ।]

व्याख्या—आर्य—माय !, चन्द्रश्री —चन्द्रस्य श्री इव श्री शोभा यस्य स तथाविध , देव —महाराज चन्द्रगुप्त इति यावत्, कमलमुकुलाकार—कमलस्य पद्मस्य मुकुल कलिका तस्य आकार इव आकार आकृति यस्य स तादृशम्, अञ्जलिं, शीर्षे—शिरसि, निवेश्य—निधाय, आर्यं—भवन्त, विज्ञापयति—निवेदयति, आर्येण—भवता, अभ्यनुज्ञात —आदिष्ट (सन्), देवस्य—राज , पर्वतेश्वरस्य, पारलौकिक—परलोकसिद्धयर्थं कृत श्राद्धादिक कर्म, कर्तुं —विधातुम्, इच्छामि—वाञ्छामि । तेन—पर्वतेश्वरेण च, धारितपूर्वाणि—

पूर्वं धारितानि, आभरणानि—आभूषणानि, ब्राह्मणानां—विप्राणां, प्रति-पादयामि—समर्पयामि । सहर्षं—सानन्दम्, आत्मगतं—स्वगतम् । साधु—सुन्दरं, वृषल—मौर्य !, ममैव—मदीयेनैव, हृदयेन—मानसेन, सह—सार्धं, संमन्त्र्य—मन्त्रयित्वा, सन्दिष्टवानसि—विज्ञापितवानसि । शोणोत्तरे—प्रती-हार्याः सम्बोधनमिदम्, अस्मद्वचनात्—मद्वचनानुसारेण, वृषलः—चन्द्रगुप्तः, उच्यताम्—कथ्यताम्, वत्स—मौर्य !, लोकव्यवहाराणां—लोकाचाराणाम्, अभिज्ञः—ज्ञाता, असि । तत्—तस्मात्, आत्मनः—स्वस्य, अभिप्रायः—तात्पर्यम्, अनुष्ठीयताम्—क्रियताम् । किन्तु—परं, पर्वतेश्वरधृतपूर्वाणि—पर्वतेश्वरेण पूर्वं धृतानि, गुणवन्ति—उत्कृष्टानि, भूषणानि—अलंकरणानि, गुणवद्भ्यः—सौशील्यादिगुणशालिभ्य एव, ब्राह्मणेभ्यः, प्रतिपादनीयानि—समर्पणीयानि । तत्—तस्मात्, अहं, स्वयमेव—साक्षादेव, परीक्षितगुणान्—सद्गुणशालिनः, ब्राह्मणान्, प्रेषयामि प्रेषयिष्यामि । आर्यः, यत् आज्ञापयति—आज्ञां करोति । निष्क्रान्ता—रङ्गस्थानात् बहिर्निर्गता । अस्मद्वचनात्—मम वचनानुसारेण, विश्वावसुप्रभृतयः, त्रयः, भ्रातरः—सोदराः, वृषलात्—चन्द्र-गुप्तात्, आभरणानि, प्रतिगृह्य—आदाय, भवद्भिः, अहं—चाणक्यः, द्रष्टव्यः—अवलोकितव्यः ।

हिन्दी अनुवाद—प्रतीहारी—आर्य ! चन्द्रमा की-सी छवि धारण करने वाले महाराज (चन्द्रगुप्त) कमल-कलिका की भाँति अंजलि को सिर से लगाकर आप से निवेदन करते है कि आपकी अनुमति से मै राजा पर्वतेश्वर का श्राद्ध करना चाहता हूँ और उनके द्वारा पहले धारण किये गये आभूषणों को ब्राह्मणों को दे देना चाहता हूँ ।

चाणक्य—[**हर्षपूर्वक मन में**] वाह चन्द्रगुप्त ! (मानों) मेरे ही हृदय से परामर्श करके (तुमने) संदेश भेजा है । [**प्रकट** [शोणोत्तरे ! मेरी ओर से चन्द्रगुप्त से कहना—अच्छा वत्स ! तुम तो लोक-व्यवहार के ज्ञाता हो ही । इसलिये अपने विचार को कार्यान्वित करो । किन्तु पर्वतेश्वर के द्वारा पहले धारण किये गये आभूषण गुणवान् ब्राह्मणों को ही देने चाहिये । अतएव मै स्वयं ही परीक्षित गुणवाले ब्राह्मणों को भेज रहा हूँ ।

प्रतीहारी—जो आर्य की आज्ञा । [**बाहर निकल जाती है ।**]

चाणक्य—शार्ङ्गरव ! मेरी ओर से विश्वावसु आदि तीन भाइयों से कहो कि चन्द्रगुप्त से आभूषणों को लेकर वे मुझ से मिलें।

शिष्य—आचार्य की जो आज्ञा। [बाहर चला जाता है।]

टिप्पणी—अञ्जलिम्—अज्यते अवबोध्यते सौशील्य येन असौ अञ्जलि √अञ्ज्+अलि (उणा०), तम्। पारलौकिकम्—परलोक में काम देने वाला श्राद्ध आदि कर्म। परलोके प्रयोजनमस्य इति परलोक+ठञ्—इक्। अथवा परलोके भवम् इति भवार्थे ठञ् 'लोकोत्तरपदाच्च' इति वार्तिकेन। धारितपूर्वाणि—पहले के पहने हुए। पूर्वं धारितानि धारितपूर्वाणि सुप्सुपा स०। लोकव्यवहाराणाम्—सांसारिक व्यवहारों का। व्यवहरणं व्यवहार वि-अव√हृ+घञ् भावे। लोकानां व्यवहारा षष्ठीतत्०, तेषाम् 'कर्तृकर्मणो कृति' इत्यनेन षष्ठी। अभिज्ञ—विशेष ज्ञाता। अभि सर्वतोभावेन जानाति असौ इति अभिज्ञ अभि√ज्ञा+क। प्रेषयामि—भेजूँगा। अत्र भविष्यत्सामीप्य लट् 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इत्यनेन। विश्वावसुप्रभृतय—विश्व वसु यस्य स विश्वावसु बहुव्रीहि स०, 'विश्वस्य वसुराटो' इति सूत्रेण दीर्घ। स प्रभृति आदि येषां ते विश्वावसुप्रभृतय बहुव्रीहि स०।

चाणक्य—उत्तरोऽय लेखार्थ पूर्व कथमस्तु? [विचिन्त्य] आ, ज्ञातम्। उपलब्धवानस्मि प्रणिधिभ्यो यथा तस्य म्लेच्छराजबलस्य मध्यात् प्रधानतमा पञ्च राजान परया सुहृत्तया राक्षसमनुवर्तन्ते। ते यथा—

कौलूतश्चित्रवर्मा मलयनरपति सिंहनादो नृसिंह
काश्मीर पुष्कराक्ष क्षतरिपुमहिमा सैन्धव सिन्धुषेण।
मेघाख्य पञ्चमोऽस्मिन् पृथुतुरगबल पारसीकाधिराजो
नामान्येषा लिखामि ध्रुवमहमधुना चित्रगुप्त प्रमार्ष्टु ॥२०॥

व्याख्या—अयम्—अलङ्करणरूपवृत्तान्त, उत्तर—अन्तिम, लेखार्थ—लेखस्य लिख्यमानस्य पत्रस्य, अर्थ—वस्तु भविष्यतीति शेष, पूर्व—पूर्वार्थ प्रारम्भवस्तु, कथमस्तु—कीदृशो भवतु? विचिन्त्य—विचार्य, आ—स्मरणार्थकमव्ययमिदम्, ज्ञातम्—निश्चितम्। प्रणिधिभ्य—गुप्तचरेभ्य, उपलब्धवान्—ज्ञातवानस्मि, यथा, तस्य—मलयकेतुसगृहीतस्य, म्लेच्छराजबलस्य—म्लेच्छा-

धिपसैन्यस्य, मध्यात्, प्रधानतमाः—अतिशयेन मुख्याः, पञ्च, राजानः—भूपाः, परया—उत्कृष्टया, सुहृत्तया—मित्रभावेन, राक्षसम्, अनुवर्तन्ते—अनुसरन्ति ।

अन्वयः—कौलूतः चित्रवर्मा, नृसिंहो मलयनरपतिः सिंहनादः, काश्मीरः पुष्कराक्षः, क्षतरिपुमहिमा सैन्धवः सिन्धुषेणः, पृथुतुरगबलः पारसीकाधिराजः मेघाख्यः पञ्चमः, अस्मिन् अहं ध्रुवम् अधुना एषां नामानि लिखामि, चित्रगुप्तः प्रमार्ष्टु ॥२०॥

व्याख्या—कौलूतः—कुलूतदेशाधिपः, चित्रवर्मा नाम, नृसिंहः—नरश्रेष्ठः मलयनरपतिः—मलयगिरिसमीपवर्तिदेशाधिपः, सिंहनादो नाम, काश्मीरः—कश्मीरदेशाधिपः, पुष्कराक्षो नाम, क्षतरिपुमहिमा—क्षतः विनाशितः रिपूणाम् अरीणां महिमा प्रभावः येन तादृशः, सैन्धवः—सिन्धुदेशाधिपतिः, सिन्धुषेणो नाम, पृथुतुरगबलः—प्रभूताश्वादिसैन्यः, पारसीकाधिराजः—पारसीकानां वनायुदेशोद्भवानाम् अधिराजः अधिपतिः, मेघाख्यो नाम पञ्चमः राजेति शेषः। अस्मिन्—भेदपत्रे, अहम्, ध्रुवम्—निश्चितम्, अधुना—सम्प्रति, एषां—पञ्चराज्ञां, नामानि, लिखामि, चित्रगुप्तः—यममन्त्री, प्रमार्ष्टु—क्षालयतु निजलेखपत्रात् उत्सारयतु इति यावत् ॥२०॥

हिन्दी अनुवाद—चाणक्य—यह (आभूषण का समाचार) पत्र का अन्तिम विषय होगा । प्रारंभ का विषय क्या हो ? [**सोचकर**] अच्छा, समझ गया । जैसा कि गुप्तचरो से पता चला है कि म्लेच्छराज की सेना मे से पाँच प्रमुख राजा अत्यन्त मित्र भाव से राक्षस का अनुसरण कर रहे है । वे ये है—

कुलूत (कुल्लू) देश का राजा चित्रवर्मा, मनुष्यो मे श्रेष्ठ मलय-नरेश सिंहनाद, काश्मीर का राजा पुष्कराक्ष, सिन्धुदेश का राजा सिन्धुषेण और विशाल अश्व-सेना से युक्त पारसीक देश का मेघ नामक राजा पाँचवाँ है। सम्प्रति मै इस (पत्र) में निश्चित रूप से इन (राजाओं) के नाम लिखता हूँ । चित्रगुप्त (अपने यहाँ जीवितों की सूची में इनके नामों को) मिटा दे ॥२०॥

टिप्पणी—प्रणिधिभ्यः—गुप्तचरो से । अत्र अपादाने पञ्चमी । मध्यात्—अत्रापि अपादाने पञ्चमी । कौलूतः—कुलूतानां राजा इति कुलूत + अञ् = कौलूतः । आधुनिक कुल्लू प्रदेश को कुलूत माना जाता है। नृसिंहः—श्रेष्ठ

सिद्धार्थक—[हर्षपूर्वक] आर्य ! अनुगृहीत हूँ। आर्य आज्ञा दें कि इस सेवक को क्या करना है।

टिप्पणी—पूर्वम्—पत्र का पहला भाग। अनभिव्यक्तम्—अस्पष्ट। अभि—वि√अञ्ज्+क्त कर्मणि = अभिव्यक्तम्। न अभिव्यक्तम् अनभिव्यक्तम् नञ्तत्०। श्रोत्रियाक्षराणि पहले मौखिक अध्ययन-अध्यापन होते थे। लिखने की परिपाटी बहुत कम थी। इसलिए वैदिक ब्राह्मण शुद्ध लिखना जानते हुए भी सुन्दर अक्षर नहीं लिखते थे। सिद्धार्थक —यह चाणक्य का गुप्तचर था, जिसे शकटदास की गतिविधि का पता लगाने के लिए नियुक्त किया गया था। अदत्तबाह्यनामानम्—जिस पर बाहरी नाम न दिया गया हो अर्थात् बिना पते का। बहिर्भव बाह्यम् बहिस्+यञ्, टिलोप। बाह्य च तत् नाम बाह्यनाम। अदत्त बाह्यनाम अस्मिन् इति अदत्तबाह्यनामा, तम्। उपतिष्ठस्व—मिलो। उप√स्था+लोट्—स्व। अत्र 'उपाद्देवपूजा'—इति वार्तिकेन मङ्गतिकरणार्थे आत्मनेपदम्। आस्थेयम्—रहना चाहिए। आ√स्था+यत् कर्मणि। हन्त—यहा हर्षसूचक अव्यय है। 'हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः' इत्यमरः। यहां 'हन्त जित' और 'जयतु आर्य' ऐसा कहने के कारण दूसरा गण्ड है। अहो—यहाँ विस्मयसूचक अव्यय है। 'अहो ही च विस्मये' इत्यमरः। अनया मुद्रया—यह अंगूठी राक्षस की है। आप्तजनानुष्ठेये—विश्वस्त व्यक्ति के करने योग्य। आप्त प्रत्ययित जन आप्तजन कर्मधारय न०। तेन अनुष्ठेयम् तृतीयातत्०, तस्मिन्। यह 'कर्मणि' का विशेषण है। व्यापारयितुम्—नियुक्त करने के लिए। वि—आ√पृ+णिच्+तुमुन्।

चाणक्य —प्रथमं तावद् वध्यस्थानं गत्वा घातकाः सरोषदक्षिणाक्षिनिकोचसंज्ञा ग्राहयितव्याः। ततस्तेषु गृहीतसंज्ञेषु भयापदेशादितस्ततः प्रद्रुतेषु शकटदासो वध्यस्थानादपनीय राक्षसं प्रापयितव्यः। तस्माच्च सुहृत्प्राणपरिरक्षणपरितुष्टात् पारितोषिकं ग्राह्यम्। राक्षस एव कञ्चित् कालं सेवितव्यः। ततः प्रत्यासन्नेषु परेषु प्रयोजनमिदमनुष्ठेयम्। [कर्णे एवमिव]

व्याख्या—प्रथमं—पूर्वं, तावद् इति वाक्यालङ्कारे, वध्यस्थानं—प्राणदण्डप्रदानभूमिं, गत्वा—प्राप्य, घातकाः—हिंसकाः, सरोषदक्षिणाक्षिनिकोचसंज्ञा—सकोपदक्षिणनयनेषन्निमीलनात्मकसंकेतं, ग्राहयितव्याः—प्रापयितव्याः। ततः—

पश्चात्, तेषु—घातकेषु, गृहीतसंज्ञेषु—ज्ञातसंकेतेषु, भयापदेशात्—भयव्याजात्, इतस्ततः—चतुर्दिक्षु, प्रद्रुतेषु,—पलायितेषु, (सत्सु) शकटदासः—तन्नामक-राक्षसमित्रं, वध्यस्थानात्, अपनीय—पृथक्कृत्य, राक्षसं—नन्दामात्यं, प्रापयितव्यः—नेतव्यः। सुहृत्प्राणपरिरक्षणपरितुष्टात्—सुहृदः मित्रस्य प्राणाः जीवनं तेषां परिरक्षणं सुरक्षा तेन परितुष्टः प्रसन्नः तथाविधात्, तस्मात्—राक्षसाच्च, पारितोषिकं—पुरस्कारः, ग्राह्यम्—स्वीकार्यम्। राक्षस एव, कञ्चित्कालं—कियत्समयं, सेवितव्यः—आश्रयितव्यः। ततः—सेवनानन्तरं, परेषु—शत्रुषु, प्रत्यासन्नेषु—समीपवर्तिषु, (सत्सु) इदं, प्रयोजनं—कार्यम्, अनुष्ठेयं—कर्तव्यम्।

हिन्दी अनुवाद—चाणक्य—पहले तो वध्य-भूमि पर वधिकों को क्रोध-पूर्वक (अपनी) दाहिनी आँख को दबाने का संकेत समझा दो। उसके बाद उनके संकेत समझ लेने तथा भय के बहाने इधर-उधर भाग जाने पर शकट-दास को वध्य-स्थान से ले जाकर राक्षस के पास पहुँचा दो। मित्र के प्राणों की रक्षा से सन्तुष्ट उस (राक्षस) से पुरस्कार प्राप्त करो। कुछ समय तक राक्षस की ही सेवा में रहो। अनन्तर शत्रुओ के समीप आ जाने पर यह कार्य करना है। [**कान में इस तरह**]

टिप्पणी—घातकाः—वधिक, जल्लाद। घ्नन्ति इति घातकाः√हन्+ण्वुल्—अक्, 'हनस्त च' इत्यनेन हकारस्य तकारः। सरोषदक्षिणाक्षिसङ्कोच-संज्ञाम्—क्रोध के साथ दाहिनी आँख को दबाने के इशारे को। रोषेण सह वर्तमानम् इति सरोषम् 'तेन सह'—इति बहुव्रीहि स०। दक्षिणम् अक्षि दक्षिणाक्षि कर्मधारय स०। तस्य सङ्कोचः षष्ठीतत्०। सरोषं यथा तथा दक्षिणा-क्षिसङ्कोचः सुप्सुपा स०। स एव संज्ञा मयूरव्यंसकादित्वात् स०, ताम्। ग्राहयितव्याः—ग्रहण कराने या समझाने चाहिए।√ग्रह्+णिच्+तव्य कर्मणि। अत्र अणि कर्तुः कर्मसंज्ञा। वाक्यबोधस्तु इत्थम्—'घातकाः संज्ञां ग्रहीष्यन्ति=त्वं घातकान् संज्ञां ग्राहयिष्यसि'। तेषु—अत्र भावे सप्तमी। भयापदेशात्—भय के छल से। अत्र ल्यब्लोपे पञ्चमी। भयापदेशमाश्रि-त्येत्यर्थः। सुहृत्—सुष्ठु हृदयस्य इति सुहृत् प्रादिबहुव्रीहि स०; सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः' इत्यनेन हृदयस्य हृद्भावः। पारितोषिकम्—पुरस्कार, इनाम। परितोषः प्रयोजनमस्य इति परितोष+ठञ्—इक।

सिद्धार्थक —ज अज्जो आणवेदि। (यदार्य आज्ञापयति।)

चाणक्य —शाङ्गरव ! शाङ्गरव !

[प्रविश्य]

शिष्य —उपाध्याय ! आज्ञापय।

चाणक्य —उच्यतामस्मद्वचनात्कालपाशिको दण्डपाशिकश्च यथा वृषल समाज्ञापयति—'य एप क्षपणको जीवसिद्धिर्नाम राक्षसप्रयुक्तो विपकन्यया पर्वतक घातितवान् स एनमेव दोप प्रख्याप्य सनिकार नगरान्निर्वास्यताम्' इति।

शिष्य —तथा। [इति परिक्रामति।]

चाणक्य —वत्स ! तिष्ठ तिष्ठ—'योऽयमपर कायस्थ शकटदासो नाम राक्षसप्रयुक्तो नित्यमस्मच्छरीरमभिद्रोग्धुमिह प्रयतते स चाप्येन दोप प्रख्याप्य शूलमारोप्यताम् गृहजनश्चास्य बन्धनागार प्रवेश्यताम्' इति।

शिष्य —तथा। [इति निष्क्रान्त।]

व्याख्या—आर्य —भवान्, यत्, आज्ञापयति—आदेश करोति। अस्मद्वचनात्—मद्वचनानुसारेण, कालपाशिक —एतन्नामक, दण्डपाशिकश्च—एतन्नामकश्च दूत, उच्यताम्—कथ्यताम्, यथा, वृषल —चन्द्रगुप्त, समाज्ञापयति—निर्देश करोति, य एप, क्षपणक —बौद्धसन्यासी, जीवसिद्धिर्नाम—तदाख्यश्चाणक्यप्रणिधि, राक्षसप्रयुक्त —राक्षसेन नन्दामात्येन प्रयुक्त नियुक्त, (सन्) विपकन्यया, पर्वतेश्वर—तदाख्यराजान, घातितवान्—विनाशितवान्, स —जीवसिद्धि, एनमेव, दोपम्—अपवाद, प्रख्याप्य—घोपयित्वा, सनिकारम्—अवज्ञासहित, नगरात्—पुर, निर्वास्यताम्—नि-सार्यताम्। तिष्ठ तिष्ठ—यावत्पुनराज्ञापयामि तावदास्तामित्यर्थ, योऽयम्, अपर —द्वितीय, शकटदासो नाम—एतदभिधान, कायस्थ —चित्रगुप्त-सजातीय, राक्षसप्रयुक्त —नन्दामात्यप्रेरित, (सन्) नित्यम्—अनवरतम्, अस्मच्छरीर—मच्छरीरमिव - -वृषलम्, अभिद्रोग्धुम्—विनाशयितुम्, इह—अत्र, प्रयतते—उद्योगम् करोति, स चापि—शकटदासोऽपि, एन, दोपम्—अपराध,

प्रख्याप्य—संकीर्त्य, शूलम्—तदाख्यं शस्त्रविशेषम्, आरोप्यताम्—आरोह्यताम्, अस्य—शकटदासस्य, गृहजनश्च—परिवारश्च, बन्धनागारं—कारागृहे, प्रवेश्यताम्—निक्षिप्यताम् ।

हिन्दी अनुवाद—सिद्धार्थक—जो आर्य की आज्ञा ।

चाणक्य—शार्ङ्गरव—शार्ङ्गरव !

[**प्रवेश करके**]

शिष्य—आचार्य ! आज्ञा दीजिये ।

चाणक्य—मेरी ओर से कालपाशिक और दण्डपाशिक से कहो कि चन्द्रगुप्त की आज्ञा है कि जीवसिद्धि नामक जिस क्षपणक ने राक्षस की प्रेरणा से विष-कन्या के द्वारा पर्वतक की हत्या करवायी है, उसे इसी अपराध की घोषणा करके अपमान के साथ नगर से निकाल दिया जाय ।

शिष्य—जो आज्ञा । [**चलने लगता है ।**]

चाणक्य—वत्स ! ठहरो ठहरो । और जो यह दूसरा शकटदास नाम का कायस्थ राक्षस की प्रेरणा से हमारे शरीर (चन्द्रगुप्त) से द्रोह करने के लिये यहाँ (पाटलिपुत्र में) सतत प्रयत्न करता रहता है, उसको भी इस अपराध की घोषणा करके शूली पर चढ़ा दिया जाय और उसके परिवार को जेल में डाल दिया जाय ।

शिष्य—जो आज्ञा । [**चला जाता है ।**]

टिप्पणी—कालपाशिकः, दण्डपाशिकः—ये दोनो बधिक है । कालपाशः प्रहरणमस्य, दण्डपाशौ प्रहरणे अस्य इति कालपाश, दण्डपाश + ठञ्—इक् । **प्रख्याप्य**—प्रख्यात या घोषित करके । प्र √ ख्या + णिच्; पुक् + क्त्वा—ल्यप् । **सनिकारम्**—तिरस्कार के साथ । नि √ कृ + घञ् भावे = निकारः । तेन सह यथा तथा सनिकारम् क्रियाविशेषणत्वात् द्वितीया । **अस्मच्छरीरम्**—इसका तात्पर्य चन्द्रगुप्त से है । यहाँ 'क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म' सूत्र से कर्मसंज्ञा—द्वितीया हुई । **अभिद्रोग्धुम्**—द्रोह करने के लिये । अभि √ द्रुह् + तुमुन् । **आरोप्यताम्**—आ √ रुह् = णिच्, ह्रस्य पः + लोट् कर्मणि—ताम् । **गृहजनश्चास्य······प्रवेश्यताम्**—इसका फल आगे चौथे अंक में यह दिखाया गया है कि 'तव च पुत्रदारैः सह समागमः' ऐसा राक्षस

के कहने पर मलयकेतु के मन मे और 'स्मृत स्यात् पुत्रदारस्य' ऐसा राक्षस के मन मे भी सन्देह उत्पन्न हुआ है ।

चाणक्य —[चिन्ता नाटयित्वा आत्मगतम] अपि नाम दुरात्मा राक्षसो गृह्येत ।

सिद्धार्थक —अज्ज ! गहीदो । (आर्य ! गृहीत ।)

चाणक्य —[सहर्षमात्मगतम्] हन्त ! गृहीतो राक्षस । [प्रकाशम्] भद्र ! कोऽयं गृहीत ?

सिद्धार्थक —गहीदो मए अज्जस्स सन्देसो, ता गमिस्स अह कज्जसिद्धीए । (गृहीतो मया आर्यस्य सन्देश । तद्गमिष्याम्यह कार्यसिद्ध्यै ।)

चाणक्य —[साङ्गुलिमुद्र लेखमर्पयित्वा] गम्यताम् । अस्तु ते कार्यसिद्धि ।

सिद्धार्थक —तह । (तथा ।)[इति निष्क्रान्त ।]

[प्रविश्य]

शिष्य —उपाध्याय ! कालपाशिको दण्डपाशिकश्च उपाध्याय विज्ञापयत —'इदमनुष्ठीयते देवस्य चन्द्रगुप्तस्य शासनम्' इति ।

चाणक्य —शोभनम् । वत्स ! मणिकारश्रेष्ठिन चन्दनदासमिदानी द्रष्टुमिच्छामि ।

शिष्य —तथा । [इति निष्क्रम्य चन्दनदासेन सह पुन प्रविश्य] इत इत श्रेष्ठिन् !

हिन्दी अनुवाद—चाणक्य—[चिन्ता का अभिनय करके मन मे] क्या दुष्ट राक्षस पकडा जाएगा ?

सिद्धार्थक—आर्य ! पकड लिया ।

चाणक्य—[हर्ष के साथ मन में] वस ! (अब) राक्षस पकड लिया गया । [प्रकट] भद्र ! यह कौन गृहीत हुआ ?

सिद्धार्थक—मैंने आर्य का सदेश ग्रहण कर लिया । इसलिए मैं कार्य सिद्ध करने के लिए जाता हूँ ।

चाणक्य—[**अँगूठी की छाप से युक्त पत्र सौंपकर**] जाओ। तुम्हें कार्य में सफलता मिले।

सिद्धार्थक—जो आज्ञा। [**चला जाता है।**]

[**प्रवेश करके**]

शिष्य—आचार्य ! कालपाशिक और दण्डपाशिक आप से निवेदन करते है कि महराज चन्द्रगुप्त की इस आज्ञा का पालन किया जा रहा है।

चाणक्य—बहुत ठीक। वत्स ! अब मैं सेठ जौहरी चन्दनदास को देखना चाहता हूँ।

शिष्य—जो आज्ञा। [**निकलकर पुनः चन्दनदास के साथ प्रवेश करके**] सेठ जी, इधर से आइए, इधर से।

टिप्पणी—अपि—यहाँ सम्भावनार्थक अव्यय है। 'गर्हासमुच्चयप्रश्नशङ्का-सम्भावनास्वपि' इत्यमरः। गृह्येत—वशीभूतो भवेत्। अत्र सम्भावनायां लिङ्। √ग्रह्+लिङ्—इत कर्मणि=गृह्येत। गृहीतः—यह तीसरा गण्ड या पताकास्थान हैं। सहर्षम्, आत्मगतम्—ये दोनों क्रियाविशेषण है। हन्त—यहाँ हर्षसूचक अव्यय है। साङ्गुलिमुद्रम्—अङ्गुलिमुद्रया सह वर्तमानः—साङ्गुलिमुद्रः 'तेन सह'—इति बहुव्रीहि स०, तम्। यह 'लेखम्' का विशेषण है।

चन्दनदासः—[**स्वगतम्**]

चाणक्कम्मि अअरुणे सहसा सद्दाविदस्स लोअस्स।
णिद्दोसस्स वि सङ्का किं उण मह जाददोसस्स ॥२१॥

ता भणिदा मए धणसेणप्पमुहा णिअणिवेससंठिआ—कदावि चाणक्कहदओ गेहं विचिण्णावेदि। ता अवहिदा णिव्वहध भट्टिणो अमच्चरक्खसस्स घरअणम्। मह दाव जं होदि तं होदु त्ति।

(चाणक्येऽस्मिन्नकरुणे सहसा शब्दायितस्य लोकस्य।
निर्दोषस्यापि श[illegible] [illegible] पुनर्मम जातदोषस्य ॥

तस्माद्भणिता [illegible] खा निजनिवेशसंस्थिताः

चाणक्यहतको गेहं विचिनोति । तस्मादवहिता निर्वहत भर्तुरमात्यराक्षसस्य गृहजनम् । मम तावत् यद्भवति तद्भवतु इति ।)

शिष्य —भो श्रेष्ठिन् ! इत इत ।

चन्दनदास —अअं आअच्छामि । (अयमागच्छामि ।)

[उभौ परिक्रामत ।]

शिष्य —[उपसृत्य] उपाध्याय, अयं श्रेष्ठी चन्दनदास ।

चन्दनदास —जेदु अज्जो । (जयत्वार्य) ।

चाणक्य —[नाट्येनावलोक्य] श्रेष्ठिन् ! स्वागतम् । इदमासनमास्यताम् ।

अन्वय —अकरुणे अस्मिन् चाणक्ये सहसा शब्दायितस्य निर्दोषस्यापि लोकस्य शङ्का, जातदोषस्य मम पुन किम् ? ॥२१॥

व्याख्या—अकरुणे—दयाहीने, अस्मिन्, चाणक्ये—कौटिल्ये, (सति तेन) सहसा—अकस्मात्, शब्दायितस्य—आहूतस्य, निर्दोषस्यापि—निरपराधस्यापि, लोकस्य—जनस्य, शङ्का—भय (जायते), जातदोषस्य—(राक्षसपरिवाररक्षणेन) सापराधस्य, मम—मे, पुन किं—का कथा ? ॥२१॥

तस्मात्—अतएव, मया—चन्दनदासेन, निजनिवेशमस्थिता—निजनिवेशे मद्गृहे संस्थिता कृतवामा, धनसेनप्रमुखा —धनसेन प्रमुख आदि येषा ते धनसेनप्रभृतय, (जना) भणिता —उक्ता, कदापि—कस्मिश्चिदपि समये, चाणक्यहतक —नीचचाणक्य, गेह—गृह, विचिनोति—निरूपयति । तस्मात्—तत्, भर्तु —स्वामिन, अमात्यराक्षसस्य, गृहजन—परिवारम्, अवहिता —सावधाना सन्त यूयमिति शेष, निर्वहत—अपनयत । मम—मे, यद्भवति—यदस्ति, तद्भवतु—तदस्त्वित्यर्थ ।

हिन्दी अनुवाद—चन्दनदास—[मन मे]

इस चाणक्य के दयाहीन होने पर (उसके द्वारा) अचानक बुलाये गये निर्दोष व्यक्ति को भी भय लगता है, अपराध करने वाले मेरा तो फिर क्या कहना ? ॥२१॥

इसीलिये मैंने अपने घर मे रहने वाले धनसेन आदि को बता दिया कि

दुष्ट चाणक्य कभी भी (हमारे) घर की तलाशी ले सकता है। इसलिए सावधान होकर स्वामी अमात्य राक्षस के परिवार को हटा दो। मेरा तो जो होना है सो हो।

शिष्य—सेठ जी ! इधर से आइये इधर से।

चन्दनदास—यह आया।

[**दोनों घूमते है।**]

शिष्य—[**समीप जाकर**] आचार्य ! ये सेठ चन्दनदास है।

चन्दनदास—आर्य की जय हो।

चाणक्य—[**अभिनय के साथ देखकर**] सेठ जी ! स्वागत है। इस आसन पर वैठिये।

टिप्पणी—अकरुणे—निर्दय। अविद्यमाना करुणा यस्य स अकरुणः नञ्बहुव्रीहि स०, तस्मिन्। शब्दायितस्य—वुलाये गये। शब्दं कारितः इति शब्द + क्यङ् 'शब्दवैरकलह'—इत्यनेन, ततो हेतुमण्णिजन्तात् कर्मणि क्तः = शब्दायितः, तस्य। यह 'लोकस्य' का विशेषण है। इस पद्य में अर्थापत्ति अलंकार है और आर्या छन्द है ॥२१॥

चाणक्यहतकः—नीच चाणक्य। चाणक्यो हतकः इति चाणक्यहतकः 'कुत्सितानि कुत्सनैः' इति सूत्रेण तत्पुरुषसमासः। विचिनोति—यहाँ 'विचाययति' रूप होना चाहिये; क्योंकि प्राकृत में 'विचिण्णावेदि' यह ण्यन्त प्रयोग आया है। स्वागतम्—यहाँ पूर्ण वाक्य है—'ते स्वागतं भवतु'। आसनम्—आस्यते अस्मिन् इति √आस् + ल्युट्—अन। आस्यताम्—√आस् + लोट्—ताम् भावे।

चन्दनदासः—[**प्रणम्य**] किं ण जाणादि अज्जो जहा अणुचिदो उवआरो हिअअस्स परिहवादोवि दुःखमुप्पादेदि। ता इहज्जेव उचिदाए भूमीए उववसामि। (किं न जानात्यार्यः यथानुचित उपचारो हृदयस्य परिभवादपि दुःखमुत्पादयति। तस्मादिहैवोचितायां भूमावुपविशामि।)

चाणक्यः—भोः श्रेष्ठिन् ! मा मैवम्। उचितमेवैतत् अस्मद्विधैः भवतः। तदुपविश्यतामासन एव।

चन्दनदास —[स्वगतम] उपलक्खिदमणेण दुट्ठेन किंवि। (उपलक्षितमनेन दुष्टेन किमपि।) [प्रकाशम] ज अज्जो आणवेदि त्ति। (यदार्य आज्ञापयति।)[उपविष्ट ।]

चाणक्य —भो श्रेष्ठिन् चन्दनदास! अपि प्रचीयन्ते सव्यवहाराणा वृद्धिलाभा ।

चन्दनदास —[स्वगतम्] अच्चादरो सकणीओ। (अत्यादर शङ्कनीय । [प्रकाशम्] अह इ। अज्जस्स प्पसाएण अखण्डिदा मे वणिज्जा। (अथ किम्। आर्यस्य प्रसादेन अखण्डिता मे वणिज्या।)

चाणक्य —न खलु चन्द्रगुप्तदोषा अतिक्रान्तपार्थिवगुणानधुना स्मारयन्ति प्रकृती ?

चन्दनदास —[कर्णौ पिधाय] सन्त पावम्। सारअणिसासमुग्गएण विअ पुण्णिमाचन्देन चन्दसिरिणा अहिअ णन्दन्ति पकिदिओ। (शान्त पापम्। शारदनिशासमुद्गतेनेव पूर्णिमाचन्द्रेण चन्द्रश्रियाधिक नन्दन्ति प्रकृतय ।)

हिन्दी अनुवाद—चन्दनदास—[प्रणाम करके] क्या आर्य नही जानते हैं कि अनुचित सत्कार तिरस्कार से भी बढकर हृदय मे दु ख उत्पन्न करता है। इसलिये यही उपयुक्त भूमि पर बैठ जाता हूँ।

चाणक्य—सेठ जी! नही, ऐसी बात नही है। हम जैसे (व्यक्तियो) के द्वारा आपका यह (सत्कार करना) उचित ही है। इसलिये आसन पर ही बैठिय।

चन्दनदास—[मन में] इस दुष्ट ने कुछ ताड लिया है। [प्रकट] जो आर्य की आज्ञा।

चाणक्य—सेठ चन्दनदास जी! (आपका) व्यवसाय तो बढती पर है न ?

चन्दनदास—[मन में] बहुत आदर अनिष्टसूचक होता है। [प्रकट] और क्या। आपकी कृपा से मेरा व्यवसाय निर्विघ्न चल रहा है।

चाणक्य—क्या इस समय चन्द्रगुप्त के दोष प्रजाओ को बीते हुए राजा (नन्द) के गुणों का स्मरण नही कराते है ?

चन्दनदास—[**कानों को बन्द करके**] पाप शान्त हो। शरद् ऋतु की रात्रि में उदित हुए पूर्णिमा के चन्द्र के समान चन्द्रगुप्त से प्रजाएँ अत्यन्त प्रसन्न है।

टिप्पणी—उपचारः—सम्मान, सत्कार। उपचर्यते अनेन इति उप√चर्+घञ् करणे। परिभवात्—तिरस्कार से। परि√भू+अप् भावे= परिभवः, तस्मात्। अपादाने पञ्चमी। अस्मद्विधैः—मादृशैः जनैः, भवतः सम्बन्धे, एतत्—आसनदानम्, उचितमेव—उपयुक्तमेव। 'उचितमेव' की जगह 'सम्भावितमेव' इस पाठान्तर की व्याख्या है—'योग्यतया अध्यवसितमेव' अर्थात् वस्तुतः आप हमारे सामने आसन पर बैठने के अधिकारी हैं। यहाँ गूढ़ अर्थ है—'इदं परिभवकरणं सम्भावितमेव' किन्तु बाह्य अर्थ होता है—'इदम् उपचारकरणं सम्भावितमेव'। अपि—यहाँ प्रश्नवाची अव्यय है। प्रचीयन्ते—बढ़ रहे है। प्र√चि+लट्—अन्ते कर्मकर्तरि। संव्यवहाराणाम्—क्रयविक्रयात्मकवाणिज्यानाम्। खरीद-बिक्री के व्यापार मे। सम्—वि—अव√हृ+घञ् भावे=संव्यवहाराः, तेषाम्। वृद्धिलाभाः—सूद और लाभ (व्यापार में)। वणिज्या—वणिग्व्यापार। 'वाणिज्यं तु वणिज्या स्यात्' इत्यमरः। वणिजः कर्म भावो वा इति वणिज्या वणिज्+यत् भावे+टाप् स्त्रियाम्। 'ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ् वाणिज्यम्' इति दीक्षितः। माधवस्तु 'वणिज्याशब्दः स्वभावात् स्त्रीलिंगः। भावे एव चात्र प्रत्ययो न तु कर्मणि' इत्याह। अतिक्रान्तपार्थिवगुणान्—राजाओ के बीते हुए गुणों को। पार्थिवानां गुणाः षष्ठीतत्० । अतिक्रान्ताः पार्थिवगुणाः कर्मधारय स०, तान्। प्रकृतयः अतिक्रान्तपार्थिवगुणान् स्मरन्ति—चन्द्रगुप्तदोषाः प्रकृतीः अतिक्रान्तपार्थिवगुणान् स्मारयन्ति। पिधाय—बंद करके। अपि√धा+क्त्वा—ल्यप् 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः। आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ॥' इति कारिकाबलात् अपेः अकारलोपः। शान्तं पापम्—नाटक में न सुनने योग्य बात के सुनने पर इसका प्रयोग किया जाता है—'शान्तं पापमनिर्देश्ये'। शारदनिशासमुद्गतेन—शरद् ऋतु की रात्रि में उदित। शरदि भवा शारदी शरद्+अण्+ङीप् स्त्रियाम्। शारदी निशा

चन्दनदास —अज्ज ! अलीअ एद । केणावि अणभिण्णेण अज्जस्स णिवेदिदम् । (आर्य ! अलीकमेतत् । केनाप्यनभिज्ञेन आर्यस्य निवेदितम् ।)

चाणक्य —भो श्रेष्ठिन् ! अलमाशङ्कया । भीता पूर्वराजपुरुषा पौराणामनिच्छतामपि गृहेषु गृहजन निक्षिप्य देशान्तर व्रजन्ति । ततस्तत्प्रच्छादन दोषमुत्पादयति ।

चन्दनदास —एव णेदम् । तस्सि समए आसि अह्मघरे अमच्चरक्खसस्स घरअणो त्ति । (एव नु इदम् । तस्मिन् समये आसीदस्मद्गृहे अमात्यराक्षसस्य गृहजन इति ।)

चाणक्य —पूर्वमनृतमिदानीमासीदिति परस्परविरोधिनी वचने ।

चन्दनदास —एत्तिअ ज्जेव अत्थि मे वाआच्छलम् । (एतावदेवास्ति मे वाक्छलम् ।)

चाणक्य —भो श्रेष्ठिन् ! चन्द्रगुप्ते राजनि अपरिग्रहश्छलानाम् । तत् समर्पय राक्षसस्य गृहजनम् । अच्छल भवतु भवत ।

हिन्दी अनुवाद—चाणक्य—सबसे पहले तो आप ही (हैं) ।

चन्दनदास—[कानों को बन्द करके] पाप शान्त हो, पाप शान्त हो । तिनको का आग से कैसा विरोध ?

चाणक्य—यह ऐसा विरोध है कि आप आज भी राजा के अहित करने वाले अमात्यराक्षस के परिवार को अपने घर मे लाकर रख रहे हैं ।

चन्दनदास—आर्य ! यह मिथ्या है । किसी अनजान (व्यक्ति) ने आप से कह दिया है ।

चाणक्य—सेठजी ! डरिए मत । डरे हुए पहले के राजसेवक न चाहते हुए भी नागरिकों के घरों में (अपने) परिवारों को रखकर दूसरे देश मे चले गए हैं । इसलिए उनको छिपाना अपराध (उत्पन्न करता) है ।

चन्दनदास—यह ऐसा है । (कि) उस समय हमारे घर में अमात्यराक्षस का परिवार था ।

चाणक्य—पहले (यह) मिथ्या (है) और अब 'था' ये बातें परस्पर विरोधी हैं।

चन्दनदास—इतना ही मेरी बातों मे छल (दोष) है।

चाणक्य—सेठजी ! चन्द्रगुप्त के राजा रहते छलो की गुजाइश नही है। इसलिए राक्षस के परिवार को सौप दीजिए। (ताकि) आपके छल का पूर्ण अभाव हो जाय।

टिप्पणी—राजापथ्यकारिण:—भूपानिष्टविधायिन:। राजा का अनिष्ट करने वाले। पथोऽनपेतं पथ्यम् पथिन्+यत्। न पथ्यम् अपथ्यम् नञ्तत्०। राज्ञ: अपथ्यम् षष्ठीतत्०। तत् करोति तच्छील: राजापथ्य√कृ+णिनि= राजापथ्यकारी, तस्य। अभिनीय—लाकर इस अर्थ मे इसका प्रयोग क्वाचित्क है। वैसे इसका अर्थ होता है नाट्य या अभिनय करके। अभि√नी+क्त्वा—ल्यप्। अलीकम्—मिथ्या। आर्यस्य निवेदितम्—यहाँ शेषत्व की विवक्षा से षष्ठी हुई है; अन्यथा चतुर्थी होनी चाहिए था। अलमाशङ्कया—अत्र 'गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका' इत्यनेन तृतीया। आशङ्कया = भयेन, अलं = व्यर्थम् आसाध्यमिति यावत्। पूर्वराजपुरुषा:—पहले के राजाओं के कर्मचारी, पूर्वाश्च ते राजान: पूर्वराजा: कर्मधारय स०, समासान्त टच्। तेषा पुरुषा: षष्ठीतत्०। अनिच्छताम्—इससे यह सकेत किया गया है कि इसमे आपका दोष नही है, क्योकि आपके न चाहते हुए भी राक्षस ने अपने परिवार को आपके घर में रख छोड़ा। अतएव भयभीत होने की कोई आवश्यकता नही है। तत्प्रच्छादनम्—तस्य गृहजनस्य प्रच्छादनम् गोपनम्। इससे यह बताया गया है कि छिपाना आपका कार्य है, इसलिए दोष है। परस्परविरोधिनी—एक दूसरे के विरोधी (वचन)। क्योकि पहले तो चन्दनदास ने कहा कि हमारे घर में अमात्य राक्षस के परिवार के रहने की सूचना ही गलत है और अब कहता है कि पहले हमारे घर में अमात्य का परिवार था। इन दोनों बातो मे स्पष्टत: विरोध है। परेण परेण विरुध्यते इति परस्परेण विरुध्यते = परस्पर-वि√रुध्+णिनि साधुकारिणि कर्तरि। परस्पर शब्द की सिद्धि इस प्रकार की जाती है—'कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये समासवच्च बहुलम्' इत्यनेन परशब्दस्य द्वित्वम्, बहुलग्रहणात् समासवद्भावस्य अभाव:, 'असमासवद्भावे पूर्वपदस्य सुप:

मुर्वत्तस्य ' इत्यनेन नादेश । वाक्छलम्—वाणी का छल या बहाना । वाचि छलम् सुप्सुपा०। इसका लक्षण यह है—'अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पन वाक्छलम्' न्याय सूत्र । अच्छलम्—छलस्य अभाव इति 'अव्यय विभक्ति'—इत्यादि सूत्रेण अव्ययीभाव स० ।

चन्दनदास —अज्ज ! ण विण्णवेमि तस्सिं समए आसि अह्मघरे अमच्चरक्खसस्स घरअणो त्ति । (आर्य ! ननु विज्ञापयामि तस्मिन् समये आसीदस्मद्गृहे अमात्यराक्षसस्य गृहजन इति ।)

चाणक्य —अथेदानी क्व गत ?

चन्दनदास —ण जाणामि । (न जानामि ।)

चाणक्य —[स्मित कृत्वा] कथ न ज्ञायते नाम ? भो श्रेष्ठिन् ! शिरसि भयमतिदूरे तत्प्रतीकार ।

चन्दनदास —[स्वगतम्]

उवरि घण घणरडिअ दूर दइदा किमेददावडिअम् ।
हिमवदि दिव्वोसहिओ सीसे सप्पो समाविट्ठो ।।२२।।
(उपरि घन घनरटित दूरे दयिता किमेतदापतितम् ।
हिमवति दिव्यौषधय शीर्षे सर्प समाविष्ट ।।)

व्याख्या—स्मित कृत्वा—ईषद्विहस्य । कथ—केन प्रकारेण, न ज्ञायते—न अवगम्यते । भो श्रेष्ठिन्—चन्दनदास !, शिरसि—मस्तके भयम्—भीति (अस्ति), तत्प्रतीकार —तस्य भयस्य प्रतीकार निवृत्त्युपाय , अतिदूरे —विप्रकृष्ट (वर्तते) ।

अन्वय —एतत् किम् आपतितम् ? उपरि घन घनरटितम् दूरे दयिता, हिमवति दिव्यौषधय शीर्षे सर्प समाविष्ट ।।२२।।

व्याख्या—एतत्—इदम्, किम्, आपतित—प्राप्तम् ? (अनेन व्याकुलीभूतोऽह कर्तव्य न स्थिरीकरोमि । प्रवासस्थस्य जनस्य यथा) उपरि—मस्तकाग्रे, घन—गम्भीर, घनरटित—मेघगर्जन, दूरे—असन्निहितप्रदेशे, दयिता—प्रिया (एतदपि तथैव (यद्वा) हिमवति—हिमालये, दिव्यौषधय —उत्तमभेषजानि,

शीर्षे—शिरसि, सर्पः—अहिः, समाविष्टः—दंशनार्थं समुपागतः (इति यादृशम् एतदपि तादृशमेव) ।।२२।।

हिन्दी अनुवाद—चन्दनदास—आर्य ! मैं निवेदन कर रहा हूँ कि उस समय हमारे घर मे अमात्य राक्षस का परिवार था ।

चाणक्य—अब इस समय कहाँ गया ?

चन्दनदास—नही जानता हूँ ।

चाणक्य—[**मुस्कराकर**] क्यों नहीं जानते हैं ? सेठ जी ! सिर पर भय और उससे बचने का उपाय अत्यन्त दूर !

चन्दनदास—[**मन में**]

यह क्या आ पड़ा ? (यह तो ऐसा ही है कि जैसा किसी परदेशी के सिर के) ऊपर तो मेघों का गंभीर गर्जन हो रहा है और प्रिया पड़ी है दूर में (अथवा) साँप सिर पर चढ़ आया है और दिव्य ओषधियाँ हिमालय पर हैं ।।२२।।

टिप्पणी—शिरसि भयम्······यहाँ तात्पर्य यह है कि आपको भय है राजा से, जो बिलकुल नजदीक है और प्रतीकार की आशा है राक्षस से, जो अत्यन्त दूर है । यहाँ अप्रस्तुत सिर पर भय के प्रतिपादन से प्रस्तुत समीपवर्ती राजदण्डरूप अर्थ के बोध होने के कारण अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है । उपरि घनं घनरटितं······इस पद्य में अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार दृष्टान्त अलंकार से संकीर्ण है ।।२२।।

चाणक्यः—अन्यच्च । नन्दमिव विष्णुगुप्तः—[**इत्यर्धोक्ते लज्जां नाटयित्वा**] चन्द्रगुप्तममात्यराक्षसः समुच्छेत्स्यतीति मैवं मंस्थाः । पश्य—

विक्रान्तैर्नयशालिभिः सुसचिवैः श्रीर्वक्रणासादिभिः
नन्दे जीवति या तदा न गमिता स्थैर्यं चलन्ती मुहुः ।
तामेकत्वमुपागतां द्युतिमिव प्रह्लादयन्ती जगत् ।
कश्चन्द्रादिव चन्द्रगुप्तनृपतेः कर्तुं व्यवस्येत् पृथक् ।।२३।।

अपि च । ['आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभाम्'—इति पूर्वोक्तं पठति ।]

चन्दनदासः—[स्वगतम्] फलेण सवादिद से विकत्थिदम् । (फलेन सवादितमस्य विकत्थितम् ।)

[नेपथ्ये कलकलः ।]

व्याख्या—अन्यच्च—अपि च । विष्णुगुप्तः—चाणक्यः, नन्दमिव—यथा नव नन्दान् (हतवान् तथैव चन्द्रगुप्तं त्वामित्याशयः ।) इति—इयति, अर्धोक्ते—अर्धकथिते, लज्जा—त्रपा, नाटयित्वा—अभिनीय । अमात्यराक्षसः, चन्द्रगुप्तम्—वृषलं, समुच्छेत्स्यति—समुन्मूलयिष्यति, इति मैव मस्थाः—मैवं जानीहि ।

अन्वयः—तदा नन्दे जीवति मुहुः चलन्ती या श्रीः विक्रान्तैः नयशालिभिः वक्रणासादिभिः सुसचिवैः स्थैर्यं न गमिता, द्युतिमिव एकत्वमुपागतां जगत् प्रह्लादयन्तीं ताम् चन्द्रादिव चन्द्रगुप्तनृपतेः पृथक् कर्तुं कः व्यवस्येत् ॥ २३ ॥

व्याख्या—तदा—तस्मिन् समये, नन्दे—तदाख्ये राजनि, जीवति—विद्यमाने सति, मुहुः—वारंवार, चलन्ती—कम्पमाना, या, श्रीः—राजलक्ष्मी, विक्रान्तैः—शूरैः, नयशालिभिः—नीतिज्ञैः, वक्रणासादिभिः—वक्रणासप्रभृतिभिः, सुसचिवैः—सुमन्त्रिभिः, स्थैर्यं—स्थिरता, न गमिता—न प्रापिता, द्युतिमिव—कान्तिमिव, एकत्वमुपागताम्—अभिन्नतामापन्नाम्, जगत्—लोकं, प्रह्लादयन्तीम्—आनन्दयन्तीम्, ताम्—श्रियं, चन्द्रादिव—इन्दोरिव, चन्द्रगुप्तनृपतेः—मौर्यभूपतेः, पृथक् कर्तुं—वियोजयितुं, कः व्यवस्येत्—यतेत न कोऽपीत्यर्थः ॥२३॥

अस्य—चाणक्यस्य, विकत्थितम्—आत्मश्लाघा, फलेन—नन्दविनाशरूपेण, (सह) सवादितम्—सामञ्जस्यं प्रापितम् ।

हिन्दी अनुवाद—चाणक्य—और भी । नन्द को चाणक्य की तरह [ऐसा आधा कहने पर लज्जा का अभिनय करके] चन्द्रगुप्त को अमात्य राक्षस समूल नष्ट कर देगा—ऐसा मत समझो । देखो—

उस समय नन्द के जीवित रहने पर बार-बार चलायमान होती हुई जो राज्यलक्ष्मी पराक्रमी एवं नीतिनिपुण वक्रणास आदि अच्छे मंत्रियों के द्वारा स्थिरता को प्राप्त नही कराई गई और जो (अब) (चन्द्रिका पक्ष में चन्द्रमा से और राज्यलक्ष्मी पक्ष में चन्द्रगुप्त से) अभिन्नता को प्राप्त एवम् संसार को आनन्दित करने वाली है, उसको चन्द्रमा के समान राजा चन्द्रगुप्त से अलग करने का प्रयत्न कौन करेगा ? ।।२३।।

और भी । [**'आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभाम्'—इस पूर्वोक्त (श्लोक) को पढ़ता है ।]**

चन्दनदास—[**मन में**] इसकी आत्मप्रशंसा (दंभ) तो (नन्दविनाश-रूप) फल के अनुरूप (शोभित होता) है ।

[नेपथ्य में कोलाहल मचता है ।]

टिप्पणी—मा मस्थाः—मत समझो ।√मन्+लुङ्—थास् 'माङि लुङ्' इत्यनेन भविष्यति लुङ्, 'न माङ्योगे' इत्यनेन अडागमप्रतिषेधः । इसका कर्ता 'त्वम्' लुप्त है । **नन्दे**—नवनन्देषु । अत्र जातावेकवचनम् । **विक्रान्तैः**—पराक्रमी । वि√क्रम्+क्त वर्तमाने । यह 'सुसचिवैः' का विशेषण है । **नयशालिभिः**—नीतिज्ञ । नीयते अनेन इति√नी+अच् करणे बाहुलकात् अथवा नयति राजानम् इति√नी+अच् कर्तरि=नयः=नीतिः । तेन शालन्ते शोभन्ते इति नयशालिनः नय√शाल्+णिनि 'सुप्यजातौ'···इत्यनेन । तैः । यह भी 'सुसचिवैः' का विशेषण है। **वक्रणासादिभिः**—वक्रणास आदि—वक्रा नासा यस्य स वक्रणासः बहुव्रीहि स०; 'अञ्नासिकायाः संज्ञायाम्'—इत्यनेन अच्प्रत्ययः नासिकायाः नसादेशश्च, ततः 'पूर्वपदात् संज्ञायामगः' इत्यनेन णत्वम् । वक्रणासः आदौ येषां ते वक्रणासादयः; तैः । यह भी 'सुसचिवैः' का विशेषण है ।**चन्द्रात्**—अत्रपृथग्विनानाना'—इति सूत्रेण पृथक्योगे पञ्चमी अथवा 'ध्रुवमपाये'—इत्यनेन अपादाने पञ्चमी । **चन्द्रगुप्तनृपतेः**—चन्द्रगुप्तश्चासौ नृपतिश्च कर्मधारय स०, तस्मात् । यहाँ भी 'चन्द्रात्' की तरह पञ्चमी हुई है । इस श्लोक मे श्रौती पूर्णोपमा अलंकार है। लाटी रीति है, ओज गुण है, वीर रस है और शार्दूलविक्रीडित छन्द है । छन्द का लक्षण श्लोक १२ में दे० । **व्यवस्येत्**—यत्न करे । वि—अव√सो+लिङ्—यात् सम्भावनायाम् । **संवादितम्**—

सामञ्जस्यपूर्ण, फलानुरूप । सम्√वद्+णिच्+क्त कर्मणि । विकत्थितम्—आत्मश्लाघा, दम्भ । वि√कत्थ्+क्त भावे ।

चाणक्य —शाङ्गरव ! ज्ञायतां किमेतत् ।

शिष्य —तथा [इति निष्क्रम्य पुन प्रविश्य] उपाध्याय ! एष राज्ञश्चन्द्रगुप्तस्य आज्ञया राजापथ्यकारी क्षपणको जीवसिद्धि सनिकार नगरान्निर्वास्यते ।

चाणक्य —क्षपणक, अहह !! अथवा अनुभवतु राजापथ्यकारित्वस्य फलम् । भो श्रेष्ठिन् चन्दनदास ! एवमय राजापथ्यकारिषु तीक्ष्णदण्डो राजा । तत् क्रियतां पथ्य सुहृद्वच । समर्प्यतां राक्षसगृहजन । अनुभूयतां चिर विचित्रो राजप्रसाद ।

चन्दनदास —णत्थि मे गेहे अमच्चघरअणो । (नास्ति मे गेहे अमात्यगृहजन ।)

[नेपथ्ये पुन कलकल]

चाणक्य —शाङ्गरव ! ज्ञायतां किमेतत् ।

शिष्य —तथा [इति निष्क्रम्य, पुन प्रविश्य] उपाध्याय ! अयमपि राजापथ्यकारी एव कायस्थ शकटदास शूलमारोपयितु नीयते ।

चाणक्य —स्वकर्मफलमनुभवतु । भो श्रेष्ठिन् ! एवमय राजा अपथ्यकारिषु तीक्ष्णदण्डो न मर्षयिष्यति राक्षसकलत्रप्रच्छादन भवत । तद्रक्ष परकलत्रेण आत्मन कलत्र जीवितञ्च ।

चन्दनदास —अज्ज ! किं मे भअ दंसेसि ? सन्त वि गेहे अमच्चरक्खसस्स घरअण ण समप्पेमि, किं उण असन्तम् । (आर्य ! किं मे भय दर्शयसि ? सन्तमपि गेहे अमात्यराक्षसस्य गृहजन न समर्पयामि, किं पुनरसन्तम् ।)

व्याख्या—ज्ञायताम्—बुध्यताम्, किमेतत्—किंहेतुको जनरव इति । निष्क्रम्य—बहिर्गत्वा, पुन —भूय, प्रविश्य—रङ्गमञ्चमागत्य आह इति शेष । उपाध्याय—गुरो !, राज्ञ —देवस्य, चन्द्रगुप्तस्य, आज्ञया—आदेशेन, राजापथ्यकारी—राजद्रोही, क्षपणक , जीवसिद्धि , सनिकार—सापमान, नगरात्—पुर ,

निर्वास्यते—निष्कास्यते । राजापथ्यकारित्वस्य—राजद्रोहविधायित्वस्य, फलम्, अनुभवतु—भुनक्तु । चन्दनदास ! अयम्—एषः, राजा—वृषलः, राजापथ्यकारिषु—राजविद्रोहिषु, तीक्ष्णदण्डः—उग्रशासनः । तत्, पथ्यं—हितं, सुहृद्वचः—मित्रकथनं, क्रियताम्--विधीयताम् । राक्षसगृहजनः—राक्षसपरिवारः, समर्प्यताम्—दीयताम् । चिरं—बहुकालं, विचित्रः—बहुविधः, राजप्रसादः—नृपानुग्रहः, अनुभूयताम् । अयमपि—एषोऽपि, राजापथ्यकारी एव, कायस्थः—चित्रगुप्तजातीयः, शकटदासः—तदाख्यः राक्षससुहृत्, शूलम्—लोहनिर्मितमायुधम्, आरोपयितुं, नीयते—तत्समीपं प्राप्यते । स्वकर्मफलम्—स्वस्य आत्मनः कर्म कार्यं तस्य फलम्, अनुभवतु । एवम्—इत्थम्, अपथ्यकारिषु—अहितविधायिषु,—तीक्ष्णदण्डः, अयं राजा—चन्द्रगुप्तः, भवतः—तव, राक्षसकलत्रप्रच्छादनं—राक्षसगृहजनगोपनं, न मर्षयिष्यति—न सहिष्यते । तत्—तस्मात्, परकलत्रेण—राक्षसपरिवारसमर्पणेनेत्यर्थः, आत्मनः—स्वस्य, कलत्रं—गृहजन, जीवितं च—जीवनं च, रक्ष—पाहि । आर्य !, किं मे—मामित्यर्थः, भयं—त्रासं, दर्शयसि ? अमात्यराक्षसस्य, गृहजनं, सन्तमपि—विद्यमानमपि, न समर्पयामि—न प्रदास्यामीत्यर्थः, किं पुनः, असन्तम् अविद्यमानम् ।

हिन्दी अनुवाद—चाणक्य—शार्ङ्गरव ! पता लगाओ, यह क्या है ।

शिष्य—जो आज्ञा । [**बाहर जाकर और पुनः प्रवेश करके**] आचार्य ! यह महाराज चन्द्रगुप्त की आज्ञा से राजद्रोही क्षपणक जीवसिद्धि अपमान के साथ नगर से निकाला जा रहा है ।

चाणक्य—ओह ! क्षपणक !! अथवा राजा से द्रोह करने का फल भोगो । सेठ चन्दनदास ! ऐसा ही यह राजा राजद्रोहियों के प्रति कठोर दंड वाला है । इसलिए मित्र का हितकारी वचन मानो । राक्षस के परिवार को सौप दो । और चिरकाल तक राजा के अद्भुत अनुग्रह का अनुभव करो ।

चन्दनदास—मेरे घर मे अमात्य का परिवार नही है ।

[**नेपथ्य में फिर कोलाहल होता है ।**]

चाणक्य—शार्ङ्गरव ! पता लगाओ, यह क्या है ।

शिष्य—जो आज्ञा [**बाहर जाकर और पुनः प्रवेश करके**] आचार्य !

यह भी राजद्रोही कायस्थ शकटदास शूली पर चढाने के लिए ले जाया जा रहा है।

चाणक्य—अपने कर्म का फल भोगे। सेठजी! इस प्रकार अहित करने वालो के प्रति कठोर दण्ड देने वाला यह राजा आपका राक्षस के परिवार को छिपाना सहन नही करेगा। इसलिए दूसरे के परिवार से अपने परिवार और जीवन को बचाओ।

चन्दनदास—आर्य! मुझे क्या भय दिखा रहे है? घर मे अमात्य राक्षस के परिवार के रहने पर भी मैं नही दूँगा, फिर न रहने पर तो कहना ही क्या।

टिप्पणी—राजापथ्यकारी—राजा का अनिष्ट करने वाला। पथोऽनपेत पथ्यम्। पथिन्+यत् 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इत्यनेन। न पथ्यम् अपथ्यम् नञ्तत्०। राज्ञ अपथ्यम् षष्ठीतत्०। तत् करोति तच्छील इति राजापथ्य√कृ+णिनि। निर्वास्यते—निष्कासित किया जा रहा है। निर्√वस्+णिच्+लट्—ते कर्मणि। प्राचीन काल मे सन्यासी तथा ब्राह्मण को मृत्युदड के बदले केवल निर्वासन का दड (देश निकाला) दिया जाता था—'वपन द्रविणादान स्थानान्निष्क्रामण तथा। एष हि ब्रह्मबन्धूना वधो नान्योऽस्ति दैहिक॥' प्रसाद—अनुग्रह। 'प्रसादोऽनुग्रहे काव्यगुणस्वास्थ्यविपत्तिषु' इति मेदनी। किं मे भय दर्शयसि—अत्र 'मे' इति चतुर्थ्यन्त पदम्। 'दृशेः सर्वत्र' इति भाष्यकृदुक्त्या 'पत्य दर्शयन्' इत्यत्र इव चतुर्थी। समर्पयामि—अत्र भविष्यत्सामीप्य लट्।

चाणक्य—चन्दनदास! एष ते निश्चय?

चन्दनदास—बाढ। एसो धीरो मे णिच्चओ। (बाढमेष धीरो मे निश्चय।)

चाणक्य—[स्वगतम्] साधु चन्दनदास! साधु।

सुलभेष्वर्थलाभेषु परसवेदने जन।
क इद दुष्कर कुर्यादिदानी शिविना विना॥२४॥

अन्वय—इदानी शिविना विना क जन परसवेदने सुलभेषु अर्थलाभेषु इद दुष्कर कुर्यात्॥२४॥

व्याख्या—इदानीम्—अधुना, शिविना—तन्नामकोशीनरदेशाधिपेन, विना—अन्तरा, कः, जनः—लोकः, परसंवेदने—परस्य परकीयार्थस्य संवेदने समर्पणे (कृते सति) सुलभेषु—सुप्राप्येषु, अर्थलाभेषु—राजप्रसादादिरूपेषु अभीष्टसिद्ध्यादिषु, इदम्—अन्यकलत्रसंगोपनात्मकं, दुष्करं—कठिनं, (कर्म) कुर्यात्—आचरेत् ।।२४।।

हिन्दी अनुवाद—चाणक्य—चन्दनदास ! क्या यह तुम्हारा निश्चय है ?

चन्दनदास—हाँ, यह मेरा दृढ निश्चय है ।

चाणक्य—[**मन में**] वाह चन्दनदास ! वाह ।

इस समय (सत्ययुग के राजा) शिवि को छोड कर कौन व्यक्ति दूसरे की वस्तु को समर्पित कर देने से अर्थ-लाभ होने पर यह कठिन कर्म करे ।।२४।।

टिप्पणी—बाढम्—यह स्वीकारार्थक अव्यय है । शिविना—अत्र 'पृथग्विनानाना'—इति विनायोगे तृतीया । यहाँ पौराणिक कथा यह है कि एक बार सत्ययुग में बाज का रूप धारण किये हुए धर्म से कपोतरूपधारी शरणागत इन्द्र की रक्षा करने के लिए राजा शिवि ने अपना शरीर काट-काट कर बाज को दे दिया था । इस पद्य में व्यतिरेक अलंकार है; क्योंकि यहाँ शिवि ने सत्ययुग में दुष्कर कार्य किया था और तुम इस समय पापी कलियुग में ऐसा कर रहे हो—इस भाव के कारण उपमानभूत शिवि की अपेक्षा उपमेय चन्दनदास के आधिक्य का वर्णन हुआ है । इसमे प्रसादगुण है, वैदर्भी रीति है और अनुष्टुप् छन्द है । लक्षण १,३ में देखिए ।।२४।।

[**प्रकाशम्**] चन्दनदास ! एष ते निश्चयः ?

चन्दनदासः—बाढम् ।

चाणक्यः—[**सक्रोधम** [दुरात्मन् ! तिष्ठ दुष्टवणिक् ! अनुभूयतां तर्हि नरपतिक्रोधः ।

चन्दनदासः—[**बाहू प्रसार्य**] सज्जोह्मि । अणुचिट्ठदु अज्जो अत्तणो अहिआरसरिसम् । (सज्जोऽस्मि । अनुतिष्ठतु आर्यः आत्मनोऽधिकारसदृशम् ।)

पुत्र और स्त्री सहित । पुत्राश्च कलत्रं च इति पुत्रकलत्राणि द्वन्द्वस० तैः सह वर्तते इति सपुत्रकलत्र बहुव्रीहि स०, तम् । दिष्ट्या—भाग्य से । यह तृतीया-विभक्त्यन्तप्रतिरूपक अव्यय है। मित्रकार्येण—अत्र हेतौ तृतीया । पुरुष-दोषेण—पुरुष के दोष (चोरी आदि अपकर्म, अर्थात् अपने किये अपराध) से । अत्र करणे तृतीया । इस वाक्य मे परिसंख्या अलकार है। हन्त—यहा हर्ष सूचक अव्यय है । अप्रियवत्—अप्रिय वस्तुओं की तरह । अप्रियै तुल्यम् इति अप्रिय+वति 'तेन तुल्य क्रिया चेद्वति ' इत्यनेन । इस श्लोक मे उत्प्रेक्षा अलकार है । कोई यहाँ उपमा अलकार मानते हैं । इसमें वैदर्भी रीति है, प्रसाद गुण है और अनुष्टुप् छन्द है ॥ २५ ॥

[नेपथ्ये कलकल]

चाणक्य —शार्ङ्गरव शार्ङ्गरव !

[प्रविश्य]

शिष्य —उपाध्याय ! आज्ञापयतु ।

चाणक्य —ज्ञायता किमेतत् ।

शिष्य —[निष्क्रम्य विलम्ब्य पुन प्रविश्य सम्भ्रान्त]उपाध्याय ! एष खलु शकटदास वध्यमान वध्यभूमेरादाय समपक्रान्त सिद्धार्थक ।

चाणक्य —[स्वगतम्] साधु सिद्धार्थक ! साधु, कृत कार्यारम्भ । [प्रकाशम्] प्रसह्य किमपक्रान्त ? [सक्रोधम्] वत्स ! उच्यता भागुरायणो यथा त्वरित सम्भावयेति ।

[निष्क्रम्य प्रविश्य च]

शिष्य —[सविषादम्] उपाध्याय ! हा धिक् कष्टम् । अपक्रान्तो भागुरायणोऽपि ।

चाणक्य —[स्वगतम] व्रजतु कार्यसिद्धये । [प्रकाशम् । सक्रोध-मिव ।] वत्स ! उच्यन्तामस्मद्वचनाद्भद्रभटपुरुषदत्तडिङ्गरातबलगुप्तराज-सेनरोहिताक्षविजयवर्माण शीघ्रमनुसृत्य गृह्यता दुरात्मा भागुरायण ।

शिष्य —तथा [इति निष्क्रम्य पुन प्रविश्य सविषादम्] हा धिक्

कष्टम् । सर्वमेव तन्त्रमाकुलीभूतम् । तेऽपि खलु भद्रभटप्रभृतयः प्रथम-तरमुषस्येवापक्रान्ताः ।

हिन्दी अनुवाद—[नेपथ्य में कोलाहल]

चाणक्य—शार्ङ्गरव शार्ङ्गरव !

[प्रवेश करके]

शिष्य—आचार्य ! आज्ञा दीजिए ।

चाणक्य—पता लगाओ, यह क्या हो रहा है ।

शिष्य—[बाहर जाकर और पता लगाने पर घबड़ाये हुए भीतर आकर] आचार्य ! यह तो सिद्धार्थक वध किये जाते हुए शकटदास को वधस्थान से लेकर भाग गया है ।

चाणक्य—[मन में] वाह सिद्धार्थक ! वाह ! तुमने कार्य प्रारम्भ कर दिया है । [प्रकट] क्या जबर्दस्ती भाग निकला ? [क्रोध के साथ] वत्स ! भागुरायण से कहो कि शीघ्र पकड़ लाए ।

[बाहर जाकर और (फिर) भीतर आकर]

शिष्य—[कष्ट के साथ] आचार्य ! बडा अनर्थ हुआ ! भागुरायण भी भाग गया ।

चाणक्य—[मन में] कार्य सिद्ध करने के लिए जाए । [प्रकट । मानो क्रोध के साथ] वत्स ! मेरी ओर से भद्रभट, पुरुपदत्त, डिङ्गरात, बलगुप्त, राजसेन, रोहिताक्ष और विजयवर्मा से कहो कि तुरन्त पीछा करके दुष्ट भागुरायण को पकड लें ।

शिष्य—जो आज्ञा । [बाहर जाकर पुनः भीतर आकर खेद के साथ] अनर्थ ! महान् अनर्थ !! सम्पूर्ण राष्ट्र अस्त-व्यस्त हो गया है । वे भद्रभट आदि भी बहुत पहले तडके ही भाग गए ।

टिप्पणी—विभाव्य—विचिन्त्य । पता करके । वध्यभूमेः—मृत्यु-दंड (शूली, फाँसी आदि) देने के स्थान से । अत्र अपादाने पञ्चमी । समपक्रान्तः—पलायितः । भाग गया । प्रसह्य—हठात् । यह एक अव्यय है । त्वरितम्—शीघ्रम् । सम्भावय—निगृह्य शीघ्रमानय इति वाह्यार्थः, त्वमपि तेन सार्द्धं कार्यं

सावय इति गूढार्थ । यह भी विन्दु है । सविपादम्—विपादन सह इति सवि-पादम् यथा स्यात् तथा । क्रियाविशेषणमेतत् । हा धिक् कष्टम्—हाय कष्ट को धिक्कार है अर्थात् महान् दुःख की बात है । तन्त्रम्—राष्ट्र । 'तन्त्र सिद्धान्ते राष्ट्रे च परिच्छदप्रधानयो ' इति हैम । आकुलीभूतम्—अस्त व्यस्त या व्याकुल हो गया । आकुल+च्वि, इत्व, दीर्घ √भू+क्त । प्रथमतरम्—बहुत पहले । अतिशयेन प्रथम यथा तथा इति प्रथम+तरप् ।

चाणक्य —[स्वगतम] सर्वेषामेव शिवा पन्थान सन्तु । [प्रकाशम] वत्स ! अल विपादेन । पश्य—

ये याता किमपि प्रधार्य हृदये पूर्व गता एव ते
ये तिष्ठन्ति भवन्तु तेऽपि गमने काम प्रकामोद्यमा ।
एका केवलमर्थसाधनविधौ सेनाशतेभ्योऽधिका
नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम ॥२६॥

अन्वय —ये हृदये किमपि प्रधार्य याता ते पूर्वम् एव गता । ये तिष्ठन्ति ते अपि काम गमने प्रकामोद्यमा भवन्तु । अर्थसाधनविधौ एका सेना-शतेभ्य अधिका नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा मम बुद्धिस्तु केवल मा गात् ॥२६॥

व्याख्या—ये—भागुरायणप्रभृतय जना , हृदये—मनसि, किमपि—अन-भिव्यक्तस्वरूप वस्तु, प्रधार्य—अनुध्याय, याता —(मलयसमीप) गता , ते, पूर्वं—प्रागेव, गता । ये—तदतिरिक्ता जना , तिष्ठन्ति—इह वसन्ति, ते अपि, काम—यथेच्छ, गमने—इत प्रयाणे, प्रकामोद्यमा प्रयत्नवन्त , भवन्तु—सन्तु । अर्थसाधनविधौ—प्रयोजनसिद्धौ, एका—असहाया, सेनाशतेभ्य —बहुसेनाभ्य , अधिका—बहुला, नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा—नन्दानाम् उन्मूलने उत्सादने दृष्ट अवलोकित वीर्यमहिमा प्रभावातिशय यस्या तादृशी, मम—मे, बुद्धि —धी , तु, केवल, मा गात्—न गच्छतु ॥२६॥

हिन्दी अनुवाद—चाणक्य—[मन मे] सभी के मार्ग कल्याणकारी हों । [प्रकट) वत्स ! दुःख करना व्यर्थ है । देखो—

जो मन मे कुछ सोचकर गये है, वे पहले ही चले गए । जो ठहरे हुए है, वे भी स्वेच्छानुसार जाने के लिए प्रयत्नशील हों । प्रयोजन को सिद्ध करने मे सैकड़ो

सेनाओं से अधिक तथा नन्दो के विनाश करने में अतिशय प्रभाव दिखाने वाली मेरी बुद्धि केवल न जाय ॥२६॥

टिप्पणी—शिवाः—कल्याणयुक्त। शिवं कल्याणम् अस्ति एषाम् इति शिव+अच् अर्शआदित्वात्। किमपि—(मेरा इष्ट या अनिष्ट) कुछ भी। प्रकामोद्यमाः—अत्यन्त उद्योगशील। प्रकामः उद्यमः येषां ते प्रकामोद्यमाः बहुव्रीहि स०। अर्थसाधनविधौ—प्रयोजन सिद्ध करने के विषय में। अर्थस्य साधनं निष्पादनं तस्य विधिः, तस्मिन्। सेनाशतेभ्यः—सेनानां शतानि, तेभ्यः। अधिकयोगे पञ्चमी। यहाँ शत शब्द बहुत्ववाचक है; अन्यथा 'विंशत्याद्याः सदैकत्वे' इस कोशप्रामाण्य से एकवचन हो जाता। नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा—नन्दों के उन्मूलन में जिसके पराक्रम का माहात्म्य देखा जा चुका है। यहाँ 'महिमा' में 'डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्' सूत्र से डाप् प्रत्यय हुआ है। मा गात्—अत्र 'माङि लुङ्' इत्यनेन लुङ्लकारः तथा 'न माङ्योगे' इत्यनेन अडागमप्रतिषेधः। इस श्लोक मे काव्यलिंग तथा व्यतिरेक अलंकारों की संसृष्टि है। इसमे लाटी रीति है, ओज गुण है और शार्दूलविक्रीडित छन्द है। छन्द का लक्षण १, १२ में देखिए ॥२६॥

[उत्थाय प्रत्यक्षवदाकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा] एष खलु दुरात्मनो भद्रभटप्रभृतीनाहरामि। [आत्मगतम्] दुरात्मन् राक्षस! क्वेदानीं यास्यसि? एषोऽहमचिरात् भवन्तं,—

स्वच्छन्दमेकचरमुज्ज्वलदानशक्ति-
मुत्सेकिना मदबलेन विगाहमानम्।
बुद्ध्या निगृह्य वृषलस्य कृते क्रियाया-
मारण्यकं गजमिव प्रगुणीकरोमि ॥२७॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे।]

॥ इति मुद्रालाभो नाम प्रथमोऽङ्कः ॥

अन्वयः—उज्ज्वलदानशक्तिम् एकचरम् उत्सेकिना मदबलेन स्वच्छन्दं विगाहमानम् आरण्यकं गजमिव बुद्ध्या निगृह्य वृषलस्य कृते क्रियायां प्रगुणीकरोमि ॥२७॥

व्याख्या—उज्ज्वलदानशक्तिम्—उज्ज्वला प्रशस्या दानशक्ति वदा यता यस्य तादृशम् (गजपक्षे उज्ज्वला प्रभूता दानशक्ति मदजलभरणसामर्थ्यं यन्य तादृश), एकचरम्—एक महायहीन (गजपक्षे यूथहीन) चरतीति त तयोक्तम्, उ मेकिना—उद्रिक्तेन, मदबलेन—दर्पप्रभावेण (गज-पक्षे दानवारिप्रभावेण), स्वच्छन्द—निरङ्कुश, विगाहमान—भ्रमन्त, (भवन्तम्) आरण्यक—वन्य, गजमिव—हस्तिनमिव, बुद्ध्या—धिया, निगृह्य—आयत्तीकृत्य, वृषलस्य—चन्द्रगुप्तस्य, कृते—निमित्त, क्रिया-याम्—अमात्यकमणि (गजपक्षे भारवहनकर्मणि), प्रगुणीकरामि—नियो-जयामि ॥२७॥

हिन्दी अनुवाद—[उठकर आकाश में सामने उपस्थित की तरह देखते हुए] अभी मैं दुष्ट भद्रभट आदि को पकड़ता हूँ। [मन में] दुष्ट राक्षस ! अब कहाँ जाओगे ? यह मैं शीघ्र ही तुमको—

प्रशमनीय दान-शक्ति वाले (गज-पक्ष मे प्रचुर मद-जल वहाने की सामर्थ्य वाले), अकेले विचरण करने वाले और अत्यधिक गर्व (गज-पक्ष मे मदजल) के प्रभाव से स्वच्छन्द घूमने वाले (तुमको) जगली हाथी की तरह बुद्धि से वशीभूत करके चन्द्रगुप्त के लिए मन्त्रित्व-कम (गज-पक्ष मे बोझा ढोने के काम) मे लगाता हूँ ॥२७॥

[सभी पात्र रगमच पर से चले जाते हैं।]

॥ मुद्रा-लाभ नामक प्रथम अक समाप्त ॥

टिप्पणी—एष आहरामि—यह वाक्य शिष्य को भ्रम मे डालने के लिए कहा गया है, वैसे तो कार्यवश चाणक्य की प्रेरणा से ही भद्रभट आदि ने पलायन किया है। उज्ज्वलदानशक्तिम्—जिसकी दान-शक्ति प्रकाशमान हो। गज-पक्ष मे दान का अर्थ है मद। 'दान गजमदे त्यागे पालनच्छेदशुद्धिपु' इति मेदिनी। एकचरम्—एक चरति इति एक√चर्+अच् कर्तरि=एकचर, तम्। विगाहमानम्—घूमते हुए। वि√गाह्+शानच् कर्तरि, मुगागम=विगाह-मान, तम्। आरण्यकम्—जगली। अरण्ये भव इति अरण्य+वुञ्—अक=आरण्यक, तम्। इस श्लोक मे उपमा अलकार है, वैदर्भी रीति

है, ओज गुण है और वसन्ततिलका छन्द है। छन्द का लक्षण १, ८ में देखिए ॥२७॥

प्रथमोऽङ्कः—प्रथमः=आदिमः अङ्कः=परिच्छेदः नाटकांशो वा। अङ्क का लक्षण यह है—'अङ्क इति रूढिशब्दो भावैश्च रसैश्च रोहयत्यर्थान्। नाना-विधानयुक्तो यस्मात्तस्माद् भवेदङ्कः ॥' नाट्यशास्त्रम्। 'अन्तनिष्क्रान्तनिखिल-पात्रोऽङ्कः' इति दर्पणकारः। 'प्रत्यक्षनेतृचरितो बीजव्यक्तिपुरष्कृतः। अङ्को-नानाप्रमारार्थः संविधानरसाश्रयः ॥' इत्यपि दर्पणकारः।

द्वितीयोऽङ्कः

[ततः प्रविशत्याहितुण्डिकः।]

आहितुण्डिकः—

जाणन्ति तन्तजुत्तिं जहट्ठिअं मण्डलं अहिलिहन्ति
जे मन्तरक्खणपरा ते सप्पणराहिवे उवअरन्ति ॥१॥

(जानन्ति तन्त्रयुक्तिं यथास्थितं मण्डलमभिलिखन्ति।
ये मन्त्ररक्षणपरास्ते सर्पनराधिपावुपचरन्ति ॥)

अन्वयः—ये तन्त्रयुक्तिं यथास्थितं जानन्ति मण्डलम् अभिलिखन्ति (च) मन्त्ररक्षणपराः सर्पनराधिपौ उपचरन्ति ॥ १ ॥

व्याख्या—ये—जनाः, तन्त्रयुक्तिं—तन्त्रस्य सर्पौषधस्य युक्तिं योजना प्रयोग-मित्यर्थः (राजपक्षे तन्त्रे स्वराष्ट्रचिन्तने युक्तिं न्यायं), यथास्थितं—यथावत्, जानन्ति—विदन्ति, मण्डलम्—माहेन्द्रादिदेवतायन्त्रं मण्डलाकारवेष्टनं वा (राजपक्षे मण्डलं राष्ट्रम्), अभिलिखन्ति—रेखाकारेण लिखन्ति (राजपक्षे चिन्त-यन्ति), (ये च) मन्त्ररक्षणपराः—मन्त्रैः गारुडादिमन्त्रैः रक्षणे 'आत्मगोपने परा आसक्ताः (राजपक्षे मन्त्राणां षाड्गुण्यचिन्तनात्मकमन्त्रणाकार्याणां रक्षणे गोपने पराः आसक्ताः), ते—जनाः, सर्पनराधिपौ—अहिं राजानं च क्रमशः, उपचरन्ति—व्यवहरन्ति ॥१॥

येन स एतादृश ,जितकाशी—जितेन जयेन काशते उल्लमति इति जितकाशी जयोद्धत इत्यर्थ , राजसेवक —नृपपरिचारक , एते, नय , अवश्य—निश्चित, विनाश—मृत्युम्, अनुभवन्ति—प्राप्नुवन्ति । कथ—केन प्रकारेण, एष —आकाशस्थित , पुरुष , दृष्टमात्र —अवलोकित , सन्नेव, अतिक्रान्त —अन्तर्हित । एतेषु—दृश्यमानेषु, पुटकसमुद्गकेषु—मञ्जूषासम्पुटेषु, किं वस्तु विद्यते । जीविकाया —वृत्ते ,सम्पादका —साधका ,सर्पा —भुजङ्गमा । प्रेक्षितुम्—द्रष्टुम् , इच्छामि—अभिलषामि । प्रसीदतु—प्रसन्नो भवतु । एतत्—प्रेक्षणमित्यर्थ , अस्थानम्—अयुक्तम् । तत्—तस्मात् , यदि—चेत् , कौतूहल—कौतुकं (विद्यत), एहि—आगच्छ, एतस्मिन्—अस्मिन्, आवासे—गृहे, दर्शयामि—अवलोकयामि । इदम्, भर्तु —स्वामिन , अमात्यराक्षसस्य, गृहम्—भवनम् । अस्मादृशानाम्—मद्विधानाम् इह—अस्मिन् गृहे , प्रवेश —आगम , नास्ति—न विद्यते । तेन हि—अतएव, आर्य , गच्छतु—व्रजतु । जीविकाया ,प्रसादेन—उपायेन, इह,मम,प्रवेश , अस्ति। कथ—कुत , एषोऽपि—अयमपि, अतिक्रान्त —अन्तर्हित ।

हिन्दी अनुवाद—[आकाश में] आर्य ! क्या कहते हो कि तुम कौन हो । आर्य ! मै जीर्णविष नाम का सँपेरा हूँ । [फिर आकाश में] क्या कहते हो कि मैं भी साँप से खेलना चाहता हूँ । अच्छा, कौन जीविका आप अपनाये हुए हैं ? [फिर आकाश मे] क्या कहते हो कि मैं राजकुल का सेवक हूँ । तब तो आप साँप से खेल ही रहे हैं । कैसे ? मन्त्र और ओषधियां (के प्रयोग) में अनाड़ी सँपेरा, मतवाले हाथी पर चढ़ने वाला (व्यक्ति) और अधिकार पाकर घमंड से चूर रहने वाला राजकर्मचारी—ये तीनों अवश्य ही विनाश को प्राप्त होते हैं । कैसे यह देखते ही चला गया ? [फिर आकाश में] आर्य ! क्या कहते हो कि इन ढकी हुई पिटारियों मे क्या है । आर्य ! जीविका को चलाने वाले सर्प हैं । [फिर आकाश मे] क्या कहते हो कि मैं देखना चाहता हूँ । आप प्रसन्न हो । यह उपयुक्त स्थान नहीं है । इसलिये यदि उत्सुकता हो तो आओ, इस घर मे दिखाता हूँ । [फिर आकाश मे] क्या कहते हो कि यह स्वामी अमात्य राक्षस का घर है । हम जैसो का यहाँ प्रवेश नही (हो सकता) है । तो आप जाइए । जीविका की कृपा से मेरा प्रवेश यहां (हो सकता) है । कैसे यह भी खिसक गया ?

टिप्पणी—आकाशे—इसे आकाशभाषित कहते हैं । आकाशभाषित का लक्षण यह है—'किं ब्रवीषीति यन्नाट्ये विना पात्रं प्रयुज्यते । श्रुत्वेवानुक्तमप्यर्थं तत्स्यादाकाशभाषितम् ॥ अथवा 'अप्रविष्टे सहालापो भवेदाकाशभाषणम् ।'

वृत्तिमुपजीवति—जीविका का अवलम्बन करता है। वर्तते अनया इति √वृत् +क्तिन् करणे=वृत्तिः, ताम्। उपजीवति—अत्र उपसर्गवशात् सकर्मकत्वम्। **अमन्त्रौषधिकुशलः**—मन्त्र और ओषधि के प्रयोग में अपटु। मन्त्राश्च ओषधयश्च इति मन्त्रौषधयः द्वन्द्व स०, तेषु कुशलः सुप्सुपा स०, न मन्त्रौषधिकुशलः इति नञ्तत्०। **व्यालग्राही**—सँपेरा। गृह्णाति इति √ग्रह् + णिनि कर्तरि=ग्राही। व्यालस्य ग्राही व्यालग्राही षष्ठीतत्०। यहाँ व्यालं गृह्णाति ऐसा विग्रह नहीं कर सकते हैं; क्योंकि इस विग्रह में 'सुप्यजातौ'—सूत्र से प्राप्त णिनि को बाधकर 'कर्मण्यण्' से अण् हो जाने पर 'व्यालग्राहः' प्रयोग बनेगा। **मत्तमतङ्गजारोही**—मदमस्त हाथी पर चढ़ने वाला। मत्तः मतङ्गजः कर्मधारय स०, तम् साधु आरोहति इति मत्तमतङ्गज—आ √रुह् + णिनि साधुकारिणि कर्तरि। **जितकाशी**—विजय से उद्धत। √जि + क्त भावे= जितम्। जितेन जयेन साधु काशते स्पर्द्धते इति जित √काश् + णिनि साधु कारिणि कर्तरि। **दृष्टमात्रः**—देखते ही। दृष्ट इत्येतत् प्रमाणमस्य इति दृष्ट + मात्रच् = दृष्टमात्र.। **पेटकसमुद्गकेषु**—ढकी हुई पिटारियों में। पेटक = पिटारी। 'पिटकः पेटकः पेटा मञ्जूषा' इत्यमरः। समुद्गक = ढक्कन। 'समुद्गकः सम्पुटकः' इत्यमरः। समुद्गच्छति इति सम्-उद् √गम् + ड कर्तरि + कन् स्वार्थे = समुद्गकः। पेटकाश्च समुद्गकाश्च इति पेटकसमुद्गकाः, तेषु।

[स्वगतम्। संस्कृतमाश्रित्य] अहो ! आश्चर्यम्। चाणक्यमति-परिगृहीतं चन्द्रगुप्तमवलोक्य विफलमिव राक्षसप्रयत्नमवगच्छामि। राक्षसमतिपरिगृहीतं मलयकेतुमवलोक्य चलितमिवाधिराज्याच्चन्द्र-गुप्तमवगच्छामि। कुतः—

> कौटिल्यधीरज्जुनिबद्धमूर्तिं
>   मन्ये स्थिरां मौर्यनृपस्य लक्ष्मीम्।
> उपायहस्तैरपि राक्षसेन
>   निकृष्यमाणामिव लक्षयामि॥ २॥

व्याख्या—संस्कृतम्—देवभाषाम्, आश्रित्य—अवलम्ब्य, आश्चर्यम्—चित्रम्। चाणक्यमतिपरिगृहीतं—चाणक्यस्य कौटिल्यस्य मत्या बुद्ध्या परिगृहीतं परिचालितं, चन्द्रगुप्तम्, अवलोक्य—दृष्ट्वा, राक्षसप्रयत्नम्—राक्षसस्य प्रयत्नं प्रयासं, विफलमिव—व्यर्थमिव, अवगच्छामि—जानामि। राक्षसमतिपरिगृहीतं—

राक्षसस्य मत्या परिगृहीतं, मलयकेतु—पर्वतकपुत्रम्, अवलोक्य, अधिराज्यात्—अधिष्ठितो राजा अधिराजः तस्य भाव आधिराज्यं तस्मात्, चलितं—च्युतम् इव, चन्द्रगुप्तम्, अवगच्छामि । कुतः—यतो हि,

अन्वय—मौर्यनृपस्य लक्ष्मी कौटिल्यधीरज्जुनिबद्धमूर्ति स्थिरा मन्ये, राक्षसेन उपायहस्तैः निकृष्यमाणाम् इव लक्षयामि अपि ॥ २ ॥

व्याख्या—मौर्यनृपस्य—चन्द्रगुप्तभूपतेः, लक्ष्मी—श्रियं, कौटिल्यधीरज्जुनिबद्धमूर्ति—कौटिल्यस्य चाणक्यस्य धी बुद्धि एव रज्जु दाम तया निबद्धा संयता मूर्ति यस्याः तथाविधाम्, स्थिरा—निश्चला, मन्ये—तर्कयामि । (पक्षान्तरे) राक्षसेन—नन्दामात्येन, उपायहस्तैः—उपायाः सामदानदण्डभेदाः त एव हस्ताः तैः, निकृष्यमाणाम्—नितरां कृष्यमाणाम् इव, लक्षयामि—सम्भावयामि अपि ॥२ ॥

हिन्दी अनुवाद—[मन में । संस्कृत भाषा का आश्रय लेकर] ओह ! आश्चर्य है । चाणक्य की बुद्धि(राय) में चलने वाले चन्द्रगुप्त को देखकर राक्षस के प्रयत्न को मैं व्यर्थ-सा समझता हूँ । (और दूसरी ओर) राक्षस की बुद्धि का अनुसरण करने वाले मलयकेतु को देखकर चन्द्रगुप्त को राज्य से भ्रष्ट हुआ-सा समझता हूँ । क्योंकि—

राजा चन्द्रगुप्त की लक्ष्मी को चाणक्य की बुद्धिरूपी रस्सी से बँधे हुए शरीर वाली और (अतएव) अचल मानता हूँ, किन्तु राक्षस के उपाय रूपी हाथों से मानो खींची जाती हुई भी (उसे) देखता हूँ ।

टिप्पणी—संस्कृतमाश्रित्य—यह आहितुण्डिक नन्द के विशिष्ट कर्मचारी होने के कारण उत्तम पात्र है, अतएव संस्कृत में स्वगत भाषण करता है । पहले प्रान्त में इसलिए किया है कि वह कार्यवश आहितुण्डिक के वेश में है । कहा भी है—'कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाव्यतिक्रमः' दशरूपक । आधिराज्यात्—साम्राज्य से । अधिको राजा अधिराजः 'राजाहः सखिभ्यष्टच्' इति सूत्रेण समासान्त टच्प्रत्यय । तस्य भाव आधिराज्यम् अधिराज+ष्यञ्, तस्मात् । मौर्यनृपस्य—मौर्यश्चासौ नृपः कर्मधारय स०, तस्य । उपायहस्तैः—उपाय—साम, दान, दण्ड और भेद—रूपी हाथों से । 'भेदो दण्डः सामदानमित्युपायचतुष्टयम्' इत्यमरः । उपाया एव हस्ता मयूरव्यंसकादित्वात् स०, तैः । इस श्लोक में निरङ्गरूपक और वाच्योत्प्रेक्षा अलङ्कारों का साङ्कर्य है । इसमें वैदर्भी रीति है,

प्रसाद गुण है और उपजाति छन्द है। यह छन्द इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा—इन दोनों छन्दों के मिश्रण से बनता है। इन दोनों छन्दों के लक्षण इस प्रकार हैं—'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः'। 'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ' ॥२॥

तदेवमनयोर्बुद्धिशालिनोः सुसचिवयोर्विरोधे संशयितेव नन्दकुल-लक्ष्मीः। कुतः—

विरुद्धयोर्भृशमिह मन्त्रिमुख्ययो-
महावने वनगजयोरिवान्तरे।
अनिश्चयाद्गजवशयेव भीतया
गतागतैर्ध्रुवमिव खिद्यते श्रिया ॥३॥

अन्वयः—इह महावने वनगजयोः इव भृशं विरुद्धयोः मन्त्रिमुख्ययोः अन्तरे अनिश्चयात् भीतया गजवशया इव श्रिया गतागतैः ध्रुवं खिद्यते इव ॥३॥

व्याख्या—इह—अस्मिन् मगधराज्ये, महावने—महारण्ये, वनगजयोः इव—वन्यहस्तिनोः इव, भृशम्—अत्यर्थम्, विरुद्धयोः—प्रारब्धविरोधयोः, मन्त्रि-मुख्ययोः—प्रधानामात्ययोः चाणक्यराक्षसयोः, अन्तरे—मध्ये, अनिश्चयात्—अस्थिरत्वात्, भीतया—त्रस्तया, गजवशया इव—करिण्या इव, श्रिया—राज-लक्ष्म्या, गतागतैः—गमनागमनैः, ध्रुवं—निश्चितं, खिद्यते इव, क्लिश्यते इव ॥३॥

हिन्दी अनुवाद—तो इस प्रकार इन दोनों बुद्धिमान् सुमन्त्रियों के विरोध होने पर नन्दवश की लक्ष्मी मानों सन्देह में पड़ गई है। क्योंकि—

यहाँ बडे वन में दो जंगली हाथियों के समान अत्यधिक विरोधी दो प्रधान मन्त्रियों के वीच में (जय-पराजय मे) अनिश्चय के कारण डरी हुई हथिनी की तरह लक्ष्मी जाने-आने से निश्चित ही दुःख उठा रही है ॥३॥

टिप्पणी—**बुद्धिशालिनोः**—बुद्धिमतोः। बुद्ध्या शालेते शोभेते इति बुद्धि√शाल्+णिनि साधुकारिणि कर्तरि=बुद्धिशालिनौ, तयोः। **संशयिता**—सन्देहमा-पन्ना। संशयः जातः अस्याः इति संशय+इतच् तारकादित्वात्। **महावने**—महच्च तत् वनम् महावनम् कर्मधारय स०, 'आन्महतः'—इत्यात्वम्, तस्मिन्। **भृशम्**—अत्यंत। 'अतिवेलभृशात्यर्थम्' इत्यमरः। **मन्त्रिमुख्ययोः**—मन्त्रिणां मुख्यौ वा मन्त्रिषु मुख्यौ, तयोः। **अनिश्चयात्**—निस् वा निर्√चि+अच् भावे =निश्चयः। न निश्चयः अनिश्चयः नञ्तत्, तस्मात्। **गजवशया**—हथिनी।

'वशा नार्या वन्ध्यागव्या हस्तिन्या दुहितर्यपि' इति हैम । वशा गजी गजवशा कर्मधारय स०, 'पोटायुवतिस्तोक'—इत्यादिना पुवद्भाव पूर्वनिपातनश्च, तया। गतागतै —जाने-आने से अर्थात् मलयकेतु के पास से चन्द्रगुप्त के पास जाने से और पुन चन्द्रगुप्त के पास से मलयकेतु के पास आने से। गतानि च आगतानि च इति द्वन्द्व स०, तै । खिद्यते—√खिद्+लट्—ते भावे । इसका कर्ता, 'श्रिया' और 'गजवशया' है । इस श्लोक मे दो उपमा अलकारो से अनुप्राणित उत्प्रेक्षा अलकार है। इसमे वदर्भी रीति है, प्रसाद गुण है और रुचिरा छन्द है । रुचिरा का लक्षण यह है—'जभौ सजौ गिति रुचिरा चतुर्ग्रहै' ॥ ३ ॥

तद्यावदमात्यराक्षस पश्यामि । [इति परिक्रम्य स्थित ।]

[तत प्रविशत्यासनस्थ पुरुषेणानुगम्यमान सचिन्तो राक्षस ।]

राक्षस —[सवाष्पम] कष्ट भो ! कष्टम् ।

वृष्णीनामिव नीतिविक्रमगुणव्यापारशान्तद्विषा
नन्दाना विपुले कुलेऽकरुणया नीते नियत्या क्षयम् ।
चिन्तावेशसमाकुलेन मनसा रात्रिन्दिव जाग्रत
सैवेय मम चित्रकर्मरचना भित्तिं विना वर्तते ॥ ४ ॥

अन्वय —वृष्णीनामिव नीतिविक्रमगुणव्यापारशान्तद्विषा नन्दाना विपुले कुले अकरुणया नियत्या क्षय नीते चिन्तावेशसमाकुलेन मनसा रात्रिन्दिव जाग्रत मम सा एव इय चित्रकर्मरचना भित्ति विना वर्तते ॥ ४ ॥

व्याख्या—वृष्णीनामिव—यदूनामिव, नीतिविक्रमगुणव्यापारशान्तद्विषा—नीति नय विक्रम शौर्य गुणा सन्धिविग्रहादय तेषा व्यापारेण प्रयोगेण हेतुना अथवा नीतिविक्रमौ एव गुणौ तयो व्यापारेण शान्ता अपहृता द्विष शत्रवो येषा तादृशाना, नन्दाना—नवनन्दाना, विपुले—विशाले, कुले—वशे, अकरुणया —दयाहीनया, नियत्या—भाग्येन, क्षय—नाश, नीते—प्रापिते, (सति) चिन्तावेशसमाकुलेन—चिन्ताया शोकस्य आवेशेन अविभावेन समाकुल सम्भ्रान्त यत् तादृशेन, मनसा—हृदयेन, रात्रिन्दिवम्—अहोरात्र, जाग्रत — निद्रामननुभवत , मम—मे, सैवेय—नन्दजीवनकालिकयेव, चित्रकर्मरचना— चित्रा विस्मयकरी कर्मरचना उपायोद्भावना अथ च चित्रकर्मणः आलेखनक्रियाया

रचना योजना, भित्ति विना—अवलम्बनशून्या अथ च कुड्यं विना, वर्तते —तिष्ठति ॥ ४ ॥

हिन्दी अनुवाद—इसलिए जब तक अमात्य राक्षस से मिलता हूँ। [घूमकर खड़ा हो जाता है।]

[तब आसन पर बैठा हुआ चिन्तामग्न राक्षस एक पुरुष के साथ प्रवेश करता है।]

राक्षस—[आँसू के साथ] ओह ! बड़ा कष्ट है।

यदुवंशियो की तरह नीति और पराक्रमरूपी गुणों के प्रयोग से शत्रुओं को शान्त करने वाले नन्दों के महान् वंश के निर्दय भाग्य के द्वारा विनष्ट कर दिये जाने पर चिन्ता के आवेश से व्याकुल मन के कारण रात-दिन जागरण करते हुए मेरी वही यह आश्चर्यित करने वाली क्रिया (पक्षान्तर में चित्रकारी) बिना अवलम्ब के (पक्षान्तर में बिना भित्ति के) रह रही है ॥ ४ ॥

टिप्पणी—आसनस्थः—आसने तिष्ठति यः स आसनस्थः आसन√स्था+क। पुरुषेण—अनुचरेण। अनुगम्यमानः—अनुस्त्रियमाणः। सचिन्तः—चिन्तया सह वर्तमानः यः स सचिन्तः 'तेन सह'—इति बहुव्रीहि स०। कष्टम् कष्टम्—यहाँ खेद प्रकाशनार्थ दो बार उच्चारण किया गया है। कहा भी है—'विवादे विस्मये हर्षे खेदे दैन्येऽवधारणे। सम्भ्रमे चैव शब्दानां द्विस्त्रिरुक्तिर्न दुष्यति ॥' वृष्णीनाम्—वृष्णि एक यदुवंशी राजा था। यहाँ लक्षणा से उसके वंशजों का ग्रहण किया गया है। इसीलिए बहुवचन का प्रयोग हुआ है। जैसे 'रघूणामन्वयं वक्ष्ये'—रघुवश। शान्त=शमित। अत्र अन्तर्भावितो ण्यर्थः, 'वा पदान्त'—इति सूत्रेण पाक्षिको निपातः। मनसा—अत्र 'इत्थम्भूतलक्षणे' इति सूत्रेण तृतीया। रात्रिन्दिवम्—रातदिन। रात्रिश्च दिवा च इति रात्रिन्दिवम् 'अचतुरविचतुर'—इत्यादिना निपातनात् सिद्धम्। जाग्रतः—जागते हुए। √जागृ+शतृ कर्तरि, 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इत्यनेन नुमो निषेधः=जाग्रत, तस्य। सैवेयम्—यहाँ तत् शब्द 'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः' के अनुसार यत् शब्द की अपेक्षा नही रखता है; क्योंकि यहाँ प्रक्रान्त अर्थ में प्रयुक्त है। कहा भी है—'प्रसिद्धार्थे प्रक्रान्तार्थे च प्रयुक्तौ यत्तच्छब्दौ अन्यतरं नापेक्षेते' इस श्लोक में उपमालंकार के साथ विशेषालंकार और विभावनालंकार की संसृष्टि है। यहाँ प्रसाद गुण है, पाञ्चाली रीति है और शार्दूलविक्रीडित छन्द है। इस छन्द का लक्षण १, १२ में देखिए ॥ ४ ॥

अथवा—

नेद विस्मृतभक्तिना न विषयव्यासङ्गमूढात्मना
प्राणप्रच्युतिभीरुणा न च मया नात्मप्रतिष्ठार्थिना ।
अत्यर्थं परदास्यमेत्य निपुणं नीतौ मनो दीयते
देवः स्वर्गगतोऽपि शात्रववधेनाराधितः स्यादिति ॥५॥

अन्वय—मया परदास्यमेत्य अत्यर्थं निपुणं नीतौ मनो दीयते, इद विस्मृतभक्तिना न, विषयव्यासङ्गमूढात्मना न, प्राणप्रच्युतिभीरुणा न, आत्मप्रतिष्ठार्थिना न, स्वर्गगतः अपि देवः शात्रववधेन आराधितः स्यात् इति ॥५॥

व्याख्या—मया—राक्षसेन, परदास्यम्—परस्य स्वेतरस्य मलयकेतोरित्यर्थः दास्यं सेवाम्, एत्य—अङ्गीकृत्य, अत्यर्थम्—अतीव, निपुणं—प्रयत्नेन, नीतौ—नीतिप्रयोगे, मनः—चित्तं, दीयते—व्याप्रियते, इदं—नीतौ मनोदानं, विस्मृतभक्तिना—विस्मृता भक्तिः स्वामिभक्तिः नन्दानुरागः इत्यर्थः येन तादृशेन सता, न—नहि, विषयव्यासङ्गमूढात्मना—विषयेषु भोगेषु यो व्यासङ्गः आसक्तिः तेन मूढः अन्तः आत्मा अन्तःकरणं यस्य तादृशेन सता, न, प्राणप्रच्युतिभीरुणा—प्राणस्य जीवस्य प्रच्युतिः नाशः ततो भीरुणा भययुक्तेन, न, आत्मप्रतिष्ठार्थिना—आत्मनः निजस्य या प्रतिष्ठा ख्यातिः तां यः अर्थयते कामयते तादृशेन सता, न, (किन्तु) स्वर्गगतः अपि—लोकान्तरितोऽपि, देवः—महाराजः (नन्दः), शात्रववधेन—अरिविनाशेन, आराधितः—सन्तोषितः, स्यात्—भवेत्, इति हेतोः मनो दीयते इत्यर्थः ॥५॥

हिन्दी अनुवाद—अथवा—मैं दूसरे (अर्थात् मलयकेतु) की सेवा स्वीकार कर (जो) राजनीति मे अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक मनोयोग दे रहा हूँ, सो स्वामि—भक्ति को भुलाकर नही (दे रहा हूँ), सुख-भोग की आसक्ति से विवेकहीन अन्तःकरण वाला होकर नहीं (दे रहा हूँ), प्राण-नाश से डरकर नही (दे रहा हूँ) और अपनी प्रतिष्ठा की कामना से भी नही (दे रहा हूँ) किन्तु स्वर्ग चले जाने पर महाराज (नन्द) शत्रु के वध से सन्तुष्ट हों (इसलिए दे रहा हूँ) ॥५॥

टिप्पणी—विस्मृतभक्तिना न—जिसने भक्ति को भुला दिया हो ऐसा होकर नहीं। विस्मृता भक्तिः येन स विस्मृतभक्तिः बहुव्रीहि स०, 'सामान्ये नपुंसकम्'

इत्यनेन विग्रहवाक्ये नपुंसकत्वम्। 'विस्मृता भक्तिः' इति विग्रहे तु 'विस्मृता-भक्तिना' इति प्रयोगः स्यात्। इसका तात्पर्य यह है कि मैंने मलयकेतु का आश्रय लिया है, यह सही है किन्तु नन्द में मेरी दृढ भक्ति है। **विषयव्यासङ्गमूढात्मना न**—विषय-भोग की आसक्ति से मोहित आत्मा वाला होकर नहीं। स्वामि-भक्त होते हुए भी राक्षस ने विषयासक्ति के कारण मलयकेतु का आश्रय लिया है—ऐसी धारणा कोई न बना ले, एतदर्थ यह कहा गया है। **प्राणप्रच्युतिभीरुणा न**—प्राणों के विनाश से डरने वाला होकर नहीं। यदि तुम स्वामिभक्त हो और अनासक्त भी हो तो स्वामी के मर जाने पर तुम्हें उसका अनुसरण करना चाहिए न कि प्राणनाश से डरना चाहिए—इस आक्षेप का निवारण करने के लिए ऐसा कहा है। **आत्मप्रतिष्ठार्थिना न**—अपनी प्रतिष्ठा की चाह करने वाला होकर नहीं। यदि ऐसी बात है तो तुम नीति से चाणक्य को जीतकर संसार में अपना यश फैलाने की कामना से मलयकेतु की सेवा कर रहे हो—इस भ्रान्त धारणा की निवृत्ति के लिए यह कहना पड़ा है। प्रतिष्ठा = गौरव। 'प्रतिष्ठा गौरवे स्थितौ' इति हैमः। प्रतितिष्ठति अनया इति प्रति√स्था + अङ् करणे। **शात्रववधेन**—शत्रु के नाश से। शत्रुः एव शात्रवः शत्रु + अण् स्वार्थे प्रज्ञादित्वात्। तस्य वधः, तेन। तब दूसरे का आश्रय लेने का तुम्हारा क्या प्रयोजन—इस प्रश्न का उत्तर इससे दिया है। स्यात्—अत्र शकि लिङ्। इस श्लोक में परिसंख्या अलंकार है। इसमें प्रसाद गुण है, पाञ्चाली रीति है और शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥५॥

[**आकाशमवलोकयन् सास्रम्**] भगवति कमलालये ! भृशमगुणज्ञासि। कुतः—

> आनन्दहेतुमपि देवमपास्य नन्दं
> सक्तासि किं कथय वैरिणि मौर्यपुत्रे।
> दानाम्बुराजिरिव गन्धगजस्य नाशे
> तत्रैव किं न चपले प्रलयं गतासि ॥ ६ ॥

अन्वयः—चपले ! कथय आनन्दहेतुमपि देवं नन्दम् अपास्य वैरिणि मौर्यपुत्रे किं सक्तासि, गन्धगजस्य नाशे दानाम्बुराजिरिव तत्रैव किं न प्रलयं गतासि ॥ ६ ॥

व्याख्या—चपले—हे चञ्चले ! कथय—ब्रूहि, आनन्दहेतुमपि—सुखकारण-मपि, देवं—महाराजं, नन्दम्, अपास्य—त्यक्त्वा, वैरिणि—शत्रौ, मौर्यपुत्रे—

मुरागर्भसम्भवे चन्द्रगुप्ते, किं रक्तासि—अनुरक्तासि ? गन्धगजस्य—गन्धाढ्यहस्तिनः, नाशे—मरणे सति, दानाम्बुराजि —दानाम्बुनः मदजलस्य राजिः रेखा, इव—तद्वत्, तत्रैव—नन्दे एव, किं—कथं, न—नहि, प्रलयं—तिरोधानं, गतासि—प्राप्तासि ? ॥ ६ ॥

हिन्दी अनुवाद—[आकाश की ओर देखता हुआ आँसुओं के साथ] हे ऐश्वर्यशालिनी लक्ष्मी ! तुम गुणों को बिलकुल नहीं पहचानती हो। क्योंकि—

चपले ! बताओ कि आनन्द के कारण (होते हुए) भी महाराज नन्द को छोड़कर मुरापुत्र चन्द्रगुप्त में तुम कैसे आसक्त हो गई। गन्धगज के मर जाने पर (उसके) मदजल की धारा के समान वहाँ (नन्द में) विलीन क्यों नहीं हो गई ?

टिप्पणी—सास्रम्—अस्रेण = नेत्रजलेन सह वर्तमानम् इति सास्रम्। यह क्रियाविशेषण है। भगवति—भगम् = ऐश्वर्यं विद्यते अस्याः इति भग + मतुप् वत्व + ङीप् = भगवती। तत्सम्बोधन हे भगवति इति। कमलालये—कमलानि आलयः निवासस्थानम् अस्याः इति कमलालया = लक्ष्मी। तत्सम्बोधने हे कमलालये इति। अगुणज्ञा—गुणों को न जानने वाली। गुणान् जानाति इति गुण√ज्ञा + क कर्तरि = गुणज्ञा। न गुणज्ञा अगुणज्ञा नञ्तत्०। आनन्दहेतुम्—आनन्दस्य हेतुः षष्ठीतत्०, तम्। मौर्यपुत्रे—शूद्रा के पुत्र अर्थात् चन्द्रगुप्त। मुरायाः अपत्यम् इति मौर्यः मुरा + ण्य, अपत्ये। स चासौ पुत्रश्च कर्मधारय स०, तस्मिन्। गन्धगज—श्रेष्ठ महाबली हाथी, जिसके कुंभ से मद झरता हो। इसका लक्षण यह है—'यस्य गन्धं समाघ्राय न तिष्ठन्ति प्रतिद्विपाः। स वै गन्धगजो नाम नृपतेर्विजयावहः ॥' गन्धप्रधानो गजः गन्धगजः मध्यमपदलोपी स०। दानाम्बुराजिरिव—मदजल की रेखा या धारा की तरह। यहाँ तात्पर्य यह है कि जैसे गन्धगज के मर जाने पर उसके साथ उसकी मदधारा मर जाया करती है वैसे ही महाराज नन्द के साथ तुम्हें भी मर मिटना चाहिए था न कि दुष्कुलीन पुरुष की आश्रिता होकर रहना चाहिए था। इस पद्य में उपमा अलंकार परिकर अलंकार से संसृष्ट है। इसमें वैदर्भी रीति है, प्रसाद गुण है और वसन्ततिलका छन्द है। इस छन्द का लक्षण १, ८ में देखिए ॥ ६ ॥

अपि च अनभिजाते !

पृथिव्यां किं दग्धाः प्रथितकुलजा भूमिपतयः
पतिं पापे मौर्यं यदसि कुलहीनं वृतवती ।
प्रकृत्या वा काशप्रभवकुसुमप्रान्तचपला
पुरन्ध्रीणां प्रज्ञा पुरुषगुणविज्ञानविमुखी ॥ ७ ॥

अन्वयः—पापे ! पृथिव्या प्रथितकुलजाः भूमिपतयः दग्धाः किं (यत् त्वं) कुलहीनं मौर्यं पतिं वृतवती असि । वा काशप्रभवकुसुमप्रान्तचपला पुरन्ध्रीणां प्रज्ञा प्रकृत्या पुरुषगुणविज्ञानविमुखी (भवति) ॥ ७ ॥

व्याख्या—पापे—पापाचारे !, पृथिव्यां—धरायां, प्रथितकुलजाः प्रथितानि विख्यातानि कुलानि वंशाः तेषु जाताः, भूमिपतयः—राजानः, दग्धाः—भस्मसाद्भूताः, किं (यत् त्वं), कुलहीनं—कुलशून्यं, मौर्यं—वृषल, पतिं—स्वामिनं, वृतवती असि—आवृणोः । वा—अथवा, काशप्रभवकुसुमप्रान्तचपला—काशप्रभवं काशतृणजात यत् कुसुमं पुष्पं तस्य प्रान्तः अग्रभागः इव चपला चञ्चलाः, पुरन्ध्रीणां—रमणीनां, प्रज्ञा—मतिः, प्रकृत्या—स्वभावतः, पुरुषगुणविज्ञानविमुखी—पुरुषाणाम् आश्रयभूताना जनानां ये गुणाः सत्कुलत्वादयः तेषां विज्ञाने परिग्रहे विमुखी पराङ्मुखी (भवति) ॥ ७ ॥

हिन्दी अनुवाद—और भी अकुलीने !

पापिनि ! पृथ्वी पर विख्यात वंश मे उत्पन्न राजा लोग जल मरे जो तूने अकुलीन चन्द्रगुप्त को पति चुन लिया । अथवा काशपुष्प के सिरे के समान चंचल, रमणियो की बुद्धि स्वभावतः पुरुषो के गुणो के विवेचन से विमुख रहती है ॥७॥

टिप्पणी—अनभिजाते—अभिजाता = कुलीना, तद्भिन्ना अनभिजाता, तत्सम्बोधने अनभिजाते इति । यहाँ शोक के कारण गाली देने के रूप मे राक्षस ने लक्ष्मी को अकुलीना कहा है, वैसे तो क्षीर-सागर से उत्पन्न होने के कारण लक्ष्मी कुलीना ही है । **कुलहीनम्**—चन्द्रगुप्त नन्द का मुरा दासी से उत्पन्न जारज पुत्र था । इस लिए उसे कुलहीन कहा गया है । काशप्रभव—काशतृण से उत्पन्न । प्रभवति अस्मात् इति प्र √भू + अप् अपादाने = प्रभवः । काशः प्रभवः अस्य इति काशप्रभवम् बहुव्रीहि स० । पुरन्ध्रीणाम्—स्त्रियों की । पुरं धारयति इति पुर √धृ + णिच् + खच् कर्तरि + ङीप् स्त्रियाम् पृषोदरादित्वात् साधुः । पुरुषगुणविज्ञानविमुखी—पुरुषों के गुणों को पहचानने में विमुख । विवृत्तं मुखम् अस्याः इति विमुखी प्रादिबहुव्रीहि स० । इस पद्य में अर्थान्तरन्यास अलंकार है । इसमे

वदर्भी रीति है, प्रसाद गुण है और शिखरिणी छन्द है। इस छन्द का लक्षण १, १३ में देखिए ॥७॥

अपि च, अविनीते! तदहमाश्रयोन्मूलनेनैव त्वामकामा करोमि। [विचिन्त्य] मया तावत्सुहृत्तमस्य चन्दनदासस्य गृहे गृहजनं निक्षिप्य नगरान्निर्गच्छता न्याय्यमनुष्ठितम्। कुत: ? कुसुमपुराभियोगं प्रति अनुदासीनो राक्षस इति तत्रस्थानामस्माभिः सहैककार्याणां देवपादोपजीविनां नोद्यमः शिथिलीभविष्यति। चन्द्रगुप्तशरीरमभिद्रोग्धुमस्मत्प्रयुक्तानां तीक्ष्णरसदायिनामुपसंग्रहार्थं परकृत्योपजापार्थञ्च महता कोशसञ्चयेन स्थापितः शकटदासः। प्रतिक्षणमरातिवृत्तान्तोपलब्धये तत्संहतिभेदनाय च व्यापारिताः सुहृदो जीवसिद्धिप्रभृतयः।

व्याख्या—अपि च—अयच्च, अविनीते—विनय-शून्ये !, तत्—तस्मात् कारणात्, अहम्, आश्रयोन्मूलनेनैव—आश्रयस्य त्वदवलम्बनस्य उन्मूलनेनैव विनाशेनैव, त्वाम्—भवतीम्, अकामा—विफलमनोरथा, करोमि—विदधामि। विचिन्त्य—विचार्य, सुहृत्तमस्य—बन्धुप्रवरस्य, चन्दनदासस्य, गृहे—गेहे, गृहजनं—कलत्र,निक्षिप्य—न्यासीकृत्य, नगरात्—पुरात्, निर्गच्छता—निःसरता, मया, न्याय्यं—समुचितम्, अनुष्ठितम्—विहितम्। कुसुमपुराभियोगं प्रति—कुसुमपुरस्य पाटलिपुत्रस्य अभियोगं आक्रमणं तं प्रति, राक्षसः—नन्दामात्य, अनुदासीनः—न निरुद्यमः, इति (ज्ञात्वा), तत्रस्थानाम्—कुसुमपुरे स्थितानाम्, अस्माभिः एककार्याणाम्—तुल्यप्रयोजनानाम्, देवपादोपजीविनां—देवपादानाम् राज्ञो नन्दस्य ये उपजीविनः सेवकाः तेषाम्, उद्यमः—प्रयत्नः, न शिथिलीभविष्यति—मन्दीभविष्यति। चन्द्रगुप्तशरीरम्—चन्द्रगुप्तस्य वृषलस्य शरीरं देहम्, अभिद्रोग्धुं—हन्तुम्, अस्मत्प्रयुक्तानाम्—अस्माभिः प्रयुक्तानां व्यापारितानां,तीक्ष्णरसदायिनां—विषदायिनाम्, उपसंग्रहार्थं—सम्यग्ग्रहणार्थं, परकृत्योपजापार्थं च—परस्य शत्रोः कृत्यानां कार्याणाम् उपजापार्थं च भेदार्थमपि, महता—विपुलेन, कोशसञ्चयेन—धनराशिना, शकटदासः, स्थापितः—नियोजितः। प्रतिक्षणम्—सततम् अरातिवृत्तान्तोपलब्धये—अरातेः शत्रोः वृत्तान्तस्य उदन्तस्य उपलब्धये प्राप्तये, तत्संहतिभेदनाय च—तेषां शत्रूणां संहतेः संघातस्य भेदनाय भङ्गाय च, जीवसिद्धिप्रभृतयः—जीवसिद्धिप्रमुखाः, सुहृदः—मित्राणि, व्यापारिताः—नियोजिताः।

हिन्दी अनुवाद—और भी दुष्टे !, इसलिए मैं आधार को ही नष्ट करके तुम्हारे मनोरथ को चकनाचूर कर देता हूँ। [सोचकर] नगर से निकलते

समय मैंने मित्रवर चन्दनदास के घर मे (अपने) परिवार को रखकर उचित (कार्य) किया है। क्योकि, राक्षस पाटलिपुत्र पर आक्रमण करने में उदासीन नहीं है—ऐसा सोचकर हमारे साथ एक ही काम करने वाले, महाराज नन्द के सेवक प्रयत्न मे ढीले नही पडेगे। चन्द्रगुप्त के शरीर को नष्ट करने के लिए हमारे भेजे हुए विप देने वालो को इकट्ठा करने और शत्रु के कार्यों का भेदन करने के लिए महान् धन-राशि के साथ शकटदास को नियुक्त कर दिया है। और क्षण-क्षण मे शत्रुओ के समाचार पाने तथा उनके गुट को तोड़ने के लिए जीवसिद्धि आदि मित्र तत्पर कर दिये गये है।

टिप्पणी—आश्रयोन्मूलनेन—अवलम्ब को समूल नष्ट करने के द्वारा। आश्रीयते इति आ√श्रि+अच् कर्मणि=आश्रयः, तस्य उन्मूलनम्, तेन। करणे तृतीया। **अकामाम्**—निष्फल मनोरथ वाली। अनाप्तः कामः अनया अथवा असिद्धः कामः अस्या. इति अकामा बहुव्रीहि स०, ताम्। **सुहृत्तमस्य**—शोभन हृदयम् अस्य इति सुहृत् बहुव्रीहि स०, हृदयस्य हृदादेशः। अतिशयेन सुहृत् इति सुहृत्तमः सुहृद्+तमप्, तस्य। **अनुदासीन**.—उदासीन या निश्चेष्ट नही। उत्√आस्+शानच्, 'ईदासः' इत्यनेन ईत्वम्=उदासीनः। न उदासीनः अनुदासीनः नञ्तत्०। **देवपादोपजीविनाम्**—महाराज के अनुयायी। पूज्यो देवः देवपादाः नित्यसमासः 'प्रशंसावचनैश्च' इत्यनेन। गौरवे बहुवचनम्। देवपादान् उपजीवन्ति आश्रित्य वर्तयन्ति इति देवपाद उप√जीव्+णिनि कर्तरि ताच्छील्ये=देवपादोपजीविनः, तेषाम्। उपपूर्वको जीव्धातुः सकर्मकः—'उपसर्गवशात् सकर्मकत्वम्'। प्रशंसावाची शब्द ये है—'मतल्लिकोद्यमिश्राः स्युः प्रकाण्डस्थलभित्तयः। हस्तपाशतटाः पादपालिमर्चचिकादयः॥' **चन्द्रगुप्तशरीरम्**—अत्र 'क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म' इति सूत्रेण कर्मसंज्ञा—द्वितीया। **कोषसञ्चयेन**=सञ्चितेन कोषेण। 'भावानयने द्रव्यानयनम्'। सहार्थे तृतीया। **प्रतिक्षणम्**—क्षणे क्षणे इति प्रतिक्षणम् यथार्थे (वीप्सार्थे) अव्ययीभावसमासः। 'योग्यतावीप्सापदार्थानतिवृत्तिसादृश्यानि यथार्थाः'। **अरातिवृत्तान्तोपलब्धये**—अत्र तादर्थ्ये चतुर्थी। **तत्संहतिभेदनाय**—अत्रापि तादर्थ्ये चतुर्थी। सम्√हन् (गतौ)+क्तिन् भावे=संहतिः। **जीवसिद्धिप्रभृतयः**—प्रथम अंक मे आ चुका है कि जीवसिद्धि चाणक्य का सहपाठी रह चुका है और इस समय उसी का गुप्तचर है, किन्तु राक्षस भ्रम में पडकर उसको अपना मित्र समझ रहा है।

तत् किमत्र बहुना ?—

इष्टात्मज सपदि सान्वय एव देव
शार्दूलपोतमिव य परिपोष्य नष्ट ।
तस्यैव बुद्धिविशिखेन भिनद्मि मर्म
वर्मीभवेद्यदि न देवमदृश्यमानम् ।।८।।

अन्वय —इष्टात्मज देव शार्दूलपोतमिव य परिपोष्य सान्वय एव सपदि नष्ट तस्य एव मर्म बुद्धिविशिखेन भिनद्मि यदि अदृश्यमान दव न वर्मीभवेत् ।। ८ ।।

व्याख्या—इष्टात्मज —इष्टा प्रिया आत्मजा पुत्रा यस्य तादृश , देव —नन्द , शार्दूलपोतमिव—व्याघ्रशावकमिव, य —चन्द्रगुप्त, परिपोष्य—परिपाल्य, सान्वय एव—सवश एव, सपदि—सद्य , नष्ट – मृत , तस्यैव—वृषलस्यैव, मर्म —जीवनस्थान, बुद्धिविशिखेन—बुद्धिरेव विशिख बाण तेन, भिनद्मि—विदारयामि, यदि—चेत् , अदृश्यमानम्—अनालक्ष्य, दैव—भाग्य, न वर्मीभवेत् —वर्मरूपतामापद्य त न रक्षेत् ।। ८ ।।

हिन्दी अनुवाद —इसलिए यहाँ बहुत कहने से क्या लाभ ?—

पुत्र-प्रेमी महाराज (नन्द) बाघ के बच्चे के समान जिस (चन्द्रगुप्त) को पाल-पोष कर शीघ्र ही वश सहित नष्ट हो गए, उसी के मर्म का मैं बुद्धिरूपी बाण से छिन्न-भिन्न कर दूगा यदि न दिखाई देने वाला भाग्य कवच बनकर (उसकी) रक्षा न कर ।।८।।

टिप्पणी—शार्दूलपोतम् इव—बाघ के बच्चे के समान । 'पोत पाकोऽर्भको डिम्भ पृथुक शावक शिशु ' इत्यमर । भिनद्मि—विदीर्ण कर दूगा । 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इति लट् । वर्मीभवेत्—कवच बनेगा । अवर्म वर्म सम्पद्यमान भवेत् इति अभूततद्भावे च्वि । इस पद्य मे पूर्णोपमा अलकार और परिणाम अलकार है । इसमे पाञ्चाली रीति है, ओज गुण है और वसन्ततिलका छन्द है । इस छन्द का लक्षण १,८ मे देखिये ।। ८ ।।

[तत प्रविशति कञ्चुकी ।]

कञ्चुकी—

कामं नन्दमिव प्रमथ्य जरया चाणक्यनीत्या यथा
धर्मो मौर्य इव क्रमेण नगरे नीत प्रतिष्ठा मयि ।

तं सम्प्रत्युपचीयमानमनु मे लब्धान्तरः सेवया
लोभो राक्षसवज्जयाय यतते जेतुं न शक्नोति च ॥९॥

अन्वयः—चाणक्यनीत्या यथा जरया नन्दमिव कामं प्रमथ्य नगरे मौर्ये इव मयि धर्मः क्रमेण प्रतिष्ठां नीतः । सम्प्रति सेवया लब्धान्तरो मे लोभः राक्षसवत् उपचीयमानं तम् अनु जयाय यतते च जेतुं न शक्नोति ॥ ९ ॥

व्याख्या—चाणक्यनीत्या—चाणक्यस्य कौटिल्यस्य नीत्या नयेन, यथा—इव, जरया—वार्द्धकेन, नन्दमिव—तदाख्यनृपमिव, कामं—भोगाभिलाषं, प्रमथ्य—सम्मर्द्य, नगरे—कुसुमपुरे, मौर्ये—वृषले, इव, धर्मः—सुकृतं, क्रमेण—आनुपूर्व्या, प्रतिष्ठां—स्थितिं, नीतः—आपादितः । सम्प्रति—अधुना, सेवया—(मलयकेतोः) शुश्रूषया, लब्धान्तरः—प्राप्तावसरः, मे—मम, लोभः—विषयाभिलाषः, राक्षसवत्—अमात्यराक्षस इव, उपचीयमानं—वर्द्धमान, तम्—धर्मम्, अनु—धर्ममभिलक्ष्य, जयाय—विजयाय, यतते—उद्युङ्क्ते, च—पुनः, जेतुं—विजेतुं, न शक्नोति—न समर्थो भवति ॥ ९ ॥

हिन्दी अनुवाद—[तब कंचुकी प्रवेश करता है ।]

कंचुकी—चाणक्य की नीति की तरह बुढ़ापे ने नन्द की तरह काम (भोग-लिप्सा) को नष्ट करके नगर (कुसुमपुर) मे चन्दगुप्त की तरह मुझमे धर्म को क्रमशः प्रतिष्ठित कर दिया । इस समय (मलयकेतु की) सेवा के कारण अवसर पाकर मेरा लोभ राक्षस की तरह बढते हुए उस धर्म (पक्षान्तर में चन्द्रगुप्त) को लक्ष्य करके जीतने के लिए यत्न करता है किन्तु जीतने में समर्थ नही हो पाता है ॥ ९ ॥

टिप्पणी—कञ्चुकी—रनिवास का रक्षक, अन्तःपुराध्यक्ष । इसका लक्षण यह है—'अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः । सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते ।' यह कंचुकी मलयकेतु का है । जरया—जरसा । 'जराया जरसन्यतरस्याम्' सूत्र से जरस् आदेश के विकल्प से होने के कारण पक्ष मे 'जरया' यह भी रूप होता है । प्रमथ्य—विनष्ट करके । प्र √ मन्थ् + क्त्वा—ल्यप् । **क्रमेण**—अत्र 'प्रकृत्यादिभ्य उपसख्यानम्' इत्यनेन तृतीया । प्रतिष्ठाम्—स्थिति को । प्रति √ स्था + अङ् भावे = प्रतिष्ठा, ताम् । तम् अनु—यहाँ 'अनु' को 'लक्षणेत्थम्भूत'—सूत्र से कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होने के कारण उसके

योग मे 'तम्' मे द्वितीया हुई। जयाय—अत्र 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' इति सूत्रेण चतुर्थी। इन श्लोक मे 'जग' से 'चाणक्यनीति' की, 'लोभ' से 'राक्षस' की, 'काम' से 'नन्द' की, 'नगर' से 'मौर्य' की और 'धर्म' से 'चन्द्रगुप्त' की तुलना की गई है। 'उपचीयमानम्' का सम्बन्ध 'धर्म' और चन्द्रगुप्त दोनो से है। इसमे उपमा और समासोक्ति अलकार है। यहाँ वैदर्भी रीति, प्रसाद गुण और शार्दूलविक्रीडित छन्द है। इस छन्द का लक्षण १, १२ मे देखिए॥ ६॥

[दृष्ट्वा] अयममात्यराक्षस । [परिक्रम्योपसृत्य च] इदममात्यराक्षसस्य गृहम्। प्रविशामि । [प्रविश्यावलोक्य च] अमात्य ! स्वस्ति भवते।

राक्षस —आर्य जाजले ! अभिवादये। प्रियवदक ! आसनम् अत्रभवत उपनय।

पुरुष —एद आसणम्। उपविसदु अज्जो। (इदमासनम्। उपविशत्वार्य।)

कञ्चुकी—[उपविश्य] अमात्य ! कुमारो मलयकेतुरमात्य विज्ञापयति—'चिरात्प्रभृत्यार्य परित्यक्तोचितशरीरसंस्कार इति पीड्यते मे हृदयम्। यद्यपि सहसा स्वामिगुणा न शक्यन्ते विस्मर्तुं तथापि मद्विज्ञापना मानयितुमर्हत्यार्य [इत्याभरणानि प्रदर्श्य] अमात्य ! इमान्याभरणानि कुमारेण स्वशरीरादवताय प्रेषितानि, धारयितुमर्हत्यार्य।

राक्षस —आर्य ! जाजले ! विज्ञाप्यता मद्वचनात् कुमार । विस्मृता मया स्वामिगुणा भवद्गुणपक्षपातेन। किन्तु—

हिन्दी अनुवाद—[देखकर] य ता मन्त्री राक्षस है। [घूमकर और समीप जाकर] यह अमात्य राक्षस का घर है। प्रवेश करता हूँ। [प्रवेश करके और देखकर] आपका कल्याण हो।

राक्षस—आर्य जाजले ! अभिवादन करता हूँ। प्रियवदक ! पूज्य (जाजलि) के लिए आसन लाओ।

पुरुष—यह आसन है आर्य बैठे।

कञ्चुकी—[बैठकर] अमात्य ! कुमार मलयकेतु अमात्य से निवेदन कर रहे हैं कि आर्य ने बहुत दिनों से शरीरोचित संस्कार (साज-सज्जा)

करना छोड़ दिया है, इससे मेरा हृदय दुःखी है। यद्यपि स्वामी (नन्द) के गुण एकाएक भुलाये नहीं जा सकते है तो भी मेरा निवेदन आर्य मान लें। [**आभूषणों को दिखाकर**] अमात्य ! इन आभूषणो को कुमार ने अपने शरीर से उतार कर भेजा है, आर्य धारण करें।

राक्षस—आर्य जाजले ! मेरी ओर से कुमार से निवेदन कर दीजिएगा कि आपके गुणों के प्रति पक्षपात के कारण मैने स्वामी (नन्द) के गुणों को भुला दिया है। किन्तु—

टिप्पणी—उपसृत्य—समीपम् एत्य। भवते—अत्र 'नमःस्वस्तिस्वाहा'—इति सूत्रेण स्वस्तियोगे चतुर्थी। चिरात्प्रभृति—बहुदिवसतः। परित्यक्तोचित-शरीरसंस्कारः—जिसने शरीर का उचित संस्कार करना छोड दिया हो। सम् √कृ+घञ् करणे भावे वा, 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' इत्यनेन सुडागमः= संस्कारः। परित्यक्तः अगृहीतः उचितः योग्यः शरीरसस्कारः देहस्य नैर्मल्यं येन स परित्यक्तोचितशरीरसंस्कारः। पीड्यते—इति हेतोः पीड्यते, कर्मकर्तरि लट् अथवा इति अनेन पीड्यते, कर्मणि लट्। विज्ञापनाम्—प्रार्थनाम्। मानयि-तुम्—स्वीकर्तुम्। जाजले—जाजलिन् नाम के एक ऋषि थे। उनके गोत्रापत्य जाजलि कहलाते है। जाजलिनः अपत्यं पुमान् इति जाजलिन्+अण्, 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः=जाजलः। तस्य गोत्रापत्य पुमान् इति जाजल+ इञ्=जाजलिः। तत्सम्बोधने हे जाजले इति। स्वामिगुणाः—स्वामिनो राज्ञो नन्दस्य गुणाः दयादाक्षिण्यप्रभृतयः। भवद्गुणपक्षपातेन—भवतो गुणाः, तेषु पक्षपातः=आसक्तिः, तेन। हेतौ तृतीया।

न तावन्निर्वीर्यैः परपरिभवाक्रान्तिकृपणै-
र्वहाम्यङ्गैरेभिः प्रतनुमपि संस्काररचनाम्।
न यावन्निःशेषक्षपितरिपुचक्रस्य निहितं
सुगाङ्गे हेमाङ्कं नृवर तव सिंहासनमिदम् ॥१०॥

अन्वयः—नृवर! यावत् निःशेषक्षपितरिपुचक्रस्य तव हेमाङ्कम् इदं सिंहासनं सुगाङ्गे न निहितं तावत् परपरिभवाक्रान्तिकृपणैः निर्वीर्यैः एभिः अङ्गैः प्रतनुमपि संस्काररचनां न वहामि ॥ १० ॥

व्याख्या—नृवर—नरोत्तम ! यावत्, यदवधि, निःशेषक्षपितरिपुचक्रस्य—

नि·शेष समग्र यथा स्यात् तथा क्षपित नाशित रिपुचक्रम् अरिमण्डल यस्य तस्य, तव—ते, हेमाङ्क—सुवर्णलाञ्छितम्, इद—बुद्धिस्थ, सिंहासन—भद्रासन, सुगाङ्गे—तदाख्ये कुसुमपुरप्रासादे, न निहित—न स्थापित (भवेत्), तावत्—तदवधि, परपरिभवाक्रान्तिकृपणै—परेभ्य शत्रुभ्य य परिभव तिरस्क्रिया तस्य आक्रान्त्या आरोपेण हेतुना कृपणै दीनै, (अतएव) निर्वीर्यै—पराक्रमरहितै, एभि—मदीयै, अङ्गै—अवयवै, प्रतनुमपि—स्वल्पामपि, सत्कार-रचना—भूषणविन्यास, न वहामि—न धारयामि ॥ १० ॥

हिन्दी अनुवाद—हे नरेन्द्र ! जब तक नि शेष रूप से नष्ट किये गये शत्रु-समूह वाले आपका यह स्वर्णाङ्कित सिंहासन सुगाग नामक राजभवन में स्थापित नही कर दिया जाता तब तक शत्रुजन्य तिरस्कार के आघात से दीन एव दुर्बल (अपने) इन अगो में थोडी भी साज-सज्जा धारण नहीं करूँगा ॥ १० ॥

टिप्पणी—नृवर !—हे मनुष्यो मे श्रेष्ठ ! नृणा वर नृवर षष्ठीतत्०, तत्सम्बोधन हे नृवर इति । कृपणै —दीन । 'कदर्ये कृपणक्षुद्रकिम्पचानमित-म्पचा । नि स्वस्तु दुर्विधो दीनो दरिद्रो दुर्गतोऽपि स ' इत्यमर । निर्वीर्यै—अशक्त, निस्तेज । निर्गत वीर्यम् एभ्य इति निर्वीर्याणि, तै । यह 'अङ्गै' का विशेषण है । नि शेष—निर्गत शेषो यस्मिन् तत् यथा स्यात् तथा । यह क्षपण क्रिया का विशेषण है । इस श्लोक मे परिकर अलकार हैं, ओज गुण है, पाञ्चाली रीति है और शिखरिणी छन्द है । इस छन्द का लक्षण १, १३ मे देखिए ॥ १० ॥

कञ्चुकी—अमात्य ! त्वयि नेतरि सुलभमेतत् कुमारस्य । तत् प्रति-मान्यता कुमारस्य प्रथम प्रणय ।

राक्षस—आर्य ! कुमार इवानतिक्रमणीयवचनो भवानपि । तद-नुष्ठीयते कुमारस्याज्ञा ।

कञ्चुकी—[नाट्येन भूषणानि परिधाप्य] स्वस्ति भवते । साधयाम्यहम् ।

राक्षस—आर्य ! अभिवादये । [कञ्चुकी निष्क्रान्त ।] प्रियवदक ! ज्ञायता कोऽप्यमस्मद्दर्शनार्थी द्वारि तिष्ठति ।

प्रियवदक—ज अज्जो आणवेदि त्ति । [परिक्रम्याहितुण्डिक दृष्ट्वा] ण

अज्ज ! को तुमं ? (यदार्य आज्ञापयतीति । ननु आर्य ! कस्त्वम्) ?

आहितुण्डिकः—भद्द ! अहं क्खु आहितुण्डिओ जिण्णविसो णाम । इच्छामि अमच्चरक्खसस्स पुरदो सप्पेहि खेलिदुं । (भद्र ! अहं खल्वाहितुण्डिको जीर्णविषो नाम । इच्छाम्यमात्यराक्षसस्य पुरतः सर्पैः खेलितुम् ।)

प्रियंवदकः—चिट्ठ, जाव अमच्चस्स णिवेदेमि । [राक्षसमुपसृत्य] अज्ज एसो क्खु सप्पोवजीवी इच्छदि सप्पेहिं अमच्चस्स पुरदो खेलिदुं । (तिष्ठ, यावदमात्यस्य निवेदयामि । आर्य ! एष खलु सर्पोपजीवी इच्छति सर्पैरमात्यस्य पुरतः खेलितुम् ।)

हिन्दी अनुवाद—कंचुकी—अमात्य ! आपके नेतृत्व में कुमार (मलयकेतु) के लिए यह सुलभ है । इसलिए कुमार का यह पहला स्नेह (-सिक्त उपहार,) स्वीकार कीजिए ।

राक्षस—आर्य ! कुमार के समान आपकी भी आज्ञा टालने योग्य नही है । इसलिए कुमार की आज्ञा मान लेता हूँ ।

कंचुकी—[अभिनय के साथ आभूषणों को पहना कर] आपका कल्याण हो । मैं जाता हूँ ।

रासक्ष—आर्य ! अभिवादन करता हूँ [कंचुकी चला जाता है ।] प्रियंवदक ! पता करो, यह कौन मुझ से मिलने के लिए द्वार पर खडा है ।

प्रियंवदक—आर्य की जो आज्ञा । [घूमकर और सँपेरे को देखकर] आर्य आप कौन है ?

आहितुण्डिक—भद्र ! मै जीर्णविप नाम का सँपेरा हूँ । अमात्य राक्षस के आगे साँपों से खेलना चाहता हूँ ।

प्रियंवदक—ठहरो, जवतक मै अमात्य से निवेदन करता हूँ । [राक्षस के पास जाकर] आर्य ! यह सँपेरा अमात्य के सामने साँपों से खेलना चाहता है ।

टिप्पणी—त्वयि नेतरि—अत्र 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' इति सूत्रेण सप्तमी । प्रतिमान्यताम्—स्वीक्रियताम् । प्रणयः—प्रार्थना अथवा लाक्षणिक अर्थ—प्रेमोपहार । प्रकर्षेण नीयते अनेन इति प्र√नी+अच् करणे=प्रणयः । यह 'प्रतिमान्यताम्' का उक्त कर्म है । अनतिक्रमणीयवचनः

—जिसका वचन उल्लंघनीय न हो। अनतिक्रमणीय वचन यस्य तादृश। परिधाप्य—पहनाकर। परि√धा+णिच्, पुक्+क्त्वा—ल्यप्। स्वस्ति भवते—अत्र 'नमः स्वस्ति'—इत्यादिसूत्रेण चतुर्थी। साधयामि—गच्छामि। नाटक में प्रायः साध् धातु का प्रयोग प्रायः गमन के अर्थ में किया जाता है—'प्रायेण ण्यन्तकः साधिर्गमे स्थाने प्रयुज्यते' दर्पण। अस्मद्दर्शनार्थी—अस्माकं दर्शनम् अस्मद्दर्शनम्, तत् अर्थयते याचते इति अस्मद्दर्शन√अर्थ्+णिनि साधुकारिणि कर्तरि। सर्पोपजीवी—सापों से जीविका चलाने वाला, सँपेरा। सर्पं उपजीवति इति सर्प-उप√जीव्+णिनि साधुकारिणि कर्तरि।

राक्षस—[वामाक्षिस्पन्दनं सूचयित्वा आत्मगतम्] कथं प्रथममेव सर्पदर्शनम्! [प्रकाशम्] प्रियंवदक! न नः कुतूहलमस्ति सर्पदर्शने। तत् परितोष्य विसर्जयैनम्।

प्रियंवदक—जं अज्जो आणवेदि। [परिक्रम्याहितुण्डिकमुपसृत्य] भद्द! एसो क्खु दे अमच्चो अदंसणेण प्पसादं करेदि। ण उण दंसणेण। (यदार्य आज्ञापयति। भद्र! एष खलु ते अमात्योऽदर्शनेन प्रसादं करोति न पुनर्दर्शनेन।)

आहितुण्डिक—भद्द। विण्णवेहि मम वअणेण अमच्चं—'ण केवलं अहं सप्पोवजीवी, पाउअकवी क्खु अहं, ता जइ मे दंसणेण अमच्चो प्पसादं ण करेदि, ता एदं पि पत्तअं वाचेदु प्पसीददु' त्ति। [पत्रमर्पयति] (भद्र! विज्ञापय मम वचनेनामात्यं—'न केवलमहं सर्पोपजीवी, प्राकृतकविः खल्वहं, तस्माद् यदि मे दर्शनेनामात्यः प्रसादं न करोति, तदा एतदपि पत्रकं वाचयितुं प्रसीदतु' इति।)

प्रियंवदक—[पत्रं गृहीत्वा राक्षसमुपसृत्य] अमच्च! एसो क्खु आहितुण्डिओ विण्णवेदि—'ण केवलं अहं सप्पोवजीवी, पाउअकवी क्खु अहं, ता जइ मे दंसणेण अमच्चो प्पसादं ण करेदि, ता एदं पि पत्तअं वाचेदुं प्पसीददु' त्ति। (अमात्य! एष खलु आहितुण्डिको विज्ञापयति—'न केवलमहं सर्पोपजीवी, प्राकृतकविः खल्वहं, तस्माद् यदि मे दर्शनेनामात्यः प्रसादं न करोति, तदा एतदपि पत्रकं वाचयितुं प्रसीदतु' इति।)

व्याख्या—वामाक्षिस्पन्दनं—वामस्य दक्षिणेतरस्य अक्ष्णः नेत्रस्य स्पन्दनम्

ईषत्कम्पनं, सूचयित्वा—अभिनयं कृत्वा। कथं—कुतः, प्रथमम् एव—पूर्वमेव, सर्प-दर्शनम्—सर्पस्य अहेः दर्शनम् अवलोकनम्। नः—अस्माकं, सर्पदर्शने—भुजङ्गमाव-लोकने, कुतूहलम्—कौतुकं, नास्ति—न विद्यते। तत्—तस्मात्, एनम्—आहि-तुण्डिकम्, परितोष्य—सन्तुष्टं कृत्वा, विसर्जय—इतो गन्तुं प्रेरय। अमात्यः—राक्षसः, अदर्शनेन—अवलोकनमन्तरैव, प्रसादम्—अनुग्रहम् उपहारमिति यावत्, करोति—विदधाति ददाति इति यावत्, न पुनः दर्शनेन—सर्पक्रीडामवलोक्ये-त्यर्थः। भद्र—कल्याणयुक्त !, मम वचनेन—मत्कथनेन, अमात्यं, विज्ञापय—निवेदय, अहं, केवलं, सर्पोपजीवी—अहिखेलनवृत्तिः, न—नहि, (किन्तु) अहं, प्राकृतकविः—प्राकृतभाषाकाव्यरचयिता (अस्मि), तस्मात्—तत्, यदि, मे—मम, दर्शनेन—सर्पक्रीडावलोकनेन, अमात्यः, प्रसादं न करोति, तदा—तर्हि, एतत्, पत्रकमपि, वाचयितुं—पठितुं, प्रसीदतु—प्रसन्नो भवतु। पत्रम्—आहि-तुण्डिकदत्तं दलं, गृहीत्वा—आदाय, राक्षसम्, उपसृत्य, उपेत्य आहेति शेषः। आहितुण्डिकः—व्यालग्राही, विज्ञापयति—निवेदयति—न केवलमहं……।

हिन्दी अनुवाद—राक्षस—[**बाई आँख का फड़कना सूचित करके मन में**] कैसे पहले ही साँप का दर्शन हुआ [**प्रकट**] प्रियंवदक ! हमे साँप (के खेल) देखने की उत्कंठा नही है। इसलिए इसे सन्तुष्ट करके विदा कर दो।

प्रियंवदक—जो आर्य की आज्ञा। [**घूमकर और सँपेरे के पास जाकर**] भद्र! ये मंत्री जी बिना (सर्प-क्रीडा) दिखाये तुम पर प्रसन्न है, दिखाने से नही।

सँपेरा—भद्र ! मेरी ओर से मंत्री जी से निवेदन कर दो कि मै केवल सँपेरा (ही) नही हूँ, प्राकृत भाषा का कवि भी हूँ। इसलिए यदि मंत्री जी मुझे दर्शन से कृतार्थ नही करते है तो (कम से कम) यह पत्र पढ़ने की कृपा करे।

प्रियंवदक—[**पत्र लेकर राक्षस के पास पहुँचकर**] अमात्य। यह सँपेरा निवेदन कर रहा है कि मै केवल सर्पजीवी (सँपेरा) नही हूँ, प्राकृत का कवि भी हूँ। इसलिये यदि अमात्य मुझे दर्शन देने की कृपा नहीं करते है तो यह पत्र ही बाँच कर अनुगृहीत करें।

टिप्पणी—वामाक्षिस्पन्दनम्—बाईं आँख का फड़कना। यह पुरुषों के लिये अशुभसूचक है, जब कि दाईं **आँख** का फड़कना शुभसूचक है। इसके विप-रीत स्त्रियों के लिये बाईं आँख का फड़कना शुभ होता है और दाईं का अशुभ।

प्रथममेव—इससे मालूम पडता है कि वह समय प्रात काल का था। सवेरे सांप देखने से असगुन होता है। इसलिये राक्षस उसे हटाने को कहता है। परितोष्य—सतुष्ट करके। परि√तुष्+णिच्+क्त्वा—ल्यप्। प्रसाद करोति—प्रसन्नता प्रकट करते हैं, इनाम देते हैं। प्राकृतकवि —काव्यादश के अनुसार सस्कृत से निकली हुई अनेक भाषाओं का नाम सामान्यतया प्राकृत है। प्राकृतषु कवि प्राकृतकवि सुप्सुपा स०।

राक्षस —[पत्र गृहीत्वा वाचयति।]

पाऊण णिरवसेस कुसुमरस अत्तणो कुसलदाए।
ज उग्गिरेइ भमरो त अण्णाण कुणइ कज्ज ॥ ११ ॥

(पीत्वा निरवशेष कुसुमरसमात्मन कुशलतया।
यदुद्गिरति भ्रमरस्तदन्येषा करोति कार्यम् ॥)

अन्वय —आत्मन कुशलतया निरवशेष कुसुमरस पीत्वा भ्रमर यद् उद्गिरति तत् अन्येषा कार्यं करोति ॥ ११ ॥

व्याख्या—आत्मन —स्वस्य, कुशलतया—नपुण्येन, निरवशेष—समग्र, कुसुमरस—कुसुमस्य पुष्पस्य रस मधु (पक्षान्तरे कुसुमस्य कुसुमपुरस्य रस वृत्त), पीत्वा—सगीय (पक्षान्तरे ज्ञात्वा), भ्रमर —मधुकर (पक्षान्तरे चर) यत्—मधु (पक्षान्तरे वृत्तम्), उद्गिरति—वहिर्नि सारयति (पक्षान्तरे कथयति), तत्—मधु (पक्षान्तरे वृत्तम्), अन्येषा—मनुष्याणा (पक्षान्तरे चरनियोक्तृणा, कार्यं—कृत्य, करोति—साधयति ॥ ११ ॥

हिन्दी अनुवाद—राक्षस—[पत्र लेकर बाचता है।]

अपनी निपुणता से सम्पूर्ण पुष्प-रस का पान करके (पक्षान्तर मे कुसुमपुर का समाचार जानकर) भौंरा (पक्षान्तर म गुप्तचर) जो उगिलता है (पक्षान्तर मे कहता है), वह (मधु पक्षान्तर मे कथन) दूसरो का कार्य सिद्ध करता है ॥ ११ ॥

टिप्पणी—निरवशेषम्—नि नास्ति अवशेषो यत्र तत् निरवशेषम् तत् यथा तथा। यह 'पीत्वा' क्रिया का विशेषण है। भ्रमर —भौरा। भ्रमर इव आचरति इति भ्रमरति। तत पचाद्यचि=भ्रमर भ्रमरसदृशाचरणकर्ता गुप्तचर।

इस पद्य में अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है, वैदर्भी रीति है, प्रसाद गुण है और आर्या छन्द है। आर्या का लक्षण १,५ में देखिए ॥ ११ ॥

राक्षसः—[आत्मगतम्] अये ! कुसुमपुरवृत्तान्तज्ञः अहं भवत्प्रणिधिश्चेति गाथार्थः। आः कार्यव्यग्रत्वात् मनसः प्रभूतत्वाच्च प्रणिधीनां विस्मृतम्, इदानीं स्मृतिरुपलब्धा। व्यक्तम् आहितुण्डिकच्छद्मना कुसुमपुरादागतेन विराधगुप्तेनानेन भवितव्यम्। [प्रकाशम्] प्रियंवदक ! प्रवेशय एनं, सुकविः एषः श्रोतव्यमस्मात् सुभाषितम्।

प्रियंवदकः—जं अज्जो आणवेदि त्ति। [आहितुण्डिकमुपसृत्य] उपसप्पदु अज्जो। (यदार्य आज्ञापयतीति। उपसर्पत्वार्यः)।

आहितुण्डिकः—[नाट्येनोपसृत्यावलोक्य च संस्कृतमाश्रित्य स्वगतम्।] अये ! अयममात्यराक्षसस्तिष्ठति। स एषः—

वामां वाहुलतां निवेश्य शिथिलं कण्ठे निवृत्तानना
स्कन्धे दक्षिणया बलान्निहितयाप्यङ्के पतन्त्या मुहुः।
गाढालिङ्गनसङ्गपीडितमुखं यस्योद्यमाशङ्किनी
मौर्यस्योरसि नाधुनाऽपि कुरुते वामेतरं श्रीः स्तनम् ॥ १२ ॥

व्याख्या—कुसुमपुरवृत्तान्तज्ञः—पाटलिपुत्रवृत्तान्तज्ञाता, अहं, भवत्प्रणिधिः—भवतः तव प्रणिधिः दूतः, इति, गाथार्थः—गाथायाः आर्याछन्दसा परिणद्धाया गीतिकाया अर्थः तात्पर्यम्। मनसः—चित्तस्य, कार्यव्यग्रत्वात्—कार्येषु कृत्येषु व्यग्रः आकुलः तस्य भावः तस्मात्, प्रणिधीना—चराणां, प्रभूतत्वाच्च—आधिक्याच्च, विस्मृतम्। इदानीम्—अधुना, स्मृतिः—स्मरणम्, उपलब्धा—प्राप्ता। व्यक्तम्—स्पष्टम्, आहितुण्डिकच्छद्मना—व्यालोपजीविमिषेण, विराधगुप्तेन, अनेन—चरेण, भवितव्यम्—भाव्यम्। एषः, सुकविः—सुपण्डितः, अस्मात्—सुकवेः, सुभाषितं—सुवाक्यं, श्रोतव्यम्—आकर्णनीयम्।

अन्वयः—यस्य उद्यमाशङ्किनी श्रीः वामां वाहुलतां कण्ठे शिथिलं निवेश्य निवृत्तानना बलात् स्कन्धे निहितया अपि मुहुः अङ्के पतन्त्या दक्षिणया गाढालिङ्गनसङ्गपीडितमुखं वामेतरं स्तनम् अधुनापि मौर्यस्य उरसि न कुरुते ॥ १२॥

व्याख्या—यस्य—राक्षसस्य, उद्यमाशङ्किनी—उद्योगभीता, (सती),

व्याख्या—शरासनधरै —धनुर्धरै , प्राकार—प्राचीर, परित —समन्तात्, क्षिप्र—शीघ्र , परिक्रम्यताम् । प्रतिद्विपघटाभेदक्षमै —प्रतिपक्षा ये द्विपा गजा तेषा घटाया सघातस्य भेदे विघटने क्षमै समर्थै , द्विरदै —हस्तिभि , द्वारेषु—तोरणेषु, स्थीयताम् । येषाम्—अस्मद्वीराणा, यश —कीर्ति , अभीप्टम्—अभीप्सितम्, ते, मृत्युभय—मरणभीति, त्यक्त्वा—मुक्त्वा, दुर्बले—हीनबले, शत्रोर्बले—रिपो सैन्ये, एकमनस —एकचित्ता (भूत्वा),प्रहर्तुमनस —जिघा-सव (सन्त), मया—राक्षसेन, सह—सार्घ, निर्यान्तु—वहिरागच्छन्तु ॥१३॥

हिन्दी अनुवाद—राक्षस—[शस्त्र (तलवार) खींचकर हडवडी के साथ] मेरे रहते कौन कुसुमपुर को घेरेगा ? प्रवीरक ! प्रवीरक ! अभी तुरन्त—

धनुर्धर (सैनिक) परकोट की चारो ओर शीघ्र चक्कर लगावे, शत्रुओ के हाथियो के समूह को तितर-बितर करने मे समर्थ हाथी द्वारो पर खडे हो जायँ । जिन्हे यश की चाह है, वे मरने का भय त्यागकर दुर्बल शत्रु-सेना पर एक मन से प्रहार करने की इच्छा वाले होकर मेरे साथ बाहर निकल आवे ॥१३॥

टिप्पणी—उपरोत्स्यति—घेरेगा । उप√रुध्+लृट्—स्यति । अत्र 'अनवक्लृप्त्यमर्षयोरकिंवृत्तेऽपि' इति सूत्रेण भूते लृट् । प्रवीरक—यह राक्षस के तत्कालीन अनुचर का नाम है । शरासनधरै —धनुर्धारी योद्धा । शरा अस्यन्ते क्षिप्यन्ते यै तानि शरासनानि शर√अस्+ल्युट् करणे ।धरन्तीति धरा √धृ+अच्, शरासनना धरा शरासनधरा , तै अनुक्ते कर्तरि तृतीया । प्राकारम्—चहारदीवारी । प्रक्रियते इति प्र√कृ+घञ् कर्मणि, उपसर्गस्य दीर्घ =प्राकार , तम् । यहाँ 'परित ' के योग मे द्वितीया हुई । प्रतिद्विपघटाभेदक्षमे —प्रतिद्वन्द्वी हाथियो केसमूह को छिन्न-भिन्नकरने मे समर्थ। घटनम् इति√घट्+अङ् भावे= घटा । 'घटा घटनगोष्ठीभघटनासु च योषिति' इति मेदिनी । येषाम्अभीप्टम्—अभि√इष्+क्त कर्मणि वर्तमाने 'मतिवुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' इत्यनेन । येषाम् इत्यत्र 'क्तस्य च वर्तमाने' इति सूत्रेण षष्ठी ।दुर्बले—दु स्थितानि बलानि अस्य इति दुर्बलम्, तस्मिन्।एकमनस —अभिन्नहृदय।प्रहर्तुमनस —प्रहार करने की इच्छा रखने वाले। प्रहर्तुम् मन एषाम् इति प्रहर्तुमनस 'तुम्काममनसोरपि' इति मकारलोप । इस पद्य मे स्वभावोक्ति अलकार और काव्यलिंग अलकार की ससृष्टि है । इसमे वीर

रस है, स्थायी भाव है, गौडी रीति है, ओज गुण है और शार्दूलविक्रीडित छन्द है। इस छन्द का लक्षण १, १२ में देखिए ॥१३॥

विराधगुप्तः—अमात्य ! अलमावेगेन। वृत्तमिदं वर्ण्यते।

राक्षसः—[निःश्वस्य] कष्टं वृत्तमिदम्। मया पुनर्ज्ञातं स एव कालो वर्तते इति। [शस्त्रमुत्सृज्य सास्रम्] हा देव नन्द ! स्मरामि ते राक्षसम्प्रति प्रसादातिशयम्। यस्तु एवंविधकाले—

यत्रैषा मेघनीला चरति गजघटा राक्षसस्तत्र याया-
देतत् पारिप्लवाम्भःप्लुति तुरगबलं वार्यतां राक्षसेन।
पत्तीनां राक्षसोऽन्तं नयतु बलमिति प्रेषयन्मह्यमाज्ञा-
मज्ञासीः स्नेहयोगात् स्थितमिव नगरे राक्षसानां सहस्रम् ॥१४॥

अन्वयः—यत्र एषा मेघनीला गजघटा चरति तत्र राक्षसः यायात्, पारिप्लवाम्भःप्लुति एतत् तुरगबलं राक्षसेन वार्यताम्, पत्तीनां बलं राक्षसः अन्तं नयतु इति मह्यम्, आज्ञां स्नेह-योगात् नगरे राक्षसानां सहस्रम् इव स्थितम् अज्ञासीः ॥१४॥

व्याख्या—यत्र—यस्मिन् समरमुखे, एषा—बुद्धिस्था, मेघनीला—अभ्रश्यामा, गजघटा—करिसंहतिः, चरति—संग्रामार्थं भ्रमति, तत्र—रणप्रदेशे, राक्षसः—नन्दामात्यः, यायात्—गच्छेत्, पारिप्लवाम्भःप्लुति—पारिप्लवं चञ्चलम् द्रुतं प्रसरत् इति यावत् यत् अम्भः जलं तस्य प्लुतिः उत्प्लवनमिव प्लुतिः यस्य तादृशम्, एतत्—दृश्यमान, तुरगबलम्—अश्वसैन्यं, राक्षसेन, वार्यताम्—निवर्त्यताम्, पत्तीनां—पदातीनां, बलं—सैन्यं पराक्रम वा, राक्षसः, अन्त—नाशं, नयतु—प्रापयतु, इति—इत्थम्, मह्यम्—मां प्रति, आज्ञा—नियोग, प्रेषयन्—प्रेरयन् कुर्वन्निति यावत्, स्नेहयोगात्—प्रीतिसम्पर्कात्, नगरे—कुसुमपुरे, राक्षसानां सहस्रम् इव, स्थितम्—युद्धाय सन्नद्धम्, अज्ञासीः—अमंस्थाः ॥ १४ ॥

हिन्दी अनुवाद—विराधगुप्त—अमात्य ! आवेग मे न आइए। यह तो समाचार का वर्णन किया जा रहा है।

राक्षस—[आह खींचकर] यह समाचार कष्टदायक है। मैंने तो समझा कि वही समय है। [**हथियार छोड़कर आँसू के साथ**] हा महाराज नन्द ! मैं

आपकी राक्षस के प्रति अत्यन्त कृपा का स्मरण करता हूँ। जो (आप) ऐसे समय मे—

जहाँ (समरागण मे) ऐसी बादल-सी नील वर्ण वाली गज-पक्ति घूम रही है, वहाँ (उसको विनष्ट करने के लिए) राक्षस जावे, तेजी से बहते हुए जल की गति के समान गतिवाली अश्व-सेना को राक्षस रोके और पैदलो की सेना को राक्षस विनष्ट करे—इस प्रकार मुझे आज्ञा देते हुए प्रीति के कारण नगर मे हजारो राक्षसो के समान स्थित (मुझ) मानते थे ॥१४॥

टिप्पणी—आवेगेन—क्रोधेन । अल—पर्याप्तम् । सास्रम्—अश्रुपूर्णनेत्र यथा स्यात् तथा । क्रियाविशेषणत्वात् द्वितीया नपुसकत्व च । प्रमादातिशयम्—प्रसादस्य प्रसन्नताया अतिशयम् आधिक्यम् । मेघनीला—मेघ इव नीला 'उपमानानि सामान्यवचनै' इत्यनेन उपमितसमास । गजघटा—दे० श्लोक १३ की टिप्पणी । पत्तीनाम्—पैदलो । पद्यन्ते इति √पद्+क्तिच् वा औणादिक क्ति कर्तरि=पत्तय , तेषाम् । 'पदातिपत्तिपदगपादातिकपदाजय' इत्यमर । मह्यम्—अत्र 'क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्' इत्यनेन सम्प्रदानसज्ञा—चतुर्थी । इस पद्य मे लुप्तोपमा अलकार वाच्योत्प्रेक्षा अलकार के साथ ससृष्ट है । इसमे ओज गुण है, लाटी रीति है और स्रग्धरा छन्द है । इस छन्द का लक्षण ?, ? मे देखिए ॥१४॥

ततस्तत ?

विराधगुप्त —तत समन्तादुपरुद्ध पुष्पपुरमवलोक्य, बहुदिवसप्रभृति महदुपरोधवैशसमुपरि पौराणा परिवर्तमानमसहमाने, तस्यामप्यवस्थाया पौरजनापेक्षया सुरङ्गामेत्यापक्रान्ते तपोवनाय देवे सर्वार्थसिद्धौ, स्वामिविरहात् सुशिथिलीकृतप्रयत्नेषु युष्मद्बलेषु, जयघोषणाव्याघातादिसाहसानुमितान्तर्नगवासिषु, पुनरपि नन्दराज्यप्रत्यानयनाय सुरङ्गया बहिरपगतेषु युष्मासु चन्द्रगुप्तनिधनाय युष्मत्प्रयुक्तया विषकन्यया घातिते तपस्विनि पर्वतेश्वरे—

व्याख्या—तत —तदनन्तर, समन्तात्—चतुर्दिक्षु, उपरुद्ध—सैन्याक्रान्त, कुसुमपुरम्, अवलोक्य—दृष्ट्वा, बहुदिवसप्रभृति—अनेकवासरान् यावत्, पौराणा—नागरिकाणाम्, उपरि, महत्—बहुलम्, परिवर्तमान—प्रतिदिनवृत-

नम्, उपरोधवैशसम्—उपरोधेन अवरोधेन वैशसम् अत्याचाररूपघातुककर्म, असहमाने—अमृष्यमाणे, तस्यामप्यवस्थायाम्—असहमान-दशायामपि, पौर-जनापेक्षया—पौरजनेषु या अपेक्षा आदरः तया, सुरङ्गाम्—कञ्चित् बिलमार्गम्, एत्य—प्राप्य, तपोवनाय—तपोवनं गन्तुं, देवे—राज्ञि, सर्वार्थसिद्धौ, अपक्रान्ते—अपसृते (सति), स्वामिविरहात्—प्रभुविच्छेदात्, सुशिथिलीकृतप्रयत्नेषु—मन्दीकृतोद्योगेषु, युष्मद्बलेषु—भवत्सैन्येषु, जयघोषणाव्याघातादिसाहसानुमितान्तर्नगरवासिषु—जयस्य घोषणा डिण्डिमाघातपूर्वकविज्ञापनम् तस्या व्याघातः अकरणम् स आदिर्येषां तैः साहसैः साहसिककार्यैरित्यर्थः अनुमितेषु नन्दानुरक्ता एते इति ज्ञातेषु (सत्सु) अन्तर्नगरवासिषु—पुराभ्यन्तरवासिषु, पुनरपि—भूयोऽपि, नन्दराज्यप्रत्यानयनाय—नन्दभूपराज्यायत्तीकरणाय, सुरङ्गया—गुप्तमार्गेण, वहिरपगतेषु—बाह्यप्रदेश गच्छत्सु, युष्मासु—भवत्सु, चन्द्रगुप्त-निधनाय—वृपलनाशाय, युष्मत्प्रयुक्तया—भवत्प्रेरितया, विषकन्यया—विषाक्तबालया, तपस्विनि—वराके निरपराधे इत्यर्थः, पर्वतेश्वरे, घातिते—विनाशिते (सति),—

हिन्दी अनुवाद—तब तब ?

विराधगुप्त—तब चारो ओर से कुसुमपुर को घिरा हुआ देखकर नागरिकों के ऊपर बहुत दिनों से चलने वाले घेरे से उत्पन्न नये-नये घोर अत्याचार को न सह सकते हुए महाराज सर्वार्थसिद्धि के उस अवस्था मे भी नागरिकों के आदर से सुरंग के रास्ते तपोवन के लिए भाग जाने पर, स्वामी के अभाव के कारण आपके सैनिकों के प्रयत्नों मे ढीले पड़ जाने पर (चन्द्रगुप्त की) विजय-घोषणा में की गई विघ्नबाधा आदि साहसिक कार्यो से नगर के अन्दर रहने वाली जनता की मनोवृत्ति का पता चल चुकने पर, पुनः नन्द के राज्य को लौटा लाने के लिए सुरंग के द्वारा आपके बाहर चले जाने पर, चन्द्रगुप्त की हत्या के लिए आपके द्वारा प्रयुक्त विषकन्या से बेचारे पर्वतेश्वर के मार दिये जाने पर—

टिप्पणी—उपरोध—उप √ रुध् + घञ् भावे = उपरोधः। वैशसम्—क्रूरता। विशसस्य भावः वैशसम् विशस + अण् भावे। पौरजनापेक्षया—पौरजनेषु अपेक्षा सुप्सुपा स०, तया। हेतौ तृतीया। तपोवनाय—तपोवनं गन्तुम्। अत्र 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' इति सूत्रेण कर्मणि चतुर्थी।

साहस—बल या हठ से किया जाने वाला कार्य। सहसा कृतम् इति सहस—अण्।

राक्षस—सखे! पश्याश्चर्यम्—

कर्णेनेव विषाङ्गनैकपुरुषव्यापादिनी रक्षिता
हन्तुं शक्तिरिवार्जुनं बलवती या चन्द्रगुप्तं मया।
सा विष्णोरिव विष्णुगुप्तहतकस्यात्यन्तिकश्रेयसे
हैडिम्बेयमिवेत्य पर्वतनृपं तद्वध्यमेवावधीत् ॥ १५ ॥

अन्वय—कर्णेन इव मया अर्जुनम् इव चन्द्रगुप्तम् हन्तुम् बलवती एकपुरुषव्यापादिनी शक्ति (इव) या विषाङ्गना रक्षिता, सा विष्णो इव विष्णुगुप्तहतकस्य आत्यन्तिकश्रेयसे तद्वध्यम् हैडिम्बेयमिव पर्वतनृपम् एव एत्य अवधीत् ॥ १५ ॥

व्याख्या—कर्णेन इव—राधेयेन इव, मया—राक्षसेन, अर्जुनम् इव—गाण्डीविनम् इव, चन्द्रगुप्तम्, मौर्यम्, हन्तुम्, मारयितुम्, बलवती—प्रबला, एकपुरुषव्यापादिनी—एकम् एकमेव पुरुष जन व्यापादयति हन्ति या तादृशी, शक्ति—इन्द्रप्रदत्तशक्तिनामास्त्रविशेष (एकघ्नी इव), या विषाङ्गना—विषकन्या, रक्षिता—स्थापिता, सा, विष्णो इव—भगवत इव, विष्णुगुप्तहतकस्य—चाणक्यस्य, आत्यन्तिकश्रेयसे—अधिककल्याणाय, तद्वध्यम्—तस्य विष्णो पक्षान्तरे तस्य चाणक्यस्य वध्य घात्य, हैडिम्बेयम् इव—हिडिम्बासुत घटोत्कचमिव, पर्वतनृपम्—पर्वतकम्, एव, एत्य—प्राप्य, अवधीत्—विनाशितवती ॥१५॥

हिन्दी अनुवाद—राक्षस—मित्र! आश्चर्य तो देखो—

कर्ण के समान मैंने अर्जुन के समान चन्द्रगुप्त को मारने लिये प्रबल तथा एक ही व्यक्ति का वध करने वाली शक्ति (बाणविशेष) के समान जिस विषकन्या को रख छोड़ा था, उसने विष्णु के समान दुष्ट चाणक्य के अत्यत कल्याण के लिये विष्णु के वध्य (पक्षान्तर में चाणक्य के वध्य) घटोत्कच के समान राजा पर्वतक को ही प्राप्त करके मार दिया॥ १५ ॥

टिप्पणी—पश्य—समझो, क्योंकि दृश् धातु का प्रयोग ज्ञान अर्थ मे भी किया जाता है। एकपुरुषव्यापादिनी—एक पुरुष कर्मधारय स०, तम्

व्यापादयति इति एकपुरुष—वि—आ√पद्+णिच्+णिनि कर्तरि साधुकारिणि आवश्यके वा। यह 'विपाङ्गना' और 'शक्तिः' दोनों का विशेषण है। विष्णोः—कृष्ण। विष्णुगुप्तहतकस्य—हत एव हतकः हत+क स्वार्थे। विष्णुगुप्तश्चासौ हतकश्च 'कुत्सितानि कुत्सनैः' इति समासः। आत्यन्तिकश्रेयसे—नित्य या सार्वकालिक कल्याण के लिये। अत्यन्ते भवम् आत्यन्तिकम् अत्यन्त+ठञ्—इक। आत्यन्तिकम् श्रेयः कर्मधारय स०, तस्मै। 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' इति सूत्रेण कर्मणि चतुर्थी। हैडिम्बेयम्—घटोत्कच। हिडिम्बायाः अपत्यं पुमान् इति हिडिम्बा+ढक्—एय=हैडिम्बेयः, तम्। इस पद्य में विषमालंकार पूर्णोपमा अलंकार से संकीर्ण है। इसमें वैदर्भी रीति है, माधुर्य गुण है और शार्दूलविक्रीडित छन्द है। इस छन्द का लक्षण १, १२ मे देखिये ॥ १५ ॥

विराधगुप्तः—अमात्य ! दैवस्यात्र कामचारः, किमत्र क्रियते ?

राक्षसः—ततस्ततः ?

विराधगुप्तः—ततः पितृवधपरित्रासादपक्रान्ते कुसुमपुरात् कुमारे मलयकेतौ, विश्वासिते च पर्वतकभ्रातरि वैरोचके, प्रकाशिते च चन्द्रगुप्तस्य नन्दभवनप्रवेशे, चाणक्यहतकेनाहूयाभिहिताः कुसुमपुरनिवासिनः सर्वे एव सूत्रधाराः यथा—'सावत्सरिकवचनादद्यैवार्धरात्रसमये एवाभिमतः चन्द्रगुप्तस्य नन्दभवनप्रवेशो भविष्यतीति, ततः प्रथमद्वारात्प्रभृति संस्क्रियतां राजभवनम्' इति। ततः सूत्रधारैरभिहितम्—'आर्य ! प्रथममेव देवस्य चन्द्रगुप्तस्य नन्दभवनप्रवेशमुपलभ्य सूत्रधारेण दारुवर्मणा कनकतोरणन्यासादिभिः संस्कारविशेषैः संस्कृतं प्रथमराजद्वारम्। इदानीमस्माभिरभ्यन्तरे संस्कारो विधेय.' इति। ततश्चाणक्यवटुना, अनादिष्टेनैव दारुवर्मणा संस्कृतं राजभवनद्वारमिति परितुष्टेनेव, दारुवर्मणः सुचिरं दाक्ष्यमभिनन्द्याभिहितम्—'अचिरादस्य दाक्ष्यस्यानुरूपं फलमधिगमिष्यिसि दारुवर्मन् !'

व्याख्या—दैवस्य—भाग्यस्य, कामचारः—स्वेच्छा। पितृवधपरित्रासात्—पितुः तातस्य वधः नाशः तस्मात् परित्रासः भयम् तस्मात्, कुसुमपुरात्—पाटलि-

पुत्रात्, कुमारे, मलयकेतौ, अपक्रान्ते—पलायिते, पर्वतकभ्रातरि—पर्वतकसोदरे, वैरोचके, विश्वासिते—आश्वासिते च, चन्द्रगुप्तस्य—मौर्यस्य, नन्दभवनप्रवेशे—नन्दभूपगृहसन्निवेशे, प्रकाशिते—प्रख्यापिते च, चाणक्यहतकेन, आहूय—आकार्य, सर्वे—समे, कुसुमपुरनिवासिन —पाटलिपुत्रवास्तव्या , सूत्रधारा —शिल्पिन , अभिहिता —कथिता , सांवत्सरिकवचनात्—दैवज्ञवाक्यात्, अद्यैव—अस्मिन्नेव, अर्धरात्रसमये—निशार्धसमय, एव, चन्द्रगुप्तस्य, नन्दभवनप्रवेश —नन्दगृहसन्निवेश , अभिमत —अभीष्ट , भविष्यति । तत —तदनन्तर, प्रथमद्वारात् प्रभृति—पूर्वद्वारमारभ्य, राजभवन—राजप्रासाद , सस्क्रियताम्—सस्कारयुक्त विधीयताम् । तत —तत्पश्चात्, सूत्रधारै , अभिहितम्—कथितम्, आर्य—पूज्य, देवस्य—महाराजस्य, चन्द्रगुप्तस्य, प्रथममेव—प्रागेव, नन्दभवनप्रवेशम्—नन्दभूपगृहसन्निवशनम्, उपलभ्य—ज्ञात्वा, सूत्रधारेण—शिल्पिना, दारुवर्मणा—तदाख्येन, कनकतोरणन्यासादिभि —कनकस्य सुवर्णस्य तोरण बहिर्द्वार तस्य न्यास सन्निवेश स आदि येषा तै , सस्कारविशेषै —नृपलोपरि बहिर्द्वारपातनोद्योगात्मकैरित्यर्थ , प्रथमराजद्वारम्—पूर्वनृपद्वारम्, सस्कृतम्—सस्कारास्पदकृतम् । इदानीम्—अधुना, अस्माभि —शिल्पिभि , अभ्यन्तरे—अन्तराले, सस्कार —परिष्कार , विधेय —कर्तव्य ।तत —तदनन्तरम्, अनादिष्टेनैव—आदेशमप्राप्तवतैव, दारुवर्मणा, राजभवनद्वार, सस्कृतम्, इति—अस्माद्धेतो , परितुष्टेन—सन्तुष्टेन इव, चाणक्यवटुना—विष्णुगुप्तेन, सुचिर—बहुकाल, दारुवर्मण , दाक्ष्य—निपुणताम्, अभिनन्द्य—प्रशस्य, अभिहितम्—'दारुवर्मन् ! अस्य—दाक्ष्यस्य, अनुरूप—सदृश, फलम्, अचिरात्—शीघ्रम्, अधिगमिष्यसि—प्राप्स्यसि' ।

हिंदी अनुवाद—विराधगुप्त—अमात्य ! इसमें भाग्य की मनमानी है।

राक्षस—तब तब ?

विराधगुप्त—तब पिता की हत्या से घबडाकर कुमार मलयकेतु के कुसुमपुर से भाग जाने पर, पर्वतक के भाई वैरोचक को विश्वास दिला दिये जाने पर और चन्द्रगुप्त के नन्द के महल मे प्रवेश करने की घोषणा कर दी जाने पर दुष्ट चाणक्य ने कुसुमपुर के रहने वाले सभी कारीगरो को बुलाकर कहा कि ज्योतिषियो के कहने के अनुसार आज ही आधी रात के समय चन्द्रगुप्त का नन्द के भवन मे प्रवेश करना इष्ट होगा। इसलिए प्रथम द्वार से लेकर राज-भवन को सुसज्जित

कर दो। उस पर कारीगरों ने कहा—'आर्य ! पहले ही महाराज चन्द्रगुप्त के नन्द-भवन मे प्रवेश को जानकर शिल्पी दारुवर्मा ने सोने के तोरण की रचना आदि सजावटो से राजभवन के प्रथम द्वार को सजा दिया। अब हमें भीतर की सजावट करनी है।' तदनन्तर बिना कहे ही दारुवर्मा ने राजभवन के द्वार को सजा दिया—इससे मानों सन्तुष्ट होकर अल्पबुद्धि चाणक्य ने बड़ी देर तक दारुवर्मा के कौशल की प्रशंसा करके कहा—'दारुवर्मा ! इस कौशल के अनुरूप फल शीघ्र प्राप्त करोगे।'

टिप्पणी—**सांवत्सरिक**—ज्योतिषी। संवत्सरं कथयन्ति बोधयन्ति वा इति संवत्सर+ठञ् शेषे, तस्य इकादेशः। **अर्धरात्रसमये**—अर्धं रात्रेः इति अर्धरात्रः एकदेशितत्०; समासान्त अच् प्रत्ययः 'अहः सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः' इत्यनेन, 'रात्राह्नाहाः पुंसि' इत्यनेन पुंस्त्वम्। अर्धरात्र एव समयः अर्धरात्रसमयः, तस्मिन्। कालाधिकरणे सप्तमी। **प्रथमद्वारात्**—अत्र प्रभृत्यर्थयोगे पञ्चमी। **संस्कारविशेषैः**—विशेष प्रकार की सजावटो से। इसका गूढार्थ है—चन्द्रगुप्त के ऊपर तोरण गिराने के प्रयत्नो से। **अभ्यन्तरे संस्कारः**—भीतर में सजावट। इसका गूढार्थ है—चन्द्रगुप्त को विष देना तथा शयन-कक्ष में मारना। **विधेयः**—वि√धा+यत् कर्मणि। **चाणक्यवटुना**—अल्पमति या क्षुद्रबुद्धि चाणक्य ने। चाणक्यश्चासौ वटुश्च इति चाणक्यवटुः, तेन। **अनुरूपं फलम्**—उचित फल। इसका गूढार्थ है— वधरूप फल।

राक्षसः—[**सोद्वेगम्**] सखे ! कुतश्चाणक्यवटोःपरितोषः ? अफलमनिष्टफलं वा दारुवर्मणः प्रयत्नमवगच्छामि। यदनेन बुद्धिमोहादथवा राजभक्तिप्रकर्षान्नियोगकालमप्रतीक्षमाणेन जनितश्चाणक्यवटोश्चेतसि बलवान् विकल्पः। ततस्ततः ?

विराधगुप्तः— ततश्चाणक्यहतकेनानुकूललग्नवशादद्यार्धरात्रसमये चन्द्रगुप्तस्य नन्दभवनप्रवेशो भविष्यतीति शिल्पिनः पौरांश्च गृहीतार्थान् कृत्वा तस्मिन्नेव क्षणे पर्वतेश्वरभ्रातरं वैरोचकमेकासने चन्द्रगुप्तेन सहोपवेश्य कृतः पृथ्वीराज्यार्धभागः।

राक्षसः—किं वातिसृष्टं पर्वतेश्वरभ्रात्रे वैरोचकाय पूर्वप्रतिश्रुतं राज्यम् ?

विराधगुप्तः—अथ किम् ?

राक्षस —[स्वगतम्] नियतमतिधूर्तवटुना तस्यापि तपस्विन कमप्यु-पांशुवधमाकलय्य पवनेश्वरविनाशजनितस्यायशम परिहारार्थमेषा लोक-प्रतिपत्तिरपचरिता । [प्रकाशम्] ततस्तत ?

व्याख्या—मोद्वेगम्—उद्वेगेन उत्कण्ठया सहित यथा स्यात् तथा आहेति शेष, सखे—मित्र, चाणक्यवटो —अल्पमतिचाणक्यस्य, परिताप —सन्तोष, कुत —कस्मात् ? दारुवर्मण, प्रयत्न—प्रयासम्, अफल—निष्फलम्, वा—अथवा, अनिष्टफलम्—अशुभफलम्, अवगच्छामि—जानामि । यत्—यस्मात्, बुद्धि-मोहात्—मतिभ्रमात्, अथवा राजभक्तिप्रकर्षात्—राज्ञि सत्रार्थसिद्धौ भक्त्या-धिक्यप्रदर्शनात्, नियोगकालम्—आदेशसमयम्, अप्रतीक्षमाणेन—असहिष्णुना, अनेन—दारुवर्मणा, चाणक्यवटो, चेतसि—मनसि, बलवान्—प्रबल, विकल्प —सन्देह, जनित —उत्पादित । तत —तदनन्तरम्, चाणक्यहतकेन, अनुकूललग्नवशात्—शुभमुहूर्तकारणात्, अद्य, अर्धरात्रसमये, चन्द्रगुप्तस्य, नन्दभवन-प्रवेश, भविष्यति, इति, शिल्पिन, पौराश्च, गृहीतार्थान्—अवगताभिप्रायान्, कृत्वा—विधाय, तस्मिन्नेव क्षणे—नन्दभवनप्रवेशसमय एवेत्यर्थ, पर्वतेश्वर-भ्रातर—पर्वतकसोदर, वैरोचकम्—एतदाख्यम्, एकासने—एकोपवेशने, चन्द्र-गुप्तेन, सह—सार्धम्, उपवेश्य—संस्थाप्य, पृथ्वीराज्यार्धभाग —पृथ्वी वसुधा एव राज्य तस्यार्धभाग, कृत —विहित । किं, वैरोचकाय, पूर्वप्रतिश्रुत—प्राक्प्रति-ज्ञात राज्यम्, अतिसृष्टम्—दत्तम् । अतिधूर्तवटुना—अतिशठेन चाणक्येनेति शेष, तपस्विन —वराकस्य, तस्यापि—पर्वतेश्वरभ्रातुरपि, कमपि—अनिर्वचनीयमपि, उपांशुवधम्—रहस्यमारणम्, आकलय्य—अवधार्य, पर्वतेश्वरविनाशजनितस्य—पर्वतेश्वरहत्योत्पन्नस्य, अयशम —अकीर्ते, परिहारार्थम्—निवारणार्थम्, नियत—निश्चितम्, एषा, लोकप्रतिपत्ति —लोकाना जनाना प्रतिपत्ति अवबोध, उपचरिता—परिकल्पिता ।

हिन्दी अनुवाद—राक्षस—[उद्विग्नता के साथ] मित्र ! मदमति चाणक्य को सन्तोष कहाँ ? मैं तो दारुवर्मा के प्रयत्न को निष्फल या अनर्थकारी समझता हूँ । जो कि इसने मतिभ्रम के कारण अथवा राजभक्ति की अधिकता-वश आदेश के समय की प्रतीक्षा किये बिना दुष्ट चाणक्य के मन में बडा सन्देह उत्पन्न कर दिया । तब तब ?

विराधगुप्त—तब दुष्ट चाणक्य ने शुभ लग्न के कारण आज आधी रात के समय चन्द्रगुप्त का नन्द-भवन में प्रवेश होगा—इस बात से कारीगरों और नागरिकों को अवगत कराकर उसी समय पर्वतेश्वर के भाई वैरोचक को चन्द्रगुप्त के साथ एक आसन पर बैठाकर पृथ्वी रूपी राज्य का आधा हिस्सा लगा दिया।

राक्षस—क्या पर्वतेश्वर के भाई वैरोचक को पहले का स्वीकारा हुआ राज्य दे दिया ?

विराधगुप्त—और क्या ?

राक्षस—[मन में] निश्चय ही अतिदुष्ट (चाणक्य) ने उस बेचारे की भी कोई रहस्यमय हत्या सोचकर पर्वतेश्वर के विनाश से उत्पन्न अपयश को मिटाने के लिए यह जनता में धारणा बना दी है। [प्रकट] तब तब ?

टिप्पणी—अफलम्—अविद्यमानं फलम् अस्मिन् इति अफलः नञ्बहुव्रीहि स०, तम्। अनिष्टफलम्—न इष्टम् अनिष्टम् नञ्तत्०। अनिष्टं फलम् अस्य इति अनिष्टफलः बहुव्रीहि स०, तम्। अनुकूललग्नवशात्—√लग्+क्त कर्तरि लग्नम्। अनुकूल लग्नम् कर्मधारय स०। तस्य वशम् = आयत्तता षष्ठीतत्०, तस्मात्। गृहीतार्थान्—जिन्हे बात मालूम हो गई हो। गृहीतः अर्थः = विषयः यै: ते गृहीतार्थाः, तान्। अतिसृष्टः—दे दिया। अति√सृज्+क्त कर्मणि। उपांशुवधम्—एकान्त मे की जाने वाली हत्या को। 'उपांशु' यह एक अव्यय है। उपांशु वधः सुप्सुपा स०, तम्। आकलय्य—विचार कर। आ√कल्+णिच् स्वार्थे+क्त्वा—ल्यप्। लोकप्रतिपत्तिः—लोक में प्रसिद्धि। प्रति√पद्+क्तिन् भावे = प्रतिपत्तिः। लोके प्रतिपत्तिः सुप्सुपा स०। उपचरिता—फैला दी है। उप√चर्+क्त कर्मणि। यहाँ राक्षस यह समझ रहा है कि वैरोचक को आधा राज्य देकर चाणक्य पर्वतेश्वर की हत्या के कलक को धोना चाहता है; किन्तु राक्षस को यह पता नही है कि चाणक्य की कूटनीति ने जनता में यह अफवाह फैला रखी है कि पर्वतेश्वर को मरवाने वाला राक्षस ही है।

विराधगुप्तः—ततः प्रथममेव प्रकाशिते चन्द्रगुप्तस्यार्धरात्रे नन्दभवन-प्रवेशे कृताभिषेके च वैरोचके विमलमुक्तागुणपरिक्षेपोपरचितपटवारवाण-प्रच्छादितशरीरे मणिमयमुकुटनिविडनियतरुचिरतरमौलौ सुरभिकुसुम-दामवैकक्षकावभासितविपुलवक्षःस्थले परिचिततमैरप्यनभिज्ञायमानाकृतौ

चाणक्यहतकादेशाच्चन्द्रगुप्तोपवाह्या चन्द्रलेखा नाम गजवशामारुह्य चन्द्रगुप्तानुयायिना राजलोकेन अनुगम्यमाने जवेन देवस्य नन्दस्य भवनं प्रविशति वैरोचके युष्मत्प्रयुक्तेन सूत्रधारेण दारुवर्मणा चन्द्रगुप्तोऽयमिति मत्वा वैरोचकस्योपरि निपातनाय सज्जीकृतं यन्त्रतोरणम्। अत्रान्तरे बहिर्निगृहीतवाहनेषु स्थितेषु चन्द्रगुप्तानुयायिषु भूमिपालेषु युष्मत्प्रयुक्तेनैव चन्द्रगुप्तनिपातिना बर्बरकेण कनकदण्डान्तर्निहितामसिपुत्रिकामाक्रष्टुकामेन अवलम्बिता करेण कनकशृङ्खलावलम्बिनी कनकदण्डिका।

राक्षसः—उभयोरप्यस्थाने यत्नः। ततस्ततः ?

व्याख्या—ततः—तत्पश्चात्, प्रथममेव—पूर्वमेव, प्रकाशिते—प्रचारिते, चन्द्रगुप्तस्य, कृताभिषेके च—विहितराज्यप्राप्तिप्राक्कालिकस्नपने च, वैरोचके, विमलमुक्तागुणपरिक्षेपोपरचितपटवारबाणप्रच्छादितशरीरे—विमलानां निर्मलानां मुक्तागुणानां मुक्ताहाराणां यः परिक्षेपः मण्डनाकारेण विन्यासः तेन उपरचितः कल्पितः यः चित्रः अनेकविधवर्णः पटः तन्निर्मितः यः वारबाणः कञ्चुकः तेन प्रच्छादितम् आच्छादितम् शरीरं यस्य तादृशे, मणिमयमुकुटनिविडनियतरुचिरतरमौलौ—मणिमयेन मुकुटेन निविडं यथा स्यात् तथा नियतः बद्धः रुचिरतरः मनोज्ञः मौलिः संयतः कचः यस्य तादृशे, सुरभिकुसुमदामवैकक्षकावभासितविपुलवक्षःस्थले—सुरभि सुगन्धि यत् कुसुमदाम पुष्पमाल्यं तदेव वैकक्षकं यज्ञोपवीतवत्तिर्यग्लम्बितस्रक् तेन अवभासितं सुशोभितं विपुलं महत् वक्षःस्थलम् उरःस्थलं यस्य तादृशे, परिचिततमे अपि—अतिशयेन सम्तुते अपि, अनभिज्ञायमानाकृतौ—न अभिज्ञायमाना अवगम्यमाना आकृतिः आकारः यस्य तादृशे, चाणक्यहतकादेशात्, निन्दितविष्णुगुप्तनिदेशात्, चन्द्रगुप्तोपवाह्या—चन्द्रगुप्तः उपवाह्यः वहनीयः यस्याः ताम् चन्द्रगुप्तवाहिनीमिति यावत्, चन्द्रलेखा नाम—चन्द्रलेखेत्यभिधानां, गजवशां—करिणीम्, आरुह्य—तदुपरि स्थित्वा, चन्द्रगुप्तानुयायिना—चन्द्रगुप्तस्य मौर्यस्य अनुयायिना अनुगामिना, राजलोकेन—नृपजनेन, अनुगम्यमाने—अनुस्रियमाणे, वैरोचके, जवेन—वेगेन, देवस्य—महाराजस्य नन्दस्य, भवनं—गृहं, प्रविशति—अभ्यन्तरं गच्छति सति, युष्मत्प्रयुक्तेन—भवत्प्रेरितेन, सूत्रधारेण—शिल्पिना, दारुवर्मणा, अयम्—एषः, चन्द्रगुप्तः—वृषलः, इति मत्वा—इत्यवगत्य, वैरोचकस्य उपरि, निपातनाय—प्रक्षेपणाय, यन्त्रतोरणं—तोरणरूपेण निर्मितं यन्त्रम्, सज्जीकृतम्—समुद्यतम्। अत्रान्तरे—अस्मिन् मध्ये, बहिर्निगृहीत-

वाहनेषु—बहिः निगृहीतानि नियन्त्रितानि वाहनानि अश्वादयो यैः तादृशेषु, स्थितेषु, चन्द्रगुप्तानुयायिषु, भूमिपालेपु—राजसु, युष्मत्प्रयुक्तेनैव, चन्द्रगुप्तनिपादिना—वृषलहस्तिपकेन, वर्वरकेण—तदाख्येन, कनकदण्डान्तर्निहिताम्—कनकस्य स्वर्णस्य दण्डो यष्टी तस्य अन्तः अभ्यन्तरे निहितां स्थापिताम्, असिपुत्रिकां—छुरिकाम्, आकृष्टुकामेन—बहिर्निःसारणेच्छुना, करेण—हस्तेन, कनकशृङ्खलावलम्बिनी—कनकस्य सुवर्णस्य शृङ्खला बन्धनरज्जुः ताम् अवलम्बते तच्छीलेति, कनकदण्डिका सुवर्णयष्टिः, अवलम्बिता—धृता। उभयोः दारुवर्मवर्वरकयोः, अस्थाने—अयुक्तस्थाने, यत्नः—उद्योगः।

हिन्दी अनुवाद—**विराधगुप्त**—तदन्तर पहले ही चन्द्रगुप्त के अर्धरात्रि के समय नन्दभवन में प्रवेश का प्रचार हो जाने पर, वैरोचक के अभिषेक कर दिये जाने पर, उज्ज्वल मोतियो की लंबी लटकती मालाओं से खचित रंग-बिरंगे कंचुक से (वैरोचक के) शरीर के ढक जाने पर, मणिनिर्मित मुकुट से कसकर जकडे हुए अत्यन्त सुन्दर केशपाश के होने पर, सुगन्धित गजरे के जनेऊ की तरह धारण करने से विशाल वक्षःस्थल के शोभासम्पन्न होने पर, परिचितों से भी न पहचानी जाती हुई आकृति के होने पर और दुष्ट चाणक्य के आदेश से चन्द्रगुप्त के चढने योग्य चन्द्रलेखा नामक हथिनी पर चढ़कर चन्द्रगुप्त के अनुयायी राजाओं से अनुसरण किये जाते हुए वैरोचक के शीघ्रता से महाराज नन्द के भवन मे प्रवेश करने पर आपके भेजे हुए शिल्पी दारुवर्मा ने 'यह चन्द्रगुप्त है' ऐसा समझकर वैरोचक के ऊपर गिराने के लिए तोरण रूपी यन्त्र को सँभाल लिया। इसी बीच चन्द्रगुप्त के अनुयायी राजाओ के बाहर वाहनों को रोककर ठहर जाने पर आपके भेजे हुए चन्द्रगुप्त के महावत वर्वरक ने सोने की छडी के भीतर रखी हुई छुरी को खींचने की इच्छा से सोने की जंजीर से लटकती हुई सोने की छड़ी (की मूठ) को हाथ से पकड़ लिया।

राक्षस—दोनों का प्रयत्न अनुचित स्थान पर है। तब तब ?

टिप्पणी—कृताभिषेके—कृतः अभिषेकः यस्य असौ कृताभिषेकः, तस्मिन्। वैकक्षक—जनेऊ की तरह पहना हुआ हार। विशिष्टः कक्षः अस्मात् इति विकक्षम् प्रादिबहुव्रीहि स०। विकक्षे भवम् इति विकक्ष+अण्+कन् स्वार्थे=वैकक्षकम्। उपवाह्याम्—उप√वह्+ण्यत् कर्मणि। यह 'गजवशाम्' का विशेषण है। यन्त्रतोरणम्—यन्त्रकलितं यन्त्रयुक्तं यन्त्रमुक्तं वा तोरणम्,

मध्यपदलोपी स० । कनकदण्डिका—सोने की छडी । दण्ड एव इति दण्डिका दण्ड+कन् स्वार्थे । टाप् स्त्रियाम् । कनकस्य दण्डिका कनकदण्डिका ।

विराधगुप्त—अथ जघनाभिघातमुत्प्रेक्षमाणा गजवधूरतिजवनतया गत्यन्तरमारूढवती । तत प्रथमगत्यनुरोधप्रत्याकलितमुक्तेन प्रभ्रष्टलक्ष्य पतता यन्त्रतोरणेन आकृष्टकृपाणीव्यग्रपाणिरनासादयन्नेव चन्द्रगुप्त-प्रत्याशया वैरोचक, हतस्तपस्वी वर्वरक । ततो दारुवर्मणा, यन्त्रतोरण-निपातनादात्मवधमाकलय्य शीघ्रमेवोत्तुङ्गतोरणस्थानमारूढेन, यन्त्र-घट्टनबीजलोहकीलकमादाय हस्तिनीगत एव हतस्तपस्वी वैरोचक ।

व्याख्या—अथ—अनन्तरम्, अतिजवनतया—अतिद्रुतधावनाद्धेतो , जघना-भिघातम्—जघने नितम्बे अभिघातम् आघातम् उत्प्रेक्षमाणा सम्भावयन्ती, गजवधू —हस्तिनी, गत्यन्तरम्—मन्दगतिम्, आरूढवती—अवलम्बितवती । तत तदनन्तरम्, प्रथमगत्यनुरोधप्रत्याकलितमुक्तेन—प्रथमा पूर्वा या गति द्रुत-गतिरित्यर्थ तस्या अनुरोधेन अपेक्षया प्रत्याकलित विघट्टित मुक्त च, तादृशेन, प्रभ्रष्टलक्ष्यम्—प्रभ्रष्टम् च्युत लक्ष्य शरव्य यत्र तद्यथा स्यात् तथा पतता, यन्त्रतोरणेन—तोरणरूपेण निर्मितयन्त्रविशेषेण, आकृष्टकृपाणीव्यग्रपाणि — आकृष्टा कनकदण्डिकाया मध्यात् निष्कासिता या कृपाणी छुरिका तस्या तया वा व्यग्र व्यापृत पाणि कर यस्य तथाविध , तपस्वी—वराक , वर्वरक , चन्द्र-गुप्तप्रत्याशया—वृषलधिया, वैरोचकम्, अनासादयन्नेव—(हननार्थम्) अप्रा-प्नुवन्नेव, हत —विनाशित । तत —तत्पश्चात्, यन्त्रतोरणनिपातनात्—यन्त्रतोरणप्रहरणात्, आत्मवध—स्वविनाशम्, आकलय्य—तर्कयित्वा, शीघ्र-मेव—झटिति, उत्तुङ्गतोरणस्थानम्—उन्नततरबहिर्द्वारस्थलम्, आरूढेन—प्राप्तवता, यन्त्रघट्टनबीजलोहकीलकम्—यन्त्रस्य यत् घट्टनम् चालन तस्य बीज कारण यत् लोहकीलकम् अय शङ्कु तत्, आदाय—गृहीत्वा, हस्तिनीगत एव—करिणीपृष्ठसमारूढ एव, तपस्वी, वैरोचक , हत ।

हिन्दी अनुवाद—विराधगुप्त—पश्चात् तीव्र दौडने के कारण (अपने) नितम्बभाग पर चोट पडने की आशका करती हुई हथिनी मद-मद चलने लगी । तब पहले की गति के अनुसार पकडकर छोड गए तथा निशाना चूककर गिरते हुए तोरण के यन्त्र से, खींची हुई छुरी से व्याप्त हाथ वाला (अर्थात् प्रहार के लिए उद्यतहस्त) बेचारा वर्वरक चन्द्रगुप्त की आशा मे वैरोचक को न प्राप्त

करता हुआ ही मारा गया। उसके बाद यन्त्रयुक्त तोरण के गिराने से अपने वध की संभावना करके दारुवर्मा ने शीघ्र ही ऊँचे तोरण के स्थान पर चढ़कर यन्त्र-चालन के कारणस्वरूप लोहे की कील को लेकर हथिनी पर बैठे ही बेचारे वैरोचक को मार डाला।

टिप्पणी—**उत्प्रेक्षमाणा**—संभावना करती हुई। उत्-प्र√ईक्ष्+शानच् कर्तरि। **अतिजवनतया**—तेज चाल से। √जु+ल्युट् भावे=जवनम्। अतिशयितं जवनमस्य इति अतिजवनम्, सामान्ये नपुंसकम्। तस्य भावः, तया। हेतौ तृतीया। यह 'अभिघात' का हेतु है। **गत्यन्तरम्**—दूसरी गति को। अन्या गतिः इति गत्यन्तरम् मयूरव्यंसकादित्वात् स०। **प्रत्याकलित**—धृत। प्रति-आ√कल्+णिच्+क्त कर्मणि। **व्यग्र**—व्यस्त। विशिष्टम् अग्रम् अस्य इति व्यग्रः। **चन्द्रगुप्तप्रत्याशया**—चन्द्रगुप्तसम्बन्धिनी प्रत्याशा, तया। हेतौ तृतीया।

राक्षसः—कष्टम्! अनर्थद्वयमापतितम्। न हतश्चन्द्रगुप्तो हतौ वैरोचकवर्वरकौ!! [सावेगमात्मगतम्] नैतावुभौ हतौ, दैवेन वयमेव हताः। [प्रकाशम्] अथ स सूत्रधारो दारुवर्मा क्व ?

विराधगुप्तः—वैरोचकपुरः सरेण पदातिलोकेन लोष्टघातं हतः।

राक्षसः—[सास्रम्] कष्टम्! अहो! वत्सलेन सुहृदा दारुवर्मणा वियुक्ताः स्म। अथ तत्रत्येन भिषजाऽभयदत्तेन किमनुष्ठितम् ?

विराधगुप्तः—अमात्य! सर्वमनुष्ठितम्।

राक्षसः—[सहर्षम्] किं हतो दुरात्मा चन्द्रगुप्तः ?

विराधगुप्तः—अमात्य! दैवान्न हतः।

राक्षसः—[सविषादम्] तत् किमिदानी कथयसि परितुष्टः 'सर्व-मनुष्ठितम्' इति।

विराधगुप्तः—अमात्य! कल्पितमनेन विषचूर्णमिश्रमौषधं चन्द्र-गुप्ताय। तच्चप्रत्यक्षीकुर्वता चाणक्यहतकेन कनकभाजने वर्णान्तरमुपगत-मुपलभ्याभिहितश्चन्द्रगुप्तः—'वृषल! सविषमिवौषधं, न पातव्यम्' इति।

राक्षसः—शठः खल्वसौ वटुः। अथ स वैद्यः कथम् ?

विराधगुप्त —स, खलु वैद्यस्तदेवौषध पायित उपरतश्च ।

राक्षस —[सविषादम्] अहह ! महान् विज्ञानराशिरुपरत । भद्र ! अथ तस्य शयनाधिकृतस्य प्रमोदकस्य किं वृत्तम् ?

विराधगुप्त —यत् इतरेषाम् ।

राक्षस —[सोद्वेगम्] कथमिव ?

हिंदी अनुवाद—राक्षस—कष्ट की बात है । दो अनर्थ हो गए । न मरा चन्द्रगुप्त, मर गए वैरोचक और बर्बरक !! [आवेग के साथ मन में] ये दोनो नहीं मारे गए, भाग्य ने हमे ही मार दिया । [प्रकट] अच्छा वह शिल्पी दारुवर्मा कहाँ (है) ?

विराधगुप्त—(उसे तो) वैरोचक के पीछे पैदल चलने वाले लोगो ने ढेले मार-मार कर मार दिया ।

राक्षस—[आसू के साथ] कष्ट है ! ओह ! स्नेही बन्धु दारुवर्मा से हम वियुक्त हो गए हैं । अच्छा, वहाँ रहने वाले वैद्य अभयदत्त ने क्या किया ?

विराधगुप्त—अमात्य ! सब कुछ किया ।

राक्षस—[हर्ष के साथ] क्या दुष्ट चन्द्रगुप्त मारा गया ?

विराधगुप्त—अमात्य ! भाग्य से न मारा गया ।

राक्षस—[दुःख के साथ] तब क्या अभी प्रसन्न होकर कह रहे हो कि सब कुछ किया ।

विराधगुप्त—अमात्य ! उसने विष के चूर्ण मे मिश्रित ओषधि चन्द्रगुप्त के लिए तैयार की । किन्तु उसका निरीक्षण करते हुए दुष्ट चाणक्य ने सोने के पात्र मे बदला हुआ रङ्ग पाकर चन्द्रगुप्त से कहा—'चन्द्रगुप्त ! ओषधि विष से मिश्रित मालूम होती है, नही पीनी चाहिए ।'

राक्षस—यह मूर्ख दुष्ट है । अच्छा, उस वैद्य पर क्या बीती ?

विराधगुप्त—उस वैद्य को वही ओषधि पिला दी गई और वह मर गया ।

राक्षस—[विषाद के साथ] हाय ! महान् वैज्ञानिक उठ गया । अच्छा, भद्र ! शयन-कक्ष के अधिकारी उस प्रमोदक का क्या हुआ ?

विराधगुप्त—जो दूसरो का (हुआ) ।

राक्षस—[**उद्वेग के साथ**] कैसे ?

टिप्पणी—**आपतितम्**—सम्प्राप्तम् । आ पड़े । **वैरोचकपुरःसरेण**—जिनके आगे वैरोचक चल रहा है । पुरः अग्रे सरतीति पुरःसरः पुरस् √सृ +ट कर्तरि=पुरःसरः । वैरोचकः पुरः सरः यस्य स वैरोचकपुरःसरः बहुव्रीहि स०, तेन । **पदातिलोकेन**—चरणचारिणा लोकेन । पैदल चलने वाले लोगों ने । पदातीनां लोकः षष्ठीतत्०, तेन । अनुक्ते कर्तरि तृतीया । **लोष्टघातम्**—ढेलों से मारकर । लोष्टैः हत्वा इति लोष्ट √हन्+णमुल् भावे । **भिषजा**—वैद्येन । भिषज्यति रोगान् जयति इति भिषज्+यक् स्वार्थे (कण्ड्वादि)+क्विप् कर्तरि=भिषक्, तेन । अनुक्ते कर्तरि तृतीया । **प्रत्यक्षीकुर्वता**—निरीक्षमाणेन । **वटुः**—ईषद्विद्यः । **पायितः**—√पा+णिच्+क्त । **विज्ञानराशिः**—चिकित्साविषयकज्ञानाकरः । ओषधिविज्ञानस्य विशेषज्ञ इत्यर्थः । **उपरतः**—मृतः । उप √रम्+क्त कर्तरि । **शयनाधिकृतस्य**—शयनागारनियुक्तस्य । शयने अधिकृतः सुप्सुपा स०, तस्य । **यत् इतरेषाम्**—जो दूसरों का हुआ अर्थात् प्राणनाश ।

विराधगुप्तः—स खलु मूर्खस्तं युष्माभिरतिसृष्टं महान्तमर्थराशिमवाप्य महता व्ययेनोपभोक्तुमारब्धवान् । ततः 'कुतोऽयं भूयान् धनागमस्तव' इति पृच्छ्यमनोऽयं यदा वाक्यभेदान् बहूनकथयत् तदा चाणक्यहतकादेशाद् विचित्रेण वधेन व्यापादितः ।

राक्षसः—[सोद्वेगम्] कथमत्रापि वयमेवोपहता दैवेन ? अथ शयितस्य चन्द्रगुप्तस्य शरीरे प्रहर्तुमस्मत्प्रयुक्तानां नरपतिशयनगृहस्यान्तःसुरङ्गायां निवसतां बीभत्सकादीनां को वृत्तान्तः ?

विराधगुप्तः—अमात्य ! दारुणो वृत्तान्तः ।

राक्षसः—[सावेगम्] कथं दारुणो वृत्तान्तः ? न खलु विदिताः ते तत्र निवसन्तः चाणक्यहतकेन ?

विराधगुप्तः—अथ किम् ?

राक्षसः—कथमिव ?

हिन्दी अनुवाद—विराधगुप्त—उस मूर्ख ने आपकी दी हुई उस महान् धन-राशि को प्राप्त करके बडे खर्च के साथ उपभोग करना आरम्भ किया। पश्चात् यह पूछा जाने पर कि तुम्हें इतना प्रचुर धन कहाँ से आया, वह जब बहुत-सी परस्पर विरोधी बाते कहने लगा तब दुष्ट चाणक्य के आदेश से विचित्र प्रकार के वध के द्वारा मरवा दिया गया।

राक्षस [उद्वेग के साथ] क्या यहाँ भी भाग्य ने हमें ही मारा ? अच्छा सोये हुए चन्द्रगुप्त के शरीर पर प्रहार करने के लिए हमारे नियुक्त किये हुए, राजा के शयन-कक्ष के भीतरी सुरंग में निवास करने वाले बीभत्सक आदि का क्या समाचार है ?

विराधगुप्त—अमात्य ! भयानक समाचार है।

राक्षस—[उद्वेग के साथ] कैसा भयानक समाचार है ? वहाँ रहते हुए वे दुष्ट चाणक्य के द्वारा ताड लिये तो नहीं गए ?

विराधगुप्त—और क्या ?

राक्षस—कैसे ?

टिप्पणी—खलु—अत्र वाक्यालङ्कारे प्रयुक्त । अतिसृष्टम—दत्तम्। पृच्छ्यमान —जिज्ञास्यमान चाणक्येनेति शेष ।√प्रच्छ्+लट् कर्मणि+शानच् । वाक्यभेदान्—वाक्यस्य भेदान् भिन्नानि वाक्यानि इत्यर्थ । 'भावानयन द्रव्यानयनम्' इति न्यायात् । विचित्रेण—विस्मयोत्पादकेन । विशेषेण चित्र विचित्र तेन । उपहता —विनाशिता । उप√हन्+क्त कर्मणि । अन्त सुरङ्गायाम्—अभ्यन्तरवर्तिनि ।

विराधगुप्त —प्राक् चन्द्रगुप्तप्रवेशात् प्रविष्टमात्रेणैव शयनगृहे चाणक्येन दुरात्मना समन्तादवलोकित । ततस्तु एकस्माद् भित्तिच्छिद्राद् गृहीतभक्तावयवा निष्क्रामन्ती पिपीलिकापङ्क्तिमवलोक्य पुरुषगर्भमेतद्-गृहमिति गृहीतार्थेन दाहित तदन्त शयनगृहम् । तस्मिश्च दह्यमाने धूमावरुद्धदृष्टय प्रथमपिहितनिर्गमनमार्गमनधिगम्य सर्व एव बीभत्स-कादयस्तत्रैव ज्वलनमुपगता उपरताश्च ।

राक्षस—[सास्रम्] सखे ! पश्य, चन्द्रगुप्तस्य दैवसम्पदा सर्व एव

उपरताः। [सचिन्तम्] सखे ! दैवसम्पदं पश्य दुरात्मनश्चन्द्रगुप्तहतकस्य !! कुतः ?—

कन्या तस्य वधाय या विषमयी गूढं प्रयुक्ता मया
दैवात् पर्वतकस्तया स निहतो यस्तस्य राज्यार्धभाक् ।
ये यन्त्रेषु रसेषु च प्रणिहितास्तैरेव ते घातिताः
मौर्यस्यैव फलन्ति पश्य विविधश्रेयांसि मे नीतयः ॥१६॥

व्याख्या—चन्द्रगुप्तप्रवेशात्—वृषलसन्निवेशात्, प्राक्—पूर्वम्, प्रविष्टमात्रेणैव—सन्निवेशमात्रेणैव, दुरात्मना—दुष्टेन, चाणक्येन—विष्णुगुप्तेन, समन्तात्—चतुर्दिक्षु, अवलोकितः—दृष्टः । ततः—तत्पश्चात्, एकस्मात्—अद्वितीयस्मात्, भित्तिच्छिद्रात्—कुड्यरन्ध्रात्, गृहीतभक्तावयवां—गृहीताः मुखे धृताः भक्तस्य अन्नस्य अवयवाः खण्डाः यया तादृशीं, निष्क्रामन्ती—निर्गच्छन्ती, पिपीलिकापङ्क्तिं—पिपीलिकाश्रेणीम्, अवलोक्य—दृष्ट्वा, एतत्, गृहम्—भवनम्, पुरुषगर्भम्—पुरुषाः गर्भे यस्य तादृशम्, (अस्ति), इति—अस्माद्धेतोः, गृहीतार्थेन—गृहीतः अर्थः तत्त्वं येन तादृशेन चाणक्येनेति शेषः, तदन्तःशयनगृहम्—तत् पूर्वोक्तम् अन्तःशयनगृहम् अन्तर्निद्राभवनं, दाहितम्—भस्मसात्कृतम् । तस्मिंश्च—शयनगृहे, दह्यमाने—भस्मसात्कृते सति, धूमावरुद्धदृष्टयः—धूमेन अवरुद्धा दृष्टिः येषां तथाविधाः, बीभत्सकादयः' सर्वे एव, प्रथमम्—पूर्वम्, अपिहितनिर्गमनमार्गम्—निरुद्धबहिर्निःसरणपथम्, अनधिगम्य—अप्राप्य, ज्वलनम्—अग्निम्, उपगताः—प्राप्ताः, उपरताः—मृताश्च । सास्रम्—सरोदनम् । दैवसम्पदं—भाग्यसम्पत्तिम् ।

अन्वयः—मया तस्य वधाय या विषमयी कन्या गूढं प्रयुक्ता तया दैवात् सः पर्वतकः निहतः यः तस्य राज्यार्धभाक् । ये यन्त्रेषु रसेषु च प्रणिहिताः ते तैः एव घातिताः । पश्य, मे नीतयः मौर्यस्य एव विविधश्रेयांसि फलन्ति ॥ १६ ॥

व्याख्या—मया—राक्षसेन, तस्य—चन्द्रगुप्तस्य, वधाय—नाशाय, या, विषमयी—विषनिर्मिता, कन्या, गूढं—गुप्तं यथा स्यात् तथा, प्रयुक्ता—प्रेरिता, तया—विषकन्यया, दैवात्—भाग्यवशात्, सः पर्वतकः, निहतः—विनाशितः, यः, तस्य—चन्द्रगुप्तस्य, राज्यार्धभाक्—अर्धराज्यस्य हर्ता । ये—जनाः, यन्त्रेषु—प्राणविघातसाधनपदार्थेषु, रसेषु च—विषेषु च, प्रणिहिताः—व्यापारिताः, ते, तैः एव—यन्त्रैः विषैः एव च, घातिताः—हिंसिताः । पश्य—विभावय, मे—मम,

नीतय —प्रयोगा', मौर्यस्य एव—वृपलस्यैव, विविधश्रेयासि—बहुविधकल्याणानि, फलन्ति—समुत्पादयन्ति ॥ १६ ॥

हिन्दी अनुवाद—विराधगुप्त—चन्द्रगुप्त के प्रवेश करने से पहले दुष्ट चाणक्य ने शयन-गृह मे प्रवेश करते ही चारो ओर दृष्टिपात किया । तब दीवार के एक छेद से अन्न के कणो को लिए हुए बाहर निकलती हुई चींटियो की पंक्ति को देखकर इस घर के भीतर (कुछ) लोग (छिपे पडे) हैं—ऐसा समझकर उस भीतरी शयन-कक्ष को जलवा दिया । जलते हुए उस (घर) मे धुएँ से अवरुद्ध दृष्टि वाले वीभत्सक आदि सभी (जन) पहले बंद किये हुए बाहर निकलने के मार्ग को न प्राप्त करके जलकर मर गए ।

राक्षस—[आसू के साथ] मित्र ! देखो, चन्द्रगुप्त की भाग्य-सम्पत्ति से सभी मर गए । [चिन्ता के साथ] मित्र ! दुष्ट पापी चन्द्रगुप्त की भाग्यविभूति तो देखो !! क्योंकि—

मैंने उस (चन्द्रगुप्त) की हत्या के लिए जिस विषकन्या को गुप्त रूप से प्रयुक्त किया था, उसने भाग्यवश उस पर्वतक को मार दिया, जो उस (चन्द्रगुप्त) के आधे राज्य का भागी था । जो (मनुष्य चन्द्रगुप्त को मारने के लिए) यन्त्रो और विषो (के प्रयोग करने) मे लगाये गए थे, वे उन्हीं (यन्त्रो और विषो) मे मारे गए । देखो, नीतियाँ चन्द्रगुप्त के ही अनेक प्रकार के कल्याण को उत्पन्न कर रही हैं ॥ १६ ॥

टिप्पणी—प्रविष्टमात्रेण—प्रविष्ट एव इति प्रविष्टमात्रम् मयूर-व्यंसकादि स०, तेन । पुरुषगर्भम्—पुरुष गर्भे यस्य तत् बहुव्रीहि स० । यहा 'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' सूत्र के बल से 'गर्भ' का पूर्वप्रयोग होना चाहिए, किन्तु 'गड्वादेः परा सप्तमी' इस वार्तिक के बल से उसका परप्रयोग ही हुआ । अपिहित—बंद । अपि√धा+क्त कर्मणि 'दधातेर्हि' इत्यनेन धा इत्यस्य हि आदेश । यहा भागुरि आचार्य के मत से अपि के अकार का लोप हो जाने पर 'पिहित' भी प्रातिपदिक होता है। निर्गमन—यहा 'न भाभूकमिगमिप्यायीवेपाम्' सूत्र से णत्व का निषेध हो जाने के कारण 'निर्गमण' प्रातिपदिक नहीं बनता है । विषमयी—विष सर्वथा प्रकृत प्रचुरमित्यर्थ अस्याम् इति विष+मयट्—ङीप् । गूढम्—√गुह्+क्त कर्मणि, तत् यथा स्यात् तथा । राज्यार्धभाक्—राज्यस्य अर्धम् षष्ठीतत्० (एकदेशिसमास करने से 'अर्धराज्यम्' प्रयोग होना है,)

तत् भजति इति राज्यार्ध√भज्+ण्वि कर्तरि=राज्यार्धभाक् । प्रणिहितः—नियुक्त किए गए । प्र-नि√धा+क्त कर्मणि, धा इत्यस्य हि आदेशः, 'नेर्गदनद' —इत्यादिना णत्वम् । घातिताः—मारे गए ।√हन्+णिच्+क्त कर्मणि । इसका कर्ता लुप्त 'मया' है । तानि (रसयन्त्राणि) तान् हतवन्ति=अहम् तैः तान् घातितवान्=मया तैः ते घातिताः । इस पद्य में विषमालंकार है, वैदर्भी रीति है, माधुर्य गुण है और शार्दूलविक्रीडित छन्द है । इस छन्द का लक्षण १, १२ में देखिए ।। १६ ।।

विराधगुप्तः—अमात्य ! तथापि प्रारब्धमपरित्याज्यमेव । पश्यतु—

> प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
> प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
> विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
> प्रारब्धमुत्तमगुणास्त्वमिवोद्वहन्ति ।।१७।।

अन्वयः—नीचैः विघ्नभयेन न खलु प्रारभ्यते । मध्याः प्रारभ्य विघ्नविहताः (सन्तः) विरमन्ति । त्वमिव उत्तमगुणाः विघ्नैः पुनः पुनः प्रतिहन्यमानाः अपि प्रारब्धम् उद्वहन्ति ।। १७ ।।

व्याख्या—नीचैः—अधमैः, विघ्नभयेन—अन्तरायभीत्या, न खलु—नैव, प्रारभ्यते—कर्म प्रस्तूयते । मध्याः—मध्यमाः जनाः, प्रारभ्य—कर्म प्रस्तुत्य, विघ्नविहताः—विघ्नैः प्रत्यूहैः विहताः बाधिताः (सन्तः), विरमन्ति—निवर्तन्ते । त्वमिव—भवानिव, उत्तमगुणाः—उत्कृष्टगुणवन्तः (जनाः), विघ्नैः—अन्तरायैः, पुनः पुनः—भूयो भूयः, प्रतिहन्यमानाः अपि—बाध्यमाना अपि, प्रारब्धम्—प्रस्तुतं कर्म, उद्वहन्ति—धारयन्ति सम्पादयन्तीत्यर्थः ।। १७ ।।

हिन्दी अनुवाद—**विराधगुप्त**—अमात्य ! तो भी प्रारंभ किये हुए कार्य का परित्याग नही करना चाहिए । देखिए—

नीच (मनुष्य) विघ्नो के डर से (कार्य का) प्रारंभ ही नही करते है । मध्यम (श्रेणी के लोग) प्रारंभ करके विघ्नो से बाधित होने पर रुक जाते हैं । किन्तु आप जैसे उत्तम गुणों वाले (जन) विघ्नों से बार-बार बाधित होते हुए भी प्रारंभ किये हुए (कार्य) को सम्पन्न करते है ।। १७ ।।

टिप्पणी—**प्रारब्धम्**—प्रक्रान्तम्, प्रस्तुतम् । प्र-आ√रभ्+क्त कर्मणि ।।

अपरित्याज्यम्—न छोड़ने योग्य। परि√त्यज्+ण्यत् कर्मणि, 'त्यजेश्च' इति वार्तिकेन कुत्वनिषेध =परित्याज्यम्। न परित्याज्यम् अपरित्याज्यम् नञ्तत्०। विघ्नभयेन—वि√हन्+क करणे घञर्थे=विघ्न। तस्मात् भयम् पञ्चमीतत्०, तेन। हेतौ तृतीया। विरमन्ति—अत्र 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इत्यनेन परस्मैपदत्वम्। इस श्लोक मे पूर्णोपमा अलकार, व्यतिरेक अलकार और अप्रस्तुतप्रशसा अलकार हैं। इसमे वैदर्भी रीति है, प्रसाद गुण है और वसन्ततिलका छन्द है। इस छन्द का लक्षण १, ८ मे देखिए ॥१७॥

अपि च—

किं शेषस्य भरव्यथा न वपुषि क्ष्मा न क्षिपत्येष यत्
किं वा नास्ति परिश्रमो दिनपतेरास्ते न यन्निश्चल ।
किन्त्वङ्गीकृतमुत्सृजन् कृपणवच्छ्लाघ्यो जनो लज्जते
निर्व्यूढ प्रतिपन्नवस्तुषु सतामेतद्धि गोत्रव्रतम् ॥१८॥

अन्वय —शेषस्य वपुषि किं भरव्यथा न यदेष क्ष्मा न क्षिपति ? किं वा दिनपते परिश्रमो नास्ति यत् निश्चलो न आस्ते ? किंतु श्लाघ्यो जन अङ्गीकृत कृपणवत् उत्सृजन् लज्जते। हि प्रतिपन्नवस्तुषु निर्व्यूढम् एतत् सता गोत्रव्रतम् ॥ १८ ॥

व्याख्या—शेषस्य—नागराजस्य, वपुषि—शरीरे, किं भरव्यथा न—किं भूभारधारणजन्या क्लान्ति न, यत्—यस्मात्, एष —शेष, क्ष्मा—धरित्री, न क्षिपति—न पातयति ? किं वा, दिनपते —सूर्यस्य, परिश्रम —आयास, नास्ति—न भवति, यत्—यस्मात्, (एष) निश्चल —स्थिर, न आस्ते—न तिष्ठति ? किन्तु—वस्तुतस्तु, श्लाघ्य —प्रशसनीय, जन —पुरुष, अङ्गीकृत—स्वीकृत (कर्म), कृपणवत्—कापुरुष इव, उत्सृजन्—परित्यजन्, लज्जते—त्रपते। हि—यत, प्रतिपन्नवस्तुषु—स्वीकृतविषयेषु, निर्व्यूढम्—निर्वाह, एतत्, सता—साधूना, गोत्रव्रतम्—कुलधर्म ॥ १८ ॥

हिन्दी अनुवाद—और भी—क्या शेषनाग के शरीर मे (पृथ्वी के) भार से कष्ट नही होता है, जो ये पृथ्वी को (अपने सिर पर से उतार कर) नही फेंक देते है ? अथवा सूर्य को (दिन रात चलने से) परिश्रम नही होता है, जो (ये) स्थिर नही होते हैं ? किन्तु उत्तम पुरुष स्वीकार किये हुए (कार्य) को पामर की भाँति परित्याग करता हुआ लज्जित होता है। क्योंकि स्वीकृत

वस्तुओं के सम्बन्ध में निर्वाह करना (अर्थात् विधिवत् उनका पालन करना), यह महापुरुषों का कुलधर्म है ॥ १८ ॥

टिप्पणी—उत्सृजन्—उद्√सृज्+शतृ हेतौ 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' इत्यनेन। श्लाघ्यः—प्रशंसनीय। √श्लाघ्+ण्यत् कर्मणि। **निर्व्यूढम्**—निर्वाह। निर्—वि√वह्=क्त भावे। यह लुप्त 'भवति' क्रिया का कर्ता है और 'गोत्रव्रतम्' इसका विधेय विशेषण है। इस पद्य में अर्थान्तरन्यास अलंकार उपमा अलंकार से संकीर्ण है। यहाँ भी वैदर्भी रीति है, प्रसाद गुण है और शार्दूलविक्रीडित छन्द है। इस छन्द का लक्षण १, १२ में देखिए ॥ १८ ॥

राक्षसः—सखे! प्रारब्धमपरित्याज्यमिति प्रत्यक्षमेवैतद्भवताम्। ततस्ततः?

विराधगुप्तः—ततः प्रभृति चाणक्यहतकश्चन्द्रगुप्तस्य शरीरे सहस्र-गुणमप्रमत्तः, एभ्य एव ईदृशं भवतीत्यन्विष्य निगृहीतवान् कुसुमपुर-निवासिनो युष्मदीयानाप्तपुरुषान्।

राक्षसः—[**सोद्वेगम्**] वयस्य! कथय कथय के के निगृहीताः?

विराधगुप्तः—अमात्य! आदावेव तावत् क्षपणको जीवसिद्धिः सनिकरं नगरान्निर्वासितः।

राक्षसः—[**आत्मगतम्**] एतावत् सह्यं, न निष्परिग्रहं स्थान-परिभ्रंशः पीडयिष्यति। [**प्रकाशम्**] सखे! कमपराधमुद्दिश्य निर्वा-सित एषः?

विराधगुप्तः—एष दुरात्मा राक्षसप्रयुक्तया विषकन्यया पर्वतेश्वरं घातितवानिति।

राक्षसः—[**स्वगतम्**] साधु कौटिल्य! साधु।

परिहृतमयशः पातितमस्मासु च घातितोऽर्धराज्यहरः।
एकमपि नीतिबीजं बहुफलतामेति यस्य तव ॥ १९ ॥

अन्वय—अर्धराज्यहरः घातितः, अयशः परिहृतम् अस्मासु पातितम् च। यस्य तव एकमपि नीतिबीजम् बहुफलताम् एति ॥ १९ ॥

व्याख्या—अर्धराज्यहर —राज्यार्धभाक्, (पर्वतक) घातित —व्यापादित , (तद्वधजनितम्) अयश —कलङ्क , परिहृतम्—दूरीकृतम्, अस्मासु—मयि, पातित च—आरोपित च । यस्य तव, एकमपि—अद्वितीयमपि, नीतिबीज—जीवसिद्धिनिष्कासनात्मको नीतिहेतु , वहुफलताम्—अनेकफलत्वम्, एति—प्राप्नोति ॥ १६ ॥

हिन्दी अनुवाद—राक्षस—मित्र ! प्रारभ किया हुआ कार्य छोडने योग्य नहीं है, यह तो आपके समक्ष ही है । तब क्या हुआ ?

विराधगुप्त—तब से लेकर दुष्ट चाणक्य चन्द्रगुप्त के शरीर के बारे मे हजार गुने सावधान रहते हुए, इन्ही (लोगो) से ऐसा होता है—यह मानकर कुसुमपुर मे रहने वाले आपके विश्वस्त पुरुषो को ढूढकर कैद कर लिया ।

राक्षस—[उद्वेग के साथ] मित्र बताओ, बताओ किन-किन को पकड लिया है ?

विराधगुप्त—अमात्य ! सबसे पहले तो क्षपणक जीवसिद्धि को नगर से अपमानपूर्वक निर्वासित कर दिया है ।

राक्षस—[मन मे] इतना सह्य है, (क्योकि) विषयासक्ति से रहित को स्थान-परित्याग पीडित नहीं करेगा । [प्रकट] मित्र ! किस अपराध से यह निकाला गया ?

विराधगुप्त—इस दुष्ट ने राक्षस के द्वारा प्रयुक्त विषकन्या से पर्वतेश्वर का वध कराया ।

राक्षस—[मन मे] वाह कौटिल्य ! वाह ।

आधे राज्य के भागी को मरवा दिया, कलक को मिटा दिया और मुझ पर (उस कलक को) लाद भी दिया । जिस तुम्हारी नीति का एक ही बीज नाना भाति के फलो को प्राप्त कर रहा है ॥ १६ ॥

टिप्पणी—प्रत्यक्षमेव—समक्षमेव । अक्ष=इन्द्रिय । अक्षाणि प्रतिगतम् इति प्रत्यक्षम् प्रादितत्० । अथवा अक्ष्णो आभिमुख्यम् इत्यर्थे 'लक्षणेनाभिप्रती—'इत्यनेन अव्ययीभावसमास , 'प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्ण ' इत्यनेन समासान्तटच्प्रत्यय । सहस्रगुणम्—सहस्र गुणा यस्मिन् कर्मणि तद् यथा स्यात्

तथा । क्रियाविशेषणमेतत् । **अन्विष्य**—संमृग्य । **निगृहीतवान्**—दण्डितवान् । **युष्मदीयान्**—युष्माकम् इमे इति युष्मद्+छ—ईय=युष्मदीयाः, तान् । **आप्तपुरुषान्**—विश्वस्तजनान् । **निष्परिग्रहम्**—विषयभोग या परिवार से रहित । परिगृह्यते इति परि√ग्रह्+अप् कर्मणि=परिग्रहः । निरस्तः परिग्रहः अनेन इति निष्परिग्रहः बहुव्रीहि स०, 'इदुदुपधस्य' इत्यनेन षत्वम् । **अर्धराज्यहरः**—आधा राज्य पाने वाला । अर्धञ्च तत् राज्यम् अर्धराज्यम् कर्मधारय स० । हरतीति हरः√हृ+अच् कर्तरि । अर्धराज्यस्य हरः षष्ठीतत्० । **बहुफलताम्**—बहूनि फलानि यस्य स बहुफलः बहुव्रीहि स० । तस्य भावः तत्ता, ताम् । अत्र चाणक्यस्य नीतिबीजेन फलत्रय समुत्पादितम्—(१) अर्धराज्यहरः घातितः, (२) अयशः परिहृतम्, (३) अयशः अस्मासु पातितम् । **यस्य तव**—यहाँ 'यस्य' का अन्वय ठीक नही बैठ रहा है । अतएव इसके पूर्व चूर्णक के पद—साधु कौटिल्य ! साधु—का अध्याहार कर लेना चाहिए । इस श्लोक में काव्यलिंग अलंकार है, वैदर्भी रीति है, प्रसाद गुण है और आर्या छन्द है । आर्या का लक्षण १, ५ में देखिए ।। १९ ।।

[**प्रकाशम्**] ततस्ततः ?

विराधगुप्तः—ततश्चन्द्रगुप्तशरीरमभिद्रोग्धुमनेन व्यापारिता दारुवर्मादय इति नगरे प्रख्याप्य शकटदासः शूलमारोपितः ।

राक्षसः—[**सास्रम्**] हा सखे ! शकटदास ! अयुक्तस्तवायमीदृशो मृत्युः !! अथवा, स्वाम्यर्थमुपरतो न शोच्यस्त्वमसि; वयमेवात्र शोच्याः,—ये नन्दकुलविनाशेऽपि जीवितुमिच्छामः ।

विराधगुप्तः—अमात्य ! स्वाम्यर्थ एव साधयितव्य इति प्रयतसे ।

राक्षसः—सखे !—

> अस्माभिरमुमेवार्थमालम्ब्य न जिजीविषाम् ।
> परलोकगतो देवः कृतघ्नैर्नानुगम्यते ।। २० ।।

अन्वयः—अमुमेव अर्थ न जिजीविषाम् आलम्ब्य कृतघ्नैः अस्माभिः परलोकगतो देवो न अनुगम्यते ।। २० ।।

व्याख्या—अमुमेव—उक्तरूपमेव, अर्थ—प्रयोजनम्, न जिजीविषाम्—

जीवनेच्छाम्, आलम्ब्य—आश्रित्य, कृतघ्नै —कृतोपकारानभिज्ञै, अस्माभि, परलोकगत —लोकान्तर प्राप्त, देव —स्वामी नन्द इत्यथ, न अनुगम्यते—न अनुम्रियते ॥ २० ॥

हिंदी अनुवाद—[प्रकट] उसके बाद ?

विराधगुप्त—तब चन्द्रगुप्त के शरीर को विनष्ट करने के लिए इसने दारुवर्मा आदि को प्रेरित किया—यह (बात) नगर में प्रसिद्ध कराकर शकटदास को शूली पर चढा दिया गया।

राक्षस—[आँसू के साथ] हाय मित्र ! शकटदास ! तुम्हारी ऐसी मृत्यु उचित नही है !! अथवा, स्वामी के लिए मरे हो, तुम शोक करने योग्य नही हो, हम ही इस विषय में शोक करने योग्य हैं,—जो नन्द-वंश के विनष्ट हो जाने पर भी जीने की इच्छा कर रहे हैं।

विराधगुप्त—अमात्य ! स्वामी का प्रयोजन ही सिद्ध करना चाहिए, इसलिए प्रयत्न कर रहे हैं।

राक्षस—मित्र !—

इसी प्रयोजन का—न कि जीने की इच्छा का—आश्रय लेकर कृतघ्न हम दूसरे लोक में पहुँचे हुए स्वामी का अनुमरण नही कर रहे हैं ॥ २० ॥

टिप्पणी—अभिद्रोग्धुम्—अभिजिघांसितुम्। व्यापारिता —नियोजिता। प्रख्याप्य—उद्घोष्य। आरोपित —स्थापित। स्वाम्यर्थम्—स्वामी प्रभु अर्थ कारण यस्मिन् तत् यथा स्यात् तथा। उपरत —मृत। शोच्य — अवश्य शोचनीय इति √शुच् + ण्यत् कर्मणि 'ण्य आवश्यके' इति सूत्रेण कुत्वनिषेध। नन्दकुलविनाशेऽपि—अत्र 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' इति सूत्रेण भावे सप्तमी। जिजीविषाम्—जीवनेच्छाम्। जीवितुमिच्छा इति √जीव् + सन् + अ भावे = जिजीविषा, ताम्। यह 'आलम्ब्य' का कर्म है। कृतघ्नै —√कृ + क्त कर्मणि कृतम्, तत् घ्नन्ति विस्मरणेन इति कृत√हन् + क कर्तरि मूलविभुजादित्वात् = कृतघ्ना, तै। इस श्लोक में काव्यलिंग और परिसंख्या अलंकारों की संसृष्टि है। इसमें वदर्भी रीति है, माधुर्य गुण है, करुण रस है और अनुष्टुप् छन्द है। इस छन्द का लक्षण १, ३ में देखिए ॥ २० ॥

विराधगुप्तः—अमात्य ! नैतदेवम् । [**अस्माकममुमेवार्थमित्यादि पुनः पठति ।**]

राक्षसः—सखे ! कथ्यतामपरस्यापि सुहृद्व्यसनस्य श्रवणे सज्जोऽस्मि ।

विराधगुप्तः—तत एतदुपलभ्य चन्दनदासेनोपारूढसाध्वसेनापवाहितममात्यकलत्रम् ।

राक्षसः—सखे ! क्रूरस्य चाणक्यवटोः विरुद्धमयुक्तमनुष्ठितं चन्दनदासेन ।

विराधगुप्तः—ननु अयुक्ततरः सुहृद्द्रोहः ।

राक्षसः—ततस्ततः ?

विराधगुप्तः—ततो याच्यमानेनापि यदा न समर्पितमनेनाऽमात्यकलत्रं ततः कुपितेन चाणक्यवटुना— ।

राक्षसः—[**सोद्वेगं**] स खलु व्यापादितः ?

विराधगुप्तः—अमात्य ! न खलु व्यापादितः, किन्तु गृहीतगृहसारः सपुत्रकलत्रः संयम्य बन्धनागारे निक्षिप्तः ।

राक्षसः—ततः किं परितुष्टः कथयसि—'अपवाहितमनेन राक्षसकलत्रम्' इति । ननु वक्तव्यं "संयतः सकलत्रो राक्षसः' इति ।

हिन्दी अनुवाद—विराधगुप्त—अमात्य ! ऐसी बात नही है । [**'अस्माकममुमेवार्थम्'**—इत्यादि **श्लोक फिर पढ़ता है ।**]

राक्षस—मित्र ! कहो, दूसरे मित्र की विपत्ति भी सुनने के लिए तैयार हूँ ।

विराधगुप्त—तब यह (शकटदास की घटना) जानकर भयभीत हुए-चन्दनदास ने आपके परिवार को हटा दिया ।

राक्षस—मित्र ! चन्दनदास ने क्रूर वटुक चाणक्य के विरुद्ध (यह) अनुचित कार्य किया ।

विराधगुप्त—(किन्तु) मित्र-द्रोह तो इससे भी बुरा होता है ।

राक्षस—उसके बाद (क्या हुआ) ?

विराधगुप्त—अनन्तर माँगने पर भी जब उन्होंने आपके परिवार को नहीं सौंपा तब क्रुद्ध वटुक चाणक्य ने—।

राक्षस—[घबडाहट के साथ] क्या वह मार दिया गया ?

विराधगुप्त—अमात्य ! मारे तो नहीं गए, किन्तु (उनके) घर की सारी सम्पत्ति ले ली गई और (उन्हें) स्त्री-पुत्र सहित पकड कर कारागार में डाल दिया गया ।

राक्षस—तब क्या तुम सन्तुष्ट होकर कह रहे हो कि उन्होंने राक्षस के परिवार को दूर कर दिया । वस्तुतः (यह) कहना चाहिए कि स्त्री-पुत्र सहित राक्षस को पकड लिया गया ।

टिप्पणी—अस्माकममुमेवार्थम्—इसका तात्पर्य यह है कि जो लोग उपकारी स्वामी का कार्य सम्पन्न किये बिना उसका अनुगमन करते हैं, वे कृतघ्न कहलाते हैं। आप तो स्वामी का कार्य सिद्ध करने के लिए रह रहे हैं, इसलिए आप कृतघ्न नहीं हैं। एतदुपलभ्य—यह उपलब्ध करके अर्थात् जानकर। इसका तात्पर्य है शकटदास के शूलारोपण की घटना से। उपारूढसाध्वसेन—उपारूढ समुत्पन्न साध्वस भय यस्य स उपारूढसाध्वस बहुव्रीहि स०, तेन। अपवाहितम्—हटा दिया। अप√वह्+णिच+क्त कर्मणि। अयुक्ततर—अतिशयेन अनुचित। सुहृद्द्रोह—मित्र के विरुद्ध आचरण करना। सुष्ठु हृदयमस्य इति सुहृत् बहुव्रीहि स०, हृदयस्य हृदादेश। तस्य द्राह सुप्सुपा स०। गृहीतगृहसार—गृहस्य सार श्रेष्ठवस्तु गृहसार। गृहीत गृहसार यस्य स। बन्धनागारे—जेल में।√बध्+ल्युट् अधिकरणे = बन्धनम्। बन्धनञ्च तदागारञ्च कर्मधारय स०, तस्मिन्।

[प्रविश्य पटाक्षेपेण पुरुष] जेदु अमच्चो। अज्ज ! एसो क्खु सअडदासो पडिहारभूमिमुवत्थिदो (जयत्वमात्य। आर्य ! एष खलु शकटदास प्रतिहारभूमिमुपस्थित।)

राक्षस—प्रियंवदक ! अपि सत्यम् ?

प्रियंवदक—किं अलिअं अमच्चपादेसु विणिवेदेमि ? (किमलीकममात्यपादेषु विनिवेदयामि ?)

राक्षस—सखे ! विराधगुप्त ! कथमेतत् ?

विराधगुप्तः—अमात्य ! स्यादेतदेवं यतो भव्यं रक्षति भवितव्यता ।

राक्षसः—प्रियंवदक ! यद्येवं, तत् किं चिरयसि ? क्षिप्र प्रवेशय तम् ।

प्रियंवदकः—जं अमच्चो आणवेदि त्ति । (यदमात्य आज्ञापयति ।)
[इति निष्क्रान्तः ।]

[ततः प्रविशति सिद्धार्थकेनानुगम्यमानः शकटदासः ।]

शकटदासः—[दृष्ट्वा स्वगतम्]—

दृष्ट्वा मौर्यमिव प्रतिष्ठितपदं शूलं धरित्र्यास्तले
तल्लक्ष्मीमिव चेतसः प्रमथनीमुन्मुच्य वध्यस्रजम् ।
श्रुत्वा स्वाम्युपरोधरौद्रविषमानाध्माततूर्यस्वनान्
न ध्वस्तं प्रथमाभिघातकठिनं मन्ये मदीयं मनः ॥ २१ ॥

अन्वयः—मन्ये प्रथमाभिघातकठिनं मदीयं मनः मौर्यमिव धरित्र्यास्तले प्रतिष्ठितपदं शूलं दृष्ट्वा तल्लक्ष्मीमिव चेतसः प्रमथनी वध्यस्रजम् उन्मुच्य स्वाम्युपरोधरौद्रविपमान् आध्माततूर्यस्वनान् श्रुत्वा न ध्वस्तम् ॥ २१ ॥

व्याख्या—मन्ये—शङ्के, प्रथमाभिघातकठिनं—प्रथमाः पूर्वप्राप्ताः ये अभिघाताः प्रहाराः तैः कठिनं घनं, मदीयं—मम, मनः—चेतः, मौर्यमिव—चन्द्रगुप्तमिव, धरित्र्याः—पृथिव्याः, तले—पृष्ठे, प्रतिष्ठितपदं—बद्धमूलं, शूलं—मारणार्थलौहदण्डं, दृष्ट्वा—अवलोक्य, तल्लक्ष्मीमिव—चन्द्रगुप्तश्रियमिव, चेतसः—हृदयस्य, प्रमथनी—विदारणी, वध्यस्रजं—वध्यचिह्नभूतां रक्तकुसुममालाम्, उन्मुच्य—परिधाय, स्वाम्युपरोधरौद्रविषमान्—स्वामिनः प्रभोः नन्दस्य यः उपरोधः हिंसा तदिव रौद्रान् घोरान् विषमान् कर्कशान्, आध्माततूर्यस्वनान्—ताडितडिण्डिमशब्दान्, श्रुत्वा—निशम्य, न ध्वस्तम्—न विदीर्णम् ॥ २१ ॥

हिन्दी अनुववाद—[पर्दे को बिना हटाये एक पुरुप प्रवेश करके] अमात्य की जय हो । आर्य ! ये शकटदास दरवाजे पर आये हुए है ।

राक्षस—प्रियंवदक ! क्या (यह) सत्य है ?

प्रियंवदक—क्या अमात्य के चरणों में मिथ्या निवेदन करूँगा ?

राक्षस—मित्र ! विराधगुप्त ! यह कैसे ?

इस पद्य में विभावना नामक अलंकार है और अनुष्टुप् छन्द है। अनुष्टुप् का लक्षण १, ३ में देखिए ॥ २२ ॥

[उपसृत्य] जयत्वमात्य ।

राक्षस —[विलोक्य सहर्षम्] सखे शकटदास ! दिष्ट्या कौटिल्य-गोचरगतोऽपि दृष्टोऽसि, तत् परिष्वजस्व माम् ।

[शकटदासस्तथा करोति ।]

राक्षस —[त परिष्वज्य] इदमासनमास्यताम् ॥

शकटदास —यदाज्ञापयत्यमात्य । [इति नाट्येनोपविष्ट ।]

राक्षस —सखे शकटदास ! अथ कोऽयमीदृशस्य मे हृदयानन्दस्य हेतु ?

शकटदास —[सिद्धार्थकं निर्दिश्य] अमात्य ! प्रियसुहृदा सिद्धार्थकेन घातकान् विद्राव्य वध्यस्थानादपवाहितोऽस्मि ।

राक्षस —[सहर्षम्] भद्र सिद्धार्थक ! काममपर्याप्तमिदमस्य प्रियस्य, तथापि गृह्यताम् । [इति स्वगात्रादवतार्य भूषणानि प्रयच्छति ।]

सिद्धार्थक —[गृहीत्वा पादयोर्निपत्य स्वगतम्] अअं क्खु अज्जोवदेसो । होदु । तह करिस्सम् । [प्रकाशम्] अमच्च ! एत्थ मे पढमप्पविट्ठस्स णत्थि कोवि परिचिदो, जहिं एदं अमच्चस्स प्पसादं णिक्खिविअ णिव्वुदो भविस्सं, ता इच्छामि अहं इमाए मुद्दिआए मुद्दिदं अमच्चस्स ज्जेव भाण्डागारे णिक्खिविदुं । जदा मे एदिणा प्पओअणं भविस्सदि, तदा गेहिणस्सं । (अयं खलु आर्योपदेश । भवतु । तथा करिष्यामि । अमात्य ! अत्र मे प्रथमप्रविष्टस्य नास्ति कोऽपि परिचित , यत्रेमममात्यस्य प्रसादं निक्षिप्य निर्वृत्तो भविष्यामि, तदिच्छाम्यहमेतया मुद्रया मुद्रितममात्यस्यैव भाण्डागारे निक्षेप्तुम् । यदा मे एतेन प्रयोजनं भविष्यति तदा ग्रहीष्यामि ।)

हिन्दी अनुवाद—[समीप जाकर] अमात्य की जय हो ।

राक्षस—[देखकर हर्ष के साथ] मित्र शकटदास ! भाग्य से, चाणक्य के पंजे में पड़ जाने पर भी तुम दिखाई पड़े हो। इसलिए मेरा आलिंगन करो।

[शकटदास वैसा करता है ।]

राक्षस—[**उसका आलिंगन करके**] यहाँ इस आसन पर बैठो ।

शकटदास—अमात्य की जो आज्ञा । [**अभिनयपूर्वक बैठ जाता है ।**]

राक्षस—मित्र शकटदास ! तो यह कौन इस प्रकार के मेरे हृदय के आनन्द का कारण है ?

शकटदास—[**सिद्धार्थक को लक्ष्य करके**] अमात्य ! प्रिय मित्र सिद्धार्थक वधिकों को डरा-धमका कर मुझे वध्य-भूमि से हटा लाया ।

राक्षस—[**हर्ष के साथ**] कल्याणभाजन सिद्धार्थक ! इस प्रिय (कार्य) के लिए यह बिलकुल अपर्याप्त है, तो भी स्वीकार करो । [**अपने शरीर से आभूषण उतारकर देता है ।**]

सिद्धार्थक—[**लेकर चरणों पर गिरकर मन ही मन**] यह आर्य (चाणक्य) की शिक्षा है । अच्छा । वैसा करूँगा । [**प्रकट**] अमात्य ! यहाँ पहले-पहल आये हुए मेरा कोई परिचित नही है, जिसके पास आपके इस प्रसाद को धरोहर रखकर निश्चिन्त हो जाऊँ । इसलिए चाहता हूँ कि मैं इस मुद्रा से अंकित करके आप ही के खजाने में थाती रख दूँ । जब इसकी जरूरत पडेगी तब ले लूंगा ।

टिप्पणी—कौटिल्यगोचरगतः—कौटिल्यस्य गोचरः तं गतः चाणक्य-समीपं प्राप्त इत्यर्थः । परिष्वजस्व—आलिङ्ग । परि√स्वञ्ज्+लोट्—स्व 'उपसर्गात् सुनोति'—इति षत्वम् । विद्राव्य—संताड्य दण्डयित्वेति यावत् । वि√द्रु+णिच्+क्त्वा—ल्यप् । प्रसादम्—अनुग्रहम् । प्र√सद्+घञ् भावे = प्रसादः, तम् । निर्वृत्तः—सुखी । निर्√वृत्+क्त कर्तरि । भाण्डागारे—कोषगृहे ।

राक्षसः—भद्र ! भवतु, को दोषः ? शकटदास ! एवं क्रियताम् ।

शकटदासः—यदाज्ञापयतीति । [**मुद्रां विलोक्य जनान्तिकम्**] अमात्य ! भवन्नामाङ्कितेयं मुद्रा ।

राक्षसः—[**विलोक्य सविषादं सवितर्कमात्मगतम्**] सत्यं नगरात् निष्क्रामतो मम हस्ताद् ब्राह्मण्या उत्कण्ठाविनोदार्थं गृहीता, तत् कथमस्य हस्तमुपगता ? [**प्रकाशम्**] भद्र सिद्धार्थक ! कुतस्त्वयेयमधिगता ?

सिद्धार्थक —अमच्च ! अत्थि कुसुमपुरणिवासी मणिआरसेठी चन्दण-दासो णाम। तस्स गेहदुआरे भूमिए पडिदा, मए समासादिदा। (अमात्य ! अस्ति कुसुमपुरनिवासी मणिकारश्रेष्ठी चन्दनदासो नाम। तस्य गेहद्वारे भूमौ पतिता, मया समासादिता।)

राक्षस —युज्यते।

सिद्धार्थक —अमच्च ! किं एत्थ जुज्जदि ? (अमात्य ! किमत्र युज्यते ?)

राक्षस —भद्र ! यतो महाधनानां गृहे पतितस्यैवंविधस्योपलब्धि-रिति।

शकटदास —सखे सिद्धार्थक ! अमात्यनामाङ्कितेयं मुद्रा। तदितो बहुतरेणार्थेन भवन्तममात्यस्तोषयिष्यति। तद् दीयतामेषा मुद्रा।

सिद्धार्थक —अज्ज ! एसो मे परितोसो, जं अमच्चो इमाए मुद्दाए परिग्गहप्पसादं करेदि त्ति। (आर्य ! एष मे परितोषो, यदमात्योऽस्या मुद्रायाः परिग्रहप्रसादं करोतीति।) [इति मुद्रां समर्पयति]

हिन्दी अनुवाद—राक्षस—भद्र ! हो, इसमें क्या हानि है ? शकटदास ! ऐसा कर दो।

शकटदास—जो आज्ञा। [मुद्रा को देखकर धीरे से कान में] अमात्य ! इस मुद्रा पर तो आपका नाम अङ्कित है।

राक्षस—[देखकर विषाद और संदेह के साथ मन में] सचमुच, नगर से बाहर निकलते हुए मेरे हाथ से ब्राह्मणी ने सान्त्वना के लिए (यह मुद्रा) ले ली थी। तो इसके हाथ में कैसे आ गई ? [प्रकट] सौम्य सिद्धार्थक ! तुम्हें यह कहाँ मिली ?

सिद्धार्थक—अमात्य ! पाटलिपुत्र में चन्दनदास नाम का सेठ जौहरी रहता है। उसके गृह-द्वार की भूमि पर गिरी-पड़ी मैंने पायी।

राक्षस—ठीक है।

सिद्धार्थक—अमात्य ! इसमें ठीक क्या है ?

राक्षस—भद्र ! जिसलिए कि धनसेठो के घर मे गिरी हुई ऐसी वस्तु की ाप्ति हो सकती है ।

शकटदास—मित्र सिद्धार्थक ! यह मुद्रा अमात्य के नाम से अंकित है। इसलिए इससे कही अधिक धन से अमात्य आपको सन्तुष्ट करेगे । इसलिए यह मुद्रा दे दीजिए ।

सिद्धार्थक—आर्य ! मेरा सन्तोष इसी मे है कि अमात्य इस मुद्रा को स्वीकार करने की कृपा कर रहे है [**मुद्रा दे देता है ।**]

टिप्पणी—जनान्तिकम्—नाटक में एक अभिनेता का दूसरे के कान से सटकर कुछ कहना । जनानाम् अन्तिकम् जनान्तिकम्, तत् यथा स्यात् तथा (आह) । क्रियाविशेषणमेतत् । इसका लक्षण यह है—'जनान्तिकं तु तत्प्रोक्तं यत्तृतीयाद्यगोचरम्' साहित्यदर्पणकार ने यह लक्षण किया है—'त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् । अन्योऽन्यामन्त्रणं यत्स्यात्तज्जनान्ते जनान्तिकम् ॥' उत्कण्ठाविनोदार्थम्—उन्मनस्कत्वप्रशमनार्थम् । वेचैनी दूर करने के लिए, वियोग में मन बहलाने के लिए । उद्√कण्ठ्+अ भावे=उत्कण्ठा । तस्याः विनोदः । तस्मै इदम् इति नित्यचतुर्थीतत्पुरुषसमासः 'अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता च वक्तव्या' इत्यनेन । अधिगता—प्राप्ता । समासादिता—लब्धा । सम्—आ√सद्+णिच्+क्त—टाप् । महाधनानाम्—अत्यंत धनियों के । महान्ति धनानि एषाम् इति महाधनाः बहुव्रीहि स०, तेषाम् । उपलब्धिः—प्राप्तिः । उप्√लभ्+क्तिन् भावे । इतः—अस्मात् अङ्गुलीयकात् । अत्र 'पञ्चमी विभक्ते' इत्यनेन पञ्चमी । बहुतरेण—इससे अधिक ।

राक्षसः—सखे शकटदास ! अनयैव मुद्रया स्वाधिकारे व्यवहर्तव्यं भवता ।

शकटदासः—यदाज्ञापयत्यमात्यः ।

सिद्धार्थकः—अमच्च ! बिणबेमि किं पि। (अमात्य ! विज्ञापयामि किमपि ।)

राक्षसः—भद्र ! विश्रब्धं ब्रूहि ।

सिद्धार्थकः—जाणादि ज्जेब अमच्चो जधा चाणक्कहदअस्स विप्पिअं

कदुअ, णत्थि मे पुणो पाडलिउत्तेप्पवेसो त्ति, ता इच्छामि अहं अज्जस्स ज्जेव सुप्पसण्णे पादे सेविदु । (जानात्येवामात्यो यथा चाणक्यहतकस्य विप्रियं कृत्वा, नास्ति मे पुन पाटलिपुत्रे प्रवेश इति, तदिच्छाम्यहममात्यस्यैव सुप्रसन्नौ पादौ सेवितुम् ।)

राक्षस —भद्र ! प्रिय न , किन्तु त्वदभिप्रायपरिज्ञानेनाऽन्तरितोऽस्माकमनुनय । तदेव क्रियताम् ।

सिद्धार्थक —[सहर्षम] अणुग्गहिदोह्मि । (अनुगृहीतोऽस्मि ।)

राक्षस —सखे शकटदास ! विश्रामय सिद्धार्थकम् ।

शकटदास —यदाज्ञापयत्यमात्य ।

[इति सिद्धार्थकेन सह निष्क्रान्त ।]

हिन्दी अनुवाद—राक्षस—मित्र शकटदास ! आप अपने अधिकार (के प्रयोग) मे इसी मुद्रा का उपयोग करे ।

शकटदास—अमात्य की जो आज्ञा ।

सिद्धार्थक—अमात्य ! मुझे कुछ निवेदन करना है ।

राक्षस—विश्वासपूर्वक कहो ।

सिद्धार्थक—अमात्य जानते ही हैं कि दुष्ट चाणक्य की बुराई करके पाटलिपुत्र मे मेरा पुन प्रवेश नही हो सकता, इसलिए मैं चाहता हूँ कि अमात्य के ही सुन्दर चरणो की सेवा मे रहूँ ।

राक्षस—भद्र ! (तुम्हारा रहना) मुझे अभीष्ट है, किन्तु तुम्हारी इच्छा के जान लेने से मेरा अनुरोध छिप गया है । तो ऐसा करो ।

सिद्धार्थक—[हर्ष के साथ] अनुगृहीत हूँ ।

राक्षस—मित्र शकटदास ! सिद्धार्थक को विश्राम कराओ ।

शकटदास—अमात्य की जो आज्ञा ।

[सिद्धार्थक के साथ बाहर चला जाता है ।]

टिप्पणी—स्वाधिकारे—स्वनियोगे । व्यवहर्तव्यम्—व्यवहार कार्य । वि—अव√हृ+तव्य भावे । विप्रियम्—विरोधम् । विगत प्रियेभ्य वा

विरुद्धं प्रियैः विप्रियम् । कृत्वा नास्ति—यहाँ 'स्थितस्य' का अध्याहार करके 'कृत्वा स्थितस्य जनस्य प्रवेशो नास्ति' ऐसा वाक्य समझना चाहिए; अन्यथा 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' सूत्र से 'कृत्वा' मे क्त्वा प्रत्यय नही होगा । विश्रामय—वि√श्रम्+णिच्+लोट्—हि । यहाँ 'मितां ह्रस्वः' सूत्र से ह्रस्वता हो जाने पर 'विश्रमय' रूप होना चाहिए; किन्तु व्यवस्थितविभाषा का आश्रयण करने से 'विश्रामय' और 'विश्रमय' दोनो रूप शुद्ध कहे जा सकते है ।

राक्षस—सखे विराधगुप्त ! वर्णयेदानी कुसुमपुरवृत्तान्तशेषम् । अपि क्षमन्ते कुसुमपुरनिवासिनोऽस्मदुपजापं चन्द्रगुप्तप्रकृतयः ?

विराधगुप्तः—अमात्य ! वाढ क्षमन्ते, ननु यथाप्रधानमनुगच्छन्त्येव ।

राक्षसः—सखे ! कि तत्र कारणम् ?

विराधगुप्तः—अमात्य ! इदं तत्र कारणम्—मलयकेतोरपक्रमणात् प्रभृति पीडितश्चन्द्रगुप्तेन चाणक्य इति । चाणक्योऽपि जितकाशितयाऽसहमानस्तैस्तैराज्ञाभङ्गैश्चन्द्रगुप्तस्य चेतसः पीडामुपचिनोति, अयमपि ममानुभवः ।

राक्षसः—[सहर्षम्] सखे विराधगुप्त ! तद्गच्छ त्वम् अनेनैव आहितुण्डिकच्छद्मना पुनः कुसुमपुरमेव । तत्र हि मे सुहृत् वैतालिकव्यञ्जनः स्तनकलसो नाम प्रतिवसति । स त्वया मद्वचनात् वाच्यः, यथा चाणक्येन क्रियमाणेष्वाज्ञाभङ्गेषु चन्द्रगुप्तस्त्वया समुत्तेजनसमर्थैः श्लोकैरुपश्लोकयितव्यः इति । कार्यञ्चातिनिभृतं करभकहस्तेन सन्देष्टव्यम् इति ।

विराधगुप्तः—यदाज्ञापयत्यमात्यः ।

[इति निष्क्रान्तः ।]

हिन्दी अनुवाद—राक्षस—मित्र विराधगुप्त ! अब कुसुमपुर के शेष वृत्तान्त का वर्णन करो । क्या कुसुमपुर मे रहने वाली चन्द्रगुप्त की प्रजाये हमारे द्वारा डाली गई फूट को सहन करती है ?

विराधगुप्तः—अमात्य ! हाँ, सहन करती है, और प्रधान (राजा चन्द्रगुप्त तथा मन्त्री चाणक्य) के अनुसार (परस्पर फूट डालने के कार्य का) अनु-

स्मरण भी करती है (अर्थात् जैसे राजा और मंत्री में फूट है उसी तरह प्रजाओं में भी है)।

राक्षस—मित्र! वहाँ (राजा और मंत्री में फूट पड़ने का) क्या कारण है?

विराधगुप्त—अमात्य! वहाँ यह कारण है कि मलयकेतु के निकल भागने के बाद से लेकर चन्द्रगुप्त के द्वारा चाणक्य तंग किया जा रहा है और चाणक्य भी विजय के अभिमान में चूर होने के कारण (चन्द्रगुप्त को) सहन न करता हुआ उन-उन आज्ञाओं के उल्लंघनों से चन्द्रगुप्त के हृदय में पीड़ा उत्पन्न करता है, ऐसा भी मेरा अनुभव है।

राक्षस—[हर्ष के साथ] मित्र विराधगुप्त! तब तो तुम इसी सँपेरे के बहाने फिर कुसुमपुर ही जाओ। वहाँ स्तनकलश नाम का मेरा मित्र वैतालिक के वेष में रहता है। उसे तुम मेरी ओर से कहना कि चाणक्य के द्वारा आज्ञाओं के उल्लंघन किये जाने पर तुम्हें अत्यंत उत्तेजित करने में समर्थ श्लोकों से चन्द्रगुप्त की स्तुति करनी चाहिए और कार्य का बहुत ही गुप्त रूप से करभक के द्वारा (मुझे) कहला भेजना चाहिए।

विराधगुप्त—अमात्य की जो आज्ञा।

[बाहर चला जाता है।]

टिप्पणी—अपि—यहाँ प्रश्नवाचक अव्यय है। अस्मदुपजापम्—अस्माकम् उपजापम् = भेदमन्त्रम्। बाढम्—यह स्वीकारात्मक अव्यय है। जितकाशितया—जितेन जयेन काशते स्फुरति इति जितकाशी, तस्य भाव. जितकाशिता, तया अतिगर्वितयेत्यर्थः। अनुभव—अनुभूयते इति अनु√भू+अप् कर्मणि। वैतालिकव्यञ्जन—स्तुतिपाठकस्य मागधस्य लिङ्गधारीत्यर्थः। समुत्तेजनसमर्थैः—समुद्दीपनयोग्यैः। सम्-उद्√तिज्+णिच्+ल्युट्—अन = समुत्तेजनम्। तत्र समर्थाः सुप्सुपा स०, तैः। उपश्लोकयितव्यः—स्तोतव्यः। उप√श्लोक्+णिच्+तव्य कर्मणि।

पुरुष—[प्रविश्य] जेदु अमच्चो। अमच्च! सअडदासो विण्णवेदि, एदे क्खु तिण्णि अलङ्कारविसेसा विक्कीअन्ति, ता पच्चक्खीकरेदु अमच्चो। (जयत्वमात्य। अमात्य! शकटदासो विज्ञापयति, एते खलु

त्रयोऽलङ्कारविशेषा विक्रीयन्ते, तत् प्रत्यक्षीकरोत्वमात्यः ।)

राक्षसः—[विलोक्यात्मगतम्] अहो ! महार्हाण्याभरणानि । [प्रकाशम्] भद्र ! उच्यतां शकटदासः, परितोष्य विक्रेतारं गृह्यन्तामिति ।

पुरुषः—जं अमच्चो आणवेदि । (यदमात्य आज्ञापयति ।)

[इति निष्क्रान्तः]

राक्षसः—[स्वगतम्] यावदहमपि कुसुमपुराय करभकं प्रेषयामि । [उत्थाय] अपि नाम दुरात्मनश्चाणक्याच्चन्द्रगुप्तो भिद्येत, अथवा सिद्धमेव समीहितं पश्यामि । कुतः—

मौर्यस्तेजसि सर्वभूतलभुजामाज्ञापको वर्तते
चाणक्योऽपि मदाश्रयादयमभूद्राजेति जातस्मयः ।
राज्यप्राप्तिकृतार्थमेकमपरं तीर्णप्रतिज्ञार्णवं
सौहार्दात् कृतकृत्यतैव नियतं लब्धान्तरा भेत्स्यति ॥२३॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे]

॥ इति राक्षसविचारनामकद्वितीयोऽङ्कः ॥

अन्वयः—मौर्यः सर्वभूतलभुजाम् आज्ञापकः तेजसि वर्तते, चाणक्योऽपि मदाश्रयात् अयं राजा अभूत् इति जातस्मयः, राज्यप्राप्तिकृतार्थम् एकं तीर्णप्रतिज्ञार्णवम् अपरं कृतकृत्यता एव लब्धान्तरा नियतं सौहार्दात् भेत्स्यति ॥२३॥

व्याख्या—मौर्यः—वृषलः, सर्वभूतलभुजाम्—सकलभूपतीनाम्, आज्ञापकः—शाशकः, (सन्) तेजसि—प्रतापे, वर्तते—विद्यते, चाणक्योऽपि—कौटिल्योऽपि, मदाश्रयात्—मम साहाय्यात्, अयं—मौर्यः, राजा—भूपतिः, अभूत्—जातः, इति हेतोः जातस्मयः—गर्वितः, राज्यप्राप्तिकृतार्थम्—राज्यस्य प्राप्त्या लाभेन कृतार्थं—सफलम्, एकं—मौर्यम्, तीर्णप्रतिज्ञार्णवं—तीर्णः प्रतिज्ञारूपः अर्णवः समुद्रः येन तादृशम्, अपरं—चाणक्यं (च), कृतकृत्यता एव—सम्पादितकार्यता एव, लब्धान्तरा—लब्धः प्राप्तः अन्तरः अवकाशः यया तादृशी (सती), नियतं—निश्चितं, सौहार्दात्—मित्रभावात्, भेत्स्यति—विघटयिष्यति ॥ २३ ॥

हिन्दी अनुवाद—पुरुप—[प्रवेश करके] अमात्य की जय हो। अमात्य! शकटदास निवेदन करते हैं कि ये तीन विशिष्ट आभूपण वेचे जा रहे हैं, अत अमात्य (इन्हे) देख लें।

राक्षस—[देखकर मन में] अहा! आभूपण तो वहुमूल्यक हैं। [प्रकट] भद्र! शकटदास से कहो कि विक्रेता को सन्तुष्ट करके (ये आभूपण) ले ले।

पुरुप—अमात्य की जो आज्ञा।

[वाहर चला जाता है।]

राक्षस—[मन में] तव तक मैं भी करभक को कुसुमपुर भेजता हूँ। [उठकर] क्या दुष्ट चाणक्य से चन्द्रगुप्त अलग होगा, अथवा मैं (अपने) अभीष्ट को सिद्ध हुआ ही देखता हूँ। क्योंकि—

चन्द्रगुप्त सभी राजाओं का शासक होता हुआ प्रभाव मे है। चाणक्य भी मेरी सहायता से यह राजा वना है—इस अभिमान मे चूर है। राज्य पा जाने से कृतार्थ एक (चन्द्रगुप्त) को और प्रतिज्ञारूपी नागर को पार कर लेने वाले दूसरे (चाणक्य) को कृतकृत्यता ही समय पाकर नि सन्देह मित्रभाव से अलग कर देगी ॥ २३ ॥

[सभी (पात्र रगमञ्च पर से) चले जाते हैं।]

॥ राक्षस विचार नामक दूसरा अक समाप्त ॥

टिप्पणी—अलङ्कारविशेषा —अलङ्क्रियते एभि इति अलम्√कृ+घञ् करणे=अलङ्कारा, तेपा विशेषा। महार्हाणि—वहुमूल्यक अर्ह्यते पूज्यते इति√अर्ह्+घञ् कर्मणि=अर्ह। महान् अर्ह एपाम् इति महार्हा। कुसुमपुराय—कुसुमपुरम् अभिलक्ष्य। अत्र 'क्रियार्थोपपदस्य'—इति सूत्रेण कर्मणि चतुर्थी। भिद्येत—वैमनस्य प्राप्नुयादित्यर्थ। √भिद्+लिट्—ईत कर्मणि। अत्र सम्भावनाया लिङ्। यहाँ चन्द्रगुप्त और चाणक्य मे फूट पड जाने की सभावना करके राक्षस 'आशा वलवती राजन् शल्यो जेष्यति पाण्डवान्' इस न्याय से चन्द्रगुप्त के वध के प्रति प्रयत्नशील हो जाता है। समीहितम्—अभिलपितम्। सम्√ईह्+क्त भावे। सर्वभूतलभुजाम्—सभी राजाओं का।

भूतलं भुञ्जन्ति रक्षन्ति इति-भूतल√भुज्+क्विप् कर्तरि=भूतलभुजः। सर्वे च ते भूतलभुजः सर्वभूतलभुजः, तेषाम् कृद्योगे कर्मणि षष्ठी। आज्ञापकः—आज्ञा देने वाला, शासन करने वाला। आ√ज्ञा+णिच्, पुक् आगम+ण्वुल्—अक। कृतकृत्यता—कृतार्थता; निरपेक्षता। कृतं कृत्यम् अनेन इति कृत-कृत्यः। तस्य भावः इति कृतकृत्य+तल्—टाप्। सौहार्दात्—शोभनं हृदय-मस्य इति सुहृत्। सुहृदो भावः इति सुहृद्+अण् 'हायनान्तयुवादिभ्योऽण्' इत्यनेन ततः 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' इत्यनेन उभयपदवृद्धिः=सौहार्दम्, तस्मात्। इस श्लोक मे यथासंख्य नामक अलंकार है और शार्दूलविक्रीडित छन्द है। इस छन्द का लक्षण १, १२ में देखिए॥ २३॥

इस प्रकार 'प्राप्त्याशा' अवस्था और 'पताका' अर्थप्रकृति के बीच की स्थिति रूप गर्भसन्धि के बारह अंगो का निरूपण हुआ और गर्भसन्धि समाप्त हुई।

तृतीयोऽङ्कः

[ततः प्रविशति कञ्चुकी]

कञ्चुकी—[सनिर्वेदम्]

रूपादीन् विषयान् निरूप्य करणैर्यैरात्मलाभस्त्वया
लब्धस्तेष्वपि चक्षुरादिषु हताः स्वार्थावबोधक्रियाः।
अङ्गानि प्रसभं त्यजन्ति पटुतामाज्ञाविधेयानि ते
न्यस्तं मूर्ध्नि पदं तवैव जरया तृष्णे! मुधा माद्यसि॥१॥

अन्वयः—तृष्णे! मुधा माद्यसि। आज्ञाविधेयानि ते अङ्गानि प्रसभं पटुतां त्यजन्ति। यैः करणैः रूपादीन् विषयान् निरूप्य त्वया आत्मलाभो लब्धः तेषु चक्षुरादिषु अपि स्वार्थावबोधक्रियाः हताः। जरया तव मूर्ध्नि एव पदं न्यस्तम्॥ १॥

व्याख्या—तृष्णे—स्पृहे! मुधा—व्यर्थं, माद्यसि—वर्धसे, (यतो हि) आज्ञाविधेयानि—निदेशवर्तीनि, ते—तव, अङ्गानि—करचरणादीनि कर्मेन्द्रि-

याणि, प्रसभम्—हठात्, पटुता—कार्यक्षमता, त्यजन्ति—जहन्ति । यैः करणैः—ज्ञानेन्द्रियैः, रूपादीन्—रूपरसगन्धस्पर्शशब्दान्, विषयान्—अर्थान्, निरूप्य—अवधार्य, त्वया—भवत्या, आत्मलाभः—स्वजन्म, लब्धः—अधिगतः, तेषु—आत्मलाभोपायभूतेषु, चक्षुरादिषु—नेत्रप्रभृतिषु इन्द्रियेषु, अपि, स्वार्थावबोधक्रिया—स्वार्थस्य निजविषयस्य रूपादेः यः अवबोधः ज्ञानं तद्रूपा क्रिया व्यापारः, हता—नष्टा । जरया—वार्धक्येन, तव—ते, मूर्ध्नि—मस्तके, एव, पदं—चरणं, न्यस्तम्—स्थापितम् ॥ १ ॥

हिन्दी अनुवाद—[तब कञ्चुकी प्रवेश करता है ।]

कञ्चुकी—[नैराश्य के साथ] हे तृष्णे ! (तुम) व्यर्थ में प्रसन्न हो रही हो । (क्योंकि) तुम्हारी आज्ञा का पालन करने वाली कर्मेन्द्रियाँ तेजी से कार्यक्षमता को छोड़ रही हैं । जिन इन्द्रियों से रूप आदि विषयों को ग्रहण करके तुमने अपना अस्तित्व लाभ किया, उन नेत्र आदियों में भी अपने (-अपने) विषय के ज्ञान को प्राप्त करने की क्रियायें नष्ट हो गईं । (इतना ही नहीं) बुढ़ापे ने तुम्हारे सिर पर ही पाँव रख दिया है ॥ १ ॥

टिप्पणी—इस अंक में नियताप्ति अवस्था और चौथे अंक में प्रकरी अर्थप्रकृति के वर्णन होने से इन दोनों अंकों में विमर्शसंधि है । विमर्शसंधि का लक्षण यह है—'गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः प्रसिद्धस्य बीजार्थस्यावमर्शनम् । हेतुना येन केनापि विमर्शः संधिरुच्यते ॥' इस संधि के तेरह अंग होते हैं । जैसे—'तत्रापवादसम्फेटौ विद्रवद्रवशक्तयः । द्युतिप्रसङ्गश्छलनं व्यवसायो निरोधनम् । प्ररोचना विचलनमादानञ्च त्रयोदश ॥' सनिर्वेदम्—निराशा या वैराग्य के साथ । निर√विद्+घञ् भावे=निर्वेदः । तेन सह इति सनिर्वेदम् । मुधा—व्यर्थ । यह एक अव्यय है । आज्ञाविधेयानि—आज्ञापालकानि वि√धा+यत् कर्मणि=विधेयानि । आज्ञाया विधेयानि षष्ठीतत्० । अङ्गानि—यहाँ हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रियों से तात्पर्य है । प्रसभम्—हठात्, तेजी से । प्रगता सभा विचारः अस्मात् इति प्रसभम् प्रादिबहुव्रीहि स०, तद् यथा स्यात् तथा । क्रियाविशेषणमेतत् । करणैः—इन्द्रियैः । यहाँ ज्ञानेन्द्रियों से तात्पर्य है । क्रियन्ते एभिः इति √कृ+ल्युट् करणे=करणानि, तैः । करणे तृतीया । आत्मलाभः—आत्मनः निजरूपस्य लाभः । जरया—वृद्धावस्था ने ।

जराया जरसन्यतरस्याम्' इति सूत्रेण जरसादेशस्य विकल्पपक्षे रूपमेतत् । इस पद्य में विभावना अलंकार और शार्दूलविक्रीडित छन्द है । इस छन्द का लक्षण १, १२ में देखिए ॥ १ ॥

[परिक्रम्याकाशे] भो भोः सुगाङ्गप्रासादाधिकृताः पुरुषाः ! सुगृहीतनामा देवश्चन्द्रगुप्तो वः समाज्ञापयति । यथा—'प्रवृत्तकौमुदीमहोत्सवरमणीयतरं कुसुमपुरमवलोकयितुमिच्छामि, तत् संस्क्रियन्तामस्मद्दर्शनयोग्याः सुगाङ्गप्रासादस्योपरिभूमयः' इति । तत् किं चिरयन्ति भवन्तः ? [आकाशे आकर्ण्य] किं ब्रूथ 'आर्य ! किमविदित एवायं देवस्य चन्द्रगुप्तस्य कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधः' इति ? आः दैवोपहताः ! किमनेन वः प्राणहरेण कथोद्घातेन ? शीघ्रमिदानीम्—

आलिङ्गन्तु गृहीतधूपसुरभीन् स्तम्भान् पिनद्धस्रजः
सम्पूर्णेन्दुमयूखसंहतिरुचां सच्चामराणां श्रियः ।
सिंहाङ्कासनधारणाच्च सुचिरं सञ्जातमूर्च्छामिव
क्षिप्रं चन्दनवारिणा सकुसुमः सेकोऽनुगृह्णातु गाम् ॥२॥

व्याख्या—परिक्रम्य—भ्रमणं कृत्वा, आकाशे—गगने, दत्तदृष्टिः सन् आहेति शेषः । सुगाङ्गप्रासादाधिकृताः—सुगाङ्गाख्ये भवने अधिकृता नियुक्ताः, पुरुषाः—जनाः !, सुगृहीतनामा—प्रातःस्मरणीयाभिधानः, देवः—महाराजः, चन्द्रगुप्तः, वः—युष्मान्, समाज्ञापयति—आदिशति, प्रवृत्तकौमुदीमहोत्सवरमणीयतरं—प्रवृत्तः आरब्धः यः कौमुदीमहोत्सवः शरत्पूर्णिमासाध्यव्रतविशेषः तेन रमणीयतरम् अधिकमनोहरं, कुसुमपुरम्—पाटलिपुत्रम्, अवलोकयितुम्—द्रष्टुम्, इच्छामि—अभिलषामि । तत्—तस्मात्, अस्मद्दर्शनयोग्याः—मदवलोकनीयाः, सुगाङ्गप्रासादस्य, उपरिभूमयः—उपरिष्टात्प्रदेशाः, संस्क्रियन्ताम्—अलंक्रियन्ताम् । तत्—तस्मात्, भवन्तः—यूयं, किं—कथं, चिरयन्ति—विलम्बन्ते ? आकर्ण्य—श्रुत्वा, आर्य—मान्य ! [यूयं] किं—कथं, ब्रूथ—कथयथ । अयं—चाणक्येन विधीयमानः, कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधः—शारदपूर्णेन्दुपूजनात्मकोत्सवनिषेधः, देवस्य—चन्द्रगुप्तस्य, किम्, अविदित एव—अज्ञात एव ? दैवोपहताः—दैवेन भाग्येन उपहताः विनष्टा इत्यर्थः । अनेन—एतेन, प्राणहरेण—जीवविनाशकेन, कथोद्घातेन—वार्ताप्रसंगेन, वः—युष्माकम्, किम्—न किमपीत्यर्थः । इदानीम्—अधुना, शीघ्रम्—सत्वरम् ।

अन्वयः—सम्पूर्णेन्दुमयूखसहतिरुचा सच्चामराणा श्रियः गृहीतधूपसुरभीन् पिनद्धस्रजः स्तम्भान् आलिङ्गन्तु, सकुसुम चन्दनवारिणा सेकः सुचिर सिंहाङ्कासन-धारणात् सञ्जातमूर्च्छामिव गा क्षिप्रम् अनुगृह्णातु च ॥ २ ॥

व्याख्या—सम्पूर्णेन्दुमयूखसहतिरुचा—सम्पूर्णः समग्रः यः इन्दुः चन्द्रः तस्य ये मयूखाः किरणाः तेषा सहतिः समुदायः तस्याः इव रुक् कान्तिः येषा तादृशाना, सच्चामराणा—चमरीपुच्छरत्नाना, श्रियः—द्युतयः, गृहीतधूपसुरभीन् —गृहीताः सेविताः ये धूपाः तै सुरभीन् घ्राणतर्पणान्, पिनद्धस्रजः—पिनद्धाः सवेष्टिताः स्रजः मालिकाः येषु तान्, स्तम्भान्—स्थूणान् आलिङ्गन्तु—उपश्लिष्यन्तु । सकुसुमः—पुष्पयुक्तः, चन्दनवारिणा—मलयजलेन, सेकः—सेचन, सुचिर—दीर्घकालात्, सिंहाङ्कासनधारणात्—सिंहाङ्कस्य सिंहचिह्नितस्य आसनस्य सिंहासनस्य इत्यर्थः धारणात् वहनात्, सञ्जातमूर्च्छामिव—सञ्जाता समुत्पन्ना मूर्च्छा वैकल्य यस्याः तादृशीम् इव, गा—पृथ्वी, क्षिप्र—झटिति, अनुगृह्णातु च—अनुकम्पताम् च ॥ २ ॥

हिन्दी अनुवाद—[घूमकर आकाश की ओर (दृष्टिपात करते हुए)] हे हे सुगाग-भवन मे नियुक्त पुरुषो ! प्रातःस्मरणीय महाराज चन्द्रगुप्त तुम लोगो को इस प्रकार आज्ञा देते हैं (कि)—'प्रारम्भ किये गये कौमुदीमहोत्सव से अत्यन्त रमणीय कुसुमपुर को देखना चाहता हूँ । इसलिए मेरे देखने योग्य सुगाग भवन के ऊपरी भाग को सजा दो' । तो तुम लोग देर क्यो कर रहे हो ? [आकाश में (उत्पन्न शब्दो को) सुनकर ।] क्या कहते हो कि आर्य ! क्या महाराज चन्द्रगुप्त को कौमुदीमहोत्सव का निषेध ज्ञात नही है ? ओह ! भाग्य के मारे हुओ ! तुम्हे इस प्राणनाशक बातो के प्रसग से क्या (मतलब) ? अभी शीघ्र—

पूर्ण चन्द्र की किरणो के समूह की कान्ति वाले उत्तम चँवरो की छटायें धूपो के सेवन से सुवासित तथा बाँधी हुई मालाओ से युक्त स्तम्भो का आलिंगन करें और पुष्प-समन्वित चन्दन-जल का छिडकाव चिरकाल से सिंहासन धारण करने के कारण मानो मूर्च्छा को प्राप्त पृथ्वी को शीघ्र ही अनुगृहीत करे ।

टिप्पणी—कौमुदीमहोत्सव—कार्तिकी पूर्णिमा को होने वाला उत्सव । को पृथिव्या मोदते इति कु √मुद्+क कर्तरि=कुमुदम् । तस्य इयम् इति

कुमुद + अण् स्त्रियां = कौमुदी । आश्विन और कार्तिक दोनों मासों की पूर्णिमा को कौमुदी कहते हैं। दोनों के लिए क्रमशः श्लोक देखिए—'आश्विने पौर्णमास्यां तु चरेज्जागरणं निशि । कौमुदी सा समाख्याता कार्या लोक-विभूतये ॥ कुशब्देन मही ज्ञेया मुद हर्षे ततो द्वयम् । धातुज्ञैर्नियमैश्चैव तेन सा कौमुदी स्मृता ॥' अविदित एवायं देवस्य—√विद् + क्त वर्तमाने 'मतिबुद्धि'—इत्यनेन = विदितः । न विदितः अविदितः । 'देवस्य' इत्यत्र 'क्तस्य च वर्तमाने' इत्यनेन अनुक्ते कर्तरि षष्ठी । दैवोपहताः—उप √हन् + क्त कर्मणि = उपहताः । दैवेन उपहताः तृतीयातत्० । कथोद्घातेन—उद् √ हन् + घञ् भावे = उद्घातः = प्रसंगः । कथायाः उद्घातः, तेन । करणे तृतीया । पिनद्धस्रजः—बाँधी या लपेटी हुई मालाओं वाले । अपि √नह् + क्त कर्मणि = अपिनद्ध वा पिनद्ध 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः । आपञ्चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ॥' इति कारिकाबलात् विकल्पेन अपेः अकारलोपः । सम्पूर्णेन्दुमयूखसंहतिः—सम् √हन् + क्तिन् भावे = संहतिः । सम्पूर्णेन्दुमयूखानां संहतिः = संहताः सम्पूर्णेन्दुमयूखाः 'भावानयने द्रव्यानयनम्' इति नियमात् । चन्दनवारिणा—चन्दनेन संश्लिष्टं वारि चन्दनवारि मध्यमपद-लोपी स०, तेन । सिंहाङ्कासनधारणात्—सिंहासन के धारण करने से अथवा सिंह के द्वारा (अपनी) गोद रूप आसन पर धारण किये जाने से । सिंहेन अङ्कासने निजक्रोडरूपासने धारणात् स्थापनात् । यहाँ तात्पर्य यह है कि जैसे सिंह की गोद में पड़ने से मूर्च्छित गाय पानी के छींटे से आश्वस्त की जाती है उसी तरह अत्यन्त भारी राजसिंहासन को धारण करने से थकी हुई पृथ्वी को श्रीखण्ड-मिश्रित जल के सिञ्चन से आश्वस्त करो । इस श्लोक के पूर्वार्ध में समासोक्ति अलंकार है और उत्तरार्ध मे उत्प्रेक्षा अलंकार श्लेष अलंकार से संसृष्ट है । इसमें भी शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥२॥

[आकाशे] किं कथयन्ति भवन्तः 'एते त्वरामहे' इति ? भद्राः ! त्वरध्वम्, अयमागत एव देवश्चन्द्रगुप्तः । य एषः,—

> सुविश्रब्धैरङ्गैः पथिषु विषमेष्वप्यचलता
> चिरं धुर्येणोढा गुरुरपि भुवो याऽस्य गुरुणा ।
> धुरं तामेवोच्चैर्नववयसि वोढुं व्यवसितो
> मनस्वी दम्यत्वात् स्खलति न च दुःखं वहति च ॥३॥

अन्वय —विषमेषु अपि पथिषु अचलता धुर्येण अस्य गुरुणा सुविश्रब्धै अङ्गै भुव गुरु अपि या चिरम् ऊढा तामेव उच्चै धुर नववयसि वोढु व्यवसित मनस्वी दम्यत्वात् दु ख वहति च न स्खलति च ॥३॥

व्याख्या—विषमेषु—गहनेषु (पक्षे) नतोन्नतेषु, अपि, पथिषु—कार्यविधिषु (पक्षे) मार्गेषु, अचलता—स्थिरेण, धुर्येण—धुरन्धरेण (पक्षे) वृषभेण, अस्य—मौर्यस्य, गुरुणा पित्रा नन्देनेत्यर्थ , सुविश्रब्धै —विश्वासपात्रै (पक्षे) सुदृढै, अङ्गै —मन्त्रिप्रभृतिभि (पक्षे) स्व वाद्यवयवै , भुव —पृथिव्या , गुरु अपि—महत्यपि, या—धू , चिरम्—बहुकालपर्यन्तम्, ऊढा—धृता, तामेव—ऊढामेव, उच्चै —गुर्वी , धुर—भार, नववयसि—तारुण्ये, वोढु—धारयितुम्, व्यवसित —उद्यत , मनस्वी—महामना (चन्द्रगुप्त), दम्यत्वात्—असमाप्त-शिक्षत्वात्, दु ख—क्लेश, वहति च—प्राप्नोति च, न स्खलति च—न भ्रश्यति च ॥३॥

हिन्दी अनुवाद—[आकाश में (स्थित पुरुष को लक्ष्य करके)] आप क्या कहते हैं कि ये हम लोग शीघ्रता कर रहे हैं। भद्र पुरुषो ! शीघ्रता करो। ये महाराज चन्द्रगुप्त आ ही गये हैं। जो ये—

कठिन कार्य-पद्धतियो (पक्षान्तर मे ऊँचे-नीचे मार्गों) मे विचलित न होते हुए भार वहन करने में समर्थ (पक्षान्तर मे वृषभ) इस (चन्द्रगुप्त) के पिता ने विश्वासपात्र (पक्षान्तर मे सुदृढ) मन्त्री आदि (पक्षान्तर मे अवयवो) से जो पृथ्वी का महान् भार चिरकाल तक वहन किया, उसी महान् भार को नवीन अवस्था म वहन करने के लिए उद्यत मनस्वी (चन्द्रगुप्त) भार वहन करने में अनभ्यस्त होने के कारण क्लेश अनुभव करता है किन्तु गिरता नहीं है ॥३॥

टिप्पणी—विषमेषु—विभिन्ना समेभ्य इति विषमा , तेषु। अचलता—√चल्+शतृ=चलन्। न चलन् अचलन्, तेन। धुर्येण—धुरा धारण करने वाले। धुरि साधु ता वहति वा इति धुर्+यत्=धुर्य , तेन। यहाँ नन्द को शिक्षित वृषभ के समान धुरा धारण करने मे समर्थ होने के कारण धुर्य कहा गया है। गुरुणा—पिता, नन्द ने। सुविश्रब्धै —विश्वासी। वि√श्रम्भ् वा स्रम्भ्+क्त कर्तरि=विश्रब्धा वा विस्रब्धा। अतिशयेन विश्रब्धा इति सुविश्रब्धा , तै।

अङ्गैः—स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोप, राष्ट्र, दुर्ग और बल। वृषभ-पक्ष में अवयव। अत्र करणे तृतीया। व्यवसितः—उद्यत। वि-अव√सो+क्त कर्तरि। मनस्वी—महामना, उत्साही। प्रशस्तं मनः अस्य इति मनस्+विनि मत्वर्थे। दम्यत्वात्—जिसका शिक्षण अभी समाप्त नही हुआ है।√दम्+यत् कर्मणि=दम्यः। तस्य भावः इति दम्य+त्व, तस्मात् हेतौ पञ्चमी। यहाँ चन्द्र-गुप्त को दम्य कहा गया है; क्योंकि उसकी शिक्षा अभी समाप्त नही हुई है। इस श्लोक में समासोक्ति अलंकार है, वैदर्भी रीति है और शिखरिणी छन्द है। शिखरिणी का लक्षण १, १३ में देखिए ॥३॥

[नेपथ्ये] इत इतो देवः।

[ततः प्रविशति राजा प्रतीहारी च]

राजा—[स्वगतम्] राज्यं हि नाम राजधर्मानुवृत्तिपरस्य नृपतेर्महद-प्रीतिस्थानम्। कुतः—

परार्थानुष्ठाने रहयति नृपं स्वार्थपरता
परित्यक्तस्वार्थो नियतमयथार्थः क्षितिपतिः।
परार्थश्चेत् श्वार्थादभिमततरो हन्त परवान्
परायत्तः प्रीतेः कथमिव रसं वेत्ति पुरुषः ॥४॥

अन्वयः—परार्थानुष्ठाने स्वार्थपरता नृपं रहयति। परित्यक्तस्वार्थः क्षिति-पतिः नियतम् अयथार्थः। परार्थः स्वार्थात् अभिमततरश्चेत् हन्त परवान्। परायत्तः पुरुषः प्रीतेः रसं कथमिव वेत्ति ॥४॥

व्याख्या—परार्थानुष्ठाने—परस्य स्वेतरस्य पुरुषस्य यः अर्थः प्रयोजनं तस्य अनुष्ठाने साधनकर्मणि, स्वार्थपरता—स्वातन्त्र्यं, नृपं—राजानं, रहयति—त्यजति। परित्यक्तस्वार्थः—परित्यक्तः उत्सृष्टः स्वार्थः आत्मप्रयोजनं येन तादृशः, क्षितिपतिः—भूपः, नियतम्—निश्चितम्, अयथार्थः—अयथा मिथ्या अर्थः अभिधेयः यस्य तादृशः (भवति)। परार्थः परस्य अन्यस्य अर्थः प्रयोजनं, स्वार्थात्—आत्मप्रयोजनात्, अभिमततरः—ईप्सिततरः, चेत्—यदि, हन्त—कष्टम्!, परवा[illegible] [illegible]ीनः (नृपतिः)। परायत्तः—पराधीनः, पुरुषः—जनः, —सुखस्य [illegible] [illegible]ास्वादम्, कथमिव—केन प्रकारेण, वेत्ति—जानाति?

अस्या इति दु खोरचर्या वहुव्रीहि स० । इस श्लोक मे काव्यलिंग अलकार है, वैदर्भी रीति है, ओज गुण है और शार्दूलविक्रीडित छन्द है । इस छन्द का लक्षण १, १२ मे देखिए ॥ ५ ॥

अन्यच्च, कृतककलह कृत्वा स्वनन्त्रेण त्वया कञ्चित् काल व्यवहर्तव्यमित्यार्योपदेश । स च कथमपि मया पातकमिवाभ्युपगत । अथवा शश्वदार्योपदेशमन्क्रियमाणतय सदैव स्वतन्त्रा वयम् । कुत ?—

इह हि रचयन् साध्वी शिष्य क्रिया न निवार्यते
त्यजति तु यदा मार्ग मोहात् तदा गुरुरङ्कुश ।
विनयरुचयस्तस्मात् सन्त सदैव निरङ्कुशा
परतरमत स्वातन्त्र्येभ्यो वय हि पराङ्मुखा ॥ ६ ॥

अन्वय —इह हि शिष्य साध्वी क्रिया रचयन् न निवार्यते, यदा तु मोहात् (स) मार्गं त्यजति तदा गुरु अकुश । तस्मात् विनयरुचय। सन्त सदैव निरङ्कुशा । अत स्वातन्त्र्यस्य वय परतर हि पराङ्मुखा ॥ ६ ॥

व्याख्या—इह हि—अस्मिन् ससारे खलु, शिष्य —छात्र , साध्वी—न्याय्या, क्रिया—कार्यं, रचयन्—कुर्वन्, न—नहि, निवार्यते—निषिध्यते । यदा तु—यस्मिन् काले पुन , मोहात्—अविवेकात्, (स) मार्गं त्यजति—सदाचारमतिक्रामति, तदा गुरु ,—शिक्षक , अङ्कुश —निवारक (भवति) । तस्मात्—अत , विनयरुचय —विनये सुशिक्षाया रुचि स्पृहा येषा तादृशा , सन्त —साधव सदैव—सर्वस्मिन्नेव काले, निरकुशा —अनिवार्या स्वतन्त्रा इति यावत् (भवन्ति) । अत अस्मात्, स्वातन्त्र्येभ्य —स्वेच्छाचारेभ्य , वय, परतरं हि—नितान्तमेव, पराङ्मुखा —वितृष्णा (स्म) ॥ ६ ॥

हिन्दी अनुवाद—और भी, आर्य (चाणक्य) का उपदेश है कि बनावटी झगडा करके तुम कुछ समय तक स्वतन्त्र रूप से व्यवहार करना चाहिए । उस (उपदेश) को मैंने पातक के समान किसी तरह स्वीकार किया । अथवा आर्य के उपदेश से निरन्तर सस्कार की जाति हुई बुद्धि वाले हम सदा ही स्वतन्त्र हैं । क्योंकि—

यहाँ (ससार मे) शिष्य उचित कार्य करता हुआ (गुरु के द्वारा) रोका नही जाता है । किन्तु जब मोहवश (वह उचित) मार्ग को छोडता है

तब गुरु अंकुश (निवारक) होता है। इसलिए विनय (सुशिक्षा) में रुचि रखने वाले सज्जन सदा ही स्वतन्त्र है। अतएव स्वेच्छाचारों से हम अत्यंत ही पराङ्मुख हैं ॥ ६ ॥

टिप्पणी—कृतककलहम्—कृत्रिमविवादम्। कृत एव कृतकः। तादृशः कलहः, तम्। स्वतन्त्रेण—अनायत्तेन। स्वः आत्मा तन्त्रं प्रधानं यस्य स स्वतन्त्रः, तेन। कञ्चित् कालम्—अत्र व्याप्त्यर्थे द्वितीया। व्यवहर्तव्यम्—वर्तितव्यम्। वि-अव√हृ+तव्य भावे। शश्वदार्योपदेशसंस्क्रियमाण-मतयः—अनवरतचाणक्यनिदेशविशोध्यमानबुद्धयः। अतः—इदमतीत्य इति यावत्। अत्र ल्यब्लोपे पञ्चमी। स्वातन्त्र्येभ्यः—स्वतन्त्रस्य भावाः इति स्वतन्त्र+ष्यञ्=स्वातन्त्र्याणि, तेभ्यः। 'ध्रुवमपाये'—इति पञ्चमी। पराङ्मुखाः—मुँह मोड़े हुए, विमुख। परा अञ्चति इति परा√अन्च्+क्विन् कर्तरि=पराक्। पराक् मुखमेषाम् इति पराङ्मुखाः। इस श्लोक में परिणाम अलंकार है, वैदर्भी रीति है, प्रसाद गुण है और हरिणी छन्द है। इस छन्द का लक्षण यह है—'नसमरसलागः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता' ॥ ६ ॥

[प्रकाशम्] आर्य वैहीनरे! सुगाङ्गप्रासादमार्गमादेशय।

कञ्चुकी—इत इतो देवः।

राजा—[परिक्रामति]

कञ्चुकी—[परिक्रम्य] अयं सुगाङ्गप्रासादः। शनैरारोढुमर्हत्यार्यः।

राजा—[नाट्येनारुह्य दिशोऽवलोक्य] अहो! शरत्समयसम्भृत-शोभाविभूतीनां दिशामतिरमणीयता !! कुतः ?—

शनैः शान्ता भूताः सितजलधरच्छेदपुलिनाः
समन्तादाकीर्णाः कलविरुतिभिः सारसकुलैः।
चिताश्चित्राकारैर्निशि विकचनक्षत्रकुमुदै-
र्नभस्तः स्यन्दन्ते सरित इव दीर्घा दश दिशः ॥ ७ ॥

अन्वयः—शनैः शान्ताः भूताः सितजलधरच्छेदपुलिनाः कलविरुतिभिः सारसकुलैः समन्तात् आकीर्णाः दश दिशः निशि चित्राकारैः विकचनक्षत्रकुमुदैः चिताः (सत्यः) दीर्घाः सरित इव नभस्तः स्यन्दन्ते ॥ ७ ॥

व्याख्या—शनैः—क्रमेण, शान्ता—निर्मला, भूता—जाता, सितजलधरच्छेदपुलिना—सिता धवला जलधरच्छेदा मेघखण्डा पुलिनानि इव सैकतानि इव सन्ति यासां ता, कलविरुतिभिः—अव्यक्तमधुरशब्दैः, सारसकुलैः—क्रौञ्चपङ्क्तिभिः, समन्तात्—सर्वतः, आकीर्णा—व्याप्ता, दश, दिशः—आशा, निशि—रात्रौ, चित्राकारैः—अनेकविधैः, विकचनक्षत्रकुमुदैः—विकचैः विकसितैः कुमुदसदृशैः नक्षत्रैः, चिता—व्याप्ता, (सत्य) दीर्घाः—आयता, सरित इव—नद्य इव, नभस्तः—आकाशात्, स्यन्दन्ते—प्रसरन्ति ॥ ७ ॥

हिन्दी अनुवाद—[प्रकट] आर्य वैहीनरि ! सुगाङ्ग भवन का मार्ग बताओ।

कञ्चुकी—इधर से महाराज (आवे) इधर से।

राजा—[घूमता है।]

कञ्चुकी—[घूमकर] यह सुगाङ्ग भवन है। धीरे-धीरे आप चढें।

राजा—[अभिनय के साथ चढ़कर और दिशाओं को देखकर] अहा ! शरत्काल में बढ़ी हुई शोभा की विभूतियों से सम्पन्न दिशाओं की अतिशय सुन्दरता है। क्योंकि—

क्रमशः निर्मल बनी हुई, रेतीले किनारे के समान शुभ्र मेघ-खंडों से युक्त, अव्यक्त मधुर शब्द करने वाले क्रौंच पक्षियों के समूहों से सभी ओर से व्याप्त और अनेक प्रकार के विकसित कुमुदों के समान नक्षत्रों से युक्त दसों दिशायें लंबी नदियों के समान आकाश से प्रवाहित हो रही हैं ॥ ७ ॥

टिप्पणी—वैहीनरे—यह कंचुकी का नाम है। विहीनो नरः कामभोगाभ्याम् इति विहीनरः पृषोदरादित्वात् नलोपः। विहीनरस्य अपत्यं वैहीनरिः विहीनर+इञ्, तत्सम्बुद्धौ हे वैहीनरे इति। शरत्समयसम्भृतशोभाविभूतीनाम्—शरद् समय के कारण बढ़ी हुई शोभा के ऐश्वर्य से सम्पन्न। शरदेव समयः, तेन सम्भृता उपचिता, तादृशी शोभा विभूतिर्यासाम् ता० शोभाविभूतयः तासाम्। किसी पुस्तक में 'शान्ता भूता' के स्थान में 'श्यानीभूता' पाठ मिलता है। उसकी व्याख्या होगी—'कृशीभूता'। √श्यै+क्त कर्तरि=श्याना 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः' इति सूत्रेण तस्य नः। अश्याना श्याना भूता इति

श्यान+च्वि, ईत्व√भू+क्त कर्तरि। सितजलधरच्छेदपुलिनाः—बालुकामय तट के समान उज्ज्वल मेघ-खंडों से युक्त। जलानां धराः जलधराः तेषां छेदाः। सिताः जलधरच्छेदाः कर्मधारय स०। ते पुलिनानि इव इति सितजलधरच्छेदपुलिनानि उपमित स०। तानि सन्ति आसाम् इति सितजलधरच्छेद-पुलिन+अच् मत्वर्थे। यह 'दिशः' का विशेषण है। विकचनक्षत्रकुमुदः—विगताः कचाः एपाम् इति विकचानि। तादृशानि नक्षत्राणि। तानि कुमुदानि इव इति विकचनक्षत्रकुमुदानि, तैः। नभस्तः—आकाश से, नदीपक्ष में—श्रावणमास से। स्यन्दन्ते—प्रवाहित हो रही है या फैल रही हैं। इस श्लोक में श्लेष अलंकार से अनुप्राणित उपमेयोपमा नामक अलंकार है, पाञ्चाली रीति है, प्रसाद गुण है और शिखरिणी छन्द है। शिखरिणी का लक्षण १, १२ मे देखिए ॥ ७ ॥

अपि च—

अपामुद्वृत्तानां निजमुपदिशन्त्या स्थितिपदं
दधत्या शालीनामवनतिमुदारे सति फले।
मयूराणामुग्रं विषमिव हरन्त्या मदमहो
कृतः कृत्स्नस्यायं विनय इव लोकस्य शरदा ॥ ८ ॥

अन्वयः—अहो! उद्वृत्तानाम् अपां निजं स्थितिपदम् उपदिशन्त्या शालीनां फले उदारे सति अवनतिं दधत्या मयूराणां विषमिव उग्रं मदं हरन्त्या शरदा कृत्स्नस्य लोकस्य अयं विनयः कृत इव ॥ ८ ॥

व्याख्या—अहो—आश्चर्यम्, उद्वृत्तानाम्—उपचितानाम् लंघिततटानामिति यावत्, अपां—जलानाम्, निजं—स्वाभाविकं, स्थितिपदं—स्थानम्, उपदिशन्त्या—बोधयन्त्या, शालीनां—धान्यविशेषाणां, फले—प्रसवे, उदारे—परिणते, सति, अवनतिं—नम्रतां, दधत्या धारयन्त्या, मयूराणां—बर्हिणां, विषमिव—गरलमिव, उग्रम्—असह्यम्, मदं—गर्वं, हरन्त्या—अपनयन्त्या, शरदा—शरदृतुना, कृत्स्नस्य—समग्रस्य, लोकस्य—भुवनस्य, अयम्—एषः, विनयः—उपदेशः, कृत इव—विहित इव ॥ ८ ॥

हिन्दी अनुवाद—और भी—आश्चर्य है कि तटों का अतिक्रमण करने वाले जलो को स्वाभाविक स्थान का बोध कराती हुई, साठी धानों

के पक जाने पर नम्र बनाती हुई और मयूरो के विप के समान असह्य मद का अपहरण करती हुई शरद् ऋतु ने मानो सम्पूर्ण ससार को यह विनय सिखाया है ॥ ८ ॥

टिप्पणी—उद्वृत्तानाम्—तट या मर्यादा को लाघे हुए। उद्√वृत्+क्त कर्तरि=उद्वृत्त। उत्क्रान्ता वृत्तम् इति उद्वृत्ता 'अत्यादय क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इत्यनेन प्रादिसमास। स्थितिपदम्—ठहरने का स्थान। स्थिते पदम्। उपदिशन्त्या—उप√दिश्+शतृ+ङीप्=उपदिशन्ती, तया। यह 'शरदा' का विधेयात्मक विशेषण है। यहाँ स्पष्टार्थ यह है कि वर्षा ऋतु मे नदियो का जल तट को लाँघकर बहने लगता है, किन्तु शरद् ऋतु मे वह अपने स्वाभाविक स्थान पर पहुँच जाता है, अतएव शरद् ऋतु मानो जल को विनीत होने का उपदेश देती हुई कह रही है कि अपनी मर्यादा को न छोडो। इसी तरह आगे साठी धान को झुकाती हुई और मयूरो का मद दूर करती हुई उन्हे भी मानो विनीत होने की शिक्षा दे रही है। यहा समासोक्ति अलकार द्वारा तीन बातो की ओर सकेत किया गया है—(१) अत्यन्त उद्धत मलयकेतु के भावी निग्रह की ओर, (२) राक्षस के विप के समान अत्यन्त उग्र पराक्रम और नीतिविषयक गर्व के दूर होने की ओर और (३)-साम्राज्य-रूपी फल से युक्त परम उन्नतिशील चन्द्रगुप्त के विनय की ओर। इस श्लोक मे पूर्णोपमा अलकार, वाच्योत्प्रेक्षा अलकार और काव्यलिंग अलकार का योग है। इसमे वैदर्भी रीति है, प्रसादगुण है और शिखरिणी छन्द है ॥ ८ ॥

अपि च—

भर्तुस्तया कलुषिता बहुवल्लभस्य
मार्गे कथञ्चिदवतार्य तनूभवन्तीम्।
सर्वात्मना रतिकथाचतुरेव दूती
गङ्गा शरन्नयति सिन्धुपतिं प्रसन्नाम् ॥९॥

अन्वय—तया कलुषिता तनूभवन्ती सर्वात्मना प्रसन्ना गङ्गा रतिकथा-चतुरा दूती इव शरत् बहुवल्लभस्य भर्तुर्मार्गे कथञ्चित् अवतार्य सिन्धुपतिं नयति ॥९॥

व्याख्या—तथा—तेन प्रकारेण, कलुषितां—प्रावृषि पङ्काधिक्यात् निर्मलां (पक्षान्तरे भर्तुरनेकभार्यत्वेन दोषित्वात्सेर्ष्यामित्यर्थः), तनूभवन्तीं—वर्षापगमेनातिक्षीणां (पक्षान्तरे प्रियवियोगेन कृशशरीराम्) सर्वात्मना—सर्वप्रकारेण, प्रसन्नां—स्वच्छसलिलां (पक्षान्तरे प्रसन्नहृदयां), गङ्गां—भागीरथीं (पक्षान्तरे रमणीं), रतिकथाचतुरा—रतिकथायां सरसालापे चतुरा दक्षा, दूती इव—सञ्चारिकेव, शरत्, बहुवल्लभस्य—अनेकभार्यस्य, भर्तुः—स्वामिनः, मार्गे—तत्प्रापणार्थे, कथञ्चित्—क्लेशतः, अवतार्य—नीत्वा, सिन्धुपतिं—सागरं (पक्षान्तरे सिन्धुरिव पतिस्तं सिन्धुसदृशगाम्भीर्यशालिनं पतिमित्यर्थः), नयति—प्रापयति ॥९॥

हिन्दी अनुवाद—उस प्रकार से (वर्षा ऋतु के कीचड़ के कारण) गँदली (नायिका-पक्ष मे ईर्ष्यायुक्त), शरद् ऋतु में वर्षा के बीत जाने से अत्यन्त क्षीण (प्रवाह वाली) (नायिका-पक्ष में वियोग के कारण कृश) होती हुई तथा पूर्ण रूप से निर्मल (नायिका-पक्ष में प्रसन्न चित्त वाली) गगा को प्रेम की कथाओं में दक्ष दूती के समान शरद् ऋतु अनेक (नदी रूपी) पत्नियो वाले स्वामी (समुद्र) के मार्ग में किसी तरह उतारकर सागर (नायिका-पक्ष में सिन्धु सदृश गाम्भीर्यशाली पति) के पास ले जा रही है ॥९॥

टिप्पणी—तनूभवन्तीम्—अतनुः तनुः भवन्ती इति तनु+च्वि, दीर्घ✓भू+शतृ स्त्रियाम् ङीप्। सिन्धुपतिम्—सिन्धूनां नदीना पतिः=समुद्रः। 'देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियाम्' इत्यमरः। अथवा सिन्धुरिव पतिः उपमित स०। अथवा सिन्धुनामा पतिः सिन्धुपतिः मध्यमपदलोपी स०, तम्। इस श्लोक मे भी ध्वन्यर्थ यह है कि चतुर दूती के समान अत्यंत गंभीर चाणक्य की नीति राक्षस की बुद्धि की वशीभूत होने के कारण कलुषित नन्दकुल की लक्ष्मी को समुद्र के समान अत्यन्त गंभीर हृदय वाले चन्द्रगुप्त के पास सब प्रकार से पहुँचा रही है। इस पद्य मे अर्थश्लेष से अनुप्रमाणित पूर्णोपमा अलंकार है और वसन्ततिलका छन्द है। इस छन्द का लक्षण १, ८ में देखिए ॥९॥

[**समन्तान्नाट्येनावलोक्य**] अये! कथमप्रवृत्तकौमुदीमहोत्सवं कुसुमपुरम्? आर्य! वैहीनरे! अथास्मद्वचनादाघोषितः कुसुमपुरे कौमुदीमहोत्सवः?

कञ्चुकी—देव ! अथ किम् ?

राजा—आर्य ! तदेव किं न परिगृहीतमस्मद्वचनं पौरजनेन ?

कञ्चुकी—[कर्णौ पिधाय] देव ! शान्तं पापं, शान्तं पापं, पृथिव्यामस्खलितपूर्वं देवस्य शासनं कथं पौरेषु स्खलितुमर्हति ?

राजा—आर्य वैहीनरे ! तत् कथमप्रवृत्तकौमुदीमहोत्सवमधुनाऽपि कुसुमपुरं पश्यामि ? पश्य—

धूर्तैरन्वीयमाना स्फुटचतुरकथाकोविदैर्वेशनार्यो
नालङ्कुर्वन्ति रथ्याः पृथुजघनभराक्रान्तिमन्दैः प्रयातैः ।
अन्योन्यं स्पर्धमाना न च गृहविभवैः स्वामिनो मुक्तशङ्काः
साकं स्त्रीभिर्भजन्ते विधिमभिलषितं पार्वणं पौरमुख्याः ॥१०॥

अन्वय—स्फुटचतुरकथाकोविदैः धूर्तैः अन्वीयमानाः वेशनार्यः पृथुजघनभराक्रान्तिमन्दैः प्रयातैः रथ्याः न अलङ्कुर्वन्ति । स्वामिनो मुक्तशङ्काः पौरमुख्याश्च गृहविभवैः अन्योन्यं स्पर्धमानाः (सन्तः) स्त्रीभिः साकम् अभिलषितं पार्वणं विधिं न भजन्ते ॥१०॥

व्याख्या—स्फुटचतुरकथाकोविदैः—स्फुटाः स्पष्टाः चतुराः कुशलाः याः कथाः वाचः तासु कोविदैः विचक्षणैः, धूर्तैः—विटैः, अन्वीयमानाः—अनुयायमानाः, वेशनार्यः—वाराङ्गनाः, पृथुजघनभराक्रान्तिमन्दैः—पृथू विशाले च ते जघने पृथुजघने तयोर्भरो भारस्तस्य आक्रान्त्या आरोपेण मन्दैः सालसैः, प्रयातैः—पादचारैः, रथ्याः—राजमार्गान्, न अलङ्कुर्वन्ति—न शोभयन्ति । स्वामिनः—भूपात्, मुक्तशङ्काः—निर्भयाः, पौरमुख्याश्च—नागरिकवर्या अपि, गृहविभवैः—गृहसम्पत्तिभिः, अन्योन्यं—परस्परं, स्पर्धमानाः—विजयैषिणः, (सन्तः), स्त्रीभिः—ललनाभिः, साकम्—सह, अभिलषितं—वाञ्छितं, पार्वणं विधिं—पूर्णिमाचारं कौमुदीमहोत्सवमित्यर्थः, न भजन्ते—न सेवन्ते ॥१०॥

हिन्दी अनुवाद—[चारों ओर अभिनयपूर्वक देखकर] अरे ! कुसुमपुर में कौमुदीमहोत्सव क्यों नहीं मनाया जा रहा है ? आर्य वैहीनरि ! क्या मेरी आज्ञा से कुसुमपुर में कौमुदीमहोत्सव घोषित कर दिया गया था ?

कञ्चुकी—महाराज ! और क्या ?

राजा—आर्य ! तो इस प्रकार नागरिकों ने मेरी आज्ञा को क्यों नहीं माना ?

कंचुकी—[कानों को वन्द करके] महाराज ! पाप शान्त हो, पाप शान्त हो। पृथिवी पर पहले (कभी) खाली न जाने वाली महाराज की आज्ञा नागरिकों में कैसे खाली जाएगी ?

राजा—आर्य वैहीनरि ! तो क्यो अभी भी कौमुदीमहोत्सव के प्रारंभ से शून्य कुसुमपुर को मै देख रहा हूँ ? देखो—

स्पष्ट एवं चातुर्यपूर्ण वार्तालाप में प्रवीण धूर्तों से अनुकरण की जाती हुई वेश्याये (अपने) विशाल नितम्वों के भार के आक्रमण के कारण धीमी चालों से राज-मार्गो को सुशोभित नही कर रही है। और राजा से निर्भय तथा घर की सम्पत्तियो के वल पर परस्पर स्पर्धा रखते हुए श्रेष्ठ नागरिक स्त्रियों के साथ शारदीय पूर्णिमा के उत्सव को नही मना रहे है ॥१०॥

टिप्पणी—अप्रवृत्तकौमुदीमहोत्सवम्—कोमुदीमहोत्सव के प्रारंभ से शून्य। अप्रवृत्तः अनारब्धः कौमुदीमहोत्सवः शारदपूर्णचन्द्रपर्वोद्धवः यस्मिन् सः बहुव्रीहि स०। अस्खलितपूर्वम्—पहले (कभी) स्खलित न होने वाली।✓ स्खल्+क्त कर्तरि=स्खलितम्। पूर्व स्खलितम् सुप्सुपा स०, 'भूतपूर्वे चरट्' इति निर्देशात् पूर्वशब्दस्य परनिपातः। न स्खलितपूर्वम् अस्खलितपूर्वम् नञ्तत्०। स्फुटचतुरकथाकोविदैः—स्पष्ट तथा चतुरता भरी बाते करने मे पटु। कौति इति✓कु (शब्दे)+विच् कर्तरि=कोः=वेदः। वेत्ति इति✓विद्+क कर्तरि=विदः। कोः विदः षष्ठीतत्०=कोविदः=पण्डितः अतएव पटुः। धूर्तैः—विटों के द्वारा। अन्वीयमानाः—अनुसरण की जाती हुई। अनु✓इ+शानच् कर्मणि=अन्वीयमानाः। वेशनार्यः—वेश्या। वेश्यालय को वेश कहते है। वेशस्य नार्यः वेशनार्यः। स्वामिनो मुक्तशङ्काः—स्वं धनमस्य अस्तीति स्व+आमिन् मत्वर्थे=स्वामी, तस्मात् 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इत्यनेन पञ्चमी। नन्द के राज्य में प्रजा को अर्थलोलुप नन्द से अपना धन छीने जाने का भय बना रहता था। अव चन्द्रगुप्त के शासन में प्रजा को ऐसा कोई भय नही है; फलतः वे मुक्तशंक=निर्भय हैं। पार्वणम्—अमावास्या और पूर्णिमा को पर्व तिथि कहते है। यहाँ पूर्णिमा से तात्पर्य है। पर्वणि भवः इति पार्वणः पर्वन्+अण्,

तम् । इस श्लोक मे स्वभावोक्ति नामक अलकार है और स्रग्धरा छन्द है। इस छन्द का लक्षण १, १ मे देखिए ।।१०।।

कञ्चुकी—देव ! एवमेतत् ।

राजा—किमेतत् ?

कञ्चुकी—देव ! अत इदम्—।

राजा—आर्य ! स्फुटमभिधीयताम् ।

कञ्चुकी—देव ! प्रतिपिद्ध कौमुदीमहोत्सव ।

राजा—[सक्रोधम्] आ केन ?

कञ्चुकी—नात परमस्माभिर्देवो विज्ञापयितु शक्यते ।

राजा—न खल्वार्येण चाणक्येनापहृत प्रेक्षकाणामतिशयरमणीयश्चक्षुपो विपय ?

कञ्चुकी—देव ! कोऽन्यो जीवितुकामो देवस्य शासनमतिवर्तेत ?

राजा—शोणोत्तरे ! उपवेष्टुमिच्छामि ।

प्रतीहारी—देव ! एद सिहामण ! उपविसदु देवो । (देव ! एतत् सिंहासनम् । उपविशतु देव ।)

राजा—[नाट्येनोपविश्य] आर्य वैहीनरे ! आर्यचाणक्य द्रष्टुमिच्छामि ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देव । [इति निष्क्रान्त]

[तत प्रविशत्यासनस्थ स्वभवनगत कोपानुविद्धा चिन्ता नाटयन् चाणक्य ।]

चाणक्य —[आत्मगतम्] कथ स्पर्धते मया सह दुरात्मा राक्षसहतक ! कुत ?—

हिन्दी अनुवाद—कचुकी—महाराज ! यह ऐसा (ही) है !

राजा—यह क्या है ?

कचुकी—महाराज ? इसलिए यह—

राजा—आर्य ! स्पष्ट बतलाइए ।

कंचुकी—महाराज ! कौमुदीमहोत्सव रोक दिया गया।

राजा—[**क्रोध के साथ**] ऐं, किसके द्वारा ?

कंचुकी—मैं इससे अधिक निवेदन महाराज से नही कर सकता हूँ।

राजा—(क्या) आर्य चाणक्य ने तो देखने वालों की आँखों का (यह) अत्यन्त सुन्दर दृश्य नही लूट लिया ?

कंचुकी—महाराज ! दूसरा कौन जीवन चाहने वाला महाराज की आज्ञा का उल्लंघन करेगा ?

राजा—शोणोत्तरा ! मैं बैठना चाहता हूँ।

प्रतीहारी—महाराज ! यह सिंहासन है, आप विराजें।

राजा—[**अभिनयपूर्वक बैठकर**] आर्य वैहीनरि ! मैं आर्य **चाणक्य** को देखना चाहता हूँ।

कंचुकी—महाराज की जो आज्ञा। [बाहर चला जाता है।]

[**तब अपने भवन में आसन पर विराजमान, क्रोधपूर्वक चिन्ता का अभिनय करते हुए चाणक्य का प्रवेश**]

चाणक्य—[मन में] दुष्ट राक्षस मेरे साथ क्यों स्पर्धा कर रहा है ? क्योंकि—

टिप्पणी—विज्ञापयितुम्—बोधयितुम्, निवेदन करने के लिए। वि√ ज्ञा + णिच्, पुक् + तुमुन्। प्रेक्षकाणाम्—दर्शकानाम्। **चक्षुषः विषयः**—नेत्रस्य विषयः दृश्यपदार्थ इत्यर्थः। अपहृतः—प्रतिषिद्धः। जीवितुकामः—जीवनाभिलाषी। जीवितुं कामः अस्य इति जीवितुकामः बहुव्रीहि स०, 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुंकाममनसोरपि' इति कारिकाबलात् मलोपः। अतिवर्तेत—उल्लङ्घयेत्। कोपानुविद्धाम्—कोपेन क्रोधेन अनुविद्धा सम्बद्धा क्रोधसहितामित्यर्थः, ताम्। राक्षसहतकः—कुत्सितः राक्षसः इति राक्षसहतकः 'कुत्सितानि कुत्सनैः' इत्यनेन समासः।

कृतागाः कौटिल्यो भुजग इव निर्याय नगराद्
यथा नन्दान् हत्वा नृपतिमकरोन्मौर्यवृषलम्।
तथाऽहं मौर्येन्दोः श्रियमपहरामीति कृतधीः
प्रभावं मद्बुद्धेरतिशयितुमेष व्यवसितः ॥११॥

अन्वय—यथा कृतागा कौटिल्य भुजग इव नगरात् निर्याय नन्दान् हत्वा मौर्यवृपल नृपतिम् अकरोत् तथा अह मौर्येन्दो श्रियम् अपहरामि इति कृतधी एप मद्बुद्धे प्रभावम् अतिशयितु व्यवसित ॥११॥

व्याख्या—यथा—येन प्रकारेण, कृतागा —कृतम् आचरितम् आग अपराध यस्मिन् तादृश , कौटिल्य —चाणक्य , भुजग इव—सर्प इव, नगरात्—कुसुमपुरात्, निर्याय—नि सृत्य, नन्दान्—एतदाख्यनृपतीन्, हत्वा—विनाश्य, मौर्यवृपल—चन्द्रगुप्तम्, नृपतिम्—राजानम्, अकरोत्—व्यदधात्, तथा—तेन प्रकारेण, अह—राक्षस , मौर्येन्दो —चन्द्रगुप्तस्य, श्रियम्—राजलक्ष्मीम्, अपहरामि—अपनयामि, इति—इत्थम्, कृतधी —कृता कल्पिता धी बुद्धि येन तादृश कृतसङ्कल्प इत्यर्थ , एप —राक्षस , मद्बुद्धे —मदीयाया मते , प्रभावम्—प्रकर्पम्, अतिशयितुम्—अतिवर्तितुम्, व्यवसित —समुद्यत (अस्ति) ॥ ११ ॥

हिन्दी अनुवाद—जिस प्रकार अपराध किये जाने पर चाणक्य ने साँप की तरह नगर से बाहर जाकर नन्दो का विनाश करके चन्द्रगुप्त को राजा बना दिया उसी प्रकार मैं चन्द्रगुप्त की लक्ष्मी का अपहरण कर लूँगा—ऐसा निश्चय करने वाला यह (राक्षस) मेरी बुद्धि के प्रभाव को नीचा दिखाने के लिए प्रयत्नशील है ॥ ११ ॥

टिप्पणी—कृतगा —जिसका अनिष्ट किया गया हो। भुजग इव—साँप की तरह। भुजेन कुटिलगतया गच्छतीति भुज्√गम्+कतरि=भुजग , खच्प्रत्यये तु भुजङ्गम । जैसे साँप आघात पहुँचाने वाले से समय पाकर बदला ले लेता है, उसी तरह चाणक्य ने भी अपने अपमानकर्ता नन्द से बदला लिया था। इसीलिए यहाँ भुजग की उपमा दी गई है। अतिशयितुम्—अतिक्रमण करने के लिए। अति√शी+तुमुन्। यद्यपि शी धातु अकर्मक है, किन्तु यहाँ उपसर्ग के कारण सकर्मक हो गई है। व्यवसित —उद्यत, कटिबद्ध। वि-अव√सो+क्त कर्तरि। इसका कर्ता 'एप' है, जो राक्षस के लिए आया है। इस श्लोक मे उपमा अलकार है और और शिखरिणी छन्द है। शिखरिणी का लक्षण १,१३ मे देखिए ॥ ११ ॥

[प्रत्यक्षवदाकाशे लक्ष्य बद्ध्वा] राक्षस ! राक्षस ! विरम्यतामस्माद्दुर्व्यवसितात्।

उत्सिक्तः कुसचिवदृष्टराज्यतन्त्रो
नन्दोऽसौ न भवति चन्द्रगुप्त एषः ।
चाणक्यस्त्वमपि च नैव केवलं ते
साधर्म्यं मदनुकृतेः प्रधानवैरम् ॥ १२ ॥

अन्वय—एषः चन्द्रगुप्तः उत्सिक्तः कुसचिवदृष्टराज्यतन्त्रः असौ नन्दः न भवति । त्वमपि च नैव चाणक्यः । केवलं प्रधानवैरं ते मदनुकृतेः साधर्म्यम् ॥ १२ ॥

व्याख्या—एषः—अयम्, चन्द्रगुप्तः—मौर्यः (भवति), उत्सिक्तः—गर्वितः, कुसचिवदृष्टराज्यतन्त्रः—कुसचिवैः कुत्सितामात्यैः दृष्टम् अवलोकितम् राज्यतन्त्रम् राज्यभारः यस्य तादृशः, असौ—अयं, नन्दः—तदाख्यः नृपः, न भवति—नास्ति । त्वमपि च—भवानपि, नैव—नह्येव, चाणक्यः—कौटिल्यः (असि) । केवलम्—एकम्, प्रधानवैरम्—मुख्यशत्रुता, ते—तव, मदनुकृतेः—ममानुकरणस्य, साधर्म्यम् (अस्ति) ॥ १२ ॥

हिन्दी अनुवाद—[आकाश में प्रत्यक्ष (देखते हुए) की तरह दृष्टि बाँधकर] राक्षस ! राक्षस ! इस दुष्प्रयत्न से विरत हो जाओ ।

यह चन्द्रगुप्त है, गर्वित तथा बुरे मंत्रियों को राज्य-भार सौंपने वाला नन्द यह नहीं है और तुम भी चाणक्य नहीं ही हो । केवल मुख्य शत्रुता तुम्हारे मेरे अनुकरण की समानता रखती है ॥ १२ ॥

टिप्पणी—राक्षस राक्षस !—यहाँ कार्य का नैरन्तर्य सूचित करने के लिए शब्द की आवृत्ति की गई है । विरम्यताम्—निवृत्यताम् । दुर्व्यवसितात् —दुः दुष्टं व्यवसितं व्यापारः, तस्मात् । अत्र 'जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्' इति वार्तिकेन अपादानसंज्ञा—पञ्चमी । प्रधानवैरम्—यहाँ चाणक्य कहना चाहता है कि हे राक्षस ! तुम बुद्धिप्रकर्षादि में मेरी बराबरी नहीं कर सकते हो । केवल प्रमुख राजा के साथ वैर करने में मेरे साथ तुम्हारी समानता है । क्योंकि जैसे मैंने नन्दों को समूल नष्ट कर दिया वैसे तुम भी चन्द्रगुप्त को समूल नष्ट करना चाहते हो; किन्तु न तो चन्द्रगुप्त के समान पराक्रमी राजा नन्द था और न मेरे जैसे बुद्धिमान् मंत्री तुम हो । साधर्म्यम्—समानता । समानो धर्मः सधर्मः कर्मधारय स०, समान इत्यस्य सादेशः । स एव इति

सधर्म+ष्यञ् स्वार्थे। अथवा समानो धर्म अस्य इति सधर्मा बहुव्रीहि स०, सादेश, 'धर्मादनिच् केवलात्' इति सूत्रेण अनिच् प्रत्यय। सधर्मणो भावः इति सधर्मन्+ष्यञ्=साधर्म्यम्। इस श्लोक मे परिकर तथा व्यतिरेक अलकारो की ससृष्टि है। इसमें प्रहर्षिणी छन्द है। प्रहर्षिणी का लक्षण १, ७ मे देखिए ॥ १२ ॥

[विचिन्त्य] अथवा नातिमात्रमस्मिन् वस्तुनि मया मन खेदयितव्यम्। कुत ?—

मद्भृत्यै किल सोऽपि पर्वतसुतो व्याप्त प्रविष्टान्तरै-
रुद्युक्ताश्च नियोगसाधनविधौ सिद्धार्थकाद्या स्पशा।
कृत्वा सम्प्रति कैतवेन कलह मौर्येन्दुना राक्षम
भेत्स्यामि स्वमतेन भेदकुशलो ह्येष प्रतीप द्विप ॥ १३ ॥

अन्वय—स पर्वतसुत अपि प्रविष्टान्तरै मद्भृत्यै व्याप्त किल च सिद्धार्थकाद्या स्पशा नियोगसाधनविधौ उद्युक्ता। सम्प्रति भेदकुशल (अहम्) कैतवेन मौर्येन्दुना कलह कृत्वा प्रतीप राक्षसम् एष स्वमतेन द्विप भेत्स्यामि ॥ १३ ॥

व्याख्या—स —प्रसिद्ध, पर्वतसुत —मलयकेतु, अपि, प्रविष्टान्तरै —प्रविष्टम् आयत्तीकृतम् अन्त अन्त करण यै तादृशै, मद्भृत्यै —मत्सेवकै भागुरायणादिभिरित्यर्थ, व्याप्त किल—परिवृत एव वश्यता प्रापित एवेत्यर्थ, च—पुन सिद्धार्थकाद्या —सिद्धार्थकप्रमुखा, स्पशा —चरा, नियोगसाधनविधौ—नियोगस्य निदेशस्य साधन सम्पादन तदेव विधि व्यापार तस्मिन्, उद्युक्ता —तत्परा (सन्ति)। सम्प्रति—अधुना, भेदकुशल —भेदे पार्थक्ये कुशल निपुण (अह), कैतवेन—छलेन, मौर्येन्दुना—चन्द्रगुप्तेन (सह), कलह कृत्वा—विवाद प्रस्तुत्य, प्रतीप—प्रतिकूल, राक्षसम्, एष —अविरात्, स्वमतेन—आत्मच्छन्देन, द्विप —शत्रो मलयकेतोरित्यर्थ, भेत्स्यामि—पृथक्करिष्यामि ॥ १३ ॥

हिन्दी अनुवाद—[सोचकर] अथवा इस विषय मे मुझे (अपने) मन को अत्यन्त खिन्न नही करना चाहिए। क्योकि—

वह मलयकेतु भी हृदय मे बैठे हुए (अर्थात् शत्रु के हृदय पर अधिकार

किये हुए) मेरे अनुचरों से घिरा हुआ है, और सिद्धार्थक आदि गुप्तचर भी निर्दिष्ट कार्यों के सम्पादन में लगे हुए हैं। सम्प्रति फूट डालने में कुशल (मैं) चन्द्रगुप्त के साथ बनावटी रूप से झगड़ा करके प्रतिकूल राक्षस को शीघ्र ही अपनी बुद्धि के अनुसार शत्रु (मलयकेतु) से अलग कर दूंगा ॥ १२ ॥

टिप्पणी—अतिमात्रम्—अतिशयम्। अतिक्रान्ता मात्रा प्रमाणं यस्मिन् कर्मणि तत् अतिमात्रम् प्रादिबहुव्रीहि स०। क्रियाविशेषणमेतत्। उद्युक्ताः—तत्पर। युज् समाधौ दिवादिरकर्मकः। उद्√युज्+क्त कर्तरि वर्तमाने। प्रतीपम्—प्रतिकूल। प्रतिगताः आपः अस्मिन् इति प्रतीपः प्रादिबहुव्रीहि स०, समासान्तः अप्रत्ययः, 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' इत्यनेन ईत्वम्। इसका अभिधार्थ है—वह स्थान जहाँ से धारा मुड़ती है, किन्तु लक्षणार्थ है—प्रतिकूल। तम्। यह 'राक्षसम्' का विशेषण है। स्वमतेन—यथारुचि। अत्र करणे हेतौ वा तृतीया। इस श्लोक के 'मौर्येन्दु' पद मे कर्मधारय तथा उपमित दोनों समासों की संभावना है, इसलिए उपमा या रूपक अलंकार समझना चाहिए। इसमें गौड़ी रीति है, ओज गुण है और शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥ १३ ॥

कञ्चुकी—[प्रविश्य] कष्टं खलु सेवा नाम ! कुतः ?—

भेतव्यं नृपतेस्ततः सचिवतो राज्ञस्ततो वल्लभा-
दन्येभ्यश्च वसन्ति येऽस्य भवने लब्धप्रसादा विटाः।
दैन्यादुन्मुखदर्शनापलपनैः पिण्डार्थमायस्यतः
सेवां लाघवकारिणी कृतधियः स्थाने श्ववृत्तिं विदुः ॥ १४ ॥

अन्वयः—नृपतेः भेतव्यम्, ततः सचिवतः, ततो राज्ञो वल्लभात्, अन्येभ्यश्च ये लब्धप्रसादा विटा अस्य भवने वसन्ति। स्थाने कृतधियः दैन्यात् उन्मुखदर्शनापलपनैः पिण्डार्थम् आयस्यतः लाघवकारिणी सेवां श्ववृत्तिं विदुः ॥ १४ ॥

व्याख्या—नृपतेः—भूपात्, भेतव्यम् – शङ्कितव्यम, ततः—तदनन्तरं, सचिवतः—अमात्यात्, ततः—तत्पश्चात्, राज्ञः नृपतेः, वल्लभात्—प्रियजनात्, अन्येभ्यश्च—इतरेभ्यश्च ये, लब्धप्रसादाः—प्राप्तानुग्रहाः, विटाः—धूर्ताः, अस्य—राज्ञः, भवने—गृहे, वसन्ति—तिष्ठन्ति। स्थाने—युक्तम् (एव यत्), कृतधियः—कृता शिक्षिता धीः बुद्धिः येषां ते पण्डिता इत्यर्थः, दैन्यात्—दरिद्रतया हेतुना,

उन्मुखदर्शनापलपनै — उत् ऊर्ध्वं मुख यस्मिन् कर्मणि तत् उन्मुखम् उद्ग्रीव यथा स्यात् तथा दर्शनानि वीक्षितानि अपलपनानि मिथ्याभाषणानि च तै, पिण्डार्थम्—भोज्यार्थम्, आयस्यत —क्लिश्यमानस्य, (सेवकस्य) लाघवकारिणी —लघुतासम्पादिनी, सेवा—शुश्रूषा, श्ववृत्ति—कुक्कुरलीला, विदु — मन्यन्ते ॥ १४ ॥

हिन्दी अनुवाद—कञ्चुकी—[प्रवेश करके] सेवा दु खद (वस्तु) है। क्योकि—

राजा से डरना चाहिए, उसके बाद मत्री से, तत्पश्चात् राजा के प्रियपात्र से, (फिर उन) इतर व्यक्तियो से, जो कृपापात्र धूर्त इस (राजा) के घर में रहते हैं। ठीक (ही है कि) विद्वानो ने दीनता के कारण ऊपर मुख करके देखने और मिथ्या भाषणो से जीविका के लिए कष्ट उठाते हुए (सेवक) को तुच्छ बनाने वाली सेवा को कुत्ते की वृत्ति माना है ॥ १४ ॥

टिप्पणी—कष्टम्—अत्र सामान्ये नपुसकम्। उन्मुखदर्शनापलपनै — अप√लप् + ल्युट् भावे = अपलपनम् = मिथ्या भाषण, झूठमूठ की प्रशसा। कुत्ते के पक्ष में—पीटे जाने के भय से शरीर को सिकोडना। श्ववृत्तिम्— शुनो वृत्तिमिव वृत्तिम्। जैसे कुत्ता उदरपूर्ति के लिए स्वामी को देखकर ऊपर को मुँह उठाता है, भूकता है और पिटाई के डर से देह को सिकोडता है, उसी तरह सेवक भी राजा और उसके कृपापात्रवर्ग के साथ बरतता हुआ कालयापन करता है। इसीलिए अन्यत्र भी कहा गया है—'सेवा श्ववृत्तिराख्याता'। इस श्लोक मे कचुकी का निर्वेद दिखाया गया है और उसे निर्वेद इसलिए हुआ है कि वह चाणक्य और चन्द्रगुप्त के कपटवैमनस्य को यथार्थ समझ रहा है। इस पद्य मे काव्यलिंग अलकार है, वैदर्भी रीति है, प्रसाद गुण है और शार्दूलविक्रीडित छन्द है। उस छन्द का लक्षण १, १२ मे देखिए ॥ १४ ॥

[परिक्रम्यावलोक्य च] इदमार्यचाणक्यस्य गृह, यावत् प्रविशामि। [नाट्येन प्रविश्यावलोक्य च] अहो! राजाधिराजमन्त्रिणो गृहभूति ॥ कुतः ?—

उपलशकलमेतद्भेदक गोमयाना
वटुभिरुपहृताना बर्हिषा स्तोम एष

शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभि-
विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम् ॥ १५ ॥

अन्वय—गोमयानां भेदकम् एतत् उपलशकलम्, वटुभिः उपहृतानां बर्हिषाम् एषः स्तोमः, शुष्यमाणाभिः समिद्भिः विनमितपटलान्तं जीर्णकुड्यं शरणमपि दृश्यते ॥ १५ ॥

व्याख्या—गोमयानां करीषाणां शुष्काणामिति शेषः, भेदकम्—पेषकम्, एतत्—दृश्यमानम्, उपलशकलम्—प्रस्तरखण्डं (दृश्यते), वटुभिः—छात्रभूतैः विप्रकुमारैः, उपहृतानां—समानीतानां, बर्हिषां—कुशानाम्, एषः—अयम्, स्तोमः—समूहः (दृश्यते), शुष्यमाणाभिः—आतपे शोषं गच्छन्तीभिः, आभिः—दृश्यमानाभिः, समिद्भिः—काष्ठैः, विनमितपटलान्तं—विनमितः नम्रीभूतः पटलान्तः छदिप्रान्तः यस्य तादृशम्, जीर्णकुड्यं—जीर्णं विशीर्णं कुड्यं भित्तिः यस्य तादृशं, शरणमपि—गृहञ्च, दृश्यते—अवलोक्यते ॥ १५ ॥

हिन्दी अनुवाद—[**घूमकर और देखकर**] यह आर्य चाणक्य का घर है, भीतर चलूँ। [**अभिनय के साथ भीतर जाकर और देखकर**] अरे! (यह है) चक्रवर्ती राजा के मंत्री की गृह-विभूति !! क्योंकि—

(सूखे) गोबरों को तोड़ने वाला यह पत्थर का टुकड़ा (दिखाई दे रहा) है, ब्रह्मचारियों द्वारा लाये हुए कुशों का यह ढेर (दिखाई दे रहा) है। और सूखती हुई समिधाओं (के भार) से झुकी हुई ओलती वाला तथा पुरानी दीवारों वाला घर भी दिखाई दे रहा है।

टिप्पणी—राजाधिराजमन्त्रिणः—अधिको राजा अधिराजः प्रादितत्०, समासान्तः टच्प्रत्ययः, राज्ञाम् अधिराजः षष्ठीतत्०, तस्य मन्त्री षष्ठीतत्०, तस्य। राजाओं के भी विशेष राजा अर्थात् चक्रवर्ती के मंत्री की। गृहभूतिः—घर का ऐश्वर्य। गोमयानाम्—गोबरों या उपलों का। गोः पुरीषम् इति गो+मयट्=गोमयानि, तेषाम् कृद्योगा कर्मणि षष्ठी। स्तोमः—ढेर। कहीं 'कूटमेतत्' पाठ है। कूट का भी अर्थ ढेर होता है। 'कूटोऽस्त्री निश्चले राशौ' इति मेदिनी। समिद्भिः—लकडियों से। समिध्यते आभिः इति सम्√इन्ध्+क्विप् करणे=समिधः, ताभिः। अनुक्ते कर्तरि तृतीया। विनमितपटलान्तम्—जिसके छप्पर की ओलती झुक गई हो। वि√नम्+क्त कर्मणि—विनमितः।

तादृस पटलान्त यस्य तत्। यह 'शरणम्' का विशेषण है। शरणम्—घर, कुटी। 'शरण गृहरक्षित्रो' इत्यमर। इस श्लोक मे स्वभावोक्ति नामक अलकार है, वैदर्भी रीति है, प्रसाद गुण है और मालिनी छद है। मालिनी का लक्षण यह है—'ननमययययुतेय मालिनी भोगिलोकै'॥ १५॥

तत् स्थाने खल्वस्य वृषलो देवश्चन्द्रगुप्त इति। कुत —

स्तुवन्त्यश्रान्तास्या क्षितिपतिमभूतैरपि गुणै
प्रवाच कापण्याद् यदवितथवाचोऽपि कृतिन।
प्रभावस्तृष्णाया स खलु सकल स्यादितरथा
निरीहाणामीशस्तृणमिव तिरस्कारविषय॥ १६॥

अन्वय—अवितथवाच कृतिन अपि यत् कार्पण्यात् प्रवाच (सन्त) अश्रान्तास्या (भूत्वा) अभूतैरपि गुणै क्षितिपतिं स्तुवन्ति स खलु तृष्णाया सकल प्रभाव। इतरथा निरीहाणाम् ईश तृणमिव तिरस्कारविषय स्यात्॥ १६॥

व्याख्या—अवितथवाच—अवितथा सत्या वाक् वाणी येषा तादृशा, कृतिन अपि—विद्वास अपि, यत्, कार्पण्यात्—दैन्यात् हेतो, प्रवाच—वाचाला (सन्त), अश्रान्तास्या—अश्रान्त श्रमरहितम् आस्य मुख येषा तादृशा (भूत्वा), अभूतै अपि—अविद्यमानै अपि, गुणै—दयादाक्षिण्यादिभि, क्षितिपतिं—राजान, स्तुवन्ति—उपश्लोकयन्ति, स, खलु—निश्चितम्, तृष्णाया—लाभस्य, सकल—सम्पूर्ण, प्रभाव—माहात्म्यम्। इतरथा—अन्यथा, निरीहाणाम्—कामनारहितानाम् (जनाना सम्बन्धे), ईश—प्रभु राजा इत्यर्थ, तृणमिव—शष्पमिव, तिरस्कारविषय—अनादरपात्र, स्यात्—भवेत्॥ १६॥

हिन्दी अनुवाद—इसलिए इस (चाणक्य) का महाराज चन्द्रगुप्त को वृषल (शूद्र) कहना उचित है। क्योकि—

सत्य वाणी बोलने वाले विद्वान् भी जो दीनता के कारण वाचाल तथा अश्रान्तमुख होकर अविद्यमान गुणो से भी राजा की स्तुति करते हैं, वह निश्चित रूप से तृष्णा का पूरा प्रभाव है, अन्यथा निरीह व्यक्तियो के लिए प्रभु (राजा) तृण के समान तिरस्कार का विषय (अर्थात् तुच्छ) होता है॥ १६॥

टिप्पणी—अवितथवाचः—जिनकी वाणी असत्य नही होती अर्थात् सत्यवक्ता। तथा = सत्य। विगतं तथा अस्याः इति वितथा बहुव्रीहि स०। न वितथा अवितथा नञ्तत्० तादृशी वाक् येषां बहुव्रीहि स०। **प्रवाचः**—बहुत बोलने वाले। प्रभूता वाक् एषाम् प्रादिबहुव्रीहि स०। **अश्रान्तास्याः**—न थके हुए मुख वाले। यह 'कृतिनः' का विशेषण है। किसी पुस्तक मे 'श्रान्तास्याः' पाठ है। उसका अर्थ होगा—थके हुए मुख वाले अर्थात् जब तक मुख थक नही जाता तब तक। **प्रभावः**—प्रकृष्टो भावः प्रभावः प्रादितत्०। यहाँ 'प्र√भू + घञ्' ऐसा नही कर सकते; क्योकि 'श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे' सूत्र से उपसर्ग में घञ् नही होता। **निरीहाणाम्**—निःस्पृहों का। कहा भी है—'निःस्पृहस्य तृण जगत्'। ईहायाः निष्क्रान्ता इति निरीहाः 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' इत्यनेन तत्पुरुषसमासः। **तिरस्कारविषयः**—तिरस्कार करने की वस्तु। तिरस्√कृ + घञ् भावे = तिरस्कार वा तिरःकारः 'तिरसोऽन्यतरस्याम्' इत्यनेन सत्वस्य विकल्पात्। तिरस्कारस्य विषयः षष्ठीतत्०। इस श्लोक में विरोधाभास नामक अलकार उपमा अलंकार से संसृष्ट है। इसमे वैदर्भी रीति है, प्रसाद गुण है और शिखरिणी छन्द है। इस छन्द का लक्षण १, १२ में देखिए॥ १६॥

[अवलोक्य सभयम्] तदयमार्यचाणक्यस्तिष्ठति।

यो नन्दमौर्यनृपयोः परिभूय लोक-
मस्तोदयौ प्रतिदिशन्नविभिन्नकालम्।
पर्यायपातितहिमोष्णमसर्वगामि
धाम्नातिशाययति धाम सहस्रधाम्नः॥ १७॥

अन्वय—यः लोकं परिभूय अविभिन्नकालं नन्दमौर्यनृपयोः अस्तोदयौ प्रतिदिशन् सहस्रधाम्नः असर्वगामि पर्यायपातितहिमोष्णं धाम धाम्ना अतिशाययति॥ १७॥

व्याख्या—यः—चाणक्यः, लोकं—भुवनं, परिभूय—अवमत्य, अविभिन्नकालं—युगपत्, नन्दमौर्यनृपयोः—नृपस्य नन्दस्य नृपस्य मौर्यस्य च, अस्तोदयौ, ह्रासोपचयौ, प्रतिदिशन्—यच्छन्, सहस्रधाम्नः—सूर्यस्य, असर्वगामि—सर्वं निखिलं भुवनं न गच्छति न व्याप्नोति यत् तादृशं, पर्यायपातितहिमोष्णं—

पर्यायेण कालक्रमेण पातितम् अवतारित हिम शीतम् उष्णम् आतपश्च येन तादृश, धाम—तेज , धाम्ना—स्वतेजसा, अतिशाययति—अतिक्रामयति ॥१७॥

हिन्दी अनुवाद—[देख कर भय के साथ] वे ये आय चाणक्य विराजमान हैं।

जो विश्व को पराजित करके (अर्थात् नन्द और उसके अमात्य आदि को नीति से मोहित करके) एक ही समय नन्दराज और मौयराज को (क्रमश) अस्त और उदय देते हुए मूर्य के सर्वत्र न जाने वाले तथा कालक्रम से सर्दी और गर्मी को गिराने वाले तेज को अपने तेज से अतिक्रान्त कर रहा है ॥ १७ ॥

टिप्पणी—लोकम्—ससार या लोगों को। सूर्य-पक्ष मे लोक का तात्पर्य है लोकालोक नामक पवत से। पर्यायपातितहिमोष्णम्—कालक्रम से सर्दी और गर्मी को उतारने वाले। परि—आ√इ+अच् वा√अय्+घञ् भावे=पर्याय। हिमञ्च उष्णञ्च इति हिमोष्णम् वा हिमोष्णे 'विप्रतिषिद्ध चानधिकरणवाचि' इत्यनेन एकवद्भावस्य विकल्पात्। अतिशाययति—अतिक्रमण कर रहा है, नीचा दिखा रहा है। अति√शी+णिच्+लट्—तिप्। यहाँ भाव यह है कि मूर्य सहस्रराम होते हुए भी क्रमश सर्दी और गर्मी देते हैं, किन्तु ये चाणक्य तो एक ही काल मे नन्द के लिए शीत और मौर्य के लिए उष्ण हो गए। इसलिए ये सूर्य से भी अधिक प्रतापशाली हैं। इस श्लोक मे अतिशयोक्ति अलकार व्यतिरेक अलकार से सकीर्ण है। इसमे पाञ्चाली रीति है, ओज गुण है और वसन्ततिलका छन्द है। इस छद का लक्षण १, ८ मे देखिए ॥ १७ ॥

[जानुभ्या भूमौ निपत्य] जयतु जयत्वार्य ।

चाणक्य —[नाट्येनावलोक्य] वैहीनरे ! किमागमनप्रयोजनम् !

कञ्चुकी—आर्य ! प्रणतसम्भ्रमसमुच्चलितभूमिपालमौलिमालामाणिक्यशकलशिखापिशङ्गीकृतपादपद्मयुगल सुगृहीतनामधेयो देवश्चन्द्रगुप्त आर्य शिरसा प्रणिपत्य विज्ञापयति—'अकृतक्रियान्तरायमार्यं द्रष्टुमिच्छामि' इति।

चाणक्यः—वृषलो मां द्रष्टुमिच्छति ? वैहीनरे ! न खलुवृषल-श्रवणपथगतोऽयं मत्कृतः कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधः ?

कञ्चुकी—आर्य ! अथ किम् ?

चाणक्यः—[**सक्रोधम्**] आः । केन कथितम् ?

कञ्चुकी—[**भयं नाटयित्वा**] प्रसीदत्वार्यः । स्वयमेव सुगाङ्ग-प्रासादशिखरगतेन देवेनावलोकितमप्रवृत्तकौमुदीमहोत्सवं कुसुमपुरम् ।

चाणक्यः—आः ज्ञातम् । भवद्भिरेव मदन्तरा प्रोत्साह्य रोषितो वृषलः । किमन्यत् ?

कञ्चुकी—[**सभयं तूष्णीमधोमुखस्तिष्ठति ।**]

व्याख्या—प्रणतसम्भ्रम०—प्रणताः कृतप्रणामाः (अतएव) ससम्भ्रमं ससत्वरं यथा तथा समुच्चलिताः जातकम्पाः ये भूमिपालाः राजानः तेषां मौलयः चूडाः तेषां मालाः पङ्क्तयः तासु यानि माणिक्यशकलानि रत्नखण्डानि तेषां शिखाभिः ज्वालाभिः पिशङ्गीकृत पिङ्गलीकृतं पादपद्मयुगलं चरणारविन्दयुग्मं यस्य सः, सुगृहीतनामधेयः—प्रातःस्मरणीयनामा, देवः—महाराजः, चन्द्र-गुप्तः—मौर्यः, आर्य—भवन्त, शिरसा—मस्तकेन, प्रणिपत्य—प्रणम्य, विज्ञापयति—निवेदयति, अकृतक्रियान्तरायम्—अकृतः न विहितः क्रियायाः कर्मणः अन्तरायः प्रत्यूहः यस्य तादृशम् अन्तरायशून्यकर्माणम्, आर्यं—भवन्तं, द्रष्टुं—प्रेक्षितुम्, इच्छामि—वाञ्छामि । अयम्—एषः, मत्कृतः—अस्माद्विहितः, कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधः—शरत्पूर्णचन्द्रनिमित्तकोद्भवनिषेधः, वृषलश्रवणपथ-गतः—वृषलस्य श्रवणम् कर्णः तस्य पन्थाः मार्गः तम् गतः प्राप्तः, न खलु—न किमित्यर्थः । सुगाङ्गप्रासादशिखरगतेन—सुगाङ्गश्चासौ प्रासादः तस्य शिखरः उन्नतप्रदेशः तं गतः तेन, देवेन, अप्रवृत्तकौमुदीमहोत्सवम्—अप्रवृत्तः अनारब्धः कौमुदीमहोत्सवः शरत्पूर्णचन्द्रमहोत्सवः यस्मिन् तादृशम्, कुसुमपुरम्, अवलोकितम्—दृष्टम् । भवद्भिरेव—युष्माभिरेव, मदन्तरा—मदनुपस्थितिकाले, प्रोत्साह्य—उत्तेजकवचनैरुद्दीप्येत्यर्थः, वृषलः—मौर्यः, रोषितः—क्रोधितः ।

हिन्दी अनुवाद—[घुटने टेककर] जय हो, आर्य की जय हो ।

चाणक्य—[अभिनय [illegible] देखकर] वैहीनरि ! **आने का क्या**

कञ्चुकी—आर्य ! प्रातःस्मरणीय महाराज चन्द्रगुप्त ने, जिनके दोनों चरणारविन्द प्रणामार्थ झुके हुए तथा शीघ्रतावश कम्पित होते हुए राजाओं की चूडा-पंक्ति पर स्थित रत्न-खण्डों की किरणों से लाल-पीत बन रहते हैं, आपको माथा टेककर निवेदन किया है कि यदि किसी कार्य में विघ्न न पड़ता, आर्य को देखना चाहता हूँ।

चाणक्य—वृपल मुझे देखना चाहता है ? वैहीनरि ! मेरे द्वारा किया हुआ कौमुदीमहोत्सव का निषेध वृपल के कान तक तो नहीं पहुँच गया है ?

कञ्चुकी—और क्या ?

चाणक्य—[क्रोध के साथ] ऐं ! किसने कहा ?

कञ्चुकी—[भय का नाट्य करके] आर्य प्रसन्न हों। स्वयं ही सुगाङ्ग प्रासाद की चोटी पर गये हुए महाराज ने कौमुदीमहोत्सव के समारम्भ से शून्य कुसुमपुर को देखा।

चाणक्य—ओह ! समझ गया। तुम्हीं लोगों ने मेरी अनुपस्थिति में भड़काकर वृपल को कुपित कर दिया है। और क्या (हो सकता है) ?

कञ्चुकी—[भय के साथ नीचे मुँह किये चुप खड़ा रहता है।]

टिप्पणी—अकृतक्रियान्तरायम्—जिसके किसी कार्य में विघ्न न पड़ा हो। अन्तः मध्ये अयनम् इति अन्तर्√अय्+घञ् भावे=अन्तरायः। क्रियायाः अन्तरायः। अकृतः क्रियान्तरायो येन यस्य वा, तम्। यह 'आर्यम्' का विशेषण है। अथवा अकृतः क्रियान्तरायः यस्मिन् कर्मणि तत् यथा स्यात् तथा। इस विग्रह में यह दर्शनक्रिया का विशेषण है। अन्तरा—बीच में, अवसर पाकर। यह एक अव्यय है। प्रोत्साह्य—प्रोत्साहित या उत्तेजित करके। प्र-उद्√सह्+णिच्+क्त्वा—ल्यप्।

चाणक्य—अहो ! राजपरिजनस्य चाणक्योपरि विद्वेषपक्षपातः। अथ क्व वृपलस्तिष्ठति ?

कञ्चुकी—[भयं नाटयन्] आर्य ! सुगाङ्गप्रासादगतेन देवेनाहमार्य-पादमूलं प्रेषितः।

चाणक्य—[उत्थाय] कञ्चुकिन् ! सुगाङ्गप्रासादमार्गमादेशय।

कञ्चुकी—इत इत आर्यः । [इत्युभौ परिक्रामतः ।]

कञ्चुकी—अयं सुगाङ्गप्रासादः, शनैरारोढुमर्हत्यार्यः ।

चाणक्यः—[नाट्येनारुह्यावलोक्य च सहर्षमात्मगतम् ।] अये ! सिंहासनमध्यास्ते वृषलः । साधु साधु !—

नन्दैर्वियुक्तमनपेक्षितराजवृत्तै-
रध्यासितञ्च वृषलेन वृषेण राज्ञाम् ।
सिंहासनं सदृशपार्थिवसङ्गतञ्च
प्रीतिं परां प्रगुणयन्ति गुणा ममैते ॥ १८ ॥

अन्वयः—सिंहासनम् अनपेक्षितराजवृत्तैः नन्दैः वियुक्तं, राज्ञां वृषेण वृषलेन अध्यासितं च, सदृशपार्थिवसङ्गतं च, एते गुणा मम परां प्रीतिं प्रगुणयन्ति ॥ १८ ॥

व्याख्या—सिंहासनम्—नृपासनम्, अनपेक्षितराजवृत्तैः—अनपेक्षितम् अनादृतम् राजवृत्तम् राजधर्मः यैः तादृशैः, नन्दैः एतदाख्यनृपैः, वियुक्तं—विरहितं, राज्ञां—भूपानां, वृषेण—श्रेष्ठेन, वृषलेन—मौर्येण, अध्यासितं च—अधिष्ठितं च, सदृशपार्थिवसङ्गतं च—सदृशेन योग्येन पार्थिवेन राज्ञा सङ्गतं च—युक्तमपि, एते, गुणाः—अभ्युदयाः, मम—चाणक्यस्य, पराम्—उत्कृष्टाम्, प्रीतिम्—आनन्दं, प्रगुणयन्ति—जनयन्ति ॥ १८ ॥

हिन्दी अनुवाद—चाणक्य—ओह ! चाणक्य के साथ राजा के अनुचरों का अतिशय द्वेष है । अच्छा, वृषल कहाँ है ?

कंचुकी—[भय का नाट्य करता हुआ] आर्य ! सुगाङ्ग प्रासाद में गये हुए महाराज ने मुझे आपके चरणों के समीप भेजा था ।

चाणक्य—[उठकर] कंचुकी ? सुगाङ्ग प्रासाद का मार्ग बताओ ।

कंचुकी—इधर से आर्य ! इधर से । [दोनों घूमते हैं ।]

कंचुकी—यह सुगाङ्गप्रासाद है, धीरे से आर्य चढ़ें ।

चाणक्य—[अभिनय के साथ चढ़कर और देखकर प्रसन्नता के साथ मन में] अहा ! वृषल सिंहासन पर विराजमान है । वाह वाह !—

सिंहासन राज-धर्म की अवहेलना करने वाले नन्दो से रहित, राजाओ मे श्रेष्ठ मौर्य से सुशोभित तथा अपने अनुरूप राजा मे युक्त (हो गया है)— ये (तीनो) गुण (अभ्युदय) मेरे अतिशय आनन्द को उत्पन्न कर रहे हैं ॥ १८ ॥

टिप्पणी—विद्वेषपक्षपात —द्वेष के विषय मे पक्षपात या आसक्ति। पक्षे पात पक्षपात आसक्तिविशेष इत्यर्थ । विद्वेपे पक्षपात विद्वेषपक्षपात । उभयत्र सुप्सुपा स० । सिंहासनम्—अत्र 'अधिशीङ्स्थासा कर्म' इत्यनेन कर्मसज्ञा—द्वितीया । अनपेक्षितराजवृत्तै —राजा के धर्म या कर्तव्य का पालन न करने वाले । राजा का वृत्त या धर्म चार प्रकार का बताया गया है— 'न्यायेनार्जनमर्थाना रक्षण पालन तथा । सत्पात्रे विनियोगश्च राजवृत्त चतुर्विधम् ॥' 'अनपेक्षितराजराजे ' इस पाठान्तर की व्याख्या होगी—'अनादृतकुबेरे । नन्द महाधनाढ्य था इसलिए वह अपने सामने कुबेर को भी तुच्छ समझता था । किन्तु इससे अच्छा पाठ 'अनपेक्षितराजवृत्तै ' यही है । वृषेण— श्रेष्ठ । 'शुक्रे मूषिके श्रेष्ठे सुकृते वृषभे वृष ' इत्यमर । सदृशपार्थिवसङ्गतञ्च—योग्य या अनुरूप राजा से युक्त । समान (स)√दृश्+ कञ् कर्तरि=सदृश । पृथिव्या ईश्वर इति पृथिवी+अञ्=पार्थिव । इस पद्य मे सम नामक अलकार है, वैदर्भी रीति है, प्रसाद गुण है और वसन्ततिलका छद है । इस छन्द का लक्षण १, ८ मे देखिए ॥ १८ ॥

[उपसृत्य] विजयता वृषल ।

[सिंहासनादुत्थाय चाणक्यस्य पादौ गृहीत्वा] आर्य ! चन्द्रगुप्त प्रणमति ।

चाणक्य —[पाणौ गृहीत्वा] उत्तिष्ठोत्तिष्ठ वत्स !—

आ शैलेन्द्राच्छिलान्त स्खलितसुरनदीशीकरासारशीता-
त्तीरान्तान्नैकरागस्फुरितमणिरुचो दक्षिणस्यार्णवस्य ।
आगत्यागत्य भीतिप्रणतनृपशतै शश्वदेव क्रियन्ता
चूडारत्नाशुगर्भास्तव चरणयुगस्याङ्गुलीरन्ध्रभागा ॥ १९ ॥

अन्वय —शिलान्त स्खलितसुरनदीशीकरासारशीतात् शैलेन्द्रात् , आ,

नैकरागस्फुरितमणिरुचः दक्षिणस्य अर्णवस्य तीरान्तात् आगत्य आगत्य भीति-प्रणतनृपशतैः तव चरणयुगस्य अङ्गुलीरन्ध्रभागाः शश्वदेव चूडारत्नांशुगर्भाः क्रियन्ताम् ॥ १६ ॥

व्याख्या—शिलान्तःस्खलित०—शिलानां प्रस्तरखण्डानाम् अन्तः मध्ये स्खलिता पतिता या सुरनदी गङ्गा तस्याः शीकराणां जलकणानां यः आसारः वर्षणं तेन शीतात् शीतलात्, शैलेन्द्रात् हिमालयात् आ मर्यादीकृत्येत्यर्थः, नैकरागस्फुरितमणिरुचः—नैकैः बहुभिः रागैः वर्णैः स्फुरिताः द्योतमानाः मणिरुचः रत्नभासः यस्मिन् तादृशस्य, दक्षिणस्य अर्णवस्य—दक्षिणसागरस्य, तीरान्तात्—कूलात्, आगत्य आगत्य—पुनः पुनः समेत्य, भीतिप्रणतनृपशतैः—भीत्या भयेन प्रणतानि यानि नृपशतानि राजमण्डलानि तैः, तव—भवतः, चरणयुगस्य—पादद्वयस्य, अङ्गुलीरन्ध्रभागाः—अङ्गुलीनां रन्ध्रभागाः छिद्रप्रदेशाः, शश्वदेव—सर्वदैव, चूडारत्नांशुगर्भाः—चूडास्थितानि रत्नानि मुकुटमणयः तेषाम् अंशवः किरणाः गर्भे मध्ये येषां तादृशाः, क्रियन्ताम् विधीयन्ताम् ॥ १६ ॥

हिन्दी अनुवाद—[समीप जाकर] वृषल की विजय हो।

राजा—[सिंहासन से उठकर चाणक्य के चरणों को पकड़कर] आर्य ! चन्द्रगुप्त प्रणाम करता है।

चाणक्य—[हाथों में लेकर] वत्स ! उठो उठो।

शिलाओं पर गिरती हुई गंगा के जलकणों की वर्षा से शीतल हिमालय की ओर से और रंग-बिरंगी चमकती मणियों की कान्ति वाले दक्षिण समुद्र के तट की ओर से आ-आकर डर से झुके हुए सैकड़ो राजाओ से तुम्हारे दोनो चरणों की अंगुलियो के छिद्रभाग निरन्तर ही (उनके) मुकुटों मे जटित रत्नों की किरणों से युक्त किये जायँ ॥ १९ ॥

टिप्पणी—विजयताम्—अत्र 'विपराभ्यां जेः' इत्यनेन आत्मनेपदत्वम्। शैलेन्द्रात्—शैलानाम् इन्द्रः लक्षणया राजा शैलेन्द्रः=हिमालयः, तस्मात्। अत्र आङ्योगे 'पञ्चम्यपाङ् परिभिः' इत्यनेन पञ्चमी। नैकराग—न एकः नैकः नञर्थेन नशब्देन सुप्सुपा इति समासः। नैकश्च नैकश्च नैकश्च इत्येकशेषः। चूडारत्नांशुगर्भाः—(राजाओं के) मुकुटों में जडे हुए रत्नों

की किरणे जिनके बीच मे पडती है । चूडारत्नानाम् अशव गर्भे येषा तादृशा व्यधिकरणबहुव्रीहि स०, गड्वादीनामाकृतिगणत्वात् सप्तम्यन्तस्य गभशब्दस्य परनिपात । क्रियन्ताम्—अत्र 'आशिषि लिङ्लोटौ' इत्यनेन आशीरर्थे लोट् । श्लोक का तात्पर्य यह है कि (उत्तर) हिमालय और दक्षिण सागर की सीमा के मध्यवर्ती राजा लोग वशीभूत होकर तुम्हें सदा प्रणाम किया करे । इसमे स्रग्धरा छद है । इसका लक्षण १, १ मे देखिए ॥ १६ ॥

राजा—आर्यप्रसादादनुभूयत एवैतत्, नाऽऽशास्यते । उपविशत्वार्य । [इत्युभौ यथासनमुपविष्टौ ।]

चाणक्य —वृपल ! किमर्थं वयमाहूता ?

राजा—आर्यस्य दर्शनेनात्मानमनुग्राहयितुम् ।

चाणक्य —[स्मित कृत्वा] वृपल ! अलमनेन प्रश्रयेण, न निष्प्रयोजनमधिकारवन्त प्रभुभिराहूयन्ते, तत् प्रयोजनमभिधीयताम् ।

राजा—आर्य ! कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधस्य कि फलमार्य पश्यति ?

चाणक्य —[स्मित कृत्वा] वृपल ! उपालब्धु तर्हि वयमाहूता ।

राजा—आर्य ! नोपालब्धुम् ।

चाणक्य —किं तर्हि ?

राजा—विज्ञापयितुम् ।

चाणक्य —वृपल ! यद्येव तर्हि विज्ञापनीयानामवश्य शिष्येण रुचयोऽनुरोद्धव्या ।

राजा—आर्य ! क [illegible] ? किन्तु न कदाचिदप्यार्यस्य निष्प्रयोजना प्रवृत्ति [illegible] न प्रश्नावकाश ।

चाणक्य —[illegible]

[illegible] ! सम्यग्गृहीतवानसि मदाशयम् । न हि प्रयोजन- [illegible] चाणक्यश्चेष्टते ।

[illegible] भीति मा प्रयोजनशुश्रूषा मुखरयति ।

[illegible] भिस्तिव [illegible]ताम् । इह खल्वर्थशास्त्रकारा [illegible] तद्यथा—राजायत्ता, सचिवायत्ताम्,

उभयायत्ताञ्चेति। तत् सचिवायत्तसिद्धेर्भवतः किं फलान्वेषेण! यतो वयमेवात्र नियुक्ता वेत्स्यामः।

राजा—[सकोप इव मुखं परावर्तयति।]

हिन्दी अनुवाद—राजा—आर्य की कृपा से इसका अनुभव ही किया जा रहा है, आज्ञा नही। आर्य बैठें। [दोनों यथायोग्य आसन पर बैठ जाते है।]

चाणक्य—वृषल! क्यों हमें बुलाया गया है?

राजा—आर्य के दर्शन से अपने को अनुगृहीत कराने के लिए।

चाणक्य—[मुसकराकर] वृषल! यह विनय पर्याप्त हो गया। राजा अधिकारियों को बिना प्रयोजन के नही बुलाते। इसलिए प्रयोजन बताओ।

राजा—आर्य! कौमुदीमहोत्सव के रोकने का क्या परिणाम आप देखते हैं?

चाणक्य—[मुसकराकर] वृषल! तब उलाहना देने के लिए हमें बुलाया गया है।

राजा—आर्य! उलाहना देने के लिए नहीं।

चाणक्य—तब क्यों?

राजा—निवेदन करने के लिए।

चाणक्य—वृषल! यदि ऐसा है तो शिष्य निवेदन करने योग्यों की रुचियों का अनुसरण अवश्य करें।

राजा—आर्य! (इसमें) क्या सन्देह? किन्तु कभी भी बिना प्रयोजन के आर्य की प्रवृत्ति नही होती, इसलिए हमें प्रश्न करने का अवसर है।

चाणक्य—वृषल! मेरे आशय को ठीक समझा है। प्रयोजन की अपेक्षा किये बिना चाणक्य स्वप्न में भी चेष्टा नहीं करता है।

राजा—आर्य! इसलिए प्रयोजन सुनने की इच्छा मुझे मुखरित कर रही है।

चाणक्य—वृषल! सुनो। यहाँ अर्थशास्त्र के रचयिताओं ने तीन प्रकार की ही सिद्धि का वर्णन किया है। वह जैसे—राजा के अधीन, मंत्री के

अधीन और दोनों के अधीन। इसलिए मन्त्री के अधीन सिद्धि (प्राप्त करने) वाले तुम्हें परिणाम के अन्वेषण में क्या लाभ ? क्योंकि इस विषय में नियुक्त हुए हम ही जानेंगे।

राजा—[क्रुद्ध की भांति मुँह फेर लेता है।]

टिप्पणी—अनुग्राहयितुम्—प्रसन्नतास्पद कर्तुम्। अनु√ग्रह्+णिच्+तुमुन्। दर्शनेन आत्मानम् अनुगृह्णाति=अहं दर्शनेन (अनुक्ते कर्तरि तृतीया) आत्मानम् अनुग्राहयामि। प्रश्रयेण—विनयेन। प्र√श्रि+अच् भावे=प्रश्रय, तेन। करणे तृतीया। अधिकारवन्तः—विशिष्टकार्यकारिणः। अधिकार अस्ति एषाम् इति अधिकार+मतुप्। उपालब्धुम्—तिरस्कर्तुम्। उप-आ√लभ्+तुमुन्। विज्ञापयितुम्—निवेदयितुम्। वि√ज्ञा+णिच्, पुक् तुमुन्। विज्ञापनीयानाम्—निवेदनीयानां गुप्तानामित्यर्थः। रुचय—प्रवृत्तय। अनुरोद्धव्या—मानयितव्या। प्रस्तावकाशः—पृच्छावसर। अनपेक्षमाणः—अनवलोकमानः। प्रयोजनशुश्रूषा—हेतुश्रवणेच्छा। श्रोतुम् इच्छा इति√श्रु+सन्+अ भावे स्त्रियाम्=शुश्रूषा। प्रयोजनस्य शुश्रूषा। मुखरयति—वक्तुं प्रवर्तयति। वाचाल बना रही है। मुखम् अस्ति अस्य महत् इति मुख+र मत्वर्थे=मुखर=वाचाल। तं करोति इति मुखर+णिच् (नामधातु)+लट्—तिप्=मुखरयति। राजायत्ताम्—नृपाधीनाम्। आ√यत्+क्त कर्मणि=आयत्ता। राजनि आयत्ता सुप्सुपा स०, ताम्। फलान्वेषणेन—प्रयोजनजिज्ञासया। अत्र करणे तृतीया। नियुक्ता—व्यापृता। वेत्स्याम—वेदिष्याम। √विद् (ज्ञाने)+लृट्—मस्। यहाँ इट् का आगम हो जाता है, इसलिए 'वेत्स्याम' रूप अशुद्ध है। शुद्ध रूप 'वेदिष्याम' होना है। विद् धातु अनेकार्थक है और अनेक गणों में पठित है—'सत्तायां विद्यते ज्ञाने वेत्ति विन्ते विचारणे। विन्दते—विन्दति प्राप्तौ श्यन्लुक्श्नम्शेष्विदं क्रमात्'॥

[ततो नेपथ्ये वैतालिकौ पठतः।]

एक—

आकाशं काशपुष्पच्छविमभिभवता भस्मना शुक्लयन्ती
शीतांशोरंशुजालैर्जलधरमलिना क्लिन्दती कृत्तिमैभीम्।

कापालीमुद्वहन्ती स्रजमिव धवलां कौमुदीमित्यपूर्वा
हासश्रीराजहंसा हरतु तनुरिव क्लेशमैशी शरद्वः ॥ २० ॥

अन्वयः—काशपुष्पच्छविम् अभिभवता भस्मना आकाशं शुक्लयन्ती, शीतांशोः अंशुजालैः जलधरमलिनाम् ऐभीं कृत्तिं क्लिन्दती, कौमुदीमिव धवलां कापालीं स्रजम् उद्वहन्ती, हासश्रीराजहंसा इति अपूर्वा शरदिव ऐशी तनुः वः क्लेशं हरतु ॥ २० ॥

व्याख्या—काशपुष्पच्छविम्—काशपुष्पस्य काशकुसुमस्य छविं कान्तिम्, अभिभवता—न्यक्कुर्वता, भस्मना—भूत्या, आकाशं—गगनं, शुक्लयन्ती—धवलयन्ती, शीतांशोः—चन्द्रस्य, अंशुजालैः—किरणसमूहैः, जलधरमलिनाम्—जलधरः—मेघ इव या मलिना नीला ताम्, ऐभीं कृत्तिं—गजचर्म, क्लिन्दती—सिञ्चन्ती ('क्लिश्नती' इति पाठे तद्गतनैल्य तिरस्कुर्वन्तीत्यर्थः), कौमुदीमिव—चन्द्रिकामिव, धवलां—स्वच्छां, कापाली—नरकपालकल्पितां, स्रजं—मालाम्, उद्वहन्ती—धारयन्ती, हासश्रीराजहंसा—प्रशस्ताट्टहाससम्पत्, इति—अतो हेतोः, अपूर्वा—अतिरमणीया, शरदिव—शरदृतुरिव, ऐशी—शाम्भवी, तनुः—मूर्तिः, वः—युष्माकं, क्लेशं—कष्टं, हरतु—अपनयतु । (पक्षे शरदो विशेषणं सर्वं क्वचिद्विभक्तिविपरिणामेन क्वचिच्च यथोक्तरूपेणेति ज्ञेयम्) भस्म, अभिभवन्त्या—तिरस्कुर्वन्त्या, काशपुष्पच्छव्या—काशकुसुमशोभया, आकाशं, शुक्लयन्ती, शीतांशोः, अंशुजालैः, ऐभीं, कृत्तिमिव, जलधरमलिनां—मेघमालिन्यं, क्लिन्दती—अपसारयन्ती (धातूनामनेकार्थत्वात्), कापालीं, स्रजमिव, धवलां, कौमुदीम्, उद्वहन्ती, हासश्रीराजहंसा—हासश्रीरिव राजहंसो यस्यां तादृशी, इति, अपूर्वा, शरत्, वः, क्लेशं, हरतु ॥ २० ॥

हिन्दी अनुवाद—[नेपथ्य में दो वैतालिक (दो श्लोक) पढ़ते है ।]

पहला—(ताण्डवनृत्य के प्रारंभ होने पर) काशपुष्प की कान्ति को तिरस्कृत करने वाले भस्म से आकाश को धवल बनाती हुई, चन्द्रमा के किरण-समूहों से मेघ के समान नील (वर्ण के) गज-चर्म को सींचती हुई, चाँदनी के समान शुभ्र कपाल-माला को धारण किये हुई और राजहंस के समान (धवल) हास्य-शोभा से युक्त होने के कारण विलक्षण शरद् ऋतु की तरह शिव की मूर्ति आपके क्लेश का हरण करे। (शरद्-पक्ष में) भस्म

को तिरस्कृत करने वाली काशपुष्प की कान्ति से आकाश को धवल बनाती हुई, चन्द्रमा के किरण-समूहों से गजचर्म के समान मेघ के मालिन्य को दूर करती हुई, कपाल-माला के समान शुभ्र चन्द्रिका को धारण करती हुई और हास्य की शोभा के समान राजहंसों से युक्त होने के कारण विलक्षण शरद् ऋतु आपके (राक्षस और मलयकेतु द्वारा उत्पन्न किये हुए) दुःख को दूर करे ॥ २० ॥

टिप्पणी—वैतालिकौ—स्तुतिपाठक, समय की सूचना देने वाले। विविधस्ताल वितालः। तेन चरति वा विविधस्ताल प्रयोजनमस्य इति विताल+ठक्, तस्य इकादेश =वैतालिक, तौ। एक —पहला वैतालिक चाणक्य का गुप्तचर है। शुक्लयन्तीम्—शुक्लं करोति इति शुक्ल+णिच् (नामधातु)+शतृ स्त्रियाम्। ऐभी कृत्तिम्—गज सम्बन्धी चर्म को। इभस्य इयम् इति इभ+अण्+ङीप्=ऐभी, ताम्। कहते हैं कि शंकर गज नामक असुर को मारकर उसकी खाल को धारण किये हुए हैं। कापालीम्—कपालानाम् इयम् इति कापाली कपाल+अण्+ङीप् ताम्। हासश्रीराजहंसा—राजहंस के समान हास्य की शोभा अर्थात् अट्टहास से युक्त। हासस्य श्री षष्ठीतत्० । हास-श्री राजहंस इव इति उपमितकर्मधारय स०। स अस्ति अस्याम् इति हासश्री-राजहंस+अच्—टाप्। ऐशी—शिव सम्बन्धिनी। ईशस्य इयम् इति ईश+अण्+ङीप्। इस श्लोक में उपमा अलंकार है और स्रग्धरा छन्द है ॥ २० ॥

अपि च—

> प्रत्यग्रोन्मेषजिह्मा क्षणमनभिमुखी रत्नदीपप्रभाणा-
> मात्मव्यापारगुर्वी जनितजललवा जृम्भितैः साङ्गभङ्गैः ।
> नागाङ्कं मोक्तुमिच्छोः शयनमुरु फणाचक्रवालोपधानं
> निद्राच्छेदाभिताम्रा चिरमवतु हरेर्दृष्टिराकेकरा वः ॥ २१ ॥

अन्वय—फणाचक्रवालोपधानम् उरु नागाङ्कं शयनं मोक्तुमिच्छोः हरेः प्रत्यग्रोन्मेषजिह्मा क्षणं रत्नदीपप्रभाणाम् अनभिमुखी साङ्गभङ्गैः जृम्भितैः जनित-जललवा आत्मव्यापारगुर्वी आकेकरा निद्राच्छेदाभिताम्रा दृष्टिः वः चिरम् अवतु ॥ २१ ॥

व्याख्या—फणाचक्रवालोपधानम्—फणानां स्फटानां चक्रवालं मण्डलं तदेव

उपधानं शिरोधानं यस्मिन् तादृशम्, उरु—महत्, नागाङ्कं—सर्पराजक्रोडरूपं, शयनं—शय्यां, मोक्तुमिच्छोः—त्यक्तुं कामयमानस्य, हरेः—विष्णोः, प्रत्यग्रोन्मेषजिह्मा—प्रत्यग्रः नवः यः उन्मेषः उन्मीलनं तेन जिह्मा मन्दा, क्षणं—किञ्चित्कालम्, रत्नदीपप्रभाणाम् रत्नदीपानां दीपरूपाणां नागराजशिरोमणीनाम्, अनभिमुखी—असम्मुखी, साङ्गभङ्गैः—अङ्गभङ्गसहितैः जृम्भितैः—गात्रविनामैः, जनितजललवा—जनितः उद्गमितः जललवः वारिविन्दुः यस्यां तादृशी, (अतएव) आत्मव्यापारगुर्वी—दर्शनात्मकस्वक्रियाऽसमर्था, आकेकरा—अर्धनिमीलिता, निद्राच्छेदाभिताम्रा—निद्रायाः स्वापस्य छेदः भङ्गः तेन अभिताम्रा अतिरक्ता, दृष्टिः—नेत्रं, वः—युष्मान्, चिरं—दीर्घकालम्, अवतु—रक्षतु ॥२१॥

हिन्दी अनुवाद—और भी—फरणा-मंडल के बने तकियो वाली तथा विशाल शेषनाग के शरीर रूपी शय्या को छोड़ने के इच्छुक (भगवान्) विष्णु की सद्यः खुलने के कारण अलसायी, कुछ देर के लिए रत्नदीपों (अर्थात् दीप रूपी नागराज की शिरोमणियों) की शिखा पर न टिक पाती हुई, अँगड़ाई के साथ जँभाई लेने से उत्पन्न अश्रु-कणों वाली, (अतएव) अपने व्यापार (अर्थात् देखने) में असमर्थ अधखुली और निद्रा-भंग के कारण अत्यंत लाल दृष्टि चिरकाल तक आपकी रक्षा करे ॥२१॥

टिप्पणी—फणाचक्रवालोपधानम्—फण-समूह रूपी तकियो से युक्त। 'स्फटायां तु फणा द्वयोः' इति 'चक्रवाल तु मण्डलम्' इति चामरः। नागाङ्कम्—नागराज के शरीर या गोद रूप। जिह्मा—मन्द, अलस। आकेकरा—अर्धनिमीलित, आधी बंद। आकेकरा दृष्टि की परिभाषा यह है—'दृष्टिराकेकरा किञ्चित् स्फुटापाङ्गे प्रसारिता। मीलितार्धपुटा लोके ताराव्यावर्तनोत्तरा॥' इस श्लोक में रूपक और स्वभावोक्ति अलकारो की संसृष्टि है। इसमे प्रसाद गुण है, लाटी रीति है और स्रग्धरा छन्द है ॥२१॥

द्वितीयः—

सत्त्वोत्कर्षस्य धात्रा निधय इव कृताः केऽपि कस्यापि हेतो-
र्जेतारः स्वेन धाम्ना मदसलिलमुचां नागयूथेश्वराणाम्।
दंष्ट्राभङ्गं मृगाणामधिपतय इव व्यक्तमानावलेपा-
नाऽऽज्ञाभङ्गं सहन्ते नृवर नृपतयस्त्वादृशाः सार्वभौमाः ॥२२॥

अन्वय —नृवर ! धात्रा सत्त्वोत्कर्षस्य निधय इव धृता व्यक्तमानावलेपा केऽपि त्वादृशा सार्वभौमा नृपतय स्वेन धाम्ना मदसलिलमुचा नागयूथेश्वराणा जेतार मृगाणामधिपतय दष्ट्राभङ्गमिव कस्यापि हेतो आज्ञाभङ्ग न सहन्ते ॥२२॥

व्याख्या—नृवर !—मनुजश्रेष्ठ !, धात्रा—ब्रह्मणा, सत्त्वोत्कर्षस्य—सत्त्वस्य बलस्य य उत्कर्ष आधिक्य तस्य, निधय इव—आधारा इव, धृता —उत्पादिता, (अतएव) व्यक्तमानावलेपा —व्यक्त स्फुट मान स्वाभिमान अवलेप-गर्वश्च येषा ते, केऽपि—उत्कृष्टसामर्थ्यवन्त , त्वादृशा —भवद्विधा , सार्वभौमा —सर्वभूमिपतय , नृपतय —राजान , स्वेन—स्वकीयेन, धाम्ना—तेजसा, मदसलिलमुचा—मदसलिल दानवारि मुञ्चन्ति ये तादृशानाम् मदस्राविणामित्यर्थ , नागयूथेश्वराणाम्—नागाना हस्तिना यूथा समूहा तेषाम् ईश्वरा अधिपतय तेषाम्, जेतार —जयिन , मृगाणा—पशूनाम्, अधिपतय —राजान सिंहा इत्यर्थ , दष्ट्राभङ्गमिव—दशनत्रुटिमिव, कस्यापि हेतो —कुतोऽपि निमित्तात्, आज्ञाभङ्गम्—आदेशव्याघातम्, न सहन्ते—न मृष्यन्ति ॥२२॥

हिन्दी अनुवाद—दूसरा—हे नरश्रेष्ठ ! ब्रह्मा के द्वारा बल की अधिकता की निधि के समान उत्पन्न किये हुए और (अतएव) प्रकट स्वाभिमान एव गर्व से युक्त कोई आप-जैसे चक्रवर्ती राजा अपने तेज के कारण आज्ञा के उल्लघन को उसी तरह किसी भी कारण से सहन नहीं करते हैं जैसे मदजल को बहाने वाले हाथियो के झुडो के विजेता मृगपति (सिंह) दाढ के तोडे जाने को (सहा नहीं करते) ॥२२॥

टिप्पणी—द्वितीय —दूसरा वैतालिक राक्षस का गुप्तचर स्तनकलश है । निधय —निधीयन्ते स्थाप्यन्ते एषु इति नि√धा+कि 'कर्मण्यधिकरणे च' इत्यनेन । व्यक्तमानावलेपा —वि√अञ्ज+क्त कर्मणि = व्यक्त । √मन्+घञ् भावे = मान । अव√लिप्+घञ् भावे = अवलेप । मानश्च अवलेपश्च इति मानावलेपौ द्वन्द्व० स० । व्यक्तौ मानावलेपौ येषा ते बहुव्रीहि स० । सार्वभौमा —भूमण्डल के शासक । सर्वभूमे ईश्वरा वा सर्वभूमौ विदिता इति सर्वभूमि+अण्, 'अनुशतिकादीना च' इति सूत्रेण उभयपदवृद्धि । कस्यापि-हेतो —देखिए १, १ मे 'कस्य हेतो ' की टिप्पणी । इस श्लोक मे उत्प्रेक्षा और

उपमा अलंकारों की संसृष्टि है। इसमें ओज गुण है, वैदर्भी रीति है और स्रग्धरा छन्द है ॥२२॥

अपि च—

भूषणाद्युपभोगेन प्रभुर्भवति न प्रभुः ।
परैरपरिभूताज्ञस्त्वमिव प्रभुरुच्यते ॥२३॥

अन्वयः—प्रभुः भूषणाद्युपभोगेन न प्रभुः भवति । त्वमिव परैः अपरिभूताज्ञः प्रभुः उच्यते ॥२३॥

व्याख्या—प्रभुः—नृपः, भूषणाद्युपभोगेन—भूषणादीनाम् अलंकरणादीनाम् उपभोगेन अनुभवेन हेतुना, न प्रभुर्भवति—न राजा सम्पद्यते । त्वमिव—भवानिव, परैः—अन्यैः, अपरिभूताज्ञः—अपरिभूता अप्रतिहता आज्ञा आदेशो यस्य तादृशः, प्रभुः—राजा, उच्यते—कथ्यते ॥२३॥

हिन्दी अनुवाद—और भी—राजा आभूषण आदि के उपभोग करने (मात्र) से राजा नही होता है। (किन्तु) आप ही की तरह दूसरो से तिरस्कृत न होने वाली आज्ञा से सम्पन्न (होने पर) राजा कहलाता है ॥२३॥

टिप्पणी—भूषणाद्यु०—इसका तात्पर्य यह है कि आज्ञा का उल्लंघन न होना ही राजत्व का कारण है। इस प्रकार आज्ञा का उल्लघन करते हुए चाणक्य की यदि तुम उपेक्षा करते हो तो वही तत्वतः राजा है न कि तुम। इसलिए उसे क्षमा न करो। इस श्लोक मे उपमा अलंकार है और अनुष्टुप् छन्द है ॥२३॥

चाणक्यः—[आकर्ण्यात्मगतम्] प्रथम तावद्विशिष्टदेवतास्तुतिरूपेण प्रवृत्तशरद्गुणप्रख्यापनमाशीर्वचनम् । इदमपरं किमिति नावधारयामि । [विचिन्त्य] आः, ज्ञातम् । राक्षसस्यायं प्रयोगः । आः दुरात्मन् राक्षस-हतक ! दृश्यसे, जागर्ति खलु कौटिल्यः ।

राजा—आर्य वैहीनरे ! दापयाभ्यां वैतालिकाभ्यां सुवर्णशतसहस्रम् ।

कंचुकी—यदाज्ञापयति देवः । [इत्युत्थाय परिक्रामति ।]

चाणक्यः—[सक्रोधम्] वैहीनरे ! तिष्ठ तिष्ठ, न गन्तव्यम् । वृषल ! किमयमस्थाने एव महानर्थोत्सर्गः क्रियते ?

राजा—आर्येणैव सर्वतो निरुद्धचेष्टाप्रसरस्य मम बन्धनमिव राज्यं न राज्यमिव ।

चाणक्य—वृषल ! स्वयमनभियुक्तानां राज्ञामेते दोषा भवन्ति । तद्यदि न सहसे, तदा स्वयमेवाभियुज्यास्व ।

राजा—एते वयं स्वकर्मण्यभियुज्यामहे।

चाणक्य—प्रियं नः, वयमपि स्वकर्मण्यभियुज्यामहे ।

हिन्दी अनुवाद—चाणक्य—[सुनकर मन में] पहला तो देवविशेषों की स्तुति रूप में प्रस्तुत शरद् ऋतु के गुणों को प्रकट करने वाला आशीर्वाद है । यह दूसरा क्या है, यह निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ । [सोचकर] अच्छा, समझ गया । यह राक्षस का प्रयोग है । ओह दुष्ट पाजी राक्षस ! देखे जा रहे हो । चाणक्य जाग रहा है ।

राजा—आर्य वैहीनरि ! इन दोनों वैतालिकों को एक-एक लाख सुवर्ण-मुद्रायें दिला दो ।

कञ्चुकी—महाराज की जैसी आज्ञा । [उठकर घूमता है ।]

चाणक्य—[क्रोध के साथ] वैहीनरि ! ठहरो ठहरो, मत जाओ । वृषल ! क्यों अनुपयुक्त स्थान पर ही महान् धन का त्याग कर रहे हो ?

राजा—इस प्रकार आर्य के द्वारा सब तरह से रोकी गई गतिविधि वाले मेरे लिए तो राज्य बन्धन के समान है, न कि राज्य के समान ।

चाणक्य—वृषल ! स्वयम् स्वतन्त्रता से राज-कार्य न करने वाले राजाओं के ये दोष होते हैं (कि वे गुरुजनों की आज्ञा का सहन नहीं करते) । इसलिए यदि तुम्हें सहन नहीं होता है तो स्वयं राज-कार्य देखो ।

राजा—ये हम अपने कार्य को स्वतन्त्र रूप से करेंगे ।

चाणक्य—हमारे लिए अच्छा है । हम भी अपने कार्य में लग जाते हैं ।

टिप्पणी—प्रथमम्—पहले वैतालिक का पठन । विशिष्टदेवतास्तुति-रूपेण—विशिष्ट देवता (शिव और विष्णु) की स्तुति रूप से । विशिष्टा देवता कर्मधारय स०, तस्याः स्तुतिः, तस्याः रूपम् षष्ठीतत्०, तेन करणे तृतीया । प्रवृत्तशरद्गुणप्रख्यापनम्—उपस्थित शरद् ऋतु के गुणों का कीर्तन । प्रवृत्ता

चासौ शरत् प्रवृत्तशरत् कर्मधारय स०, तस्याः गुणाः, तेषाम् प्रख्यापनम् षष्ठी-तत्० । यह 'आशीर्वचनम्' का विशेषण है । सुवर्णशतसहस्रम्—सौ हजार स्वर्ण-मुद्रायें । सुवर्णानि शतानि, तेषां सहस्रम् । अर्थोत्सर्गः—उद्√सृज्+घञ् भावे=उत्सर्गः=दानम् । अर्थस्य=धनस्य उत्सर्गः । निरुद्धचेष्टाप्रसरस्य—प्रतिहतोद्योगावसरस्य । प्र√सृ+अप् भावे बाहुलकात्=प्रसरः । चेष्टायाः प्रसरः षष्ठीतत्० । निरुद्धः चेष्टाप्रसरः अस्य बहुव्रीहि स०, तस्य । यह 'मे' का विशेषण है । स्वयम्—आत्मना । अनभियुक्तानाम्—राजकार्येष्व-स्वतन्त्राणाम् ।

राजा—यद्येवं, तर्हि कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधस्य प्रयोजनं श्रोतुमिच्छामि ।

चाणक्यः—वृषल ! कौमुदीमहोत्सवानुष्ठानस्य किं प्रयोजनमित्यहमपि श्रोतुमिच्छामि ।

राजा—प्रथमं तावत् ममाज्ञाव्याघातः ।

चाणक्यः—वृषल ! ममापि खलु त्वदाज्ञाव्याघात एव कौमुदीमहो-त्सवप्रतिषेधस्य प्रथमं प्रयोजनम् । कुतः ?—

अम्भोधीनां तमालप्रभवकिसलयश्यामवेलावनाना-
मा पारेभ्यश्चतुर्णां चटुलतिमिकुलक्षोभितान्तर्जलानाम् ।
मालेवाज्ञा सपुष्पा तव नृपतिशतैरुह्यते या शिरोभिः
सा मय्येव स्खलन्ती प्रथयति विनयालङ्कृतं ते प्रभुत्वम् ॥२४॥

अन्वयः—तमालप्रभवकिसलयश्यामवेलावनानां चटुलतिमिकुलक्षोभि-तान्तर्जलानां चतुर्णाम् अम्भोधीनां पारेभ्यः आ या तव आज्ञा सपुष्पा माला इव नृपतिशतैः शिरोभिः उह्यते सा मयि एव स्खलन्ती (सती) ते प्रभुत्वं विनयालङ्कृतं प्रथयति ॥२४॥

व्याख्या—तमालप्रभवकिसलयश्यामवेलावनानां—तमालेभ्यः प्रभवन्तीति तमालप्रभवाणि तमालजातानि यानि किसलयानि नवपल्लवाः तैः श्यामानि कृष्णानि वेलावनानि तीरवर्तिकाननानि येषां तादृशानाम्, चटुलतिमिकुलक्षो-भितान्तर्जलानाम्—चटुलानि चपलानि यानि तिमिकुलानि महामत्स्यसमूहाः तैः

क्षोभितम् आन्दोलितम् अन्तर्जल गभीरतलवर्ति सलिल येषा तादृशाना, चतुर्णाम्, अम्भोधीना—सागराणा पारेभ्य आ—तीरपर्यन्त यो भूभाग तत्र, या, तव—ते, आज्ञा—आदेश , सपुष्पा—पुष्पयुक्ता, माला इव—स्रगिव, नृपतिशतै —राजसमूहै , शिरोभि —उत्तमाङ्गै , उह्यते—धार्यते, सा—आज्ञा, मयि एव—चाणक्य एव, स्खलन्ती—व्याहता (सती), त, प्रभुत्व—स्वामित्व विनयालङ्कृत—विनयेन शीलेन अलङ्कृत भूषित, प्रथयति—ख्यापयति ॥२४॥

हिन्दी अनुवाद—राजा—यदि ऐसा है तो कौमुदीमहोत्सव को रोकने का प्रयोजन सुनना चाहता हूँ।

चाणक्य—वृषल ! कौमुदीमहोत्सव मनाने का क्या प्रयोजन है, यह मैं भी सुनना चाहता हूँ।

राजा—पहले तो (न मानने से) मेरी आज्ञा का उल्लघन होता है।

चाणक्य—मेरा भी तो तुम्हारी आज्ञा का उल्लघन करना ही कौमुदीमहोत्सव को रोकने का पहला प्रयोजन है। क्योंकि—

तमाल वृक्षो के नवीन पल्लवो से काले बने हुए तटवर्ती वनो वाले और चचल महामत्स्यो के समूह से क्षुब्ध भीतरी जल वाले चारो समुद्रो के तीरपर्यन्त भू-भाग पर जो तुम्हारी आज्ञा फूलो की माला के समान सैकडो राजाओ के द्वारा सिर से लगायी जाती है, वह मुझमें ही स्खलित होती हुई (अर्थात् मेरे ही आगे भग होती हुई) तुम्हारे प्रभुत्व को विनय से विभूषित बताती है ॥२४॥

टिप्पणी—आज्ञाव्याघात —आज्ञा का उल्लघन। 'आज्ञाऽव्याघात ' इस पाठ मे 'आज्ञा का उल्लघन न होना' अर्थ करना चाहिए। वि-आ√हन्+घञ् भावे=व्याघात। न व्याघात अव्याघात। आज्ञाया अव्याघात पक्षे आज्ञाया व्याघात। तमालप्रभव०—प्रभवति अस्मात् इति प्र√भू+अप् अपादाने=प्रभव। तमाल प्रभव एषाम् इति तमालप्रभवाणि तादृशानि किसलयानि (आगे दे० व्याख्या)। तिमि—बहुत बडे आकार का एक समुद्री मत्स्य। इसके सम्बन्ध मे कहा गया है—'अस्ति मत्स्य तिमिर्नाम शतयोजनविस्तृत। तिमिङ्गिलगिलोऽप्यस्ति तद्गिलोऽप्यस्ति राघव ॥' अन्तर्जलम्—अन्त स्थित जलम् मध्यमपदलोपी स० अथवा जलस्य अन्त षष्ठीतत्०। 'राजदन्तादिषु परम्' इत्यनेन जलस्य पर-

निपातः। उह्यते—धारण की जाती है।√वह्+लट्—ते कर्मणि। इस श्लोक में उपमा अलंकार है, ओज गुण है, गौडी रीति है और स्रग्धरा छन्द है। इसका लक्षण १, १ में देखिए ॥२४॥

राजा—अथापरमपि प्रयोजनं यत्तच्छ्रोतुमिच्छामि।

चाणक्यः—तदपि कथयामि।

राजा—कथ्यताम्।

चाणक्यः—शोणोत्तरे! मद्वचनात् कायस्थमचलदत्तं ब्रूहि, यत् भद्रभट-प्रभृतीनां लेख्यपत्रं तत्तावत् दीयतामिति।

प्रतीहारी—जं अज्जो आणवेदि त्ति (यदार्य आज्ञापयतीति।)

[निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य] अज्ज! एदं पत्तं। (आर्य! इदं पत्रम्।)

चाणक्यः—वृषल! श्रूयताम्।

राजा—दत्तावधानोऽस्मि।

चाणक्यः—[वाचयति] स्वस्ति सुगृहीतनामधेयस्य देवस्य चन्द्रगुप्तस्य सहोत्थायिनां प्रधानपुरुषाणामितोऽपक्रम्य मलयकेतुमाश्रितानां प्रमाणलेख्यपत्रम्। तत्र प्रथमं तावत् गजाध्यक्षो भद्रभटः, अश्वाध्यक्षः पुरुषदत्तः, महाप्रतीहारस्य चन्द्रभानोर्भागिनेयो हिङ्गुरातः, देवस्य स्वजनगन्धी महाराजो बलगुप्तः, देवस्यैव कुमारसेवको राजसेनः सेनापतेः सिंहबलस्य कनीयान् भ्राता भागुरायणः मालवराजपुत्रो रोहिताक्षः क्षत्रगणमुख्यतमो विजयवर्मा इति।

[आत्मगतम्] एते वयं देवस्य कार्येऽवहिताः स्म इति।

[प्रकाशम्] एतावदेतत् पत्रम्।

हिन्दी अनुवाद—**राजा**—अच्छा, दूसरा जो प्रयोजन है, उसे भी सुनना चाहता हूँ।

चाणक्य—उसे भी कह देता हूँ।

राजा—कह डालिए।

चाणक्य—शोणोत्तरे! मेरी ओर से कायस्थ अचलदत्त से कहो कि भद्रभट आदि का लिखा हुआ जो पत्र है, वह दे दो।

प्रतीहारी—जो आर्य की आज्ञा। [निकलकर पुनः प्रवेश करके] आर्य! यह पत्र है।

चाणक्य—वृषल! सुनो।

राजा—(सुनने में) दत्तचित्त हूँ।

चाणक्य—[बाँचता है] कल्याण हो, प्रातःस्मरणीय महाराज चन्द्रगुप्त के साथ उठने (-बैठने) वाले तथा यहाँ (कुसुमपुर) से भागकर मलयकेतु का आश्रय लेने वाले प्रधान राजपुरुषों का प्रामाणिक रूप से लिखा हुआ पत्र है। उनमें से पहले तो (१) गज-सेनापति भद्रभट, (२) अश्व-सेनापति पुरुषदत्त, (३) महाप्रतीहार चन्द्रभानु का भानजा हिङ्गुरात, (४) महाराज का आत्मीय महाराज बलगुप्त, (५) महाराज का ही बाल-सेवक राजसेन, (६) सेनापति सिंहबल का छोटा भाई भागुरायण, (७) मालव का राजकुमार रोहिताक्ष और (८) क्षत्रियों में सर्वश्रेष्ठ विजयवर्मा हैं।

[मन में] ये हम सब महाराज के कार्य में सावधान हैं।

[प्रकट] यह पत्र इतना (ही) है।

[टिप्पणी—लेख्यपत्रम्—√लिख्+ण्यत् कर्मणि = लेख्यम्। तस्य पत्रम्। गजाध्यक्ष—अक्ष = व्यवहार। अधिगतः अक्षम् इति अध्यक्षः प्रादितत्०। गजेषु अध्यक्षः सुप्सुपा स०। महाप्रतीहारस्य—प्रधानद्वारपालकस्य। भागिनेय—भगिन्या अपत्यम् इति भगिनी+ढक्—एय। स्वजनगन्धी—आत्मीयजन-सम्बन्धी। स्वः जनः स्वजनः कर्मधारय स०। तस्य गन्धः लेशः स्वजनगन्धः। सः अस्ति अस्य इति स्वजनगन्ध+इनि। कुमारसेवक—बचपन से सेवा करने वाला। कुमारस्य सेवकः 'याजकादिभिश्च' इति समासः शेषषष्ठ्या वा समासः। कनीयान्—छोटा। अतिशयेन युवा इति युवन्+ईयसुन् = कनीयान् वा यवीयान् 'युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्' इत्यनेन कनादेशस्य विकल्पात्। क्षत्रगणमुख्यतम—क्षत्र = क्षत्रिय। क्षत्राणां गणः। तस्मिन् मुख्यतमः।]

राजा—आर्य! एतेषामपरागहेतून् श्रोतुमिच्छामि।

चाणक्य—वृषल! श्रूयताम्। अत्र यावेतौ गजाध्यक्षाश्वाध्यक्षौ भद्रभटपुरुषदत्तनामानौ, एतौ खलु स्त्रीमद्यमृगयाशीलौ हस्त्यश्वावेक्षणे-

ऽनभियुक्तौ इति स्वाधिकाराभ्यामवरोप्य मया स्वजीवनमात्रेणैव स्थापिताविव्यपरक्तौ, गत्वा स्वेन स्वेन चाऽधिकारेण व्यवस्थाप्य मलयकेतुमाश्रितौ। यावेतौ हिङ्गुरातबलगुप्तौ, तावत्यन्तलुब्धप्रकृती दत्तं धनमबहुमन्यमानौ 'तत्र बहु लभ्येत' इति मलयकेतुमाश्रितौ। योऽप्यसौ भवतः कुमारसेवको राजसेनः सोऽपि तव प्रसादादतिप्रभूतकोषहस्त्यश्वं सहसैव सुमहदैश्वर्यमवाप्य पुनरुच्छेदशङ्कया मलयकेतुमाश्रितः। योऽ-यमपरः सेनापतेः सिंहबलस्य कनीयान् भ्राता भागुरायणः, असावपि तत्र काले पर्वतकेन सह समुत्पन्नसौहार्दः तत्प्रीत्या च 'पिता ते चाणक्येन घातितः' इति रहसि त्रासयित्वा मलयकेतुमपवाहितवान्। ततो भवद-पथ्यकारिषु चन्दनदासप्रभृतिषु निगृह्यमाणेषु स्वदोषाशङ्कयाऽपक्रम्य मलयकेतुमाश्रितः। तेना 'प्यसौ मम प्राणरक्षक' इति कृतज्ञतामनुवर्त-मानेन आत्मनोऽनन्तरममात्यपदं ग्राहितः। यौ तौ लोहिताक्षविजयव-र्माणौ, तावप्यतिमानित्वात् स्वदायादेभ्यस्त्वया दीयमानमसहमानौ मलयकेतुमाश्रितौ—इत्येषामपरागहेतवः।

व्याख्या—एतेषाम्—भद्रभटप्रभृतीनाम्, अपरागहेतून्—विरागकारणानि, श्रोतुम्—आकर्णयितुम्, इच्छामि—वाञ्छामि। अत्र—भद्रभटादिष्वित्यर्थः, यावेतौ, भद्रभटपुरुषदत्तनामानौ, गजाध्यक्षाश्वाध्यक्षौ—हस्तिपालकाश्वपालकौ, एतौ—तौ, स्त्रीमद्यमृगयाशीलौ—नारीमदिराखेटस्वभावौ, हस्त्यश्वावेक्षणे—गजवाजिसंरक्षणे, अनभियुक्तौ—असावधानौ, इति हेतोः, स्वाधिकाराभ्याम्—गजवाजिसंरक्षणात्मकाभ्यामित्यर्थः, अवरोप्य—पृथक्कृत्य, स्वजीवनमात्रेणैव—स्वजीविकानिर्वाहमात्रेणैव, स्थापितौ, इति अपरक्तौ—त्यक्तानुरागौ (सन्तौ), गत्वा, स्वेन स्वेन च अधिकारेण—हस्तिपालकत्वेन अश्वपालकत्वेन रूपेणेत्यर्थः, व्यवस्थाप्य—निश्चित्य आत्मानमिति शेषः, मलयकेतुम्—पर्वतकपुत्रम्; आश्रितौ,—अवलम्बितवन्तौ। यावेतौ—यावेतौ—इमौ, हिङ्गुरातबलगुप्तौ—एतदाख्यौ, तौ, अत्यन्तलुब्धप्रकृती—परमलोभाविष्टस्वभावौ, दत्तम्—अर्पितम्, धनं—द्रव्यम्, अबहुमन्यमानौ—स्वल्पमवगच्छन्तौ, 'तत्र—मलयकेतुपार्श्वे, बहु—प्रचुरं, लभ्येत—प्राप्येत' इति—अस्मात् कारणात्, मलयकेतुम्, आश्रितौ। योऽप्यसौ—यश्चैषः, भवतः—तव, कुमारसेवकः—बाल्यभृत्यः, राजसेनः, सोऽपि, तव—भवतः, प्रसादात्—अनुग्रहात्, अति प्रभूतकोषहस्त्यश्वं—अति-

प्रभूत. विवृद्ध. कोप धनराशि हस्तिन. गजा. अश्वाश्च घोटकाश्च यस्मिन् तत् । सुमहत्—सुविपुलम्, ऐश्वर्यम्—सम्पत्, अवाप्य—प्राप्य, पुन —भूय , उच्छेद-शङ्कया—विनाशभिया, मलयकेतुम्, आश्रित । योऽयमपर , सेनापते —सेनाध्यक्षस्य, सिंहबलस्य, कनीयान् भ्राता—अनुज , भागुरायण., असावपि—सोऽपि, तत्र काले—मलयकेतुसामीप्यसमये, पर्वतकेन—मलयकेतुपित्रा, सह—साक, समुत्पन्नसौहार्द —समुत्पन्न सौहार्द मैत्री यस्य तादृश , तत्प्रीत्या च—तस्य पर्वतकस्य प्रीत्या स्नेहेन च, ते—तव, पिता—जनक , चाणक्येन—कौटिल्येन, घातित —विनाशित, इति—हृदयम्, रहसि—एकान्ते, त्रासयित्वा—भाययित्वा, मलयकेतुम्, अपवाहितवान्—अपसारितवान् । तत —तदनन्तरम्, भवदपथ्यकारिषु—त्वदनिष्टकारिषु, चन्दनदासप्रभृतिषु—चन्दनदासादिषु, निगृह्यमाणेषु—दण्ड्यमानेषु, स्वदोषाशङ्कया—निजापराधभयेन, अपक्रम्य—इतो निर्गत्य, मलयकेतुम्, आश्रित । असौ—भागुरायण., मम—मे, प्राणरक्षक—जीवनत्राता, इति, कृतज्ञताम्—प्रत्युपकारिताम्, अनुवर्तमानेन—अपेक्षमाणेन, तेन—मलयकेतुना, अपि, आत्मन.—स्वस्य, अनन्तरम्—अव्यवहितम्, अमात्यपद—मन्त्रिपद, ग्राहित —प्रापितः । यौ तौ, लोहिताक्षविजयवर्माणौ—तदाख्यौ जनौ, तौ अपि, अतिमानित्वात्—बह्वभिमानवत्त्वात्, स्वदायादेभ्य—निजबन्धुभ्य, त्वया—भवता, दीयमान—वितीर्यमानम्, असहमानौ—असूयमाणौ, मलयकेतुम् आश्रितौ । इति—इमे, एषाम्—भद्रभटप्रभृतीनाम्, अपरागहेतव—विराग-कारणानि (वर्तन्ते) ।

हिन्दी अनुवाद—राजा—आर्य ! इन लोगो की विरक्ति के कारणो को सुनना चाहता हूं ।

चाणक्य—वृषल ! सुनो । उनमें से ये जो गजसेनापति तथा अश्वसेनापति (क्रमश.) भद्रभट और पुरुषदत्त नाम के (व्यक्ति) हैं, ये दोनों स्त्री, मदिरा और शिकार में आसक्त होने के कारण हाथी-घोड़ो की देखभाल करने में असावधान रहते थे—इसलिए मैंने (इन्हें) अधिकारच्युत करके अपनी जीवका के निर्वाहमात्र पर रहने दिया। अत विरक्ति से (ये दोनों शत्रु-पक्ष में) जाकर अपने-अपने अधिकार के अनुरूप कार्य पाकर मलयकेतु के आश्रित हो गए । ये जो हिङ्गुरात और बलगुप्त हैं, वे दोनों अत्यन्त लोभी स्वभाव के कारण (तुम्हारे) दिये हुए धन को थोडा समझते हुए 'वहाँ बहुत मिलेगा' ऐसा सोचकर मलयकेतु के आश्रय में

चले गए। यह जो तुम्हारा बचपन का सेवक राजसेन है, उसने भी तुम्हारी कृपा से अत्यधिक धन, हाथी और घोड़ों वाले विपुल ऐश्वर्य को एकाएक प्राप्त करके पुनः नष्ट होने के भय से मलयकेतु का आश्रय ले लिया। यह जो दूसरा सेनापति सिंहबल का छोटा भाई भागुरायण है, वह भी उस समय पर्वतक के साथ मित्रता होने तथा उस (-पर्वतक) के प्रेम के कारण 'तुम्हारे पिता को चाणक्य ने मरवाया है' इस प्रकार एकान्त में मलयकेतु को डराकर भगा ले गया। तदनन्तर तुम्हारा अहित करने वाले चन्दनदास आदि के पकड़ लिये जाने पर अपने अपराध (के प्रकट हो जाने) की आशंका से भागकर (यह भागुरायण) मलयकेतु के आश्रय में चला गया। उस (मलयकेतु) ने भी 'यह मेरा प्राण-रक्षक है' इस प्रकार कृतज्ञता का अनुभव करते हुए अपने अव्यवहित अमात्य के पद पर (उसे) नियुक्त कर दिया। जो वे लोहिताक्ष और विजयवर्मा है, वे दोनों भी अत्यंत अभिमानी होने के कारण अपने बंधुओं को तुम्हारे द्वारा दिये जाने को सहन न करते हुए मलयकेतु के आश्रित हो गए—ये है इनकी विरक्ति के कारण।

टिप्पणी—अपराग—विरक्ति। अप √रञ्ज्+घञ् भावे। स्त्रीमद्यमृगयाशीलौ—मृगयनम् इति √मृग (अदन्त चुरादि)+णिच् स्वार्थे+श भावे= मृगया=शिकार। स्त्री च मद्यञ्च मृगया च इति स्त्रीमद्यमृगयाः। ताः शीलयतः इति स्त्रीमद्यमृगया √शील्+णिच् स्वार्थे+ण कर्तरि। स्वजीवनमात्रेणैव—जीवति अनेन इति √जीव्+ल्युट् करणे=जीवनम्=जीविका। स्वयोः जीवनम्। तदेव स्वजीवनमात्रम् मयूरव्यंसकादि स०, तेन करणे तृतीया। स्वेन स्वेन अधिकारेण—अपने-अपने अधिकार से अर्थात् जिस पद से हटाये गये थे वही पद मलयकेतु के यहाँ प्राप्त करके। अत्यन्तलुब्धप्रकृती—अत्यन्तम् लुब्धा प्रकृतिः ययोः तादृशौ। तत्र काले—कुसुमपुर मे घेरा डालने के समय। स्वदोषाशङ्कया—स्वस्य दोषः, तस्मात् आशङ्का सुप्सुपा स०, तया हेतौ तृतीया। प्राणरक्षकः—प्राणानां रक्षकः 'याजकादिभिश्च' इति समासः, अथवा शेषषष्ठ्या समासः, अथवा प्राणान् रक्षति इति प्राण √रक्ष्+अण् कर्तरि= प्राणरक्षः। ततः स्वार्थे कन्। आत्मनोऽनन्तरम्—अविद्यमानमन्तरमस्य अनन्तरम्। आत्मनः स्वस्य राजपदस्य अनन्तरम् अदूरम् अमात्यपदम्। ग्राहितः—√ग्रह्+णिच्+क्त। स्वदायादेभ्यः—√दा+घञ् कर्मणि दायः।

दायमदन्ति इति दाय√अद्+अण् कर्तरि, अथवा दायमाददते इति दाय-आ√दा +क कर्तरि=दायादा । स्वस्य दायादा, तेऽत्र ।

राजा—आर्य ! एवमेतेषु परिज्ञातापरागहेतुषु क्षिप्रमेव कस्मान्न प्रतिविहितमार्येण ?

चाणक्य —वृषल ! न पारित प्रतिविधातुम् ।

राजा—किमकौशलात्, उत प्रयोजनापेक्षया ?

चाणक्य —कथमकौशल भविष्यति, प्रयोजनापेक्षयैव ।

राजा—तदप्रतिविधानप्रयोजनमिदानी श्रोतुमिच्छामि ।

चाणक्य —वृषल ! श्रूयतामवधार्यताञ्च ।

राजा—उभयमपि क्रियते, कथ्यताम् ।

चाणक्य —वृषल ! इह खलु विरक्ताना प्रकृतीना द्विविध प्रतिविधानम्—अनुग्रहो निग्रहश्चेति । अनुग्रहस्तावदाक्षिप्ताधिकारयो भद्रभटपुरुषदत्तयो पुन अधिकारारोपणमेव । अधिकारश्च पुनस्तादृशेषु व्यसनयोगादनभियुक्तेषु पुनरारोप्यमाण सकलमेव राज्यस्य मूल हस्त्यश्वमवसादयेत् । हिङ्गुरातबलगुप्तयोरत्यन्तलुब्धप्रकृतिकयो सकलराज्यप्रदानेनाप्यपरितुष्यतोरनुग्रह कथ कर्तु शक्य ? राजसेनभागुरायणयोस्तु धनप्राणाशभीतयो कुतोऽनुग्रहस्यावकाश ? लोहिताक्षविजयवर्मणोरपि दायादमसहमानयोरतिमानिनो कीदृशोऽनुग्रह प्रीति जनयिष्यतीति परिहृत पूर्व पक्ष । उत्तरोऽपि खलु वयमचिरादधिगतनन्दैश्वर्या सहोत्थायिन प्रधानपुरुषवर्गमुग्रेण दण्डेन पीडयन्तो नन्दकुलानुरक्ताना प्रकृतीनामविश्वास्या भवाम इत्यत परिहृत एव । तदेवमनुगृहीतास्मद्भृत्यपक्षो राक्षसोपदेशश्रवणप्रवणो महीयसा म्लेच्छबलेन परिवृत पितृवधामर्षी पर्वतकपुत्रो मलयकेतुरस्मानभियोक्तुमुद्यत इति । सोऽय व्यायामकालो नोत्सवकाल इति । अतो दुर्गसंस्कारे आरब्धव्ये किं कौमुदीमहोत्सवेन ? इति प्रतिषिद्ध ।

व्याख्या—एवम्—इत्थम्, परिज्ञातापरागहेतुषु—परिज्ञाता अवगता अपरा-

गाणां विरक्तीनां हेतवः कारणानि येषां तादृशेषु, एतेषु—भद्रभटादिषु, आर्येण—भवता, क्षिप्रमेव—शीघ्रमेव, कस्मात्—कथं, न प्रतिविहितम्—प्रतीकारः कृतः ? प्रतिविधातुं—प्रतिकर्तुं, न पारितं—न युक्तमित्यर्थः। किम्, अकौशलात्—असामर्थ्यात्, उत—अथवा, प्रयोजनापेक्षया—ईप्सितकार्यानुरोधेन ? अवधार्यताम्—विचार्यताम्। इह—अस्मिन् संसारे, विरक्तानाम्—अनुरागरहितानाम्, प्रकृतीनां—प्रजानाम्, द्विविधं—द्विप्रकार, प्रतिविधानं—प्रतीकारः, अनुग्रहः—अनुकम्पा, निग्रहः—दण्डः, आक्षिप्ताधिकारयोः—आक्षिप्तः आच्छिद्य गृहीतः अधिकारः कार्यभारः ययोः तथाभूतयोः, भद्रभटपुरुषदत्तयोः, पुनः—भूयः, अधिकारारोपणमेव—अधिकारे कार्यविक्षणे आरोपणमेव स्थापनमेव, व्यसनयोगात्—स्त्रीमद्याखेटासक्तिदोषात्, अनभियुक्तेषु—अयोग्येषु, तादृशेषु—आक्षिप्ताधिकारेषु, पुनः, आरोप्यमाणः—स्थाप्यमानः, अधिकारः—गजवाजिसेनाध्यक्षत्वं, राज्यस्य—आधिपत्यस्य, सकलमेव—समग्रमेव, मूलं—कारणं, हस्त्यश्वं—गजान् अश्वांश्च, अवसादयेत्—विनाशयेत्। अत्यन्तलुब्धप्रकृतिकयोः—अतिशयितलोभाविष्टस्वभावयोः, सकलराज्यप्रदानेनापि—सम्पूर्णराज्यसमर्पणेनापि, अपरितुष्यतोः—सन्तोषमनधिगच्छतोः, हिङ्गुरातबलगुप्तयोः, अनुग्रहः, कथं—केन प्रकारेण, कर्तुं—विधातुं, शक्यः—योग्यः। धर्मप्रणाशभीतयोः—अर्थक्षयसंजातसाध्वसयोः, राजसेनभागुरायणयोः, कुतः—कथम्, अवकाशः—अवसरः ? दायादम्—ज्ञातिम्, असहमानयोः—अमृष्यतोः, अतिमानिनोः—महाभिमानवतोः, लोहिताक्षविजयवर्मणोः अपि, कीदृशः, अनुग्रहः, प्रीतिं—हर्षं, जनयिष्यति—उत्पादयिष्यति, इति अस्मात् कारणात्, पूर्वः—प्रथमः, पक्षः—कल्पः, परिहृतः—त्यक्तः। अचिरात्—शीघ्रम्, अधिगतनन्दैश्वर्याः—अधिगतं प्राप्तं नन्दैश्वर्यं नन्दराज्यं यैः तादृशाः, वयम्, सहोत्थायिनं—सह साकम् उत्तिष्ठति तच्छीलः सहोत्थायी तथाभूतं, प्रधानपुरुषवर्गम्—मुख्याधिकारिगणम्, उग्रेण—तीक्ष्णेन, दण्डेन—निग्रहेण, पीडयन्तः—क्लेशयन्तः, नन्दकुलानुरक्तानां—नन्दवंशासक्तानां, प्रकृतीनां—प्रजानाम्, अविश्वास्याः—अप्रतीत्याः, भवामः, इत्यतः—अस्मात् कारणात्, उत्तरोऽपि—द्वितीयोऽपि, (पक्षः) परिहृत एव—त्यक्त एव। तत्—तस्मात्, एवम्—उक्तप्रकारेण, अनुगृहीतास्मदभृत्यपक्षः—अनुगृहीतः अनुकम्पितः अस्मद्भृत्यपक्षः अस्मत्सेवकवर्गः भद्रभटादिरिति यावत् येन तादृशः, राक्षसोपदेशश्रवणप्रवणः—राक्षसस्य उपदेशः शिक्षणम् तस्मिन् प्रवणः अनुरक्तः, महीयसा—महता, म्लेच्छ-

बलेन—म्लेच्छसैन्येन, परिवृत —युक्त, पितृवधामर्षी—तातहत्याजन्यक्रोधयुक्त, पर्वतकपुत्र, मलयकेतु, अस्मान्, अभियोक्तुम्—पराभवितुम्, उद्यत —तत्पर सोऽय, व्यायामकाल —व्यायामस्य सैन्यसग्रहाद्यात्मकस्य विशिष्टायासस्य काल समय, न—नहि, उत्सवकाल —कौमुदीमहोत्सवसमय (अस्ति)। अत — अस्मात् कारणात्, दुर्गसस्कारे—दुर्गपरिष्कारे, आरब्धव्ये—प्रक्रमितव्ये, किं—किम्प्रयोजन, कौमुदीमहोत्सवेन—शारदपूर्णचन्द्रनिमित्तकोत्सवानुष्ठानेनेत्यर्थ. ?, इति—अस्माद्धेतो, प्रतिषिद्ध —प्रतिरुद्ध उक्तोत्सव इति शेष ।

हिन्दी अनुवाद—राजा—आर्य ! इस प्रकार इनकी विरक्ति के कारणों का पता लग जाने पर आपने शीघ्र ही प्रतीकार क्यों नहीं किया ?

चाणक्य—वृषल ! प्रतीकार न कर पाया ।

राजा—क्या असमर्थता के कारण या प्रयोजन की अपेक्षा से ।

चाणक्य—असमर्थता क्यों होगी ? प्रयोजन की अपेक्षा से ही ।

राजा—तो अब प्रतीकार न करने का प्रयोजन सुनना चाहता हूँ ।

चाणक्य—वृषल ! सुनो और विचार करो ।

राजा—दोनों कर रहा हूँ, कहिए ।

चाणक्य—वृषल ! इस ससार में विरक्त प्रजाओं का प्रतीकार दो प्रकार से किया जाता है—अनुग्रह से और निग्रह से । अनुग्रह तो पदच्युत किये गये भद्रभट और पुरुषदत्त को पुन पदारूढ करना ही है । और व्यसन के कारण वैसे अयोग्य व्यक्तियों को पुन पदारूढ करना सम्पूर्ण राज्य की जड—हस्तिसेना और अश्वसेना को विनष्ट कर देना होता । अत्यत लोभी स्वभाव वाले तथा सम्पूर्ण राज्य दे देने पर भी सतुष्ट न होने वाले डिङ्गुरात और बलगुप्त पर कैसे अनुग्रह किया जा सकता है ? धन के नाश से डरे हुए राजसेन और भागुरायण पर अनुग्रह करने का अवसर कहाँ ? दायादों को सहन न करने वाले अत्यत अभिमानी लोहिताक्ष और विजयवर्मा को भी वैसा अनुग्रह सन्तुष्ट करेगा ? इसलिए पूर्व पक्ष (अनुग्रह) को छोड दिया । दूसरा पक्ष (निग्रह) भी अभी-अभी नन्द का ऐश्वर्य प्राप्त करने वाले हम साथ उठने (-बैठने) वाले प्रधान राजपुरुषों को तीक्ष्ण दड के द्वारा पीडित करने पर नन्द-वश के प्रति अनुरक्त प्रजाओं के अविश्वासी हो जाएँगे—इस विचार से छोड ही दिया गया । तो इस प्रकार

हमारे भृत्यवर्ग को अनुगृहीत करने वाला, राक्षस की शिक्षा सुनने में तत्पर, महती म्लेच्छसेना से युक्त और पिता की हत्या से क्रुद्ध पर्वतकपुत्र मलयकेतु हम पर आक्रमण करने के लिए उद्यत है। सो यह (सैन्य-संग्रह करने के) महान् प्रयास का समय है न कि उत्सव (मनाने) का समय है। अतएव किले के संस्कार के प्रारंभ किये जाने के अवसर पर कौमुदीमहोत्सव से क्या लाभ? इसलिए (इस उत्सव को) रोक दिया।

टिप्पणी—पारितम् = √पार् + णिच् स्वार्थे (चुरादि) + क्त भावे। अकौशलात्—कुशलस्य भावः कौशलम् कुशल + अण् = कौशलम्। न कौशलम् अकौशलम्। अथवा अकुशलस्य इदम् इति अकुशल + अण् 'तस्येदम्' इत्यनेन = अकौशलम्, तस्मात्। अवधार्यताम्—समझो-विचारो। अव√धृ + णिच् + लोट्—ताम् कर्मणि। प्रतिविधानम्—प्रतीकार। प्रति-वि√धा + ल्युट्—अन भावे। आक्षिप्त—आ√क्षिप् + क्त कर्मणि। हस्त्यश्वम्—हस्तिनश्च अश्वाश्च इति हस्त्यश्वम् 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' इति द्वन्द्वैकवद्भावः। अत्यन्त-लुब्धप्रकृतिकयोः—अत्यन्तम् लुब्धा प्रकृतिः ययोः तौ त्रिपदव्यधिकरणबहुव्रीहि स०, तयोः। परिहृतः—छोड़ दिया। परि√हृ + क्त कर्मणि। भवामः—भविष्यामः। भविष्यत्सामीप्ये लट्। पितृवधामर्षी—पितुर्वधः, तेन अमर्षः, सः अस्ति अस्य इति पितृवधामर्ष + इनि।

राजा—आर्य! बहु प्रष्टव्यमत्र।

चाणक्यः—वृषल! विश्रब्धं पृच्छ। ममापि बह्वाख्येयमत्र।

राजा—एष पृच्छामि।

चाणक्यः—अहमप्येष कथयामि।

राजा—योऽयमस्माकमस्य सर्वस्यैवानर्थस्य हेतुर्मलयकेतुः स कस्मा-दार्येणापक्रामन्नुपेक्षितः?

चाणक्यः—वृषल! मलयकेतोरपक्रमणानुपेक्षणे द्वयी गतिः स्यात्—अनुगृह्येत निगृह्येत वा। अनुग्रहे पूर्वप्रतिश्रुतं राज्यार्धं प्रतिपाद्येत। निग्रहे तावत् पर्वतकोऽस्माभिर्व्यापादित इति कृतघ्नतायाः स्वयं हस्तो दत्तः स्यात्। प्रतिश्रुतार्धराज्यप्रतिपादनेऽपि पर्वतकविनाशः केवलं कृत-घ्नतामात्रफलः स्यात् इति मलयकेतुरपक्रामन्नुपेक्षितः।

राजा—अत्र तावदेवम् । राक्षस पुनरिहैवान्तर्नगरे वर्तमान आर्येणोपेक्षित इत्यत्र किमुत्तरमार्यस्य ?

चाणक्य—राक्षसोऽपि खलु निजस्वामिनि स्थिरानुरागत्वात् सुचिरमेकत्रवासाच्च शीलज्ञाना नन्दानुरक्ताना प्रकृतीनामत्यन्त विश्वास्य, प्रज्ञापुरुषकाराभ्यामुपेत सहायसम्पदा युक्त, कोपबलवानिहैवान्तर्नगरे वर्तमानो महान्त खल्वन्त कोपमुत्पादयेत् । दूरीकृतस्तु वाह्यकोपमुत्पादयन्नपि न दु खसाध्यो भविष्यतीत्यतोऽपक्रामन्नुपेक्षित ।

राजा—तत् किमर्थमिहस्थ एवोपायैर्नोपक्रान्त ?

चाणक्य—अथ कथमपक्रान्तो भविष्यति ? ननु उपायैरेवासौ हृदयेशय शङ्कुरिवोद्धृत्य दूरीकृत । दूरीकरणस्य चोक्त प्रयोजनम् ।

राजा—आर्य ! कस्माद्विक्रम्य न गृहीत ?

चाणक्य—वृषल ! राक्षस खल्वसौ विक्रम्य निगृह्यमाण स्वयं वा विनश्येत्, युष्मद्वलानि वा विनाशयेत् । एव सत्युभयथापि दोष । पश्य—

हिन्दी अनुवाद—राजा—आर्य ! इस विषय में बहुत पूछना है ।

चाणक्य—वृषल ! विश्वास के साथ पूछो । मुझे भी इस विषय मे बहुत कुछ कहना है ।

राजा—अभी पूछता हूँ ।

चाणक्य—मैं भी अभी कहता हूँ ।

राजा—यह जो हमारे इस सम्पूर्ण अनर्थ का कारण मलयकेतु है, उसको भागते हुए, आपने क्यो उपेक्षित कर दिया ?

चाणक्य—वृषल ! मलयकेतु के भागने की उपेक्षा न करने मे दो बाते होती, (या तो उसे) अनुगृहीत किया जाता या दंड दिया जाता । अनुग्रह करने पर पहले का प्रतिज्ञा किया हुआ आधा राज्य दे दिया जाता, निग्रह करने पर पर्वतक को हमने मारा है—इस कृतघ्नता को स्वयं सहारा देना होता । प्रतिज्ञा किये हुए आधे राज्य को दे देने पर भी पर्वतक का विनाश केवल कृतघ्नता-मात्र प्रयोजन को रखता । इसलिए भागते हुए मलयकेतु की उपेक्षा की गई ।

राजा—इस विषय में तो ऐसा (कहना ठीक) है। किन्तु राक्षस यही नगर के भीतर रहता हुआ आपके द्वारा उपेक्षित कर दिया गया, इस विषय में आपका क्या उत्तर है।

चाणक्य—राक्षस भी अपने स्वामी (नन्द) मे दृढ़ अनुराग रखने के कारण और चिरकाल तक एक जगह निवास करने के कारण शील को पहचानने वाली तथा नन्द के प्रति अनुरक्त प्रजाओं का अत्यन्त विश्वसनीय, बुद्धि और पराक्रम से सम्पन्न, सहायको की सम्पदा से युक्त और कोश-बल से संवलित होकर यही नगर के भीतर रहता हुआ महान् आन्तरिक विद्रोह को उत्पन्न कर देता। किन्तु दूर कर दिये जाने पर बाह्य विद्रोह को उत्पन्न करता हुआ भी कठिनाई से वश में करने योग्य नही होगा (अर्थात् आसानी से वश में किया जा सकेगा), इसलिए भागता हुआ उपेक्षित किया गया।

राजा—तब यही रहता हुआ (वह) क्यो नही उपायो से वश में कर लिया गया ?

चाणक्य—अब वह कैसे निकला हुआ रह सकेगा ? अरे ! उपायो से ही तो वह हृदय मे विद्यमान कांटे के समान निकालकर दूर कर दिया गया।

राजा—आर्य ! पराक्रम करके (अर्थात् शक्तिप्रयोग द्वारा) क्यो नही पकड़ लिया ?

चाणक्य—वह राक्षस शक्तिप्रयोग द्वारा पकड़ा जाता हुआ या तो स्वयं नष्ट हो जाता या तुम्हारी सेनाओं को विनष्ट कर देता। ऐसा होने पर दोनो प्रकार से हानि होती। देखो—

टिप्पणी—विश्रब्धम्—विश्वस्त यथा स्यात् तथा। क्रियाविशेषणमेतत्। आख्येयम्—वक्तव्यम्। अपक्रामन्—अपसरन्। उपेक्षितः—परित्यक्तः। अपक्रमणानुपेक्षणे—न उपेक्षणम् अनुपेक्षणम्। अपक्रमणस्य अनुपेक्षणम्, अपक्रमणानुपेक्षणम्, तस्मिन्। द्वयी गतिः—द्वौ पक्षौ। द्वौ अवयवौ यस्याः सा द्वयी अथवा द्वितयी द्वि+तयप्, 'द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा' इत्यनेन अयजादेशस्य विकल्पात्। प्रतिपाद्येत—दीयेत। व्यापादितः—विनाशितः। कृतघ्नतायाः—विश्रम्भघातितायाः। कृतं हन्तीति कृतघ्नः कृत√हन्+क, तस्य भावः कृतघ्नता कृतघ्न+तल्—टाप्, तस्याः। स्वयम्—आत्मना। हस्तः—

अवलम्ब्य । प्रतिश्रुतार्धराज्यप्रदाने—प्रतिश्रुत प्रतिज्ञातम् अर्धराज्यम् राज्यार्धम् तस्य प्रतिपादनम् समर्पणम्, तस्मिन् । कृतघ्नतामात्रफल —अपकारितामात्रप्रयोजन । कृतघ्नतैव कृतघ्नतामात्रम् मयूरव्यंसकादित्वात् स०, तदेव फल यस्य तादृश बहुव्रीहि स० । अन्तर्नगरे—नगरस्य अन्त अन्तर्नगरम् 'राजदन्तादिषु परम्' इत्यनेन नगरशब्दस्य परनिपात , अथवा अन्त' स्थित नगरम् अन्तर्नगरम् मध्यमपदलोपी स०, तस्मिन् । स्थिरानुरागत्वात्—दृढप्रेमवशात् । स्थिर अनुराग अस्य इति स्थिरानुराग बहुव्रीहि स० । तस्य भाव इति स्थिरानुराग+त्व, तस्मात् हेतौ पञ्चमी । प्रज्ञापुरुषकाराभ्याम्—बुद्धिपौरुषाभ्याम् । प्रज्ञा च पुरुषकारश्च प्रज्ञापुरुषकारौ द्वन्द्व स० ताभ्याम् । उपेत —युक्त । सहायसम्पदा—साहाय्यकारिणा सम्पत्त्या । सह अयन्ते इति सह√अय्+अच् कर्तरि=सहाया । सम्√पद्+क्विप् भावे=सम्पत्=समृद्धि । सहायाना सम्पत्, तया । कोपबलवान्—अर्थसामर्थ्ययुक्त । कोप एव बलम् मयूरव्यंसकादि स० । तत् अस्ति अस्य इति कोपबल+मतुप् । अन्त कोपम्—अन्त मध्ये प्रकृतिषु इत्यर्थ कोप अपराग । अन्त कोप सुप्सुपा स०, तम् । बाह्यकोपम्—बहिर्विद्वेषम् । बहिर्भव बाह्य बहिस्+यञ्, टिलोप 'बहिषष्टिलोपो यञ्च' इत्यनेन । बाह्य कोप बाह्यकोप कर्मधारय स०, तम् । न दु खसाध्य —न क्लेशप्राप्य । हृदयेशय —मनोवर्ती । हृदये शेते इति हृदये√शी+अच् कर्तरि, 'शयवासवासिष्वकालात्' इत्यनेन सप्तम्या अलुक् । उद्धृत्य—उत्पाट्य । उद्√धृ+क्त्वा—ल्यप् । विक्रम्य—सामर्थ्येन । वि√क्रम्+क्त्वा—ल्यप् । निगृह्यमाण —ध्रियमाण । नि√ग्रह्+लट् कर्मणि—शानच् ।

स हि भृशमभियुक्तो यद्युपेयाद् विनाश
ननु वृषल वियुक्तस्तादृशेनासि पुसा ।
अय तव वनमुख्यान्नाशयेत् सापि पीडा
नवगज इव तस्मात् सोऽभ्युपायैर्विनेय ॥ २५ ॥

अन्वय —ननु वृषल ! भृशम् अभियुक्त स यदि विनाशम् उपेयात् तादृशेन पुसा वियुक्त असि, अय तव वनमुख्यान् नाशयेत् सा अपि पीडा । तस्माद् स वनगज इव अभ्युपायै विनेय ॥ २५ ॥

व्याख्या—ननु वृषल ! अयि मौर्य !, भृशम्—अत्यर्थम्, अभियुक्तः—मत्सैन्यैराक्रान्तः सः—राक्षसः, यदि—चेत्, विनाशम्—मरणम्, उपेयात्—प्राप्नुयात्, तादृशेन—तथाविधेन लोकोत्तरगुणशालिना, पुंसा—पुरुषेण, वियुक्तः—विरहितः, असि—भवसि । अथ—यदि, तव—ते, बलमुख्यान्—सेनानायकान्, नाशयेत्—हन्यात्, सा अपि—विनाशक्रियापीत्यर्थः, पीडा—क्षतिः, तस्मात्—अतः, सः—राक्षसः, वनगज इव—आरण्यकहस्तीव, अभ्युपायैः—युक्तिभिः, विनेयः—वशीकार्यः ॥ २५ ॥

हिन्दी अनुवाद—हे वृषल ! (हमारी सेनाओं से) अत्यंत आक्रान्त होकर वह (राक्षस) यदि मृत्यु को प्राप्त हो जाए तो तुम वैसे (गुणशाली) पुरुष से वियुक्त हो जाते हो। (और) यदि तुम्हारे सेनानायकों को मार दे तो वह भी क्षति है। इसलिए उसको जंगली हाथी की तरह युक्तियों से वश में करना चाहिए ॥ २५ ॥

टिप्पणी—सा अपि—अत्र विधेयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गता । वनगजः—वनचरो गजः वनगजः मध्यमपदलोपी स० । अभ्युपायैः—साम, दान आदि उपायों से, गज-पक्ष में—वशीकरण के साधनों से । इस पद्य में उपमा अलंकार है, प्रसाद गुण है, वैदर्भी रीति है और मालिनी छन्द है । इस छन्द का लक्षण ३, १५ में देखिए ॥ २५ ॥

राजा—न शक्नुमो वयमार्यस्य वाचा वाचमतिशयितुं । सर्वथाऽमात्यराक्षस एवात्र प्रशस्यतरः ।

चाणक्यः—[सक्रोधम्] न भवानिति वाक्यशेषः । भो वृषल ! तेन किं कृतम् ?

राजा—यदि न ज्ञायते, तदा श्रूयताम् । तेन खलु महात्मना—

लब्धायां पुरि यावदिच्छमुषितं कृत्वा पदं नो गले
व्याघातो जयघोषणादिषु बलादस्मद्बलानां कृतः ।
अत्यर्थं विपुलैः स्वनीतिविभवैः सम्मोहमापादिता
विश्वास्येष्वपि विश्वसन्ति मतयो न स्वेषु वर्गेषु नः ॥ २६ ॥

अन्वयः—नः गले पदं कृत्वा लब्धायां पुरि यावदिच्छम् उषितम्,

अस्मद्बलाना जयघोषणादिषु बलात् व्याघात कृत, विपुलै स्वनीतिविभवै अत्यर्थं सम्मोहम् आपादिता न मतय विश्वास्येष्वपि स्वेषु वर्गेषु न विश्वसन्ति ॥ २६ ॥

व्याख्या—न—अस्माक, गले—कण्ठे, पद—चरण, कृत्वा—विधाय, लब्धाया—प्राप्ताया, पुरि—नगर्यां, यावदिच्छम्—यथारुचि, उषितम्—निवास कृत, अस्मद्बलानाम्—अस्माक सैन्याना, जयघोषणादिषु—विजयप्रख्यापनप्रभृतिषु, बलात्—हठात्, व्याघात —विघ्न, कृत —उत्पादित, विपुलै —महद्भि, स्वनीतिविभवै —स्वस्य आत्मन नीतय नया एव विभवा सम्पद तै, अत्यर्थम्—अत्यन्त, सम्मोहम्—अविवेकम्, आपादिता —प्रापिता, न —अस्माक, मतय —बुद्धय, विश्वास्येष्वपि—आप्तेषु च, स्वेषु—स्वकीयेषु, वर्गेषु—पक्षेषु, न विश्वसन्ति—न प्रतियन्ति ॥ २६ ॥

हिंदी अनुवाद—राजा—हम आप की बात को बात से नही जीत सकते। (किन्तु) इस विषय मे अमात्य राक्षस ही सब प्रकार से अधिक प्रशसनीय है।

चाणक्य—[क्रोध के साथ] आप नही, यह कहना शेष रह गया। हे वृषल! उसने क्या किया ?

राजा—यदि नही जानते हैं तो सुनिए। उस महात्मा ने—

हमारे गले पर पैर रख कर (हमारी) जीती हुई नगरी मे इच्छानुसार निवास किया, हमारी सेनाओ की विजय-घोषणा आदि मे हठात् विघ्न उत्पन्न किया और महान् अपनी नीति के वैभव से हमारी बुद्धियो को अत्यत मोह मे डाल दिया, जिससे वे (हमारी बुद्धियाँ) अपने विश्वसनीय व्यक्तियो पर भी विश्वास नही करती हैं ॥ २६ ॥

टिप्पणी—अतिशयितुम्—उल्लङ्घयितुम्। प्रशस्यतर —अधिक श्रेष्ठ। अतिशयेन प्रशस्य इति प्रशस्यतर प्रशस्य+तरप्। महात्मना—महान् आत्मा यस्य स महात्मा, तेन। न गले पद कृत्वा—हमारे कठ पर पैर रखकर अर्थात् हमारी अवहेलना करके। यह लोकोक्ति है। बलात्—अत्र हेतौ ल्यब्लोपे कर्मणि वा पञ्चमी। स्वेषु वर्गेषु—भद्रभटादिषु। इस श्लोक मे दीपक, अति-

शयोक्ति और उदात्त अलंकारो की संसृष्टि है। इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है। इस छन्द का लक्षण १, १२ मे देखिए ॥ २६ ॥

चाणक्यः—[विहस्य] वृषल ! एतत् कृतं राक्षसेन ?

राजा—अथ किम् ? एतत् कृतममात्यराक्षसेन।

चाणक्यः—वृषल ! मया पुनर्ज्ञातं, नन्दमिव भवन्तमुद्धृत्य भवानिव भूतले मलयकेतुरधिराज्यमारोपितः।

राजा—अलमुपालभ्य। आर्य ! दैवेनेदमनुष्ठितम्। किमत्रार्यस्य ?

चाणक्य—हे मत्सरिन् !

आरुह्यारूढकोपस्फुरणविषमिताग्राङ्गुलीमुक्तचूडां
लोकप्रत्यक्षमुग्रां सकलरिपुकुलोच्छेददीर्घां प्रतिज्ञाम्।
केनान्येनावलिप्ता नवनवतिशतद्रव्यकोटीश्वरास्ते
नन्दाः पर्यायभूताः पशव इव हताः पश्यतो राक्षसस्य ॥२७॥

अन्वयः—केन अन्येन लोकप्रत्यक्षम् आरूढकोपस्फुरणविषमिताग्राङ्गुलीमुक्तचूडाम् उग्रां सकलरिपुकुलोच्छेददीर्घां प्रतिज्ञाम् आरुह्य अवलिप्ताः नवनवतिशतद्रव्यकोटीश्वराः ते नन्दाः पर्यायभूताः पशव इन पश्यतो राक्षसस्य हताः ? ॥ २७ ॥

व्याख्या—केन अन्येन—मदतिरिक्तेन केन जनेन, लोकप्रत्यक्षम्—जगतः समक्षम्, आरूढकोपस्फुरणविषमिताग्राङ्गुलीमुक्तचूडाम्—आरूढः सञ्जातः यः कोपः क्रोधः तस्य स्फुरणेन आवेशेन विपमिताः कुटिलीभूताः या आग्राङ्गुल्यः अङ्गुल्यग्राणि तैः मुक्ता बन्धनात् च्याविता चूडा शिखा यस्यां तादृशीम्, उग्रां—कठिनां, सकलरिपुकुलोच्छेददीर्घाम्—सकलस्य निखिलस्य रिपुकुलस्य शत्रुवंशस्य उच्छेदेन विनाशेन दीर्घा महती, प्रतिज्ञाम्—प्रतिश्रुतिम्, आरुह्य—विधाय, अवलिप्ताः—साभिमानाः, नवनवतिशतद्रव्यकोटीश्वराः—नवनवतिशतानाम् द्रव्यकोटीनाम् वित्तकोटीनाम् ईश्वराः पतयः, ते—प्रसिद्धाः, नन्दाः, पर्यायभूताः—क्रमेण उपस्थिताः, पशव इव—बलिच्छागला इव, पश्यतः—अवलोकयतः, राक्षसस्य—नन्दामात्यस्य पश्यन्तं राक्षसमनादृत्येत्यर्थः, हताः—हिंसिताः ? ॥ २७ ॥

हिन्दी अनुवाद—चाणक्य—[हँसकर] वृषल ! राक्षस ने यह किया ?

राजा—और क्या ? यह अमात्य राक्षस ने किया।

चाणक्य—वृषल ! मैंने पुन समझा कि नन्द के समान तुम्हें उखाड़कर पृथ्वी पर तुम्हारी तरह मलयकेतु को (उसने) सिंहासन पर बैठा दिया।

राजा—उलाहना देना व्यर्थ है। आर्य ! भाग्य ने यह किया। इसमें आपका क्या है ?

चाणक्य—हे डाह रखने वाले ! ।

दूसरे किसने लोगों के सामने उत्पन्न क्रोध के आवेश से टेढ़ी अंगुलियों के अग्रभाग से खोली गई शिखा वाली, भयंकर तथा सम्पूर्ण शत्रु-कुल के विनाश करने के कारण लम्बी प्रतिज्ञा को करके अभिमानी तथा निन्यानवे सौ करोड़ मुद्राओं के स्वामी नन्दों को क्रमशः बलि-पशु के समान राक्षस के देखते मार दिया ॥ २७ ॥

टिप्पणी—उद्धृत्य—उन्मूल्य । अधिराज्यम्—राज्ये इति अधिराज्यम् अव्ययीभाव स०, 'अव्ययीभावश्च' इत्यनेन नपुंसकत्वम्। आरोपित —स्थापितः। मत्सरिन् !—मत्सर = डाह। 'मत्सरोऽन्यशुभद्वेषे' इत्यमर। स अस्ति अस्य इति मत्सर + इनि। विषमिता —विषमाः कृताः इति विषमा + णिच् + क्त कर्मणि। नवनवतिशतद्रव्यकोटीश्वरा —नवाधिका नवति नवनवति शाकपार्थिवादित्वात् स०। तत्सख्यकानि शतानि शाकपा०। द्रव्याणां कोट्य द्रव्यकोट्य। नवनवतिशतसख्याका द्रव्यकोट्य शाकपा०। तासाम् ईश्वरा। पर्यायभूता —परि √ अय् + घञ् भावे = पर्याय। पर्यायेण भूता. तृतीयातत्० वा सुप्सुपा स०। राक्षसस्य—अत्र 'षष्ठी चानादरे' इति षष्ठी। इस श्लोक मे अर्थापत्ति और उपमा अलकार हैं। इसमें ओज गुण है, गौड़ी रीति है और स्रग्धरा छन्द है। स्रग्धरा का लक्षण १, १ में देखिए ॥ २७ ॥

अपि च,

गृध्रैराबद्धचक्रं वियति विचलितैर्दीर्घनिष्कम्पपक्षै-
र्धूमैर्ध्वस्तार्कभासा सघनमिव दिशां मण्डलं दर्शयन्तः।

नन्दैरानन्दयन्तः पितृवननिलयान् प्राणिनः पश्य चैतान्
निर्वान्त्यद्यापि नैते स्रुतबहलवसावाहिनो हव्यवाहाः ।। २८।।

अन्वयः—पश्य, दीर्घनिष्कम्पपक्षैः आबद्धचक्रं वियति विचलितैः गृध्रैः धूमैः ध्वस्तार्कभासां दिशां मण्डलं सघनमिव दर्शयन्तः पितृवननिलयान् एतान् प्राणिनः नन्दैः आनन्दयन्तः एते स्रुतबहलवसावाहिनः हव्यवाहाः अद्यापि न निर्वान्ति ।। २८ ।।

व्याख्या—पश्य—अवलोकय, दीर्घनिष्कम्पपक्षैः—दीर्घाः आयताः निष्कम्पाः निश्चलाश्च ये पक्षाः दलाः तैः करणभूतैः, आबद्धचक्रं—आबद्धानि कृतानि चक्राणि मण्डलानि यस्मिन् कर्मणि तत् यथा स्यात् तथा, वियति—गगने, विचलितैः—भ्रमद्भिः, गृध्रैः धूमैः—गृध्ररूपधूमैः, ध्वस्तार्कभासां—ध्वस्ताः तिरोहिताः अर्कभासः—सूर्यकिरणाः यासु तासां, दिशाम्—आशानां, मण्डलं—चक्रवालं, सघनमिव—समेघमिव, दर्शयन्तः—अवभासयन्तः, पितृवननिलयान्—पितृवनं श्मशानं निलयः आवासः येषां ते तथोक्ताः तान्, एतान्, प्राणिनः—जीवान्, नन्दैः—बहलवसादशिष्टैः, आनन्दयन्तः—प्रीणयन्तः, एते—इमे, स्रुतबहलवसावाहिनः—स्रुताः क्षरिताः याः बहलाः प्रचुराः वसाः मज्जाः ताः ये वाहयन्ति स्रोतःक्रमेण निःसारयन्ति तादृशाः, हव्यवाहाः—वह्नयः चिताग्नय इत्यर्थः, अद्यापि—अधुनापि, न निर्वान्ति—न प्रशाम्यन्ति ।। २८ ।।

हिन्दी अनुवाद—और भी, देखो, लम्बे और निश्चल पंखों से मंडल बनाकर आकाश में उड़ते हुए गृध्र रूपी धुओं से छिपी हुई सूर्य-किरणों वाली दिशाओं के समूह को मानों मेघों से आच्छादित दिखलाती हुई और श्मशान में रहने वाले इन प्राणियों को नन्दों से तृप्त करती हुई ये पिघली हुई अत्यधिक चर्बी को बहाने वाली अग्नियाँ आज भी शान्त नहीं हो रही है ।। २८ ।।

टिप्पणी—सघनम्—मेघयुक्त। घनेन सहितम् इति सघनम् 'तेन सहेति'—बहुव्रीहि स०। नन्दैः—अत्र करणे तृतीया। स्रुतबहलवसावाहिनः—स्रुतबहलवसा√वह्+णिच्+णिनि कर्तरि साधुकारिणि। हव्यवाहाः—अग्नि। हव्यं वहन्ति देवेभ्यः प्रापयन्ति इति हव्य√वह्+अण् कर्तरि। निर्वान्ति—बुझती हैं। निर्√वा+लट्+अन्ति। इस श्लोक में भाविक अलंकार उत्प्रेक्षा से संसृष्ट है। इसमें भी स्रग्धरा छन्द है ।। २८ ।।

नयनकान्त्या, भ्रूभङ्गोद्भेदधूम—भ्रूभङ्गस्य भ्रुकुटे य उद्भेद आविर्भाव स एव धूमो यत्र तत् यथा स्यात् तथा, पुर —अग्रे, ज्वलितमिव—प्रदीप्तमिव। मन्ये—शङ्के, ताण्डवे—उद्धतनृत्ये, रौद्र रसम्—क्रोधात्मक रसम्, अभिनयत —(अभिनीय) दर्शयत , रुद्रस्य—शिवस्य, सस्मरन्त्या—सम्यक् स्मृतिम् अनुभवन्त्या, धरया—पृथिव्या, पादघात —चरणप्रहार , कथमपि—केनापि प्रकारेण, सञ्जातोदग्रकम्प—सञ्जात समुत्पन्न उदग्र विशेष कम्प यस्मिन् कर्मणि तत् यथा स्यात् तथा, धारित अवस्थापित ॥ ३० ॥

हिन्दी अनुवाद—राजा [आवेग के साथ मन में] तब क्या सचमुच ही आर्य कुपित हो गए ? क्योंकि—

क्रोध से कम्पायमान पलकों से झरते हुए स्वच्छ जल से धोने के कारण क्षीण होने पर भी लाल नेत्रकिरणों से तनी हुई भ्रुकुटिरूपी धुआ मानो सामने प्रदीप्त हुआ है। मैं समझता हूँ कि ताण्डव नृत्य के समय रौद्र रस का अभिनय करते हुए शकर का स्मरण करती हुई पृथ्वी ने (आर्य चाणक्य का) पाद-प्रहार उत्पन्न विशेष कम्पन के साथ बड़ी कठिनाई से सहन किया है ॥ ३० ॥

टिप्पणी—स्पन्दि—स्पन्दते इति/स्पन्द्+णिनि साधुकारिणि कर्तरि। भ्रूभङ्गोद्भेद=उद्भिन्न भ्रूभङ्ग, 'आयानयन द्रव्यायनम्'। पुर —आखो के सामने। धुआ आग से ऊपर रहता है। यहाँ भी भृकुटी रूपी धुआ नेत्राग्नि से ऊपर है। रुद्रस्य—अत्र अधीगर्थदयेशां कर्मणि' इत्यनेन षष्ठी। उदग्र—उद्गतमग्रमस्य इति उदग्र। इस श्लोक में रूपक और उत्प्रेक्षा अलकारों में साकय होने से सकर अलकार है। इसमें पाञ्चाली गीति है, ओज गुण है और स्रग्धरा छन्द है। इसका लक्षण १, १ में देखिए ॥३०॥

चाणक्य —[कृतक कोप सहृत्य] वृषल! वृषल! अलमुत्तरोत्तरेण। यद्यस्मत्तो वरीयान् राक्षसोऽवगम्यते, तस्मादिद शस्त्र तस्मै दीयतामिति। [शस्त्रमुत्सृज्य उत्थाय च आकाशे लक्ष्य बद्ध्वा स्वगतम्] राक्षस! राक्षस! एष भवत कौटिल्यबुद्धिविजिगीषोर्बुद्धे प्रकर्ष ।

> चाणक्यत स्खलितभक्तिमह सुखेन
> जेष्यामि मौर्यमिति सम्प्रति य प्रयुक्त ।

भेदः किलैष भवता सकलः स एव
सम्पत्स्यते शठ तवैव हि दूषणाय ।। ३१ ।।

[इति निष्क्रान्तः ।]

अन्वयः—शठ ! चाणक्यतः स्खलितभक्ति मौर्यम् अहं सुखेन जेष्यामि इति सम्प्रति भवता यः एष भेदः किल प्रयुक्तः स सकल एव तवैव दूषणाय सम्पत्स्यते हि ।।३१।।

व्याख्या—शठ !—धूर्त !, चाणक्यतः—कौटिल्यात्, स्खलितभक्ति—स्खलिता त्यक्ता भक्तिः स्नेहः यस्य तादृशं, मौर्यम्—वृपलम्, अहं—राक्षसः, सुखेन—अनायासेन, जेष्यामि—वशीकरिष्यामि, इति—अतो हेतोः, सम्प्रति—अधुना, भवता—त्वया, य एष, भेदः—उपजापः, किल, प्रयुक्तः—विहितः, सः, सकल एव—सम्पूर्ण एव, तवैव—भवत एव, दूषणाय—दोषाय मलयकेतोर्भेदायेत्यर्थः, सम्पत्स्यते हि—नूनं भविष्यति ।।३१।।

हिन्दी अनुवाद—चाणक्य—[कृत्रिम क्रोध को त्यागकर] वृषल ! वृषल ! उत्तर-प्रत्युत्तर करना व्यर्थ है। यदि (तुम) राक्षस को मुझसे श्रेष्ठ समझते हो तो यह शस्त्र उसको दे दो। [शस्त्र छोड़कर, उठकर और आकाश में दृष्टि बाँधकर मन में] राक्षस ! राक्षस ! यह चाणक्य की बुद्धि को जीतने की इच्छुक तुम्हारी बुद्धि का वैभव है (अर्थात् इतनी ही तुम्हारी बुद्धिसम्पदा है, इससे तुम चाणक्य की बुद्धि को नहीं जीत सकते हो)।

हे धूर्त ! चाणक्य से शिथिल-भक्ति चन्द्रगुप्त को मैं आसानी से जीत लूँगा—ऐसा समझकर तुमने जो इस भेद (-नीति) का प्रयोग किया है, वह सम्पूर्ण (भेद-प्रयोग) ही तुम्हारे ही दोप (विनाश) के लिए निश्चित रूप से होगा ।।३१।।

[बाहर चला जाता है।]

टिप्पणी—कृतककोपम्—बनावटी क्रोध। कृत एव कृतकः कृत+कन्। कृतकः कोपः कर्मधारय स०, तम्। उत्तरोत्तरेण—उत्तरति अनेन इति उद्√तृ+अप् करणे=उत्तरम्। उत्तरस्य उत्तरम्, तेन, करणे तृतीया। वरीयान्—श्रेष्ठ। अतिशयेन उरुः इति उरु+ईयसुन्, वरादेश। स्खलितभक्तिम्—स्खलितं भक्तिरस्य इति स्खलितभक्तिः, तम्। सामान्ये नपुंसकम्। दूषणाय—

√दुष्+णिच्+ल्युट् भावे, 'दोषो णौ' इत्यनेन ऊत्वम् = दूषणम्, तस्मै। 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' इति सूत्रेण चतुर्थी अथवा 'क्लृपि सम्पद्यमाने च' इति वार्तिकेन चतुर्थी। इस श्लोक मे विषमालङ्कार है, प्रसाद गुण है, वदर्भी रीति है और वसन्ततिलका छन्द है। इस छन्द का लक्षण १, ८ मे देखिए ॥३१॥

राजा—आर्य वैहीनरे! अद्य प्रभृत्यनादृत्य चाणक्य चन्द्रगुप्त स्वयमेव राज्यकार्याणि करिष्यतीति गृहीतार्था प्रकृतय क्रियन्ताम्।

कञ्चुकी—[स्वगतम्] कथ निरुपपद एव चाणक्यो नार्यचाणक्य इति। हन्त! सत्यमेव हृतोऽधिकार। अथवा न खल्वत्र वस्तुनि देवदोष। कुत—

स दोष सचिवस्यैव यदसत् कुरुते नृप।
याति यन्तु प्रमादेन गजो व्यालत्ववाच्यताम् ॥ ३२ ॥

अन्वय—नृप यत् असत् कुरुते स सचिवस्यैव दोष। यन्तु प्रमादेन गज व्यालत्ववाच्यता याति ॥३२॥

व्याख्या—नृप—राजा, यत्, असत्—अयुक्तम् अमात्यतिरस्कारादिरूप कार्यमिति यावत्, कुरुते—विदधाति, स, सचिवस्यैव—अमात्यस्यैव, दोष—अपराध न तु राज्ञ इत्यर्थ। यन्तु—हस्तिपकस्य, प्रमादेन—अनवधानतया, गज—हस्ती, व्यालत्ववाच्यता—व्यालत्वेन दुष्टगजत्वेन वाच्यता निन्दनीयता, याति—प्राप्नोति ॥३२॥

हिन्दी अनुवाद—राजा—आर्य वैहीनरि! आज से चाणक्य का अनादर करके चन्द्रगुप्त स्वय ही राज-काज करेगा—इस बात से प्रजाओ को अवगत करा दो।

कञ्चुकी—[मन में] क्यो बिना (किसी) आदरसूचक विशेषण के ही 'चाणक्य' (कहा), 'आर्य चाणक्य' नही (कहा)। हाय! सचमुच अधिकार छीन लिया। अथवा इस विषय मे महाराज का दोष नहीं है। क्योकि—

राजा जो अनुचित (कार्य) करता है, वह मत्री का ही दोष है। (क्योकि) महावत की असावधानी से हाथी दुष्ट हाथी होने की निन्दा को प्राप्त होता है ॥३२॥

टिप्पणी—इति गृहीतार्था—इति अनेन प्रकारेण गृहीत परिज्ञात

अर्थः वस्तु याभिः, ताः। निरुपपदः—समीपोच्चारित (आदरसूचक) शब्द से रहित। उपोच्चारितं पदम् उपपदम् निरस्तम् उपपदम् अस्मात् इति निरुपपदः। असत् कुरुते—अनुचित (कार्य) करता है। अथवा 'असत्कुरुते' इति पाठः। सत् इति आदरार्थकमव्ययम्। अविद्यमानं सत् अस्मिन् इति असद। असत् कुरुते इति असत्√कृ+लट्—ते। व्यालत्ववाच्यताम्—व्यालः= दुष्ट हाथी। 'व्यालो दुष्टगजे सर्पे' इति हैमः। तस्य भावः इति व्यालत्वम् व्याल+त्व। वक्तुमर्हः इति वाच्यः√वच्+ण्यत् कर्मणि। तस्य भावः वाच्यता वाच्य+तल्—टाप्। व्यालत्वेन व्यालत्वमेव वा वाच्यता। इस श्लोक में दृष्टान्त अलंकार है और अनुष्टुप् छन्द है। इसका लक्षण १, ३ में देखिए॥ ३२॥

राजा—आर्य! किं विचारयसि?

कञ्चुकी—देव! न किञ्चिद्विचारयामि, किन्तु एतद्विज्ञापयामि, दिष्ट्या देव इदानीं देवः संवृत्त इति।

राजा—[आत्मगतम्] एवमस्मासु गृह्यमाणेषु स्वकार्यसिद्धिकामः, सकामो भवत्वार्यः। [प्रकाशम्] शोणोत्तरे! अनेन शुष्ककलहेन शिरोवेदना मां बाधते, तच्छयनगृहमादेशय।

प्रतीहारी—एदु एदु महाराओ। (एतु एतु महाराजः।)

राजा—[आसनादुत्थायात्मगतम्]

आर्याज्ञयैव मम लङ्घितगौरवस्य
बुद्धिः प्रवेष्टुमवनेर्विवरं प्रवृत्ता।
ये सत्यमेव न गुरून् प्रतिमानयन्ति
तेषा कथं नु हृदयं न भिनत्ति लज्जा॥ ३३॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे।]

॥ इति तृतीयोऽङ्कः॥

अन्वयः—आर्याज्ञया एव लङ्घितगौरवस्य मम अवनेः विवरं प्रवेष्टुं बुद्धिः प्रवृत्ता। ये सत्यमेव गुरून् न प्रतिमानयन्ति तेषां हृदयं लज्जा कथं नु न भिनत्ति?॥ ३३॥

व्याख्या—आर्याज्ञया एव—आर्यस्य पूज्यस्य चाणक्यस्य आज्ञया एव आदेशेनैव, लङ्घितगौरवस्य—लङ्घितम् अतिक्रान्तम् गौरवम् प्रतिष्ठा यन तादृशस्य, मम—मे, अवने —पृथिव्या , विवर—रन्ध्र, प्रवेष्टुम्—अन्तर्गन्तुम्, बुद्धि —मति , प्रवृत्ता—उद्यता । ये—जना , सत्यमेव—यथार्थमेव, गुरून्—पूज्यान्, न प्रतिमानयन्ति—न सत्कुर्वन्ति, तेषा—जनाना, हृदय—चित्त, लज्जा—त्रपा, कथ नु—कस्मात् न, भिनत्ति—विदारयति ? ॥ ३३ ॥

हिन्दी अनुवाद—राजा—आर्य ! क्या सोच रहे हो ?

कञ्चुकी—महाराज ! कुछ नही सोच रहा हूँ, किन्तु यह निवेदन करता हूँ कि भाग्य से महाराज अब महाराज हो गए ।

राजा—[मन में] इस प्रकार हमारे समझे जाने पर (अर्थात् जब लोग मेरे और चाणक्य के कृतककलह को यथार्थ समझने लगे तब) अपने कार्य की सिद्धि चाहने वाले आर्य पूर्णकाम हो । [प्रकट] शोणोत्तरे ! इस सूखे विवाद से सिर की वेदना मुझे पीडित कर रही है । इसलिए शयनकक्ष में ले चलो ।

प्रतीहारी—आवें महाराज ! आवें ।

राजा—[आसन से उठकर मन में] आर्य (चाणक्य) की आज्ञा से ही मर्यादा का अतिक्रमण करने वाली मेरी बुद्धि पृथ्वी के बिल में पैठने को तैयार हो गई है । जो यथार्थ में ही गुरुओं का सत्कार नही करते हैं, उनके हृदय को लज्जा क्यों नही विदीर्ण कर देती है ? ॥ ३३ ॥

[सभी (पात्र) बाहर चले जाते हैं ।]

॥ तीसरा अक समाप्त ॥

टिप्पणी—गृह्यमाणेषु—प्रतीयमानेषु । स्वकार्यसिद्धिकाम —स्वस्य कार्यं, तस्य सिद्धि , ता कामयत तादृश । सकाम —सिद्धमनोरथ । शुष्ककलहेन—शुष्क कलह कर्मधारय स०, तेन, हेतौ तृतीया । शिरोवेदना—मस्तकपीडा । प्रतिमानयन्ति - पूजयन्ति । प्रति√मान् (पूजायाम्)+णिच्+लट्—अन्ति । इस श्लोक के प्रथम चरण में परिसंख्या अलकार पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलकार से संसृष्ट है । दूसरे चरण में पदार्थहेतुक काव्यलिंग

अलंकार है। तीसरे और चौथे चरण में अर्थापत्ति अलंकार है। इसमें वसन्ततिलका छन्द है। इस छन्द का लक्षण १, ८ में देखिए ।। ३२ ।।

चतुर्थोऽङ्कः

[ततः प्रविशत्यध्वगवेषः पुरुषः ।]

पुरुषः—हीमाणहे हीमाणहे । (आश्चर्यमाश्चर्यम् ।)

जोअणसअं समधिअं को णाम गदागदं इह करेइ ।
अत्थाणगमणगुरुई प्पहुणो अण्णा जइ ण होइ ।। १ ।।
(योजनशतं समधिकं को नाम गतागतमिह करोति ।
अस्थानगमनगुरुका प्रभोराज्ञा यदि न भवति ।। १ ।।)

अन्वयः—अस्थानगमनगुरुका प्रभोः आज्ञा यदि न भवति को नाम इह समधिकं योजनशतं गतागतं करोति ? ।। १ ।।

व्याख्या—अस्थानगमनगुरुका—अस्थाने अनवसरे यत् गमनं तेन गुरुका गुर्वी प्रभोः स्वामिनः, आज्ञा—आदेशः, यदि—चेत्, न भवति—न जायते, (तदा) को नाम—न कोऽपीत्यर्थः, इह—अस्मिन् संसारे, समधिकं—संगतम् अधिकं यस्मिन् तत्, योजनशतं—शतयोजनमित्यर्थः, (व्याप्य) गतागतं—गतं गमनम् आगतम् आगमनञ्च, करोति—विदधाति ? ।। १ ।।

हिन्दी अनुवाद—[तब पथिक-वेष में एक पुरुष प्रवेश करता है ।]

पुरुष—आश्चर्य है, आश्चर्य है ।

असमय में जाने के कारण महान् (अर्थात् अनुल्लंघनीय) स्वामी की आज्ञा यदि न हो तो कौन (व्यक्ति) यहाँ सौ योजन से भी अधिक दूर जाना-आना करता है ? ।। १ ।।

टिप्पणी—अध्वगवेषः—पथिकवेशधारी । अध्वानं गच्छति इति अध्वन्√गम्+ड कर्तरि । तस्य वेषः । अध्वगवेष इव वेषः अस्य इति बहुव्रीहि स० । हीमाणहे—यह आश्चर्यसूचक निपात—अव्यय है । समधिकम्—सङ्गतम्

अधिकेन प्रादितत्० अथवा मद्भुतम् अधिक यस्मिन् तत् समधिकम् 'प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोप ' इति वार्तिकेन बहुव्रीहि स० गतपदलोपश्च। योजनशतम्—योजनाना शतम्। समधिक योजनशतम्=समधिकयोजनशत-परिमितम्। गतागतम्—गतञ्च आगतञ्च अनयो समाहारद्वन्द्वसमास। इस पद्य मे वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग अलकार है। इसमे आर्या छन्द है। आर्या का लक्षण १, ५ मे देखिए ॥ १ ॥

ता जाव अमच्चरक्खसस्स ज्जेव गेहं गच्छामि। [परिश्रान्तवत् परिक्रम्य] भो! को एत्थ दुआरिआण? णिवेदेह दाव भट्टिणो अमच्च-रक्खसस्स, एसो क्खु करहको करहक विअ कज्ज तुवरन्तो पाडलिपुत्तादो आगदो त्ति। (तद्यावदमात्यराक्षसस्यैव गेह गच्छामि। भो! कोऽत्र दौवारिकाणाम्? निवेदय तावद् भर्तु अमात्यराक्षसस्य 'एप खलु कर-भक करभक इव कार्यं त्वरयन् पाटलिपुत्रादागत ' इति।)

दौवारिक—[प्रविश्य] भद्द! मा उच्च मन्तेहि, एसो अमच्चो भट्टा कज्जचिन्ताजणिदेण जाअरेण समुप्पणसीसवेअणो, अज्ज वि दाव ण सअणदल मुञ्चदि, ता चिट्ठ दाव मुहुत्तअ, जाव से लद्धावसरो भविअ भवदो आगमण णिवेदेमि। (भद्र! मा उच्चैर्मन्त्रय, एप खलु भर्ता अमात्यराक्षस कार्यचिन्ताजनितेन जागरणेन समुत्पन्नशीर्षवेदनोऽद्यापि तावत् न शयनतल मुञ्चति, तस्मात् तिष्ठ तावन्मुहूर्तं, यावत् तस्य लब्धावसरो भूत्वा भवत आगमन निवेदयामि।)

पुरुष—भद्दमुह! जधा दे रोअदि। (भद्रमुख! यथा ते रोचते।)

[तत प्रविशन्ति शयनगत आसनस्थेन शकटदासेन सह चिन्तितो राक्षस।]

राक्षस—[आत्मगतम्]

हिन्दी अनुवाद—तो अब अमात्य राक्षस के ही घर मे जाता हूँ। [थके हुए की तरह घूमकर] अजी! यहा द्वारपालो मे से कौन है? स्वामी अमात्य राक्षस से निवेदन कर दो कि यह करभक हाथी के बच्चे के समान कार्य को शीघ्रता से सम्पन्न करते हुए पाटलिपुत्र से आ गया है।

द्वारपाल—[प्रवेश करके] भद्र! जोर से मत बोलो। ये स्वामी अमात्य

राक्षस कार्यों की चिन्ता के कारण जागते रहने से उत्पन्न सिर-पीड़ा से पीड़ित होकर अभी भी शय्या को नही छोड रहे है। इसलिए क्षण भर ठहरो, जब तक कि मैं अवसर पाकर तुम्हारे आने की सूचना दे दूँ।

पुरुष—भद्रमुख ! जैसी तुम्हारी इच्छा।

[तब पलंग पर लेटे चिन्तामग्न राक्षस आसन पर बैठे शकटदास के साथ प्रवेश करता है।]

राक्षस—[मन में]

टिप्पणी—दौवारिकाणाम्—द्वारत्राणनियुक्तानाम्। द्वारे नियुक्ताः इति द्वार+ठक्—इक, 'द्वारादीनां च' इत्यनेन ऐजागमः। करभक इव—गजशावक इव। त्वरयन्—शीघ्रं साधयन्। √त्वर्+णिच्+शतृ। पाटलिपुत्रात्—कुसुमपुरात्। पुत्रक नामक राजा ने इस नगरी की स्थापना की थी। इसी का आधुनिक नाम पटना है। समुत्पन्नशीर्षवेदनः—शीर्षस्य शीर्षे वा वेदना शीर्षवेदना। समुत्पन्ना शीर्षवेदना अस्य इति समुत्पन्नशीर्षवेदनः = सञ्जातोत्तमाङ्गपीडः। निवेदयामि—अत्र भविष्यत्सामीप्ये लट्। भद्रमुख—भद्रं मुखमस्य इति भद्रमुखः, तत्सम्बुद्धौ भद्रमुख इति। ते रोचते—तुभ्यम् इत्यस्य 'ते मयावेकवचनस्य' इत्यनेन ते इत्यादेशः। अत्र 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' इत्यनेन चतुर्थी।

मम विमृशतः कार्यारम्भे विधेरविधेयता
सहजकुटिलां कौटिल्यस्य प्रचिन्तयतो मतिम्।
अथ च विहिते मत्कृत्यानां निकाममुपग्रहे
कथमिदमिहेत्युन्निद्रस्य प्रयान्त्यनिशं निशाः ॥ २ ॥

अन्वयः—कार्यारम्भे विधेः अविधेयतां विमृशतः कौटिल्यस्य सहजकुटिलां मतिं प्रचिन्तयतः अथ च मत्कृत्यानां निकामम् उपग्रहे विहिते 'इह इदं कथम्' इति अनिशम् उन्निद्रस्य मम निशाः प्रयान्ति ॥ २ ॥

व्याख्या—कार्यारम्भे—कृत्योपक्रमे, विधेः—भाग्यस्य, अविधेयतां—स्वातन्त्र्यम् अननुकूलतामिति यावत्, विमृशतः—विचारयतः, कौटिल्यस्य—चाणक्यस्य, सहजकुटिलां—स्वभावक्रूरां, मतिं—बुद्धिं, प्रचिन्तयतः—पर्यालोचयतः,

अथ च—अपि च, मत्कृत्यानां—मम प्रयोगाणाम्, निकामम्—यथेच्छम्, उपग्रहे—प्रतीकारे, विहिते—साधिते, इह—अस्मिन् सुविहिते मत्प्रयोग, इदम्—एतत्, कथं—केन प्रकारेण, इति—अनया रीत्या, अनिशम्—निरन्तरम्, उन्निद्रस्य—जाग्रत , मम—मे, निशा —रात्रय , प्रयान्ति—व्यतियन्ति ॥ २ ॥

हिन्दी अनुवाद—कार्य के आरम्भ मे भाग्य की प्रतिकूलता को सोचते हुए, चाणक्य की स्वाभाविक कुटिल बुद्धि के विषय मे ऊहापोह करते हुए और अपने कार्यों के अत्यन्त विफल हो जाने पर 'यहाँ यह कैसे (हुआ)' इस चिन्ता मे निरन्तर जागते हुए मेरी रात्रियाँ व्यतीत होती हैं ॥ २ ॥

टिप्पणी—अविधेयताम्—प्रतिकूलता को । वि√धा+यत् कर्मणि= विधेय । न विधेय अविधेय । तस्य भाव । तत्ता, ताम् । मत्कृत्यानाम्—मेरे विषकन्या आदि कपट कार्यों का । उपग्रहे—निरोधे । उप√ग्रह्+अप् भावे=उपग्रह , तस्मिन् । अनिशम्—सतत । अविद्यमाना निशा यस्मिन् कर्मणि तत् यथा तथा । उन्निद्रस्य—उद्गता उच्छिन्ना निद्रा यस्य स उन्निद्र , तस्य । इस श्लोक मे समुच्चय नामक अलङ्कार है, वैदर्भी रीति है और हरिणी छन्द है । इस छन्द का लक्षण ३, ६ मे देखिए ॥ २ ॥

अपि च—

कार्योपक्षेपमादौ तनुमपि रचयंस्तस्य विस्तारमिच्छन्
बीजानां गर्भितानां फलमतिगहनं गूढमुद्भेदयंश्च ।
कुर्वन् बुद्ध्या विमर्शं प्रसृतमपि पुन संहरन् कार्यजातं
कर्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा ॥ ३ ॥

अन्वय —आदौ तनुमपि कार्योपक्षेपं रचयन्, तस्य विस्तारमिच्छन्, गर्भितानां बीजानाम् अतिगहनं फलं गूढमुद्भेदयंश्च बुद्ध्या विमर्शं कुर्वन् प्रसृतम् अपि कार्यजातं पुन संहरन् नाटकानां कर्ता वा अस्मद्विधो वा इमं क्लेशम् अनुभवति ॥३॥

व्याख्या—आदौ—प्रारम्भे, तनुमपि—स्वल्पमपि, कार्योपक्षेपं—कार्यस्य शत्रुपराभवात्मकस्य ग्रन्थस्य उपक्षेप सामाद्युपाय (नाटककारपक्षे) बीजन्यास,

रचयन्—प्रणयन् तस्य—कार्यस्य (पक्षान्तरे) वीजस्य, विस्तारं—प्रचयम्, इच्छन्—अभिलषन्, गर्भितानां—सञ्जातगर्भाणां फलप्रसवोन्मुखानामित्यर्थः (पक्षान्तरे) दृष्टनष्टानां, वीजानां—प्रसरतां प्रयोगानामित्यर्थः (पक्षान्तरे) फलप्रधानहेतूनामित्यर्थः, अतिगहनं—दुरनुमेयं, फलं—परिणतिम्, गूढं—गुप्तं यथा स्यात् तथा, उद्भेदयंश्च—प्रकटयंश्च, बुद्ध्या—मत्या, विमर्शं—कर्तव्याकर्तव्यविवेकं (पक्षान्तरे) अनुसन्धानं, कुर्वन्—विधदत्, प्रसृतमपि—विस्तृतमपि, कार्यजातं—कृत्यवर्ग (पक्षान्तरे) नाटकीयं वस्तु, पुनः—भूयः, संहरन्—संगृह्णांश्च (पक्षान्तरे) समापयन् अपि, नाटकानां—रूपकाणां, कर्ता वा—रचयिता च, अस्मद्विधो वा—मादृशश्च राजनीतिप्रयोक्ता जनः, इमं क्लेशं—प्रजागरदुःखम्, अनुभवति—भजते ॥३॥

हिन्दी अनुवाद—और भी—प्रारंभ मे थोड़े भी कार्य के उपाय को (पक्षान्तर में—वीजन्यास को) करता हुआ, उस (कार्य, पक्षान्तर में—बीज) का विस्तार चाहता हुआ, फलोन्मुख (पक्षान्तर में—दृष्टनष्ट) बीजों (प्रयोगों, पक्षान्तर में—फल के प्रधान हेतुओं) के अत्यंत गहन परिणाम को गुप्त रूप से प्रकट करता हुआ, बुद्धि से (कर्तव्य और अकर्तव्य का) विवेक (पक्षान्तर में—अनुसन्धान) करता हुआ और फैले हुए भी कार्य-समूह (पक्षान्तर में—नाटकीय कथावस्तु) को पुनः इकट्ठा (पक्षान्तर में—समाप्त) करता हुआ नाटककार और मेरे जैसा (नीति-प्रयोग-कर्ता) व्यक्ति इस (जागरण-रूप) क्लेश का अनुभव करते है ॥३॥

टिप्पणी—आदौ—प्रारंभ मे, मुख-सन्धि मे। 'यत्र वीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा। प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्तितम्।' कार्योपक्षेपम्—शत्रुपराजयरूप साम आदि उपाय को। वीजन्यास को। उपक्षिप्यते प्रस्तूयते अनेन इति उप√क्षिप्+घञ् करणे=उपक्षेपः। कार्यस्य उपक्षेपः, तम्। 'काव्यार्थस्य समुत्पत्तिरुपक्षेप इति स्मृतः'। इस नाटक में चाणक्य के कार्योपक्षेप को प्रथम अंक में 'तन्मयापि तावत्' इत्यादि से किया गया है। तस्य विस्तारम्—कार्य, वीज के विस्तार को। वीज का लक्षण यह है—'स्तोकोद्दिष्टं कार्यहेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा'। गर्भितानाम्—फलोन्मुख, दृष्टनष्ट। गर्भः सञ्जातः एषाम् इति गर्भ+इतच्=गर्भितानि, तेषाम्। 'गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य वीजस्यान्वेषणं मुहुः'। यहाँ चाणक्य का कार्योपक्षेप गर्भित है, राक्षस का नहीं। द्वितीय अंक में

ये दोनो बाते देखने को मिलती हैं। उद्भेदयन्—प्रकट करता हुआ। यहाँ फल का प्राकट्य चौथे और पाँचवे अक मे वर्णित हुआ है। विमर्शम्—विवेव, विमर्शसन्धि। वि√मृश्+घञ् भावे=विमर्श। 'यत्र मुख्यफलोपाय, उद्भिन्नो गर्भतोऽधिक। शापाद्यै नान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृत ॥' यहाँ हम इसको तीसरे अक के २३वे श्लोक मे देख सकते है। प्रसृतमपि कार्यजातम् पुन सहरन्—फैले हुए भी कार्य-समूह का उपसहार करता हुआ। निर्वहणसन्धि में नाटकीय वस्तु का उपसहार किया जाता है—'बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम्। ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहण हि तत् ॥' यहाँ चाणक्य के कार्य-समूह का उपसहार सप्तम अक के 'भृत्या भद्रभटादय '—इत्यादि श्लोक मे देखा जा सकता है। नाटकानाम्—दृश्य काव्य या रूपक को नाटक कहते हैं। इसका लक्षण यह है—'नाटक ख्यातवृत्त स्यात् पञ्चसन्धिसमन्वितम्'। इम क्लेशम्—इस (जागरण रूप) कष्ट का। यहाँ नाटककार ने राजनीतिक नाटक की रचना करने मे होने वाले कष्ट को राक्षस के कथन के द्वारा व्यक्त किया है। जैसे राजनीतिक दाव-पेंच खेलने वाले को कभी-कभी रात-रात भर जागना पड जाता है उसी तरह इस नाटककार को भी प्राय जागना पडा है, ऐसा इस श्लोक से ध्वनित होता है। इस श्लोक मे श्लेषालकार और दीपकालकार मे अगागि-भाव से साकर्य है। इसमे वदर्भी रीति है और स्रग्धरा छन्द है। इस छन्द का लक्षण १, १ मे देखिए ॥३॥

तदपि नाम दुरात्मा चाणक्यवटु,—'

[उपसृत्य]

दौवारिक —जेदु जेदु—' (जयतु जयतु—')

राक्षस —'अभिसन्धातु शक्य स्यात्।

दौवारिक —अमच्चो। (अमात्य)।

राक्षस —[वामाक्षिस्पन्द सूचयित्वात्मगतम्] 'दुरात्मा चाणक्यवटु-जयति, अभिसन्धातु शक्य स्यादमात्य' इति वागीश्वरी वामाक्षिस्पन्द-नेन प्रस्तावगता प्रतिपादयति। तथापि नोद्यमस्त्याज्य। [प्रकाशम्] भद्र! किमसि वक्तुकाम ?

दौवारिक —अमच्च! एसो क्खु करहओ पाडलिपुत्तादो आअदो,

इच्छदि अमच्चं पेक्खिदु। (अमात्य ! एष खलु करभकः पाटलिपुत्रा-दागतः, इच्छति अमात्यं प्रेक्षितुम्।)

राक्षसः—अवारित प्रवेशयैनम्।

दौवारिकः—जं अमच्चो आणवेदि। [इति निष्क्रम्य पुरुषमुपसृत्य] भद्द ! एसो क्खु अमच्चो चिट्ठदि, ता उपसप्प णं। (यदमात्य आज्ञापयति। भद्र ! एष खलु अमात्यस्तिष्ठति, तदुपसर्प एनम्।)

[इति निष्क्रान्तो दौवारिकः।]

हिन्दी अनुवाद—तो भी दुष्टात्मा वटुक चाणक्य,'—

[पास जाकर]

द्वारपाल—जय हो जय हो—'

राक्षस—प्रतारणा करने योग्य होता।

द्वारपाल—अमात्य।

राक्षस—[बायीं आँख का फड़कना देखकर मन मे] 'दुष्टात्मा वटुक चाणक्य विजयी हो, अमात्य प्रतारणा करने योग्य होता'—यह दैवी वाणी प्रकरण-प्राप्त होती हुई बायी आँख के फडकने के द्वारा सूचित कर रही है। तो भी उद्यम नही छोडना चाहिए। [प्रकट] भद्र ! क्या कहना चाहते हो ?

द्वारपाल—अमात्य ! यह करभक पाटलिपुत्र से आया है और आप से मिलना चाहता है।

राक्षस—बिना रोक-टोक के उसे प्रविष्ट कराओ।

द्वारपाल—जैसी अमात्य की आज्ञा। [**बाहर जाकर (उस) पुरुष के पास पहुँचकर**] भद्र ! ये अमात्य विराज रहे है, इसलिए उनके पास जाओ।

[द्वारपाल चला जाता है।]

टिप्पणी—तदपि—यहाँ तात्पर्य यह है कि अमात्य के उस प्रकार क्लेशानुभव करते रहने पर भी दुष्ट चाणक्य उद्यम नही छोड़ता है। उपसृत्य—समीप जाकर। यह तीसरा पताकास्थान है। साहित्यदर्पण में कहा गया है—'अर्थोपक्षेपकं यत्तु लीनं सविनयं भवेत्। श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतं तृतीयमिदमुच्यते ॥'

अभिसन्धातुम्—पराभवितुम् प्रतारयितुमित्यर्थ । वामाक्षिस्पन्दम्—वामम् अक्षि, तस्य स्पन्द , तम् । बाईं आंख का फड़कना पुरुष के लिए अशुभ-सूचक है । इसीलिए राक्षस 'तदपि नाम'—इत्यादि अपनी उक्ति के साथ द्वारपाल की उक्ति को जोड़कर 'दुरात्मा चाणक्यवटुर्जयति, अभिसन्धातु शक्य स्यादमात्य,' ऐसा वाक्य पढ़ता है । वागीश्वरी—वाग्देवता । प्रस्तावगता—प्रस्ताव प्रकरण गता प्राप्ता । प्रनिपादयति—कथयति सूचयतीति यावत् ।

करभक —[राक्षसमुपसृत्य] जेदु जेदु अमच्चो । जयतु जयत्वमात्य ।)

राक्षस —[नाटयेनावलोक्य] भद्र करभक ! स्वागतम् । उपविश्यताम् ।

करभक —ज अमच्चो आणवेदि । (यदमात्य आज्ञापयति ।) [इति भूमावुपविशति ।]

राक्षस —[आत्मगतम्] अथ कस्मिन् प्रयोजने मयाऽय प्रणिधि प्रहित इति प्रभूतत्वात् प्रयोजनाना न खल्ववधारयामि । [इति चिन्ता नाटयति ।]

[तत प्रविशति वेत्रपाणिरपर पुरुष ।]

पुरुष —ओसलध अज्जा ! ओसलध । अवेध माणहे ! अवेध । किं ण पेक्खह ? । (अपसरत आर्या ! अपसरत । अपेत मान्या ! अपेत । किं न पश्यथ ?)

दूले पच्चासत्ती दसणमवि दुल्लहं अधण्णेहिं ।
कल्लाणकुलहराण देवाण ज मनुस्सदेआण ॥ ४ ॥
(दूरे प्रत्यासत्तिर्दर्शनमपि दुर्लभमधन्यै
कल्याणकुलधराणा देवानाञ्च मनुष्यदेवानाम् ॥ ४ ॥)

अन्वय —कल्याणकुलधराणा देवाना मनुष्यदेवाना च दर्शनमपि अधन्यै दुर्लभम्, प्रत्यासत्ति दूरे ॥ ४ ॥

व्याख्या—कल्याणकुलधराणा—(देवपक्षे) कल्याण स्वर्णमय कुलधर-कुलपर्वत मेरु येषा तादृशाना (राजपक्षे कल्याणाना कुल कल्याणकुल,

धरन्तीति धराः, कल्याणकुलस्य धराः कल्याणकुलधराः तेषां कल्याणकुलधराणां मङ्गलसमूहभाजिनां) देवानां—सुराणां, मनुष्यदेवानां च—मनुष्याणां मनुष्येषु वा देवाः देवतुल्याः मनुष्यदेवाः तेषां मनुष्यदेवानां राज्ञां च, दर्शनमपि—अवलोकनञ्च, अधन्यैः—हतभाग्यैः पुरुषैः, दुर्लभम्—दुष्प्रापम्, प्रत्यासत्तिः—सामीप्यप्राप्तिः, दूरे (तिष्ठतु) ॥ ४ ॥

हिन्दी अनुवाद—करभक—[राक्षस के पास पहुँचकर] अमात्य की जय हो, जय हो ।

राक्षस—[अभिनयपूर्वक देखकर] भद्र करभक ! स्वागत है । बैठो ।

करभक—अमात्य की जो आज्ञा । [भूमि पर बैठ जाता है ।]

राक्षस—[मन में] अच्छा, किस काम में इस गुप्तचर को भेजा था, वह कार्यों की अधिकता के कारण निश्चित नहीं कर पा रहा हूँ । [सोचने का अभिनय करता है ।]

[तब हाथ में बेंत लिये दूसरा पुरुष प्रवेश करता है ।]

पुरुष—हटो आर्यो ! हटो । दूर हो जाओ मान्यो ! दूर हो जाओ । क्या नहीं देखते हो ?

सोने के मेरुपर्वत पर निवास करने वाले (राजा के पक्ष में कल्याणसमूह का धारण करने वाले) देवताओं और राजाओं के दर्शन भी भाग्यहीनों के लिए दुर्लभ हैं, सामीप्य प्राप्त करना तो दूर रहा ॥ ४ ॥

टिप्पणी—कस्मिन् प्रयोजने—किं प्रयोजनमुद्दिश्येत्यर्थः । विषयाधिकरणे सप्तमी । प्रहितः—प्र√हि (प्रेरणे) + क्त कर्मणि । वेत्रपाणिः—वेत्रं पाणौ यस्य सः बहुव्रीहि स०, 'प्रहरणार्थेभ्यः परा निष्ठा' इति पाणिशब्दस्य परनिपातः । अधन्यैः—अत्र 'न लोकाव्यय'—इति खलर्थयोगे षष्ठीप्रतिषेधः । प्रत्यासत्तिः—समीप में जाना या रहना । प्रति—आ√सद् + क्तिन् भावे । अत्र उपसर्गवशात् धातोः सकर्मकत्वम् ।

[आकाशे] अज्जा ! किं भणाध, किं णिमित्तं एसा ओसालणा करीअदि ? अज्जा ! एसो क्खु कुमालो मलयकेदू समुप्पण्णसीसवेअणं अमच्चरक्खसं पेक्खिदुं इह ज्जेव आअच्छदि । एदिणा कालणेण

ओसालणा करीअदि। (आर्या ! किं भणथ, किं निमित्तमेषाऽपसारणा क्रियते ? आर्या ! एष खलु कुमारो मलयकेतुः समुत्पन्नशीर्षवेदनममात्य-राक्षसं प्रेक्षितुमिहैवागच्छति। एतेन कारणेनापसारणा क्रियते।)

[इति निष्क्रान्तः पुरुषः।]

[ततः प्रविशति भागुरायणेन कञ्चुकिना चाऽनुगम्यमानो मलय-केतुः।]

मलयकेतुः—[निःश्वस्यात्मगतम्] अद्य दशमो मासस्तातस्योपर-तस्य। न चास्माभिर्वृथा पुरुषकारमुद्वहद्भिस्तमुद्दिश्य तोयाञ्जलिरप्याव-र्जितः। अथवा, प्रतिज्ञातमेतत् पुरस्तात्।

वक्षस्ताडनभिन्नरत्नवलयं भ्रष्टोत्तरीयांशुकं
हाहेत्युच्चरितार्तनादकरुणं भूरेणुरूक्षालकम्।
तादृड्मातृजनस्य शोकजनितं सम्प्रत्यवस्थान्तरं
शत्रुस्त्रीषु मया विधाय गुरवे देयो निवापाञ्जलिः ॥ ५ ॥

अन्वयः—मातृजनस्य शोकजनितं वक्षस्ताडनभिन्नरत्नवलयं भ्रष्टोत्तरीयां-शुकं भूरेणुरूक्षालकं हाहेत्युच्चरितार्तनादकरुणं तादृक् अवस्थान्तरं सम्प्रति शत्रुस्त्रीषु विधाय मया गुरवे निवापाञ्जलिः देयः ॥ ५ ॥

व्याख्या—मातृजनस्य—मातॄणां जननीनां जनस्य समूहस्य, शोकजनितं—शोकेन भर्तृवियोगदुःखेन जनितं समुत्पन्नं, वक्षस्ताडनभिन्नरत्नवलयं—वक्षस उरसः यानि ताडनानि आघाताः तैः भिन्नानि भग्नानि रत्नवलयानि मणिनिर्मित-कटकानि यस्मिन् तादृशम्, भ्रष्टोत्तरीयांशुकं—भ्रष्टं स्वस्थानाच्च्युतमुत्तरीयांशुक-मुत्तरीयवस्त्रं यस्मिन् तादृशं, भूरेणुरूक्षालकं—भुवः भूम्याः रेणवः धूलयः ताभिः रूक्षाः अस्निग्धाः अलकाः चूर्णकुन्तलाः यस्मिन् तादृशम्, हाहेत्युच्चरितार्तनादक-रुणं—हा हा इति अनेन प्रकारेण उच्चरितः उद्गतः यः आर्तनादः दीनस्वरः तेन करुणं हृदयविदारणं, तादृक्—तथाविधम्, अवस्थान्तरं—दशान्तरं, सम्प्रति—अधुना, शत्रुस्त्रीषु—अरिवधूषु, विधाय—कृत्वा, मया—मलयकेतुना, गुरवे—पित्रे निवापाञ्जलिः—निवापस्य पितृदानस्य अञ्जलिमितं जलम्, देयः—समर्पणीयः ॥५॥

हिन्दी अनुवाद—[आकाश में] आर्यगण ? क्या कह रहे हो, किस कारण (लोगों को) हटाया जा रहा है ? आर्यवृन्द ! ये कुमार मलयकेतु उत्पन्न शिरोवेदना वाले अमात्य राक्षस को देखने के लिए यहीं आ रहे हैं। इस कारण हटाया जा रहा है।

[पुरुष निकल जाता है।]

[तब भागुरायण और कंचुकी से अनुसरण किया जाता हुआ मलयकेतु प्रवेश करता है।]

मलयकेतु—[**साँस खींचकर मन में**] पिताजी को मरे आज दसवाँ महीना है। व्यर्थ में पुरुषत्व को ढोते हुए हमने उनके उद्देश्य से जलांजलि भी अर्पित नहीं की। अथवा पहले यह प्रतिज्ञा की थी—

माताओं के शोक से उत्पन्न छाती पीटने के कारण टूटे हुए रत्न-कंकणों वाली, गिरे हुए उत्तरीय वस्त्र वाली, धरती की धूलों से रूखे बालों वाली और हाय-हाय इस प्रकार उच्चारण किये गये दीनस्वर के कारण हृदयविदारक—ऐसी भिन्न दशा (अर्थात् दुर्दशा) को वैरियों की स्त्रियो (के भाग्य) में (बदल) करके मुझे पिता का श्राद्ध-तर्पण करना है ॥५॥

टिप्पणी—अपसारणा—हटाना। अप√सृ+णिच्+युच्—अन, टाप्। समुत्पन्नशीर्षवेदनम्—समुत्पन्ना सञ्जाता शीर्षे शिरसि वेदना पीड़ा यस्य सः समुत्पन्नशीर्षवेदनः त्रिपदव्यधिकरणबहुव्रीहि स०, तम्। उपरतस्य—मृतस्य। तातस्य—अत्र शेषे षष्ठी। तातस्य सम्बन्धे इत्यर्थः। दशमः—दशानां पूरणः इति दशन्+डट्, तस्य मडागमः। तोयाञ्जलिः तोयस्य अञ्जलिः अञ्जलिमितं जलमित्यर्थः। आवर्जितः—दत्तः। आ√वृज्+णिच्+क्त कर्मणि। अलक—सिर के बाल, केशपाश। तादृक्—तद्√दृश्+क्विन् कर्त्तरि। अवस्थान्तरम्—अन्या अवस्था अवस्थान्तरम् मयूरव्यंसकादित्वात् नित्यसमासः। निवापाञ्जलिः—श्राद्धतर्पणमित्यर्थः। इस श्लोक में असम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूप निदर्शना अलंकार है। इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है। इस छन्द का लक्षण १, १२ में देखिए ॥५॥

तत् किमिह बहुना ?

उद्यच्छता धुरमकापुरुषानुरूपां।
गन्तव्यमाजिनिधनेन पितुः पथा वा।

आच्छिद्य वा स्वजननीजनलोचनेभ्यो
नेयो मया रिपुवधूनयनानि वाष्पः ॥ ६ ॥

अन्वय —अकापुरुषानुरूपां धुरम् उद्वच्छता मया पितुः पथा वा आजिनिधनेन गन्तव्यम्, वाष्पो वा स्वजननीजनलोचनेभ्यः आच्छिद्य रिपुवधूनयनानि नेयः ॥६॥

व्याख्या—अकापुरुषानुरूपाम्—अकापुरुषस्य वीरस्य अनुरूपां योग्या, धुरं—भारम्, उद्वच्छता—वहता, मया, पितुः—जनकस्य, पथा—मार्गेण, वा—अथवा, आजिनिधनेन—आजौ संग्रामे निधनं मरणं तेन, गन्तव्यं—प्रस्थातव्यम्, वाष्पो वा—नेत्रजलं वा, स्वजननीजनलोचनेभ्यः—स्वस्य आत्मनः जननीजनस्य मातृसमूहस्य लोचनेभ्यः नेत्रेभ्यः, आच्छिद्य—गृहीत्वा, रिपुवधूनयनानि—शत्रुस्त्रीनेत्राणि, नेयः—प्रापणीयः ॥ ६ ॥

हिन्दी अनुवाद—इसलिए इस विषय में बहुत कहने से क्या (लाभ) ?
वीर पुरुष के योग्य भार का वहन करते हुए मुझे पिता के मार्ग से या संग्राम में मृत्यु के द्वारा जाना चाहिए अथवा अपनी माताओं की आँखों से छीनकर शत्रु-वनिताओं की आँखों में आँसू को पहुँचा देना चाहिए ॥ ६ ॥

टिप्पणी—अकापुरुषानुरूपाम्—रूपम् अनुगता अनुरूपा । कुत्सित पुरुषः कापुरुष वा कुपुरुष 'विभाषा पुरुषे' इत्यनेन कादेशस्य विकल्पात् । न कापुरुषः अकापुरुषः विरोधार्थे नञ्समासः । तस्य अनुरूपा, ताम् । उद्वच्छता—वहन करते हुए । उद्√यम्+शतृ । अत्र 'समुदाङ्भ्योऽयमोऽग्रन्थे' इत्यनेन आत्मनेपदस्य दुर्वारत्वेऽपि 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' इत्यनेन परस्मैपदम् । वा—विकल्पार्थक अव्यय । स्वजननीजनलोचनेभ्यः—अत्र 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' इत्यनेन पञ्चमी । इस श्लोक में विकल्प अलंकार है और वसन्ततिलका छन्द है । इस छन्द का लक्षण १, ८ में देखिए ॥ ६ ॥

[प्रकाशम्] आर्य जाजले । उच्यन्तामस्मद्वचनादनुयायिनो राजानः —'एक एवाहममात्यराक्षसस्यातर्कितागमनेन प्रीतिमुत्पादयितुमिच्छामि, अतः कृतमनुगमनक्लेशेने' ति ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति कुमारः । [परिक्रम्याकाशे] भो भो राजानः ! कुमारः समाज्ञापयति—'न खल्वहं केनचिदनुगन्तव्य' इति । [विलोक्य

सहर्षम्] कुमार ! कुमार ! एते भवदाज्ञासमनन्तरमेव प्रतिनिवृत्ताः सर्व एव राजानः । पश्यतु कुमारः—

सोत्सेधैः स्कन्धदेशैः खरतरकविकाकर्षणात्यर्थभुग्नै-
रश्वाः कैश्चिन्निरुद्धाः खमिव खुरपुटैः खण्डयन्तः पुरस्तात् ।
केचिन्मातङ्गमुख्यैर्विहृतजवतया मूकघण्टैर्निवृत्ताः
मर्यादां भूमिपाला जलधय इव ते देव नोल्लङ्घयन्ति ।। ७ ।।

अन्वयः—कैश्चित् खुरपुटैः पुरस्तात् खं खण्डयन्तः इव अश्वाः खरतरकविकाकर्षणात्यर्थभुग्नैः सोत्सेधैः स्कन्धदेशैः निरुद्धाः । केचित् विहृतजवतया मूकघण्टैः मातङ्गमुख्यैः निवृत्ताः । देव ! जलधय इव भूमिपालाः ते मर्यादां न उल्लङ्घयन्ति ।। ७ ।।

व्याख्या—कैश्चित्—भूपालैः, खुरपुटैः—शफाग्रभागैः, पुरस्तात्—अग्रे, खम्—आकाशम्, खण्डयन्तः इव—चूर्णयन्तः इव, अश्वाः—घोटकाः, खरतरकविकाकर्षणात्यर्थभुग्नैः—खरतराः अतितीक्ष्णाः याः कविकाः खलीनाः तासां कर्षणैः सग्रहैः अत्यर्थम् अतिशयम् भुग्नैः कुटिलैः, सोत्सेधैः—उन्नतैः, स्कन्धदेशैः—ग्रीवाप्रदेशैः, निरुद्धाः—अवरुद्धाः । केचित्—इतरे राजानः, विहृतजवतया—विहृतः निरुद्धः जवः वेगः येषां तथाविधतया, मूकघण्टैः—मूकाः निःशब्दाः घण्टाः गलघण्टाः, येषां तैः, मातङ्गमुख्यैः—गजेन्द्रैः, निवृत्ताः—गमनविरताः । देव !—महाराज !, जलधय इव—समुद्रा इव, भूमिपालाः—नृपाः, ते—तव, मर्यादाम्—आज्ञां (समुद्रपक्षे वेलां), न उल्लङ्घयन्ति—न अतिक्रामन्ति ।। ७ ।।

हिन्दी अनुवाद—[प्रकट] आर्य जाजलि ! हमारी ओर से अनुगमन करने वाले राजाओ से कहो कि मैं अकेला ही अमात्य राक्षस के पास सहसा उपस्थित होकर प्रीति को उत्पन्न करना चाहता हूँ। इसलिए पीछे-पीछे चलने का कष्ट करना व्यर्थ है।

कञ्चुकी—कुमार की जो आज्ञा । [घूमकर आकाश में] हे राजवृन्द ! कुमार आज्ञा देते है कि मेरे पीछे-पीछे कोई न आवे [देखकर हर्षपूर्वक] कुमार ! कुमार ! ये सभी राजा लोग आपकी आज्ञा पाते ही लौट गए । कुमार देखे—

कुछ राजाओं ने खुरो के अग्रभागो से सामने आकाश को मानों चूर्ण करते

हुए तथा अत्यत तीक्ष्ण लगामो के खीचने से अत्यधिक टेढ और (इसीलिए) समुन्नत हो उठने वाले ग्रीवाभागो से युक्त अश्वो को रोक लिया। कतिपय राजगण वेग के रोक देने के कारण नि शब्द घटे वाले गजराजो के साथ लौट पड़। महाराज ! समुद्र के समान राजा लोग आपकी आज्ञा का उल्लघन नही करते हैं ॥ ७ ॥

टिप्पणी—अतर्कितागमनेन—सहसोपस्थित्या। √तर्क् + णिच् स्वार्थे + क्त कर्मणि = तर्कितम् न तर्कितम् नञ्तत्० । तादृश गमनम् कर्मधारय स०, तन । कृतम्—अलम्। अस्य योगे 'अनुगमनक्लेशेन' इत्यत्र तृतीया। पुरस्तात्—अव्ययमेतत्। पूर्वस्मिन् देशे इति पूर्व + टि—अस्तानि स्वार्थे। अतिशयेन खरम् इति खरतरम्। √भुज् + क्त कर्त्तरि = भुग्न। सोत्सेधै —उद् √सिध् + घञ् भावे = उत्सेध. = उच्छ्राय। तेन सह इति सोत्सेधा, तै.। स्कन्धदेशैः —अत्र इत्यम्भूतलक्षणे तृतीया। निरुद्धा —नि √रुध् + क्त कर्मणि। मातङ्गमुख्यै — मातङ्गाना मुख्या षष्ठीतत्० वा मातङ्गेषु मुख्या सुप्सुपा स०, तै । निवृत्ता— नि √वृत् + क्त कर्तरि। भूमिपाला —भूमि पालयन्ति इति भूमि √पाल् + णिच् + अण् कर्तरि। इस श्लोक मे स्वभावोक्ति अलकार, उत्प्रेक्षा और उपमा अलकारो से ससृष्ट है। इसमे स्रग्धरा छन्द है। इस छद का लक्षण १, १ में देखिए ॥७॥

मलयकेतु —आर्य जाजले ! त्वमपि सपरिजनो निवर्तस्व। भागुरायण एको मामनुगच्छतु।

कचुकी—यदाज्ञापयति कुमार ।

[इति सपरिजनो निष्क्रान्त]

मलयकेतु —सखे भागुरायण ! विज्ञापितोऽहमिहागच्छद्भिर्भद्रभटप्रभृतिभि , यथा—'न वयममात्यराक्षसद्वारेण कुमारमाश्रयणीयमाश्रयामहे, किन्तु कुमारस्य सेनापति शिखरसेनमुरीकृत्य दुष्टामात्यपरिगृहीतात् चन्द्रगुप्तादपरक्ता सन्त कुमारमाभिरामिकगुणयोगादाश्रयणीयमाश्रयामह' इति। तन्मया सुचिरमपि विचारयता तेषा न वाक्यार्थोऽधिगत ।

भागुरायण —कुमार ! नायमत्यन्तदुर्बोधोऽर्थ । पश्य, विजिगीषुमात्मगुणसम्पन्न प्रियहितद्वारेणाश्रयणीयमाश्रयेदि' ति ननु न्याय्य एवायम्।

मलयकेतुः—सखे भागुरायण ! नन्वस्माकममात्यराक्षसः प्रियतमो हिततमश्च ।

हिन्दी अनुवाद—मलयकेतु—आर्य जाजलि ! तुम भी परिजनों के साथ लौट जाओ । अकेला भागुरायण मेरे पीछे-पीछे आवे ।

कंचुकी—कुमार की जो आज्ञा ।

[अनुचरों के साथ चला जाता है ।]

मलयकेतु—मित्र भागुरायण ! यहाँ आये हुए भद्रभट आदियो ने मुझसे कहा कि हम लोग अमात्य राक्षस के द्वारा आश्रय के योग्य कुमार का आश्रय नही ले रहे है, किन्तु कुमार के सेनापति शिखरसेन (की बातों) को स्वीकार करके दुष्ट अमात्य चाणक्य के वशीभूत चन्द्रगुप्त से विरक्त होकर उत्तम गुणों से विभूषित होने के कारण कुमार का आश्रय ले रहे है । सो मैने चिरकाल तक सोचने पर भी उनके वाक्य का तात्पर्य नही समझा ।

भागुरायण—कुमार ! यह तात्पर्य दुर्बोध नहीं है । देखिए, जीतने के इच्छुक, आतमा के गुणों (पराक्रम, उत्साह आदि) से सम्पन्न और आश्रय के योग्य का आश्रय प्रिय एवं हितचिन्तक व्यक्ति के द्वारा ग्रहण करना चाहिए ।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण ! आमात्य राक्षस तो हमारे अत्यन्त प्रिय एवम् अत्यन्त हितचिन्तक हैं ।

टिप्पणी—विज्ञापितः—निवेदितः । आमात्यराक्षसद्वारेण—अमात्य-राक्षस एव द्वारम्, तेन, करणे तृतीया । आश्रयणीयम्—सेवनीयम् । आश्रयामहे—सेवामहे । ऊरीकृत्य—स्वीकृत्य । ऊरी√कृ+क्त्वा—ल्यप्, 'ऊर्यादिच्विडाचश्च' इत्यनेन गतिसंज्ञा, 'कुगतिप्रादयः' इत्यनेन गतिसमासः । आभिरामिकगुणयोगात्—प्रशस्तगुणभूषितत्वात् । अभि समन्तात् रमयति इति अभि √रम्+णिच्+अच् कर्तरि=अभिरामम् । तत् शीलमस्य इति अभिराम+ठक्—इक=आभिरामिकम् । तस्य गुणाः । तैः योगः, तस्मात् । हेतौ पञ्चमी । विजिगीषुम्—विजयाभिलाषिणम् । विजेतुम् इच्छुः विजिगीषुः वि√जि+सन्, द्वित्वादि+उ, तम् । प्रियहितद्वारेण—प्रियश्चासौ हितः प्रियहितः । स एव द्वारम् उपायः, तेन ।

भागुरायण —कुमार ! एवमेतत्, किन्तु अमात्यराक्षसश्चाणक्ये बद्धवैरो न तु चन्द्रगुप्ते,तद्यदि कदाचिच्चन्द्रगुप्तश्चाणक्यमतिजितकाशिनमसहमान साचिव्यादवरोपयेत्, ततो नन्दकुलभक्त्या नन्दान्वय एवायमिति कृत्वा, सुहृज्जनापेक्षया च, अमात्यराक्षसश्चन्द्रगुप्तेन सह सन्दधीत । चन्द्रगुप्तोऽपि पितृपारम्पर्यागत एवायमिति गत्वा सन्धिमनुमन्येत । एव सत्यस्मास्वपि कुमारो न विश्वसेदित्ययमेषा वाक्यार्थ ।

मलयकेतु —युज्यते । सखे भागुरायण ! अमात्यराक्षसस्य गृहमार्ग मादेशय ।

भागुरायण —इत इत कुमार । [इत्युभौ परिक्रामत ।] कुमार ! इदमात्यराक्षसस्य गृह, प्रविशतु कुमार ।

मयलकेतु —एप प्रविशामि । [इत्युभौ प्रवेशन नाटयत ।]

राक्षस —[आत्मगतम्] आ स्मृतम् ।' [प्रकाशम्-] भद्र ! अपि दृष्टस्त्वया कुसुमपुरे वैतालिक स्तनकलस ?

करभक —अमच्च ! अव इ ? (अमात्य ! अथ किम् ?)

मलयकेतु —सखे भागुरायण ! कुसुमपुरवृत्तान्त प्रस्तूयते । तन्नोपसर्पाव , शृणुवस्तावत्—

> सत्त्वभङ्गभयाद्राज्ञा कथयन्त्यन्यथा पुर ।
> अन्यथा विवृतार्थपु स्वैरालापेषु मन्त्रिण ॥८॥

अन्वय —मन्त्रिण राज्ञा पुर सत्त्वभङ्गभयात् अन्यथा कथयन्ति, विवृतार्थेपु स्वैरालापेषु अन्यथा ॥८॥

व्याख्या—मन्त्रिण —अमात्या , राज्ञा—नृपाणा, पुर —अग्रे, सत्त्वभङ्गभयात्—सत्त्वस्य मनस प्रभावस्य वा भङ्ग नाश तस्य भयात् भीत्या, अन्यथा—प्रकारान्तरेण, कथयन्ति—वदन्ति, विवृतार्थेपु—विवृत प्रकटीकृत अर्थ तात्पर्यं येषु ताहशेपु, स्वैरालापेषु—स्वच्छन्दभाषणेषु, अन्यथा—अन्यप्रकारेण (कथयन्ति) ॥८॥

हिन्दी अनुवाद—भागुरायण—कुमार ! यह ऐसा ही है । किन्तु अमात्य राक्षस का वैर चाणक्य से बँधा हुआ है न कि चन्द्रगुप्त से, इसलिए यदि

कदाचित् अत्यन्त अभिमानी चाणक्य को सहन न करता हुआ चन्द्रगुप्त (उसे) मन्त्रि-पद से च्युत कर दे, तदनन्तर नन्द-वंश की भक्ति के कारण यह नन्द-वंश का ही है—यह समझकर तथा (चन्दनदास आदि) मित्रों की अपेक्षा के कारण अमात्य राक्षस चन्द्रगुप्त के साथ सन्धि कर ले, और चन्द्रगुप्त भी पितृ-परम्परा से आया हुआ ही यह है—यह सोचकर सन्धि का अनुमोदन करे तो ऐसी स्थिति में हम लोगों पर भी कुमार विश्वास न करें—यह इनके वाक्य का तात्पर्य है।

मलयकेतु—ठीक है। मित्र भागुरायण! अमात्य राक्षस के घर का मार्ग बताओ।

भागुरायण—इधर से कुमार (आवें) इधर से। [दोनों घूम जाते हैं।] कुमार! यह अमात्य राक्षस का घर है, कुमार प्रवेश करें।

मलयकेतु—यह प्रवेश करता हूँ। [दोनों प्रवेश करने का अभिनय करते हैं।]

राक्षस—[मन में] ओह! स्मरण आ गया। [प्रकट] भद्र! क्या तुम कुसुमपुर में वैतालिक स्तनकलस से मिले थे?

करभक—अमात्य! और क्या?

मलयकेतु—मित्र भागुरायण! कुसुमपुर का वृत्तान्त चल रहा है। इसलिए हम दोनों समीप नहीं जाते, (यहीं से) तब तक सुनते हैं—

मंत्री लोग प्रभाव के नष्ट हो जाने के भय से राजाओं के सामने (किसी बात को) दूसरे ढंग से कहते है और प्रकट तात्पर्य वाली स्वच्छन्द बातचीतों में अन्य प्रकार से (कहते हैं) ॥८॥

टिप्पणी—एवमेतत्, किन्तु—भागुरायण चाणक्य का गुप्तचर है। वह राक्षस और मलयकेतु में फूट डालना चाहता है। फूट या भेद का लक्षण यह है—'स्नेहापरागानयनं संघर्षोत्पादनं तथा। संतर्जनं च भेदज्ञैर्भेदस्तु त्रिविधः स्मृतः॥' यहाँ भागुरायण ने 'स्नेहापरागानयन' भेद का प्रयोग किया है। **बद्धवैरः**—धृतविद्वेषः। बद्धं वैरं येन स बद्धवैरः। **अतिजितकाशिनम्**—अनल्पमदशालिनम्। अतिजितेन अतिजयेन काशते तच्छीलः इति अतिजित✓

काश्+णिनि कर्तरि ताच्छील्ये=अतिजितकाशी, तम् । साचिव्यात्—मन्त्रिपदात् । अवरोपयेत्—च्यावयेत् । अव√रुह्+णिच्, हृस्य प +लिङ्—यात् । नन्दकुलभक्त्या राक्षस नन्दवंश के भक्त हैं और चन्द्रगुप्त नन्द का पुत्र है, इसलिए संभव है कि राक्षस चन्द्रगुप्त के प्रति आकृष्ट हो जायँ। सुहृज्जनापेक्षया—अत्र हेतौ तृतीया। राक्षस के मित्र चन्दनदास सपरिवार कारागार मे हैं और भी उनके कतिपय मित्र संकट मे हैं। इसलिए चन्द्रगुप्त से उनका संधि कर लेना कोई आश्चर्य की बात नही है। सन्दधीत—सन्धिं कुर्यात्। यदि अपसारयेत् तदा सन्दधीत इति विवक्षाया हेतुहेतुमद्भावात् लिङ्। सन्धिम्—सम्√धा+कि भावे=सन्धि, तम्। विश्वसेत्—वि√श्वस्+लिङ्—यात्। अत्र सम्भावनायां लिङ्। श्वस् धातु अदादिगणीय है। इसलिए, यहाँ 'विश्वस्यात्' रूप होना चाहिए, किन्तु 'गणकार्यमनित्यम्' इस नियम के बल से यहाँ अदादिगणीय कार्य न होकर भ्वादिगणीय कार्य हुआ। युज्यते—√युज् (दिवादि)+लट्—ते कर्तरि। शृणुमस्तावत्—भागुरायण ने मलयकेतु के मन में राक्षस के प्रति सन्देह का अंकुर उत्पन्न कर दिया है, इसलिए वह छिपकर राक्षस की बातचीत सुनना चाहता है। स्वैरालापेषु—आ√लप्+घञ् भावे=आलापा। स्वैरा आलापा कर्मधारय स०, तेषु। इस श्लोक मे काव्यलिंग अलंकार है और अनुष्टुप् छन्द है। इसका लक्षण १, ३ में देखिए ॥ ८ ॥

भागुरायण —यदाज्ञापयति कुमार ।

राक्षस —भद्र ! अपि तत् कार्यं सिद्धम् ?

करभक —अमच्चस्स प्पसाएण सिद्धम् । (अमात्यस्य प्रसादेन सिद्धम् ।)

मलयकेतु —सखे भागुरायण ! किं तत् कार्यम् ?

भागुरायण —कुमार ! गहनः खलु सचिववृत्तान्तो नैतावता परिच्छेत्तुं शक्यते । अवहितस्तावच्छृणु ।

राक्षस —विस्तरेण श्रोतुमिच्छामि ।

करभक —सुणादु अमच्चो, अत्थि दाव अहं अमच्चेणाणत्तो, जधा—

'करभअ ! कुसुमपुरे गच्छिअ भणिदव्बो मम वअणेण तुए वैआलिओ त्थणकलसो, जधा—'चाणक्कहदएण तेसु तेसुं अण्णाभङ्गेसुं अणुचिट्ठीअमाणेसुं चन्दउत्तो समुत्तेअणसमत्थेहिं सिलोएहिं उबसिलोअइदब्बो' त्ति। (शृणोत्वमात्यः, अस्ति तावदहममात्येनाज्ञप्तो यथा—'करभक ! कुसुमपुरं गत्वा मम वचनेन त्वया भणितव्यो वतालिकः स्तनकलसः, यथा—'चाणक्यहतकेन तेषु तेषु आज्ञाभङ्गेषु अनुष्ठीयमानेषु चन्द्रगुप्तः समुत्तेजनसमर्थैः श्लोकैरुपश्लोकयितव्यः' इति ।)

राक्षसः—ततस्ततः ?

करभकः—तदो मए पाडलिउत्तं गच्छिअ सुणाविदो अमच्चस्स सन्देसं वैआलिओ त्थणकलसो । (ततो मया पाटलिपुत्रं गत्वा श्रावितोऽमात्यस्य सन्देशं वैतालिकः स्तनकलसः ।)

राक्षसः—ततस्ततः ?

करभकः—एत्थन्तरे णन्दकुलविणासदुम्मणस्स पोरजणस्स परिओसं सम्मुप्पाअन्तेण चन्दउत्तेण आघोसिदो कुसुमउरे कौमुदीमहोसबो । सोबि चिरआलपबत्तमाणो जणिदपरिओसो अहिमदबन्धुजणसमागमो बिअ, ससिणेहं बहुमाणिदो णअरजणेण । (अत्रान्तरे नन्दकुलविनाशदुर्मनसः पौरजनस्य परितोषं समुत्पादयता चन्द्रगुप्तेनाघोषितः कुसुमपुरे कौमुदीमहोत्सवः । सोऽपि चिरकालप्रर्वतमानो जनितपरितोषः अभिमतबन्धुजनसमागम इव सस्नेहं बहुमानितो नगरजनेन ।)

हिन्दी अनुवाद—भागुरायण—कुमार की जो आज्ञा ।

राक्षस—भद्र ! क्या वह कार्य सिद्ध हुआ ?

करभक—अमात्य की कृपा से सिद्ध हो गया ।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण ! वह कौन कार्य है ?

भागुरायण—कुमार ! दुर्ज्ञेय अमात्य का वृत्तान्त इतने से निश्चित नहीं किया जा सकता ।

राक्षस—विस्तार से सुनना चाहता हूँ ।

करभक—अमात्य सुनें । आपने मुझे आज्ञा दी थी कि—करभक ! कुसुमपुर

में जाकर, तुम मेरी ओर से वैतालिक स्तनकलस से कहना कि 'दुष्ट चाणक्य के द्वारा उन-उन आज्ञा-भगो के किये जाने पर (तुम्हें) उत्तेजित करने में समर्थ श्लोकों से चन्द्रगुप्त की स्तुति करनी चाहिए'।

राक्षस—तब तब ?

करभक—तब मैंने पाटलिपुत्र मे जाकर अमात्य का सदेश वैतालिक स्तनकलस को सुना दिया।

राक्षस—तब तब ?

करभक—इस बीच नन्दवश के विनाश से खिन्न पुरवासियो को सन्तुष्ट करते हुए चन्द्रगुप्त ने कुसुमपुर मे कौमुदीमहोत्सव (मनाये जाने) की घोषणा करवा दी। चिरकाल मे चले आते हुए और आनन्द उत्पन्न करने वाले उस (कौमुदीमहोत्सव) का भी नागरिकों ने अभीष्ट वधु के आगमन के समान स्नेहपूर्वक अभिनन्दन किया।

टिप्पणी—अस्ति तावत्—यहाँ 'अस्ति' एक अव्यय है। श्रावित—स्तनकलश अमात्यसन्देश श्रुतवान् = अहं स्तनकलशम् अमात्यसन्देशं श्रावितवान्—मया स्तनकलश अमात्यसन्देशं श्रावित। 'गतिबुद्धि—' सूत्रेणात्र कर्मसंज्ञा—द्वितीया। नन्दकुलविनाशदुर्मनस- नन्दाना कुलानि नन्दकुलानि तेषा विनाश नन्दकुलविनाश। तेन दु दुष्ट खिन्नमित्यर्थ मनो यस्य स नन्दकुलविनाशदुर्मना', तस्य। चिरकालप्रवर्तमान—प्र√वृत्+शानच् कर्तरि=प्रवर्तमान। चिर काल। चिरकाल प्रवर्तमान द्वितीयातत्०। अत्र अत्यन्तसंयोगे द्वितीया, 'अत्यन्तसंयोगे च' इत्यनेन समास'।

राक्षस—[सबाष्पम] हा देव नन्द !—

> कौमुदी कुमुदानन्दे जगदानन्दहेतुना
> कीदृशी सति चन्द्रेऽपि नृपचन्द्र त्वया विना ॥ ९ ॥

अन्वय—नृपचन्द्र ! कुमुदानन्दे चन्द्रे सति अपि जगदानन्दहेतुना त्वया विना कौमुदी कीदृशी ? ॥ ९ ॥

व्याख्या—नृपचन्द्र !—हे चन्द्रतुल्यभूपाल !, कुमुदानन्दे—कुमुदाना कैरवाणाम् आनन्दे हर्षवर्धके, चन्द्रे—चन्द्रमसि, सति अपि—विद्यमानेऽपि,

मलयकेतुः—एवमेतत् ।

राक्षसः—ततस्ततः ?

करभकः—तदो चन्दउत्तेण आणाभङ्गकलुसिदहिअएण सुइरं अमच्चगुणं प्पसंसिअ प्पब्भंसिदो अहिआरादो चाणक्कहदओ । (ततश्चन्द्रगुप्तेनाज्ञाभङ्गकलुषितहृदयेन सुचिरममात्यगुणं प्रशस्य प्रभ्रंशितोऽधिकारात् चाणक्यहतकः ।)

मलयकेतुः—सखे भागुरायण ! गुणप्रशंसया दर्शितश्चन्द्रगुप्तेन राक्षसे भक्तिपक्षपातः ।

भागुरायणः—कुमार ! न तथा गुणप्रशसया यथा चाणक्यवटोर्निराकरणेन ।

राक्षसः—भद्र ! किमयमेवैकः कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधश्चन्द्रगुप्तस्य चाणक्यं प्रति कोपकारणमुतान्यदप्यस्ति ?

मलयकेतुः—सखे भागुरायण ! चन्द्रगुप्तस्य अपरकोपकारणान्वेषणे किं फलमेष पश्यति ?

भागुरायणः—कुमार ! एतत् फलं पश्यति—'अतिमन्त्रिमान् चाणक्यो निष्प्रयोजनमेव किमिति चन्द्रगुप्त कोपयिष्यति ? न च कृतवेदी चन्द्रगुप्त एतावता गौरवमुल्लङ्घयिष्यति । सर्वथा चाणक्यचन्द्रगुप्तयोः पुष्कलात् कारणाद् यो विश्लेष उत्पद्येत, स आत्यन्तिको भविष्यति' इति ।

हिन्दी अनुवाद—मलयकेतु—यह ऐसा ही है ।

राक्षस—तब क्या हुआ ?

करभक—तब आज्ञा-भंग होने के कारण अप्रसन्न चित्त वाले चन्द्रगुप्त ने बहुत देर तक आपके गुण की प्रशंसा करके चाणक्य को अधिकार से च्युत कर दिया ।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण ! गुण की प्रशसा के द्वारा चन्द्रगुप्त ने राक्षस के प्रति (अपनी) भक्ति का पक्षपात दिखलाया ।

भागुरायण—कुमार ! गुण की प्रशसा के द्वारा उतना नही जितना कि दुष्ट चाणक्य को हटाने के द्वारा।

राक्षस—भद्र ! क्या यही एक कौमुदीमहोत्सव का रोका जाना चन्द्रगुप्त का चाणक्य के प्रति क्रोध का कारण है या और भी है ?

मलयकेतु—मित्र भागुरायण ! चन्द्रगुप्त के दूसरे क्रोध के कारण के अन्वेषण मे क्या लाभ देखते हैं ?

भागुरायण—कुमार ! यह लाभ देखते हैं—'अत्यत बुद्धिमान् चाणक्य विना प्रयोजन के ही चन्द्रगुप्त को क्यों कुपित करेगा ? कृतज्ञ चन्द्रगुप्त भी इतने से (चाणक्य की) प्रतिष्ठा का उल्लंघन नही करेगा। सब प्रकार से परिपुष्ट कारण होने से चाणक्य और चन्द्रगुप्त म जो फूट पडेगा, वह आत्यन्तिक (स्थायी) होगा'।

टिप्पणी—आज्ञाभङ्गकलुषितहृदयेन—कलुष कृतम् इति कलुष+णिच् (नामधातु)+क्त कर्मणि=कलुषितम्। आज्ञाभङ्गेन कलुषितम् तथाविध हृदयम् यस्य स, तेन। भक्तिपक्षपात —भक्त पक्षपात चन्द्रगुप्तस्य भक्ति-रासने पक्षपातिनी न चाणक्य इत्यथ। निराकरणेन—हटाने स। निर्+आ√कृ+ल्युट्—अन भाव। मतिमान्—प्रशस्ता मति अस्ति अस्य इति मति+मतुप्। कृतवेदी—कृतम् उपकृतम् वेत्ति इति कृत√विद्+णिनि ताच्छीलिके कर्तरि=कृतवेदी=कृतज्ञ। आत्यन्तिक —प्रवृद्ध प्रतीकारायोग्य इत्यर्थ। अतिगतम् अन्तम् अत्यन्तम्। अत्यन्ते भव इति अत्यन्त+ठञ्—इक=आत्यन्तिक।

करभक —अमच्च ! अत्थि अण्णदपि चन्दउत्तस्स कोवकारण चाणक्के। (अमात्य ! अस्त्यन्यदपि चन्द्रगुप्तस्य कोपकारण चाणक्ये।)

राक्षस —किं किम् ?

करभक —जधा पढम दाव उवेक्खिदो अणेण अवक्कमन्तो कुमारो मलयकेदू अमच्चरक्खसो अ। (यथा प्रथम तावदुपेक्षितोऽनेन अपक्रामन् कुमारो मलयकेतु अमात्यराक्षसश्च।)

राक्षस —[सहर्षम्] सखे शकटदास ! हस्ततलगतो मे चन्द्रगुप्तो

भविन्यति। इदानीं चन्दनदासस्य बन्धनान्मोक्षः, तव च पुत्रदारैः सह समागमः, जीवसिद्धिप्रभृतीनां क्लेशच्छेदः।

भागुरायणः—[**आत्मगतम्**] जातः सत्यं जीवसिद्धेः क्लेशच्छेदः।

मलयकेतुः—सखे भागुरायण! 'हस्ततलगतो मे सम्प्रति चन्द्रगुप्तो भविष्यति' इति व्याहरतः कोऽयमस्याभिप्रायः?

भागुरायणः—किमन्यत्? चाणक्यादपकृष्टस्य चन्द्रगुप्तस्योद्धरणान्न किञ्चित्कार्यमवश्यं पश्यति।

राक्षसः—भद्र! हृताधिकारः साम्प्रतं क्वासौ वटुः?

करभकः—तहिं ज्जेब पाडलिपुत्ते प्पडिवसदि। (तस्मिन्नेव पाटलिपुत्रे प्रतिवसति।)

राक्षसः—[**सावेगम्**] भद्र! तत्रैव प्रतिवसति, न तपोवनं गतः, प्रतिज्ञां वा न पुनः समारूढवान्?

करभकः—अमच्च! तपोवणं गमिस्सदि त्ति सुणीअदि। (अमात्य! तपोवनं गमिष्यतीति श्रूयते।)

राक्षसः—[**सावेगम्**] शकटदास! नेदमुपपद्यते। पश्य—

हिन्दी अनुवाद—करभक—अमात्य! चाणक्य के प्रति चन्द्रगुप्त के क्रोध का कारण और भी है।

राक्षस—क्या क्या?

करभक—जैसे, पहले तो इसने भागते हुए कुमार मलयकेतु और अमात्य राक्षस की उपेक्षा की।

राक्षस—[**हर्ष के साथ**] मित्र शकटदास! चन्द्रगुप्त मेरे हाथ में आ जाएगा। अब चन्दनदास को बंधन से छुटकारा मिल जाएगा। तुम्हारा पुत्र और स्त्री से मिलन होगा और जीवसिद्धि आदि के दुःखो का अन्त हो जाएगा।

भागुरायण—[**मन में**] जीवसिद्धि के दुःखों का अन्त तो सचमुच हो गया।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण ! 'अब चन्द्रगुप्त मेरे हाथ में आ जाएगा' ऐसा कहते हुए इसका क्या तात्पर्य है ?

भागुरायण—और क्या ? चाणक्य से अलग हुए चन्द्रगुप्त के उन्मूलन से किसी प्रयोजन को (यह) अवश्य नहीं देखता है।

राक्षस—भद्र ! अधिकार से वंचित वह वटुक (चाणक्य) इस समय कहाँ है ?

करभक—उसी पाटलिपुत्र में रह रहा है।

राक्षस—[आवेग के साथ] भद्र ! वहीं रह रहा है ? तपोवन नहीं गया ? या फिर प्रतिज्ञा नहीं की ?

करभक—अमात्य ! तपोवन जाएगा, ऐसा सुना जाता है।

राक्षस—[आवेग के साथ] शकटदास ! यह युक्तिसंगत नहीं है। देखो—

टिप्पणी—हस्तलगत —करतलप्राप्त । हस्तस्य तलम् षष्ठीतत्० । तत् गत द्वितीयातत्० । अपकृष्टस्य—दूरीभूतस्य । उद्धरणात्—समुच्छेदात् । किञ्चित् कार्यम्—कामपि स्वार्थसिद्धि । न पश्यति—न उत्प्रेक्षते । हृताधिकार —हृत दूरीकृत अधिकार नियोग यस्य स हृताधिकार बहुव्रीहि स० ।

देवस्य येन पृथिवीतलवासवस्य
स्वाऽग्रासनापनयजा निकृतिर्न सोढा ।
सोऽयं स्वयङ्कृतनराधिपतेर्मनस्वी
मौर्यात्कथं नु परिभूतिमिमां सहेत ? ॥ ११ ॥

अन्वय—येन पृथिवीतलवासवस्य देवस्य स्वाग्रासनापनयजा निकृति न सोढा, स अयं मनस्वी स्वयङ्कृतनराधिपते मौर्यात् इमां परिभूतिं कथं नु सहेत ? ॥११॥

व्याख्या—येन—चाणक्येन, पृथिवीतलवासवस्य—पृथिव्या तले महीपृष्ठे वासव इन्द्र इव तस्य, देवस्य—नन्दस्य, स्वाग्रासनापनयजा—स्वस्य आत्मन यत् अग्रासन श्रेष्ठासन तस्मात् य अपनय निष्कासन तस्मात् जाता उत्पन्ना,

निकृतिः अपमानः, न सोढा—न क्षान्ता, सः अयं—प्रसिद्धः, मनस्वी—मानी (चाणक्यः) स्वयङ्कृतनराधिपतेः—स्वयम् आत्मना कृतः सम्पादितः यः नराधिपतिः राजा तस्मात्, मौर्यात्—वृषलात्, इमाम्—एताम्, परिभूतिं—पराभवं, कथं नु—केन प्रकारेण, सहेत—मर्षयेत् ? ॥११॥

हिन्दी अनुवाद—जिसने भूतल पर इन्द्रतुल्य महाराज (नन्द) के (द्वारा किये हुए) अपने अग्रासन से निष्कासनजन्य अपमान का सहन नहीं किया, वह मनस्वी (चाणक्य) स्वयं के बनाये हुए राजा मौर्य से इस तिरस्कार को कैसे सहन करेगा ? ॥११॥

टिप्पणी—देवस्य निकृतिः –अत्र कृद्योगे कर्तरि षष्ठी । मनस्वी – प्रशस्तं मनः अस्ति अस्य इति मनस्+विनि मत्वर्थे । मौर्यात्—अत्र अपादाने पञ्चमी । इस श्लोक में अर्थापत्ति अलंकार अतिशयोक्ति अलंकार से संसृष्ट है । इसमें वसन्ततिलका छन्द है । इस छन्द का लक्षण १, ८ में देखिए ॥११॥

मलयकेतुः—सखे भागुरायण ! चाणक्यस्य तपोवनगमने पुनः प्रतिज्ञारोहणे वा काऽस्य स्वार्थसिद्धिः ?

भागुरायणः—कुमार ! नात्यन्तदुर्बोधोऽयमर्थः यावद्यावत् चाणक्यहतकश्चन्द्रगुप्ताद् दूरीभवति तावत्तावदस्य स्वार्थसिद्धिः ।

शकटदासः—अमात्य ! अलमत्यन्तविकल्पितेन, एतदुपपद्यत एव । कुतः ? पश्यत्वमात्यः—

राज्ञां चूडामणीन्दुद्युतिखचितशिखे मूर्ध्नि विन्यस्तपादः
स्वैरेवोत्पाद्यमानं किमिति विषहते मौर्य आज्ञाविघातम् ? ।
कौटिल्यः कोपनोऽपि स्वयमभिचरणज्ञातदुःखः प्रतिज्ञां
दैवात् पूर्णप्रतिज्ञः पुनरपि न करोत्यायतिज्यानिभीतः ॥१२॥

अन्वयः—चूडामणीन्दुद्युतिखचितशिखे राज्ञां मूर्ध्नि विन्यस्तपादः मौर्यः स्वैरेव उत्पाद्यमानम् आज्ञाविघात किमिति विषहते ? स्वयमभिचरणज्ञातदुःखः दैवात् पूर्णप्रतिज्ञः कौटिल्यः कोपनोऽपि आयतिज्यानिभीतः (सन्) पुनरपि प्रतिज्ञां न करोति ॥१२॥

व्याख्या—चूडामणीन्दुद्युतिखचितशिखे—चूडामणिः शिरोरत्नं तत् इन्दुः

चन्द्र॰ इव तस्य द्युतिभि कान्तिभि ग्वचिता सश्लिष्टा शिखा केशगुच्छ यस्मिन् तथाविधे, राज्ञा—नृपाणा, मूर्ध्नि—मस्तके, विन्यस्तपाद —वि यस्तौ स्थापितौ पादौ चरणौ येन तादृश ; मौर्य—वृषल , स्वैरेव—आत्मीयैरेव जनैरिति शेष ; उत्पाद्यमानम्—क्रियमाणम्, आज्ञाविघात—आदेशभङ्ग, किमिति—कथ, विषहते —मर्षयति ? स्वयमभिचरणज्ञातदु ख —स्वयम् आत्मना यत् अभिचरणम् अभिचार तस्मिन् ज्ञातम् अवगतम् दु ख कष्ट येन तथाविध , दैवात्—भाग्यात्, पूर्णप्रतिज्ञ —पूर्णा सफला प्रतिज्ञा प्रतिश्रुति॰ यस्य तथाविध , कौटिल्य — चाणक्य , कोपनोऽपि—क्रुद्धोऽपि, आयतिज्यानिभीत —आयतौ उत्तरे काले या ज्यानि हानि निष्फलतेत्यथ॰ तस्या भीत शङ्कितः (सन्), पुनरपि—भूयोऽपि, प्रतिज्ञा—प्रतिश्रुतिं, न करोति—न विदधाति ॥१२॥

हिन्दी अनुवाद—मलयकेतु—मित्र भागुरायण ! चाणक्य के तपोवन में जाने या पुनः प्रतिज्ञा करने से इस (राक्षस) की क्या स्वार्थसिद्धि है ?

भागुरायण—कुमार ! यह तात्पर्य बहुत कठिन नही है। जैसे-जैसे दुष्ट चाणक्य चन्द्रगुप्त से दूर होता जाता है वैसे-वैसे इसकी स्वार्थसिद्धि होती है।

शकटदास—अमात्य ! बहुत सदेह करना व्यर्थ है। यह ठीक ही है। क्योंकि अमात्य देखे —

चन्द्रमा के समान चूडामणि की कान्तियो से खचित केशगुच्छ वाले राजाओं के मस्तको पर चरणो को रखने वाला चन्द्रगुप्त अपने ही जनो से किये जाने वाले आज्ञा-भग को कैसे सह सकता है ? अभिचार कर्म मे होने वाले दु ख को स्वयं समझने वाला तथा भाग्य से पूर्ण प्रतिज्ञा वाला चाणक्य क्रुद्ध होने पर भी भविष्यत्काल में होने वाली असफलता से सशकित होने के कारण पुन॰ प्रतिज्ञा नही कर रहा है ॥१२॥

टिप्पणी—यावत् यावत्—वीप्सायां द्विरुक्तिः। विषहते—अत्र वर्तमान-सामीप्ये लट् अतीते। 'परिनिविभ्य '—इति षत्वम्। अभिचरण—अभिचार। तन्त्रोक्त मारण, मोहन, उच्चाटन आदि अनुष्ठान। 'हिंसाकर्माभिचारः स्यात्' इत्यमर॰। दैवात्—अत्र हेतौ पञ्चमी। आयतिज्यानिभीत—आ√यम् + क्तिन् अधिकरणे = आयतिः = उत्तरकालः। √ज्या + नि भावे औणादिक = ज्यानि। आयतौ ज्यानिः सुप्सुपा स॰। तस्याः भीतः पञ्चमीतत्०। इस श्लोक

में उत्प्रेक्षा अलंकार है। और स्रग्धरा छन्द है। स्रग्धरा का लक्षण १, १ में देखिए ॥१२॥

राक्षसः—शकटदास ! एवमेतत्। तद् गच्छ, विश्रामय करभकम्।

शकटदासः—यदाज्ञापयत्यमात्य इति। [करभकेण सह निष्क्रान्तः।]

राक्षसः—अहमपि कुमारं द्रष्टुमिच्छामि।

मलयकेतुः—अहमेवार्यं द्रष्टुमागतः।

राक्षसः—[नाट्येनावलोक्य] अये ! कुमार एवागतः। [आसनादुत्थाय] इदमासनमुपवेष्टुमर्हति कुमारः।

मलयकेतुः—अहमुपविशामि। उपविशत्वार्यः [इत्युभौ यथासनमुपविष्टौ] आर्य ! अपि सह्या शिरोवेदना ?

राक्षसः—कुमारस्याधिराजशब्देनातिरस्कृते कुमारशब्दे कुतः शिरोवेदनायाः सह्यता ?

मलयकेतुः—स्वयमुरीकृतमेतदार्येण, न दुष्प्रापं भविष्यति। तत् कियन्तं कालमस्माभिरेवं सम्भृतबलैरपि शत्रुव्यसनमवेक्षमाणैरुदासितव्यम्।

राक्षसः—कुमार ! कुतोऽद्यापि कालहरणस्यावकाशः ? प्रतिष्ठस्व रिपुजयाय।

मलयकेतुः—अमात्य ! अपि किञ्चिच्छत्रुव्यसनमुपलब्धम्।

राक्षसः—बाढमुपलब्धम्।

मलयकेतुः—कीदृशम् ?

राक्षसः—सचिवव्यसनं, किमन्यत् ? अपकृष्टश्चाणक्याच्चन्द्रगुप्तः।

मलयकेतुः—अमात्य ! सचिवव्यसनमेव ?

राक्षसः—कुमार ! अन्येषां भूपतीनां कदाचिदमात्यव्यसनमव्यसनमपि स्यात्, न पुनश्चन्द्रगुप्तस्य।

हिन्दी अनुवाद—राक्षस—शकटदास ! यह ऐसा ही है। इसलिए जाओ, करभक को विश्राम कराओ।

शकटदास—अमात्य की जो आज्ञा। [करभक के साथ बाहर चला जाता है।]

राक्षस—मैं भी कुमार को देखना चाहता हूँ।

मलयकेतु—मैं ही आर्य को देखने के लिए आ गया हूँ।

राक्षस—[अभिनय के साथ देखकर] अरे! कुमार ही आ गए। [आसन से उठकर] कुमार इस आसन पर बैठने के योग्य हैं।

मलयकेतु—मैं बैठता हूँ। आर्य बैठें। [यथायोग्य आसन पर दोनों बैठ जाते हैं।] आर्य! तो क्या सिर की वेदना सहन करने योग्य हुई?

राक्षस—कुमार के महाराज शब्द से कुमार शब्द के तिरस्कृत न होने पर (अर्थात् जब तक आप कुमार शब्द को हटाकर महाराज शब्द की पदवी नहीं धारण कर लेते तब तक) सिर की वेदना सहन करने योग्य कहाँ से हो सकती है?

मलयकेतु—आर्य ने यह स्वयं स्वीकार किया है, दुर्लभ नहीं होगा। इसलिए कितने समय तक सेना इकट्ठी करके भी हमलोग इस प्रकार शत्रु के विपत्तिकाल की प्रतीक्षा करते हुए उदासीन रहेंगे?

राक्षस—कुमार! अब काल-क्षेप को अवकाश कहाँ? शत्रु-विजय के लिए प्रस्थान करो।

मलयकेतु—अमात्य! क्या शत्रु का संकट कुछ मालूम हुआ है?

राक्षस—हाँ, मालूम हुआ है।

मलयकेतु—कैसा?

राक्षस—मन्त्री का संकट, और क्या? चाणक्य से चन्द्रगुप्त अलग कर दिया गया।

मलयकेतु—मन्त्री का संकट ही?

राक्षस—कुमार! दूसरे राजाओं के लिए कदाचित् मन्त्री का संकट संकट न भी हो, किन्तु चन्द्रगुप्त के लिए (ऐसी बात) नहीं है।

टिप्पणी—सह्या—सोढुम् शक्या इति √सह्+यत् कर्मणि स्त्रियाम्।

कुमारस्य……अधिराजशब्देन—अधिराज इत्याख्यया, कुमारशब्दे—कुमार इत्याख्यापदात्, तिरस्कृते अन्तर्हिते तावत् कुमारस्यैव शिरसि अधिराजशब्दं नारोपयामि तावत् इत्यर्थः। अधिको राजा अधिराजः प्रादिसमासः, 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इत्यनेन टच्प्रत्ययः। सम्भृतबलैः—एकत्रीकृतसैन्यैः। शत्रुव्यसनम्—शत्रोः व्यसनम् विपद्। उदासितव्यम्—औदासीन्यं कर्तव्यम्।

मलयकेतुः—आर्य ! ननु विशेषतश्चन्द्रगुप्तस्येति।

राक्षसः—किं कारणं यदस्यामात्यव्यसनमव्यसनम् ?

मलयकेतुः—चन्द्रगुप्तप्रकृतीनां हि चाणक्यदोषा एव विरागहेतवः। तस्मिन्निराकृते प्रथममपि चन्द्रगुप्तानुरक्ताः प्रकृतयः इदानीं सुतरामेव तत्रानुरागं दर्शयिष्यन्ति।

राक्षसः—कुमार ! नैतदेवं, इह हि द्विप्रकाराः प्रकृतयः—चन्द्रगुप्तसहोत्थायिन्यो नन्दकुलानुरक्ताश्च। तत्र चन्द्रगुप्तसहोत्थायिनीनां प्रकृतीनां चाणक्यदोषा एव विरागहेतवः, न नन्दकुलानुरक्तानाम्। तास्तु खलु नन्दकुलमनेन पितृकुलभूतं कृत्स्नं कृतघ्नेन घातितमित्यपरागामर्षाभ्यां विप्रकृताः सत्यः स्वाश्रयमलभमाना एव चन्द्रगुप्तमेवानुवर्तन्ते। त्वादृशं पुनः प्रतिपक्षोद्धरणे सम्भावितशक्तिमभियोक्तारमासाद्य क्षिप्रमेनं परित्यज्य त्वामेवाश्रयिष्यन्ते इति। अत्र कुमारस्य वयमेव निदर्शनम्।

व्याख्या—चन्द्रगुप्तप्रकृतीनां—मौर्यप्रजानां, चाणक्यदोषा एव कौटिल्यदोषा इत्यादय एव, विरागहेतवः—अपरागकारणानि सन्तीति शेषः। तस्मिन् कौटिल्ये, निराकृते—दूरीकृते सति, प्रथममपि—पूर्वमपि, चन्द्रगुप्तानुरक्ताः चन्द्रगुप्ते मौर्ये अनुरक्ताः अनुरागिण्यः, प्रकृतयः—प्रजाः, इदानीम् अधुना, पुनः भूयः, सुतरामेव—सर्वथैव, तत्र—चन्द्रगुप्ते, अनुरागं—स्नेहं, दर्शयिष्यन्ति.

नन्दकुल—नन्दवश, घातितम्—नाशितम्, इति हेतो, अपरागामर्षाभ्या—विरागक्रोधाभ्यां, विप्रकृता—विरक्तीकृता, सत्य, स्वाश्रयम्—स्वाधारम्, अलभमाना—अप्राप्नुवाना, चन्द्रगुप्तमेव—मौर्यमेव, अनुवर्तन्ते—अनुसरन्ति, पुन—पक्षान्तरे, प्रतिपक्षोद्धरणे—प्रतिपक्षाणा शत्रूणा उद्धरणे उन्मूलने, सम्भावितशक्तिम्—निश्चितसामर्थ्यम्, त्वादृश—भवत्सदृश, अभियोक्तारम्—शत्रुपराभवकारिणम्, आसाद्य—प्राप्य, क्षिप्रम्—शीघ्रम्, एनम्—चन्द्रगुप्तम्, परित्यज्य—विहाय, त्वामेव—भवन्तमेव, आश्रयिष्यन्ते—अवलम्बिष्यन्ते। अत्र—अस्मिन् विषये, कुमारस्य—भवत, वयमेव, निदर्शनम्—दृष्टान्त।

हिन्दी अनुवाद—मलयकेतु—आर्य! विशेष रूप से चन्द्रगुप्त के लिए (ही ऐसी बात है)।

राक्षस—क्या कारण है कि इसके लिए मत्री का सकट सकट नही है।

मलयकेतु—चाणक्य के दोष ही चन्द्रगुप्त की प्रजाओ की विरक्ति के कारण हैं। उसके अलग हो जाने पर पहले भी चन्द्रगुप्त मे अनुरक्त प्रजाएँ इस समय फिर सब तरह से उसमे अनुराग प्रकट करेंगी।

राक्षस—कुमार! यह ऐसा नही है। यहाँ दो प्रकार की प्रजाएँ हैं—चन्द्रगुप्त के साथ उठने-बैठने वाली और नन्दवश मे अनुरक्त। उनमे से चन्द्रगुप्त के साथ उठन-बैठन वाली प्रजाओ की ही विरक्ति के कारण चाणक्य के दोष हैं न कि नन्दवश मे अनुरक्त प्रजाओ की। वे तो इस कृतघ्न ने पितृवश के समान सम्पूर्ण नन्दवश को नष्ट कर दिया—इस कारण वितृष्णा तथा क्रोध से विक्षुब्ध होती हुईं उपयुक्त अवलम्ब को न पाकर चन्द्रगुप्त का ही अनुसरण कर रही हैं। फिर शत्रुओ के उन्मूलन मे अनुमेय शक्ति वाले आप जैसे आक्रमणकारी को प्राप्त करके शीघ्र ही इस (चन्द्रगुप्त) को त्यागकर आपका ही आश्रय ग्रहण करेंगी। इस विषय मे कुमार के लिए हम ही उदाहरण हैं।

टिप्पणी—पितृकुलभूतम्—पितु कुलम्। तेन भूत समम् सुप्सुपा स०। 'युक्ते क्ष्मादावृते भूत प्राण्यतीते समे त्रिषु' इत्यमर। घातितम्—√हन्+णिच्+क्त कर्मणि। अपरागामर्षाभ्याम्—अप√रञ्ज्+घञ् भावे=अपराग। √मृष्+घञ् भावे=मर्ष। न मर्ष अमर्ष। अपरागश्च अमर्षश्च द्वन्द्व स०, ताभ्याम्। विप्रकृता—उपद्रवयुक्त। वि-प्र√कृ+क्त कर्मणि।

स्वाश्रयम्—आ√श्रि+अच् कर्मणि=आश्रयः। सुशोभनः आश्रयः स्वाश्रयः, तम्। वयमेव—अत्र 'अस्मदो द्वयश्च' इत्यनेन एकत्वे बहुवचनम्। निदर्शनम्—निदर्श्यते अनेन इति नि√दृश्+णिच्+ल्युट् करणे=निदर्शनम्= दृष्टान्तः।

मलयकेतुः—अमात्य! किमेतदेवैकं सचिवव्यसनमभियोगकारणं चन्द्रगुप्तस्य? आहोस्विदन्यदप्यस्ति?

राक्षसः—कुमार! किमन्यैः बहुभिरपि? एतद्धि तत्र प्रधानतमम्।

मलयकेतुः—अमात्य! कथं प्रधानतमं नाम? किमिदानीं चन्द्रगुप्तः स्वराज्यकार्यधुरामन्यत्र मन्त्रिणि आत्मनि वा समासज्य स्वयं प्रतिविधातुमसमर्थः स्यात्?

राक्षसः—वाढम्, असमर्थ एव।

मलयकेतुः—किं कारणम्?

राक्षसः—स्वायत्तसिद्धिषु उभयायत्तसिद्धिषु वा भूमिपालेषु कदाचिदेतत् सम्भवति, न तु चन्द्रगुप्ते। चन्द्रगुप्तस्तु दुरात्मा नित्यं सचिवायत्तसिद्धावेवावस्थितश्चक्षुर्विकल इवाप्रत्यक्षसर्वलोकव्यवहारः कथमिव स्वयं प्रतिविधातुं समर्थः स्यात्? कुतः—

अत्युच्छ्रिते मन्त्रिणि पार्थिवे च
विष्टभ्य पादावुपतिष्ठते श्रीः।
सा स्त्रीस्वभावादसहा भरस्य
तयोर्द्वयोरेकतरं जहाति॥ १३॥

अन्वयः—श्रीः अत्युच्छ्रिते मन्त्रिणि पार्थिवे च पादौ विष्टभ्य उपतिष्ठते। स्त्रीस्वभावात् भरस्य असहा सा तयोः द्वयोः एकतरं जहाति॥ १३॥

व्याख्या—श्रीः—राजलक्ष्मीः अत्युच्छ्रिते—अत्युन्नते, मन्त्रिणि—अमात्ये, पार्थिवे च—नृपे च, पादौ—चरणौ, विष्टभ्य—व्यवस्थाप्य, उपतिष्ठते—सङ्गता भवतीत्यर्थः। स्त्रीस्वभावात्—नारीजनसुलभत्वात्, भरस्य—स्वदेहभरस्य,

असह्य—अक्षमा (सती), सा—राजलक्ष्मी , तयो द्वयो —मन्त्रिपार्थिवयोः, एकतरम्—अन्यतरम्, जहाति—त्यजति ॥ १३ ॥

हिन्दी अनुवाद—मलयकेतु—अमात्य ! क्या यही एक मन्त्री का सङ्कट चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करने का कारण है अथवा दूसरा भी है ?

राक्षस—कुमार ! दूसरे बहुत से कारणों से क्या (लाभ) ? उनमें यह सब से प्रधान (कारण) है ।

मलयकेतु—अमात्य ! सब से प्रधान कैसे हैं । क्या इस समय चन्द्रगुप्त अपने राजकाज का भार दूसरे मन्त्री पर या अपने पर डालकर स्वयं प्रतीकार करने मे असमर्थ होगा ?

राक्षस—हाँ, असमर्थ ही ।

मलयकेतु—क्या कारण है ?

राक्षस—अपने अधीन सिद्धि (राज्य-कार्य सम्पादन) वाले और दोनो (अपने तथा मन्त्री) के अधीन सिद्धि वाले राजाओ मे कदाचित् वह संभव है, (किन्तु) चन्द्रगुप्त मे नही है । मंदबुद्धि चन्द्रगुप्त नित्य मन्त्री के अधीन सिद्धि में ही अवस्थित तथा अंधे के समान सम्पूर्ण लोकव्यवहार से अनभिज्ञ होता हुआ कैसे स्वयं प्रतीकार करने मे समर्थ होगा ? क्योंकि—

लक्ष्मी अत्यंत उन्नत मन्त्री और राजा पर (अपने) दोनो पैरो को स्थापित करके (उन दोनो के समीप) रहती है । किन्तु स्त्री-स्वभाव के कारण भार को न सहने वाली वह उन दोनो मे से (किसी) एक को छोड देती है (अर्थात् जैसे कोई नर्तकी समान ऊँचाई वाले दो बाँसों पर अपने पैरो को स्थिर करके नृत्य करती रहती है किन्तु उन दोनो मे विषमता आ जाने पर वह सन्तुलन खोकर नीचे गिर पड़ती है उसी तरह लक्ष्मी भी समान शक्ति वाले मन्त्री और राजा का आश्रय लेकर स्थिर रहती है किन्तु उन दोनो के अन्दर भिन्नता आ जाने पर वह टिक नही पाती है ।) ॥ १३ ॥

टिप्पणी—स्वकार्यधुराम्—स्वस्य कार्यम् । तस्य धूः 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' इति सूत्रेण समासान्तअप्रत्ययः । स्वायत्तसिद्धिषु—स्वेषु आत्मसु आयत्ता अधीना सिद्धिर्येषां ते तथोक्ताः, तेषु । दुरात्मा—मन्दबुद्धिः । दुष्टः

मन्दः आत्मा बुद्धिः यस्य सः । चक्षुर्विकलः—विगता कला अस्य इति विकलः । चक्षुभ्यां विकलः । अप्रत्यक्षसर्वलोकव्यवहारः—अप्रत्यक्षः अगोचरः सर्वलोकानां व्यवहारो यस्य सः । अत्युच्छ्रिते—अत्यंत उच्च । यह 'मन्त्रिणि' और 'पार्थिवे' दोनों का विशेषण है । अति-उद्√श्रि+क्त कर्तरि । विष्टभ्य—रखकर । वि√स्तम्भ्+क्त्वा—ल्यप्, 'स्तम्भेः' इति षत्वम् । जहाति—√हा (त्यागे) +लट्—ति । इस श्लोक में समासोक्ति अलंकार है, प्रसाद गुण है, वैदर्भी रीति है और उपजाति छन्द है । इसका लक्षण २, २ में देखिए ।।१३।।

अपि च—

नृपोऽपकृष्टः सचिवात्तदर्पणः
स्तनन्धयोऽत्यन्तशिशुः स्तनादिव ।
अदृष्टलोकव्यवहारमन्दधी-
र्मुहूर्तमप्युत्सहते न वर्तितुम् ।।१४।।

अन्वयः—सचिवात् अपकृष्टः तदर्पणः अदृष्टलोकव्यवहारमन्दधीः नृपः स्तनात् (अपकृष्टः) अत्यन्तशिशुः स्तनन्धय इव मुहूर्तमपि वर्तितु न उत्सहते ।। १४ ।।

व्याख्या—सचिवात्—अमात्यात्, अपकृष्टः—पृथग्भूतः, तदर्पणः—तस्मिन् सचिवे एव अर्पणं राज्यभारसमर्पणं यस्य स तथाभूतः, अदृष्टलोकव्यवहारमन्दधीः—अदृष्टः अविदितः लोकस्य संसारस्य व्यवहारः आचारः यस्य तादृशः तेन च हेतुना मन्दधीः मूढमतिः, नृपः—राजा, स्तनात्—मातृस्तनात्, (अपकृष्टः) अत्यन्तशिशुः—अतिबालः, स्तनन्धय इव—स्तनपायी इव, मुहूर्तमपि—क्षणमपि, वर्तितुं—स्थातुं, न उत्सहते—न क्षमते ।। १४ ।।

हिन्दी अनुवाद—और भी—मंत्री से अलग हुआ, उस (मंत्री) को ही (राज्य-भार) सौंपने वाला और लोकव्यवहार से अनभिज्ञ होने के कारण मंद बुद्धि वाला राजा स्तन से अलग हुए निरे दुधमुँहे बच्चे के समान एक क्षण भी रहने के लिए उत्साहित नही होता है ।। १४ ।।

टिप्पणी—तदर्पणः—√ऋ+णिच्+ल्युट्—अन भावे=अर्पणम् । तस्मिन्नेव अर्पणं यस्य सः । ऐसा राजा जिसने मंत्री को ही राज्य का भार

समर्पित कर दिया है मन्त्री पर ही निरंतर निर्भर रहने वाला। स्तनन्धय,—स्तन धयति पिबति इति स्तन √धे + खश् कर्तरि, खित्वात् मुमागमः। इस श्लोक में उपमा अलंकार है और वंशस्थविल नामक छन्द है। इस छन्द का लक्षण यह है—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' ॥ १४ ॥

मलयकेतु —[आत्मगतम्] दिष्ट्या न सचिवायत्ततन्त्रोऽस्मि। [प्रकाशम्] अमात्य! यद्यप्येवं तथापि खलु बहुष्वभियोगकारणेषु सत्सु सचिवव्यसनमभियुञ्जानस्य शत्रुमभियोक्तु नैकान्तिकी सिद्धिर्भवति।

राक्षस —ऐकान्तिकीमेव सिद्धिमवगन्तुमर्हति कुमार। कुतः—

त्वय्युत्कृष्टबलेऽभियोक्तरि नृपे नन्दानुरक्ते पुरे
चाणक्ये चलिताधिकारविमुखे मौर्ये नवे राजनि।
स्वाधीने मयि'—[इत्यर्धोक्ते लज्जां नाटयन्]
'—मार्गमात्रकथनव्यापारयोगोद्यमे
त्वद्वाञ्छान्तरितानि सम्प्रति विभो! तिष्ठन्ति साध्यानि न ॥१५॥

अन्वय —विभो! सम्प्रति उत्कृष्टबले नृपे त्वयि अभियोक्तरि पुरे नन्दानुरक्ते चाणक्ये चलिताधिकारविमुखे राजनि मौर्ये नवे मयि स्वाधीने मार्गमात्रकथनव्यापारयोगोद्यमे न साध्यानि त्वद्वाञ्छान्तरितानि तिष्ठन्ति ॥ १५ ॥

व्याख्या—विभो! —प्रभो!, सम्प्रति—अधुना, उत्कृष्टबले—उत्कृष्टानि उत्तमानि बलानि सैन्यानि यस्य तादृशे, नृपे—राजनि, त्वयि—मलयकेतौ, अभियोक्तरि—योद्धुमुद्यते सति, पुरे—कुसुमपुरे नन्दानुरक्ते—नन्दभक्ते सति, चाणक्ये—कौटिल्ये, चलिताधिकारविमुखे—चलितः भ्रष्टः अधिकारः नियोगः मन्त्रिपदमिति यावत् यस्य तादृशे अतएव विमुखे प्रतीकारपराङ्मुखे सति, राजनि—नृपे, मौर्ये—वृषले, नवे—नूतने सति, मयि—राक्षसे, स्वाधीने—स्वतन्त्रे सति, मार्गमात्रकथनव्यापारयोगोद्यमे—मार्गमात्रस्य युद्धपथस्य एव कथनं उपदेशो यो व्यापारयोगः प्रयत्नघटना स एव उद्यमः व्यवसायो यस्य तादृशे, न —अस्माकं, साध्यानि—कार्याणि, त्वद्वाञ्छान्तरितानि—तव या वाञ्छा इच्छा तया अन्तरितानि व्यवहितानि, तिष्ठन्ति—वर्तन्ते ॥ १५ ॥

हिन्दी अनुवाद—मलयकेतु—[मन में] भाग्य से मैं मन्त्री के अधीन

राष्ट्र वाला नहीं हूँ। [प्रकट] यद्यपि ऐसा है तो भी आक्रमण के अनेक कारणों के रहते मंत्री के संकट का पता लगाकर शत्रु पर चढ़ाई करने वाले (राजा) को निश्चित सिद्धि नही मिलती है।

राक्षस—कुमार निश्चित सिद्धि ही समझें। क्योंकि—

हे प्रभो! इस समय उत्तम सेनाओं से युक्त राजा आपके आक्रमणकारी होने पर, कुसुमपुर के नन्द के प्रति अनुरक्त होने पर, चाणक्य के मंत्रिपद से च्युत होने के कारण विरक्त होने पर, चन्द्रगुप्त के नये राजा होने पर, मेरे स्वाधीन होने पर—'[ऐसा आधा कहने पर लज्जा का अभिनय करता हुआ] और केवल मार्ग-निर्देश के प्रयत्न के व्यवसायी होने पर हमारे कार्य आपकी इच्छा से व्यवहित हैं (अर्थात् केवल आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहे हैं।) ॥ १५ ॥

टिप्पणी—सचिवायत्ततन्त्रः—सचिवे आयत्तम् सुप्सुपा स०। तादृश तन्त्रम् अस्य बहुव्रीहि स०। अभियुञ्जानस्य—अनुसन्दधानस्य अन्विष्येत्यर्थः। अभियोक्तुः—अभिषेणयतः इत्यर्थः। ऐकान्तिकी—एकः अन्तः स्वरूपम् एकान्तः। तत्र भवा इति एकान्त+ठञ् अध्यात्मादित्वात्। स्वाधीने—अधिगतः इनः प्रभुः अनेन इति अधीनः। स्वस्य अधीनः स्वाधीनः। व्यापारयोगः—वि-आ√पृ+घञ् भावे=व्यापारः। तस्य योगः। अन्तरितानि—अन्तरं सञ्जातमेषाम् इति अन्तर+इतच्=अन्तरितानि। साध्यानि—√सिध्+णिच्+यत् कर्मणि वा√साध्+ण्यत् कर्मणि। इस पद्य मे समुच्चय अलंकार है, प्रसाद गुण है, पाञ्चाली रीति है और शार्दूलविक्रीडित छन्द है। इस छन्द का लक्षण १, १२ में देखिए ॥ १५ ॥

मलयकेतुः—अमात्य! यद्येवमभियोगकालममात्यः पश्यति, तत्किमास्यते? पश्य—

> उत्तुङ्गास्तुङ्गकूलं स्रुतमदसलिलाः प्रस्यन्दिसलिलं
> श्यामाः श्यामोपकण्ठद्रुममलिमुखराः कल्लोलमुखरम्।
> स्रोतः खातावसीदत्तटमुरुदशनैरुत्सादिततटाः
> शोणं सिन्दूरशोणा मम गजपतयः पास्यन्ति शतशः ॥ १६ ॥

अन्वयः—मम उत्तुङ्गाः स्रुतमदसलिलाः अलिमुखराः उरुदशनैरुत्सादित-

तटा, श्यामा, सिन्दूरशोणा शतशः गजपतय तुङ्गकूलं प्रस्यन्दिसलिलं कल्लोल-मुखरं स्रोतः खातावसीदत्तट श्यामोपकण्ठद्रुमं शोणं पास्यन्ति ॥ १६ ॥

व्याख्या—मम—मे, उत्तुङ्गा—अत्युन्नता, स्रुतमदसलिलाः—स्रुतं क्षरितं मदसलिलं दानवारि येषां तादृशा; अलिमुखरा—अलिभिः भ्रमरैः मुखराः शब्दायमाना, उरुदशनैः—उरुभिः वृहद्भिः दशनैः दन्तैः, उत्सादिततटा उत्सादितं विनाशितं तटं कूलं यैः ते, श्यामाः—कृष्णवर्णाः, सिन्दूरशोणाः—सिन्दूरैः शोणाः रक्तवर्णाः, शतशः—शतेन शतेन, गजपतयः—गजेन्द्राः, तुङ्गकूलं—तुङ्गम् उन्नतम् कूलम् तटम् यस्य तादृशं, प्रस्यन्दिसलिलम्—प्रस्यन्दि प्रवहत् सलिलं जलं यस्य तथाविधं, कल्लोलमुखरं—कल्लोलैः वीचिभिः मुखरं गर्जत्, स्रोतः खातावसीदत्तटं—स्रोतसा प्रवाहेण खातं विशीर्णम् अतएव अवसीदत् पतत् तटं तीरं यस्य तथाविधं, श्यामोपकण्ठद्रुमं—श्यामाः नीलाः उपकण्ठे प्रान्ते स्थिताः द्रुमाः वृक्षाः यस्य तादृशं, शोणम्—एतदाख्यनदविशेषम्, पास्यन्ति—पानेन शोषयिष्यन्ति ॥ १६ ॥

हिन्दी अनुवाद—मलयकेतु—अमात्य! यदि आप ऐसा आक्रमण का समय देख रहे हैं तो क्यों बैठा जाय? देखिए—

मेरे अत्यंत ऊँचे, टपकते हुए मदजल वाले, भ्रमरों से शब्दायमान, विशाल दाँतों से तटों को उखाड़ने वाले, कृष्णवर्ण और सिन्दूर से लाल सैकड़ों गजराज ऊँचे कगार वाले, बहते हुए जल वाले, तरंगों से शब्दायमान, प्रवाह से टूटकर गिरते हुए तट वाले और किनारे पर स्थित काले वृक्ष वाले शोण नामक नद को पियेंगे ॥ १६ ॥

टिप्पणी—आस्यते—इसका 'अस्माभिः' लुप्त है। उत्तुङ्गा—उच्छ्रिता तुङ्गेभ्यः प्रादितत्०। यह 'गजपतयः' का विशेषण है। श्यामोपकण्ठद्रुमम्—उपगतं कण्ठम् उपकण्ठं। तत्र द्रुमा सुप्सुपा स०। श्यामाः उपकण्ठद्रुमाः कर्मधारय स०। श्लोक में श्लेषानुप्राणित उपमा अलंकार और यथासंख्य अलंकार हैं, ओज गुण है, गौडी रीति है और सुवदना छन्द है। सुवदना का लक्षण यह है—'ज्ञेया सप्ताश्वषड्भिर्मरभनययुता म्लौगः सुवदना' ॥ १६ ॥

अपि च—

गम्भीरगर्जितरवाः स्वमदाम्बुमिश्र-
मासारवर्षमिव शीकरमुद्गिरन्त्यः ।
विन्ध्यं विकीर्णसलिला इव मेघमाला
रोत्स्यन्ति वारणघटा नगरं मदीयाः ॥१७॥

[इति भागुरायणेन सह निष्क्रान्तो मलयकेतुः]

अन्वयः—गम्भीरगर्जितरवाः स्वमदाम्बुमिश्रं शीकरम् आसारवर्षमिव उद्गिरन्त्यः मदीया वारणघटाः विकीर्णसलिला मेघमाला विन्ध्यमिव नगरं रोत्स्यन्ति ॥१७॥

व्याख्या—गम्भीरगर्जितरवाः—गम्भीरं च सान्द्रं च तत् गर्जितं च गर्जनं च तदेव रवः ध्वनिः यासां ताः, स्वमदाम्बुमिश्रं—स्वैः स्वकीयैः मदाम्बुभिः दानजलैः मिश्रं मिश्रितं, शीकरम्—अम्बुकणम्, आसारवर्षमिव—धारासम्पात-वर्षणमिव, उद्गिरन्त्यः—उद्वसन्त्यः, मदीयाः—मम इमाः, वारणघटाः—गजपङ्क्तयः, विकीर्णसलिलाः—विकीर्णं विक्षिप्तं सलिलं जलं याभिः तादृश्यः, मेघमालाः—कादम्बिन्यः, विन्ध्यमिव—तदाख्यपर्वतमिव, नगरं—पुष्पपुरं, रोत्स्यन्ति—आवरिष्यन्ति ॥१७॥

हिन्दी अनुवाद—और भी—गंभीर गर्जन करने वाली, और अपने मदजल से मिश्रित जलकणों को मूसलाधार वर्षा की तरह वमन करती हुई मेरी गज-पंक्तियाँ पाटलिपुत्र को उसी तरह घेर लेंगी जैसे जल बरसाती हुई मेघमालाये विन्ध्यपर्वत को (घेर लेती है) ॥१७॥

[भागुरायण के साथ मलयकेतु बाहर चला जाता है ।]

टिप्पणी—अपि च—यह पूर्व श्लोक की 'पास्यन्ति' क्रिया और इस श्लोक की 'रोत्स्यन्ति' क्रिया को जोड़ती है । उद्गिरन्त्यः—उद्√गॄ + लट् + शतृ स्त्रियाम् । विकीर्ण—वि√कॄ + क्त । रोत्स्यन्ति—√रुध् + लृट्—स्यन्ति । इस श्लोक में पूर्णोपमा अलंकार है, ओज गुण है, पाञ्चाली रीति है और वसन्त-तिलका छन्द है । इस छन्द का लक्षण १, ८ में देखिए ॥१७॥

राक्षसः—कः कोऽत्र भोः ?

पुरुषः—[प्रविश्य] आणवेदु अमच्चो । (आज्ञापयत्वमात्यः ।)

राक्षस —प्रियवदक ! ज्ञायतां सावत्सरिकाणां द्वारि कस्तिष्ठति ।

प्रियवदक —ज अमच्चो आणवेदि । [इति निष्क्रम्य क्षपणकं दृष्ट्वा पुन प्रविश्य च] अमच्च ! एसो क्खु सवत्सरिओ क्खवणओ । (यदमात्य आज्ञापयति । अमात्य ! एष खलु सावत्सरिक क्षपणक) ।

राक्षस —[स्वगतमनिमित्त सूचयित्वा] कथ प्रथममेव क्षपणकदर्शनम् ?

प्रियवदक —जीवसिद्धी । (जीवसिद्धि ।)

राक्षस —[प्रकाशम्] *अबीभत्सदर्शन कृत्वा प्रवेशय ।*

प्रियवदक —ज अमच्चो आणवेदि । (यदमात्य आज्ञापयति ।)

[इति निष्क्रान्त ।]

[तत प्रविशति क्षपणक ।]

क्षपणक —

सामणमलिहन्ताण प्पडिवज्जह मोहवाहिवेज्जाण ।
जे पढममेत्तकडुअ पच्छा पत्थ उवदिसन्ति ॥१८॥
(शासनमर्हतां प्रतिपद्यध्व मोहव्याधिवैद्यानाम् ।
ये प्रथममात्रकटुक पश्चात् पथ्यमुपदिशन्ति ॥१८॥)

अन्वय —मोहव्याधिवैद्यानाम् अर्हता शासन प्रतिपद्यध्वम् ये प्रथममात्रकटुकं पश्चात् पथ्यम् उपदिशन्ति ॥१८॥

व्याख्या—मोहव्याधिवैद्यानाम्—मोह अज्ञानम् एव व्याधिः रोगः तस्य ये वैद्या. चिकित्सका तेषाम्, अर्हता—जैनसन्यासिनाम्, शासनम्—उपदेश, प्रतिपद्यध्वम्—प्रतिपालयत, ये—अर्हन्त , प्रथममात्रकटुक—प्रथममात्र प्रागेव कटुक तिक्त विरसमित्यर्थ , पश्चात्—परिणामे, पथ्य—हितम्, उपदिशन्ति—शिक्षयन्ति ॥१८॥

हिन्दी अनुवाद—राक्षस—यहाँ कोई है जी !

पुरुष—[प्रवेश करके] अमात्य आज्ञा करें ।

राक्षस—प्रियवदक ! पता करो कि ज्योतिषियो मे से दरवाजे पर कौन है ।

प्रियंवदक—अमात्य की जो आज्ञा। [बाहर जाकर क्षपणक को देखकर पुनः प्रवेश करके] अमात्य ! ये ज्योतिषी क्षपणक हैं।

राक्षस—[मन में अशकुन को सूचित करके] कैसे पहले ही क्षपणक का दर्शन हुआ ?

प्रियंवदक—जीवसिद्धि।

राक्षस—[प्रकट] निन्दित वेष से रहित करके भीतर ले आओ।

प्रियंवदक—अमात्य की जो आज्ञा।

[बाहर चला जाता है।]

[तब क्षपणक प्रवेश करता है।]

क्षपणक—

मोह रूपी रोग के चिकित्सक जैन संन्यासियों के उपदेश को ग्रहण करो, जो मात्र पहले कटु और पश्चात् हितकारी उपदेश करते हैं ॥ १८ ॥

टिप्पणी—सांवत्सरिकाणाम्—दैवज्ञानाम्। (टिप्पणी २, १५ के बाद के गद्य में देखिए।) क्षपणकः—बौद्ध संन्यासी या जैन संन्यासी। अनिमित्तम्—न निमित्तम् विरोधार्थे नञ्तत्०। अर्हताम्—जैन या बौद्ध संन्यासियो का। अर्ह्+शतृ कर्तरि=अर्हन्तः, तेषाम्। प्रथममात्रकटुकम्—प्रथमम् एव इति प्रथममात्रम्, प्रथममात्रं कटुकम् इति प्रथममात्रकटुकम्। इस पद्य में अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार रूपक अलंकार से संकीर्ण है। इसमें आर्या छन्द है। आर्या छन्द का लक्षण १, ८ में देखिए ॥१८॥

[उपसृत्य] धम्मलाहो सावका ! भोदु। (धर्मलाभ उपासक ! भवतु।)

राक्षसः—भदन्त ! निरूप्यतां तावदस्मत्प्रस्थानयोग्यदिवसः।

क्षपणकः—[नाट्येन चिन्तयित्वा] सावका ! णिलूविदे मुहुत्ते। आ मज्झण्णादो णिव्वुत्तसत्तसकला सोहणा तिही संपुणचन्दा पुण्णमासी तुह्माणं उत्तलाए दिसाए दक्खिणां दिसं प्पत्थिदाणं दक्षिणदुवालिओ णक्खत्तओ। (उपासक ! निरूपितो मुहूर्तः। आ मध्याह्नात् निवृत्तसप्तशकला शोभना तिथिः सम्पूर्णचन्द्रा पौर्णमासी, युष्माकमुत्तरस्या दिशो दक्षिणां दिशं प्रस्थितानां दक्षिणद्वारिकं नक्षत्रम्।)

अवि अ—(अपि च —)

> अत्थाहिमुहे सूले, उदिदे स उुण्णमण्डले चन्दे ।
> गमण बुहस्स लग्गे, उदिदत्थमिदे अ केदुम्मि ॥१९॥
> (अस्ताभिमुखे शूरे, उदिते सम्पूर्णमण्डले चन्द्रे ।
> गमन बुधस्य लग्ने, उदितास्तमिते च केतौ ॥१९॥)

अन्वय —शूरे अस्ताभिमुखे सम्पूर्णमण्डले चन्द्रे उदिते केतौ च उदितास्तमिते बुधस्य लग्ने गमनम् ॥१९॥

व्याख्या—शूरे—सूर्ये, अस्ताभिमुखे—अस्ताचल गच्छति, सम्पूर्णमण्डले—परिपूर्णबिम्बे, चन्द्रे—चन्द्रमसि, उदिते—आविर्भूते, केतौ च—राहुपुच्छे अपि, उदितास्तमिते—उदितात् लग्नात् अस्तमिते सप्तमस्थानवर्तिनि सति अर्थात् आविर्भूयैव तिरोभूते सति, बुधस्य लग्ने—बुधस्वामिके राशौ कन्यालग्न इत्यर्थ, गमन—यात्रा प्रशस्तमिति शेष । पक्षान्तरे—शूरे—बलवति राक्षसे इत्यर्थ, अस्ताभिमुखे—विनाशोन्मुखे, सम्पूर्णमण्डले—राजमण्डलाधिरूढे सुप्रतिष्ठिते इत्यर्थ, चन्द्रे—चन्द्रगुप्ते, उदिते—उत्थिते सति, केतौ च—मलयकेतौ अपि, उदितास्तमिते—उत्थाय एव पतिते, बुधस्य—चाणक्यस्य, लग्ने—सम्बन्धे, गमनम् प्रशस्तमिति शेष ॥१९॥

हिन्दी अनुवाद—[समीप जाकर] उपासक ! धर्म का लाभ हो !

राक्षस—भदन्त ! हमारे प्रयाण योग्य दिन बताइए ।

क्षपणक—[अभिनय के साथ सोचकर] उपासक ! मुहूर्त तो ठीक बैठ गया । मध्याह्न काल से लेकर सम्पूर्ण चन्द्रवाली पूर्णिमा तिथि विष्टिभद्रा से रहित सुन्दर तिथि है, और उत्तर की ओर से दक्षिण प्रस्थान करते हुए आपका नक्षत्र (भी) दक्षिणावर्ती है (जो और भी सुन्दर है) ।

और भी—सूर्य के अस्ताचल पर जाने पर, सम्पूर्ण मंडल वाले चन्द्रमा के उदित होने पर और केतु के उदित होकर अस्त हो जाने पर, बुध के लग्न में प्रस्थान करना उत्तम है । पक्षान्तर में—बलवान् (राक्षस) के विनाशोन्मुख होने पर, सम्पूर्ण राष्ट्र वाले चन्द्रगुप्त के उत्थान होने पर और मलयकेतु के

उत्थान के साथ ही पतन होने पर चाणक्य के सम्पर्क में जाना उचित है ॥१९॥

टिप्पणी—भदन्त !—मान्य ! बौद्ध संन्यासी के लिए यह सम्बोधन है। √भन्द् (कल्याणे)+झच् कर्तरि औणादिक, झस्य अन्तादेशः। अथवा भदन्त ज्योतिषी को कहते हैं। भानि नक्षत्राणि दन्ताः अस्य इति भदन्तः। निरूप्यताम्—निश्चीयताम्। साबका !—इसका संस्कृत पाठभेद 'श्रावकाः' भी है। शृण्वन्ति इति श्रावकाः = श्रोतारः √श्रु+ण्वुल् कर्तरि। आ मध्याह्नात्—दिनमध्यात् आरभ्य। निवृत्तसप्तशकला—निवृत्तं व्यतीतं सप्तशकलं विष्टिभद्रात्मकः सप्तमतिथ्यंशः यस्याः सा निवृत्तसप्तशकला। तिथि के आधे भाग को करण कहते हैं। करणों की संख्या ११ है। जिनमे से सात चर संज्ञा वाले करण ये हैं—'वव, वालव, कौलव, तैतिल, गर, वणिज् और विष्टिभद्रा'। यहाँ 'निवृत्तसर्वकल्याणा' यह पाठभेद भी मिलता है। इसका अर्थ है—सब प्रकार के कल्याणों से शून्य। इस पाठभेद में वाक्य की संगति बैठाने के लिए खीचातानी करनी पडेगी। पौर्णमासी—पूर्णो मासः पूर्णमासः। तस्य इयम् इति पौर्णमासी पूर्णमास+अण्—ङीप्। उत्तरस्याः—अत्र अपादाने पञ्चमी। दक्षिणद्वारिकम्—याम्यदिग्वर्ति। यहाँ कवि का तात्पर्य मृगशिरा नक्षत्र से है। यात्रा में इतने नक्षत्र उत्तम माने गए है—'अश्विनी रेवती ज्येष्ठा पुष्यो हस्तः पुनर्वसुः। मैत्रो मृगशिरो मूलं यात्रायां चोत्तमाः स्मृताः ॥' उदितास्तमिते केतौ—राहु और केतु का एक ही शरीर है, जो सर्पाकार है। सिर भाग को राहु कहा जाता है और पुच्छ भाग को केतु। सिर के उदित होने पर पुच्छ अस्त हो जाता है और पुच्छ के उदित होने पर सिर अस्त हो जाता है। इसीलिए 'उदितास्तमिते' कहा है। इस पद्य में श्लेषालंकार है और आर्या छन्द है ॥१९॥

राक्षसः—भदन्त ! तिथिरेव तावन्न शुध्यति।

क्षपणकः—साबका ! (उपासक !)—

एक्कगुणा होइ तिही चउग्गुणे होइ णक्खत्ते।
चउसत्तिगुणे लग्गे एसे जोइसतन्तसिद्धं ते ॥२०॥
(एकगुणा भवति तिथिश्चतुर्गुणं भवति नक्षत्रम्।
चतुः षष्टिगुणं लग्नमेतद्दृश्यते ज्यौतिषतन्त्रसिद्धान्ते ॥२०॥)

अन्वय—ज्योतिषतन्त्रसिद्धान्ते एतत् दृश्यते (यत्) तिथि एकगुणा भवति नक्षत्र चतुर्गुणा भवति, लग्न चतु षष्टिगुण (भवति) ॥२०॥

व्याख्या—ज्योतिषतन्त्रसिद्धान्ते—ज्योति शास्त्रस्य राद्धान्ते, एतत्—इदम्, दृश्यते—अवलोक्यते (यत्) तिथि, एकगुणा—एको गुणो यस्या ताद्दशी (फलदायिनी) भवति—जायते, (तिथ्यपेक्षया) नक्षत्र—तारा, चतुर्गुण—चत्वारो गुणा यस्य ताद्दश, भवति, (नक्षत्रापेक्षया) लग्न—राशीनामुदय, चतु षष्टिगुण—चतु षष्टिर्गुणा यस्य ताद्दश (फलदायि भवति) ॥२०॥

हिन्दी अनुवाद—ज्योतिष शास्त्र के सिद्धा त मे एसा देखा जाता है कि तिथि एक गुना (फल देने वाली) होती है, नक्षत्र चौगुना होता है और लग्न चौंसठ-गुना (होता है) ॥२०॥

ता । लग्गे होइ सुलग्गे कूलग्गह पलिहलिज्जासु ।
पाविहि दीह लाह चन्दस्स वलेण गच्छन्ते ॥२१॥
(तस्मात् । लग्न भवति सुलग्न क्रूरग्रह परिहर आशु ।
प्राप्नुहि दीर्घं लाभ चन्द्रस्य बलेन गच्छन् ॥२१॥)

अन्वय—लग्न सुलग्न भवति, आशु क्रूरग्रहम् परिहर, चन्द्रस्य बलेन गच्छन् दीर्घं लाभ प्राप्नुहि ॥२१॥

व्याख्या—लग्न—राश्युदय, सुलग्न भवति—शुभफलप्रद भवति, आशु—शीघ्र, क्रूरग्रह—मन्दग्रहसम्बन्ध, परिहर—परित्यज, चन्द्रस्य—निशाकरस्य, बलेन—सम्बन्धेन, गच्छन्—व्रजन्, (त्व) दीर्घं—चिरकालस्थायिन, लाभ—सिद्धि,—प्राप्नुहि—लभस्व। पक्षान्तरे—क्रूर !—राक्षस !, ग्रहम्—आग्रह चाणक्यपराजयविषयकप्रयत्नमित्यर्थ, परिहर—परित्यज, चन्द्रस्य—चन्द्रगुप्तस्य बलेन—सैन्येन भद्रभटादिना (सह), गच्छन्—व्रजन्, (त्व) दीर्घं—चिरकालव्यापिन, लाभ—चन्द्रगुप्तामात्यत्वरूप, प्राप्नुहि—लभस्व। (तथा सति) लग्न (दुष्टमपि ते) सुलग्न—शुभफलदायकमित्यर्थ, भवति—भविष्यतीत्यर्थ ॥२१॥

हिन्दी अनुवाद—इसलिए। (हीन) लग्न (भी) सुलग्न हो जाता है, क्रूर ग्रह को छोड दो (अर्थात् क्रूर ग्रह के सम्बन्ध न रहने पर हीन लग्न भी

शुभफलदायक हो जाता है)। चन्द्रमा के बल से जाते हुए (तुम) चिरस्थायी सिद्धि प्राप्त करो। पक्षान्तर मे—हे राक्षस ! हठ छोड दो। चन्द्रगुप्त की सेना के साथ जाते हुए (तुम) चिरकालवर्ती लाभ प्राप्त करो। (ऐसा करने से तुम्हारा इष्ट) लग्न (भी) शुभफलदायक हो जाएगा ।।२१।।

राक्षसः—भदन्त ! अपरैः सांवत्सरिकैः सार्धं संवाद्यताम् ।

क्षपणकः—संवादेदु सावके। अहं णिअं गेहं गमिस्सं। (संवादयतु उपासकः। अहं निजं गेहं गमिष्यामि।]

राक्षसः—न खलु कुपितो भदन्तः ?

क्षपणकः—ण कुविदे तुह्माणं भदन्ते। (न कुपितो युष्माकं भदन्तः।)

राक्षसः—कस्तर्हि ?

क्षपणकः—भअवं कअन्तो। जेण अत्तणो पक्खं उज्झिअ परपक्खं प्पमाणीकरेसि। (भगवान् कृतान्तः। येन आत्मनः पक्षमुज्झित्वा परपक्षम् प्रमाणीकरोषि।)

[इति निष्क्रान्तः क्षपणकः।]

राक्षसः—प्रियंवदक ! ज्ञायतां का वेला वर्तत इति।

प्रियंवदकः—जं अमच्चो आणवेदि। (यदमात्य आज्ञापयति।) [इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य च] अत्थाहिलासी भअवं सुले। (अस्ताभिलाषी भगवान् सूर्यः)। (पक्षान्तरीयसंस्कृतं यथा—'अर्थाभिलाषी भगवान् शूरः')।

राक्षसः—[आसनादुत्थाय विलोक्य च] अये ! अस्ताभिलाषी भगवान् सहस्रदीधितिः। सम्प्रति हि—

आविर्भूतानुरागाः क्षणमुदयगिरेरुज्जिहानस्य भानोः
पत्रच्छायैः पुरस्तादुपवनतरवो दूरमाश्वेव गत्वा।
एते तस्मिन्निवृत्ताः पुनरपरककुप्प्रान्तपर्यस्तबिम्बे
प्रायो भृत्यास्त्यजन्ति प्रचलितविभवं स्वामिनं सेवमानाः ।।२२।।

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे]

॥ इति चतुर्थोऽङ्कः ॥

अन्वय—क्षणम् आविर्भूतानुरागा एते उपवनतरव उदयगिरे उज्जिहानस्य भानो पुरस्तात् पत्रच्छायं आशु एव दूर गत्वा पुन अपरककुप्प्रान्तपर्यन्तबिम्ब तस्मिन् निवृत्ता, प्राय सेवमाना भृत्या प्रचलितविभव स्वामिन त्यजति ॥२२॥

व्याख्या—क्षणम्—क्षणकालम्, आविर्भूतानुरागा—आविर्भूत प्रकटितः अनुराग प्रीति येषा तादृशा, एते—इमे, उपवनतरव—आरामवृक्षा, उदयगिरे—पूर्वपर्वतात्, उज्जिहानस्य—उद्गच्छत, भानो—सूर्यस्य, पुरस्तात्—पुर, पत्रच्छाय—पत्राच्छायारूपेण, आशु एव—शीघ्रमेव, दूर गत्वा—विप्रकृष्टस्थान प्राप्य, पुन—भूय, अपरककुप्प्रान्तपर्यस्तबिम्बे—अपरस्या इतराया पश्चिमाया इति यावत् ककुभ दिश प्रान्ते सीमनि पर्यस्तम् अवलम्बित बिम्ब मण्डल यस्य तादृशे, तस्मिन्—भानो, निवृत्ता—परावृत्ता, प्राय—बाहुल्येन, सेवमाना—उपचरत, भृत्या—सेवका प्रचलितविभव—प्रचलितः विच्युत विभव प्रभुत्व यस्य तादृश, स्वामिन—प्रभु, त्यजति—जहति ॥२२॥

हिन्दी अनुवाद—राक्षस—भदन्त। दूसरे ज्योतिषियो के साथ परामर्श कर लीजिए।

क्षपणक—उपासक (अथात् आप) परामर्श करे। मैं अपने घर जाऊँगा।

राक्षस—भदन्त क्रुद्ध तो नही हो गए?

क्षपणक—आपका भदन्त क्रुद्ध नही हुआ है।

राक्षस—तव कौन (क्रुद्ध हुआ है)?

क्षपणक—भगवान् काल। जिससे आप अपने पक्ष को (अर्थात् मुझे) छोडकर दूसरे पक्ष को (अर्थात् दूसरे ज्योतिषियो को) प्रमाणित कर रहे हैं।

[क्षपणक चला जाता है।]

राक्षस—प्रियवदक। देखो तो क्या समय है।

प्रियवदक—जो अमात्य की आज्ञा। [बाहर जाकर और पुन प्रवेश करके] भगवान् सूर्य अस्त होने के इच्छुक हैं। (पक्षान्तर में श्रीमान् राक्षस अर्थ (मौर्य के अमात्यपद) के अभिलाषी हैं।)

राक्षस—[**आसन से उठकर और देखकर**] अरे ! भगवान् सूर्य तो अस्त होने के इच्छुक हैं। इस समय—

क्षण भर के लिए उत्पन्न प्रीति वाले ये उद्यान के वृक्ष उदयाचल से उदित होते हुए सूर्य के आगे पत्रों की छाया रूप से शीघ्र ही दूर तक जाकर फिर पश्चिम दिशा की सीमा पर टिके हुए मंडल वाले उस (सूर्य) के होने पर लौट आये है; (क्योंकि) प्रायः सेवा करते हुए भृत्यगण क्षीण ऐश्वर्य वाले स्वामी को त्याग देते हैं ॥२२॥

[**सभी (पात्र) चले जाते है।**]

॥ चौथा अंक समाप्त ॥

टिप्पणी—संवाद्यताम्—विचार या परामर्श कर लीजिए। सम्√वद्+णिच्+लोट्—ताम् भावे। कृतान्त—यम या सिद्धान्त 'कृतान्तौ यमसिद्धान्तौ' इत्यमरः। येन आत्मनः पक्षम् ....इसका गूढार्थ यह है कि जिस लिए तुम अपने पक्ष—नन्दवंशोत्पन्न मौर्य को छोडकर परपक्ष—मलयकेतु को आत्मीय समझ रहे हो, इसलिए भगवान् यम कुपित है। अस्ताभिलाषी—अस्तम् अभिलषितुं शीलमस्य इति अस्त-अभि√लष्+णिनि कर्तरि ताच्छील्ये। उज्जिहानस्य—उद्√हा (गतौ)+शानच् कर्तरि। पत्रच्छायैः—पत्राणां छाया पत्रच्छायम् 'विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशाम्' इत्यनेन नपुंसकत्वम्। पत्रच्छायञ्च पत्रच्छायञ्च पत्रच्छायञ्च इति पत्रच्छायानि एकशेप, तैः। इस श्लोक में प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा अलंकार से उत्थापित अर्थान्तरन्यास अलंकार है और स्रग्धरा छंद है। स्रग्धरा का लक्षण १, १ मे देखिए ॥२२॥

———

पञ्चमोऽङ्कः

[ततः प्रविशति लेखमलङ्करणस्थगिकाञ्च मुद्रितामादाय सिद्धार्थकः]

सिद्धार्थकः—हो हीमाणहे ! हीमाणहे !! (आश्चर्यम् ! आश्चर्यम् !!

बुद्धिजलणिज्झरेहिं सिच्चन्ती देशकालकलसेहिं।
दंसइस्सदि कज्जफलं गुरुअं चाणक्कणीदिलदा ॥१॥

(बुद्धिजलनिर्झरैः सिच्यमाना देशकालकलशैः ।
दर्शयिष्यति कार्यफलं गुरुकं चाणक्यनीतिलता ॥१॥)

अन्वय—देशकालकलशैः बुद्धिजलनिर्झरैः सिच्यमाना चाणक्यनीतिलता गुरुकं कार्यफलं दर्शयिष्यति ॥१॥

व्याख्या—देशकालकलशैः—देशश्च स्थानं च कालश्च समयश्च तौ एव कलसौ कुम्भौ येषां तादृशैः, बुद्धिजलनिर्झरैः—बुद्धयः धियः एव जलानि तेषां निर्झरैः प्रवाहैः, सिच्यमाना—आर्द्रीक्रियमाणा, चाणक्यनीतिलता—चाणक्यस्य कौटिल्यस्य या नीतिः नयः तद्रूपा लता वल्ली, गुरुकम्—अधिकम्, कार्यफलम्—कार्यस्य प्रारब्धस्य राक्षसग्रहणरूपस्य कर्मणः फलं परिणाम, दर्शयिष्यति—प्रकटयिष्यति ॥१॥

हिन्दी अनुवाद—[तदनन्तर लेख और (राक्षस की मुद्रा से) मुद्रित आभूषणों की पेटी को लेकर सिद्धार्थक प्रवेश करता है ।]

सिद्धार्थक—आश्चर्य ! आश्चर्य !!

देश और काल रूपी घड़ों वाले बुद्धि रूपी जलों के प्रवाहों से सींची जाती हुई चाणक्य की नीति रूपी लता अधिक कार्य रूपी फल को दिखलाएगी ॥१॥

टिप्पणी—इस अंक से निर्वहणसन्धि प्रारम्भ होती है । निर्वहण का लक्षण यह है—'बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् । ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत् ॥' अलङ्करणस्थगिकाम्—आभूषणों की पेटी को । स्थगयति इति √स्थग + णिच् + अच् कर्तरि = स्थग । स एव स्थगकः स्थग + कन् । स्त्रियां स्थगिका । अलङ्करणानां स्थगिका षष्ठीतत्०, ताम् । बुद्धिजलनिर्झरैः—निर √झॄ + अप् भावे निर्झरः । बुद्धिजलस्य निर्झरा, तैः । बुद्धिजलस्य निर्झरा निर्झीर्णानि बुद्धिजलानि, भावानयने द्रव्यानयनम् । इस पद्य में उपमा और साङ्गरूपक अलङ्कारों का सन्देहसङ्कर है और आर्या छन्द है । आर्या का लक्षण १, ५ में देखिए ॥१॥

गहीदो मए अज्जचाणक्केण पढमलेहिदो लेहो, अमच्चरक्खसस्स मुद्दालच्छिदो । तस्स ज्जेव्व मुद्दालच्छिदा इअं आहरणपेडिआ । चलिदेह्मि किल पाडलिउत्तं, ता जाव गच्छह्मि । [परिक्रम्यावलोक्य च] कहं

खवणओ आअच्छदि ? जाव मे असउग्भूदं इमस्स दंसणं, ता आदित्तदंसणेण पडिहणामि । (गृहीतो मयाऽऽर्यचाणक्येन प्रथमलेखितो लेखः, अमात्यराक्षसस्य मुद्रालाञ्छितः । तस्यैव मुद्रालाञ्छितेयमाभरण-पेटिका । चलितोऽस्मि किल पाटलिपुत्रं, तद्यावत् गच्छामि । कथं क्षपणक आगच्छति ? यावन्मेऽशकुनभूतमस्य दर्शनं, तस्मादादित्यदर्शनेन प्रतिहन्मि ।)

[ततः प्रविशति क्षपणकः ।]

क्षपणकः—अलिहन्ताणं प्पणमामो जे दे गंभीलदाए बुद्धीए ।
लोउत्तलेहिं लोए सिद्धिं मग्गेहिं मग्गन्ति ॥२॥

(अर्हतां प्रणमामो ये ते गम्भीरतया बुद्धेः ।
लोकोत्तरैर्लोके सिद्धिं मार्गैर्मार्गयन्ति ॥२॥)

अन्वयः—अर्हतां प्रणमामः, ये ते बुद्धेः गम्भीरतया लोके लोकोत्तरैः मार्गैः सिद्धिं मार्गयन्ति ॥२॥

व्याख्या—अर्हतां—बौद्धसंन्यासिनां, प्रणमामः—नमस्कुर्मः, ये ते—अर्हन्तः, बुद्धेः—मत्यादिपञ्चात्मकज्ञानस्य, गम्भीरतया—धीरतया, लोके—संसारे, लोकोत्तरैः—अलौकिकैः, मार्गैः—वर्त्मभिः, सिद्धिं—मोक्षं, मार्गयन्ति—अन्वेषयन्ति ॥२॥

हिन्दी अनुवाद—मैंने आर्य चाणक्य द्वारा पहले ही लिखवाया गया (वह कूट-) लेख ले लिया है, जिस पर अमात्य राक्षस की मुद्रा की छाप पड चुकी है। उसी की मुद्रा से चिह्नित यह आभूषणों की पेटी है। मैं झूठमूठ में पाटलिपुत्र के लिए चला हूँ। तो जाता हूँ। [घूमकर और देखकर] कैसे क्षपणक आ रहा है ? इसका दर्शन तो मेरे लिए असगुन हो गया। इसलिए सूर्य के दर्शन से (इस दोष का) निराकरण करता हूँ।

[तब क्षपणक प्रवेश करता है।]

हम बौद्ध संन्यासियों को प्रणाम करते हैं जो वे बुद्धि की गंभीरता के कारण संसार में दिव्य मार्गों से सिद्धि प्राप्त करते हैं ॥२॥

टिप्पणी—प्रथमलेखितः—प्रथम अंक में आ चुका है कि चाणक्य ने

सिद्धार्थक के द्वारा शकटदास से एक लेख लिखवाया था। वही यह लेख है। तस्यैव मुद्रालाञ्छितेयम्—दूसरे अंक मे राक्षस ने सिद्धार्थक को पारितोषिक के रूप मे कुछ आभूषण दिये थे, जो मलयकेतु ने राक्षस को पहनने के लिए कञ्चुकी के हाथ भिजवाए थे। उन आभूषणों को सिद्धार्थक ने राक्षस की मुद्रा से मुद्रित करके उसी के पास रख छोड़ा था। उन्हीं आभूषणों की यह पेटी है। अर्हताम्—✓अर्ह् + शतृ = अर्हन्त तेषाम्। कर्मणः शेषत्वविवक्षायां षष्ठी। लोकोत्तरैः—लोकेभ्य उत्तरा लोकोत्तरा = लोकातिगा प्रशस्ता इत्यर्थ, तैः। इस पद्य में अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार और श्लेष अलंकार का सङ्कर है। इसमें भी आर्या छन्द है ॥२॥

सिद्धार्थक—भदन्त! प्पणमामि। (भदन्त! प्रणमामि।)

क्षपणक—सावका! धम्मलाहो दे होदु। [सिद्धार्थकं निर्वर्ण्य] सावका! पत्थाणसमुव्वहणे किदव्ववसाअं विअ दे हिअअं पेक्खामि। (उपासक! धर्मलाभस्ते भवतु। उपासक! प्रस्थानसमुद्वहने कृतव्यवसायमिव ते हृदयं पश्यामि।)

सिद्धार्थक—कहं भदन्तो जाणादि? [कथं भवन्तो जानाति?]

क्षपणक—सावका! किं एत्थ जाणिदव्वं? एसो दे मग्गादेसकुसलो सउणो करगदो लेहो अ सूचेदि। (उपासक! किमत्र ज्ञातव्यम्? एष ते मार्गादेशकुशलः शकुनः करगतो लेखश्च सूचयति।)

सिद्धार्थक—जाणिदं भदन्तेण देसन्तलं चलिदोह्मि। ता कधेदु भदन्तो कीदिसो अज्ज दिअसो? (ज्ञातं भदन्तेन देशान्तरं चलितोऽस्मि। तत् कथयतु भदन्तः कीदृशोऽद्य दिवसः?)

क्षपणक—[विहस्य] सावका! मुण्डिअमुण्डो तुमं णक्खत्ताइं पुच्छसि? (उपासक! मुण्डितमुण्डस्त्वं नक्षत्राणि पृच्छसि?)

सिद्धार्थक—भदन्त! सम्पदं पि किं जादं? ता कधेहि, जइ अत्तणो अणुऊलं भविस्सदि, ता गमिस्सं, अण्णधा णिवत्तिस्सं (भदन्त! साम्प्रतमपि किं जातम्! तत् कथय, यद्यात्मनोऽनुकूलं भवेत्, तदा गमिष्यामि, अन्यथा निवर्तिष्ये।)

क्षपणक:—साबकाणं सम्पदं एदस्सिं मलयकेदुकडए अणणुऊलेण बा किं ? अगहीदमुद्देण ण गच्छीअदि । (उपासकानां साम्प्रतमेतस्मिन् मलयकेतुकटके अनुकूलेनाऽननुकूलेन वा किम् ? अगृहीतमुद्रेण न गम्यते ।)

सिद्धार्थक:—भदन्त ! कहेहि, कुदो क्खु अअं । (भदन्त ! कथय, कुतः खल्वयम् ?)

हिन्दी अनुवाद—**सिद्धार्थक**—भदन्त ! प्रणाम करता हूँ ।

क्षपणक—उपासक ! तुम्हे धर्म का लाभ हो । [सिद्धार्थक को अच्छी-तरह देखकर] उपासक ! यात्रा की तैयारी में कृतनिश्चय के समान तुम्हारे हृदय को देख रहा हूँ ।

सिद्धार्थक—भदन्त कैसे जानते हैं ?

क्षपणक—उपासक ! इसमें जानना क्या है ? यह तुम्हारे मार्ग की सूचना देने में निपुण शकुन तथा हाथ में लिया लेख बता रहा है ।

सिद्धार्थक—भदन्त ने जान लिया कि मैं परदेश को जा रहा हूँ । इसलिए भदन्त बताएँ कि आज दिन कैसा है ।

क्षपणक—[हँसकर]—उपासक ! तुम मूँड मुँडाकर नक्षत्रो को पूछ रहे हो ?

सिद्धार्थक—भदन्त ! अभी भी क्या हुआ है ? इसलिए बताइये, यदि (दिन) अपना अनुकूल होगा तो जाऊँगा नहीं तो लौट जाऊँगा ।

क्षपणक—उपासको के लिए इस समय इस मलयकेतु के शिविर मे अनुकूल या प्रतिकूल होने से क्या ? बिना मुद्रा के नही जा सकते ।

सिद्धार्थक—भदन्त ! कहिए, यह कैसे ?

टिप्पणी—**प्रस्थानसमुद्वहने**—यात्रासम्पादने विषये इत्यर्थः । प्रस्थानस्य समुद्वहनम्, तस्मिन् । **मार्गादेशकुशलः**—अध्वसूचननिपुण । मार्गस्य आदेशः । तस्मिन् कुशलः । **शकुनः**—प्रस्थानसामयिकमुहूर्तविशेष इत्यर्थः । शक्नोति सूचयितुम् इति √शक्+उन कर्तरि औणादिक=शकुनः । **मुण्डितमुण्डः**····· सिर मुँड़ाकर पूछ रहे हो कि मुंडन का नक्षत्र कैसा है, अरे ! यात्रा करने से

पहले ही तुम्हे पूछना चाहिए था कि दिन कैसा है, अब यात्रा कर लेने के बाद दिन की बात क्या पूछते हो ?

क्षपणक —सावका ! णिसामेहि, पढम दाव एत्थ मलअकेदुकडए लोअस्स अणिवारिअणिक्कमणप्पवेसो आसी। दाणी इदो पच्चासण्णे कुसुमउरे, ण कोवि अमुद्दालच्छिदो णिक्कमिदं पविसिदुं वा अणुमोदीअदि। ता जइ भाउराअणस्स मुद्दालच्छिदोसि, तदो गच्छ वीसद्धो अण्णधा णिवुत्तिअ णिउक्कण्ठ चिट्ठ। मा तुमं गुम्मट्ठाणाधिवेहिं सञमिदकरचरणो राअउलं प्पवेसीअसि। (उपासक ! निशामय, प्रथम तावदत्र मलयकेतुकटके लोकस्यानिवारितनिष्क्रमणप्रवेशावास्ताम्। इदानीमितः प्रत्यासन्ने कुसुमपुरे, न कोऽप्यमुद्रालाञ्छितो निष्क्रमितु प्रवेष्टु वाऽनुमोद्यते। तद् यदि भागुरायणस्य मुद्रालाञ्छितोऽसि, तदा गच्छ विस्रब्ध , अन्यथा निवृत्य निरुत्कण्ठ तिष्ठ। मा त्व गुल्मस्थानाधिपै सयमितकरचरणो राजकुल प्रवेश्यसे।)

सिद्धार्थक —किं ण आणादि भदन्तो, जधा अमच्चरक्खसस्स केलिअरो अन्तिओ सिद्धत्थओ अहं त्ति ? ता अमुद्दालच्छिदं पि मं णिक्कमन्तं कस्स सत्ती णिवारेदुं ? (किं न जानाति भदन्त , यथा अमात्यराक्षसस्य केलिकरोऽन्तिक सिद्धार्थकोऽहमिति ? तद् अमुद्रालाञ्छितमपि मा निष्क्रामन्त कस्य शक्तिर्निवारयितुम् ?)

क्षपणक —सावका ! रक्खसस्स पिसाचस्स वा केलिअरो होहि। णत्थि उण दे अमुद्दालच्छिदस्स इदो णिक्कमणोवाओ। (उपासक ! राक्षसस्य पिशाचस्य वा केलिकरो भव। नास्ति पुनस्ते अमुद्रालाञ्छितस्येतो निष्क्रमणोपाय ।)

सिद्धार्थक —भदन्त ! ण कुप्प, भण मे कज्जसिद्धी होदु त्ति (भदन्त न कुप्य, भण मे कार्यसिद्धिर्भवतु इति।)

क्षपणक —सावका ! गच्छ, होदु दे कज्जसिद्धी। अहंपि भागुराअणादो पाडलिउत्तं गन्तुं मुद्दं पडिच्छेमि। (उपासक ! गच्छ, भवतु ते कार्यसिद्धि। अहमपि भागुरायणात् पाटलिपुत्र गन्तु मुद्रा प्रतीच्छामि।)

[इत्युभौ निष्क्रान्तौ।]

[इति प्रवेशक]

हिन्दी अनुवाद—क्षपणक—उपासक ! सुनो, पहले तो यहाँ मलयकेतु के शिविर में बिना रोक-टोक के लोगों का आना-जाना होता था। अब यहाँ से पाटलिपुत्र के समीप आ जाने पर किसी को भी बिना मुद्रा से चिह्नित हुए बाहर जाने या भीतर प्रविष्ट होने के लिए अनुमति नही दी जाती है। इसलिए यदि भागुरायण का मुद्रा-चिह्न हो तो बेखटके चले जाओ, अन्यथा लौटकर उत्सुकता से रहित होकर रहो। ताकि शिविर के अधिकारियों के द्वारा हाथ-पैर बाँधे हुए तुम राज-गृह में प्रविष्ट न करा दिये जाओ।

सिद्धार्थक—क्या भदन्त नही जानते हैं कि मैं अमात्य राक्षस का विनोदी सेवक सिद्धार्थक हूँ। इसलिए बिना मुद्रा-चिह्न के भी बाहर जाते हुए मुझे रोकने की किसकी शक्ति है ?

क्षपणक—उपासक ! राक्षस या पिशाच का विनोदी रहो, किन्तु, बिना मुद्रा-चिह्न के तुम्हारे लिए यहाँ से बाहर निकलने का (कोई) उपाय नही है।

सिद्धार्थक—भदन्त ! क्रोध मत कीजिए, कहिए कि मेरा कार्य सिद्ध हो जाय।

क्षपणक—उपासक ! जाओ, तुम्हारा कार्य सिद्ध हो। मैं भी पाटलिपुत्र जाने के लिए भागुरायण से मुद्रा लेता हूँ।

[दोनों चले जाते हैं।]

[प्रवेशक समाप्त]

टिप्पणी—निशामय—सुनो। नि √शम् (चुरादि) + णिच् + लोट्—हि। अमुद्रालाञ्छितः—√लाञ्छ् + क्त कर्मणि = लाञ्छितः। मुद्र्यते अनया इति √मुद्र + णिच् + अ करणे = मुद्रा। तया लाञ्छितः। न तथा इति अमुद्रालाञ्छितः नञ्तत्०। निरुत्कण्ठम्—निरुत्सुकम् यथा स्यात् तथा। गुल्मस्थानाधिपैः—प्रहरिभिः। संयमितकरचरणः—करौ च चरणौ च इति करचरणम् प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः। संयमितं करचरणमस्य इति संयमितकरचरणः। राजकुलम्—नृपालयम्। प्रवेश्यसे – प्र √विश् + णिच् + लट् कर्मणि। इस वाक्य मे 'मा' माङ् वाला नही है, अपि तु निषेधार्थक शुद्ध मा है। इसीलिए 'प्रवेश्यसे' में 'माङि लुङ्' से लुङ् लकार नही हुआ। केलिकरः—हास्यकरः। अन्तिकः—निकटवर्ती। कुप्य—√कुप् (दिवादि) + लोट्—हि। भागु-

रायणात्—अत्र अपादाने पञ्चमी। प्रवेशक —प्रवेशयति कथाप्रसङ्ग गमयति पात्र प्रवेशयति वा इति प्र√विश्+ण्वुल् कर्तरि। दो अको के बीच एक प्रकार के अक को प्रवेशक कहते हैं, जिसमे नीच पात्र न दिखायी हुई तथा भावी घटनाओं की सूचना देते हैं—'वृत्तवर्तिष्यमाणाना कथाशाना निदर्शक । प्रवेशकस्तु नाट्यङ्के नीचपात्रप्रयोजित ॥'

[तत प्रविशति पुरुषेणानुगम्यमानो भागुरायण ।]

भागुरायण —[आत्मगतम्] अहो ! विचित्रतार्यचाणक्यनीते । कुन —

मुहुर्लक्ष्योद्भेदा मुहुरधिगमाभावगहना
मुहु सम्पूर्णाङ्गी मुहुरतिकृशा कार्यवशत ।
मुहुर्भ्रश्यद्बीजा मुहुरपि बहुप्रापितफले-
त्यहो ! चित्राकारा नियतिरिव नीतिर्नयविद ॥३॥

अन्वय —मुहु लक्ष्योद्भेदा, मुहु अधिगमाभावगहना, मुहु सम्पूर्णाङ्गी, मुहु कार्यवशत अतिकृशा, मुहु भ्रश्यद्बीजा मुहु बहुप्रापितफला अपि इति अहो नियति इव नयविद नीति चित्राकारा ॥३॥

व्याख्या—मुहु —वार वार, लक्ष्योद्भेदा—लक्ष्य अनुमेय उद्भेद आविर्भाव यस्या तादृशी, मुहु —पुनरपि, अधिगमाभावगहना—अधिगमस्य उपलब्धे अभावात् विरहात् गहना दुर्बोधा, मुहु —क्षणे क्षणे, सम्पूर्णाङ्गी—प्रचितावयवा, मुहु —पुनरपि, कार्यवशत —कृत्यानुरोधात्, अतिकृशा—अतिक्षीणा मुहु —अपकृत्, भ्रश्यद्बीजा—भ्रश्यत् नश्यत् बीज कारण यस्या तादृशी, मुहु —पुनरपि, बहुप्रापितफला—बहु प्रचुर यथा स्यात् तथा प्रापितानि दापितानि फलानि यया तादृशी, अपि, इति—अनेन प्रकारेण, अहो—आश्चर्यम्, नियति —दैवम्, इव—तद्वत्, नयविद —नीतिज्ञस्य, नीति —नय , चित्राकारा—बहुप्रकारा। पक्षान्तरे—मुहु , लक्ष्योद्भेदा—मुखसन्धावल्पोद्दिष्टा सती बहुधा विस्तारिणी, मुहु , अधिगमाभावगहना—प्रतिमुखे लक्ष्यालक्ष्यव्यक्ते दुर्बोधा, मुहु , सम्पूर्णाङ्गा—विमर्शे बीजस्य स्पष्टदर्शनात् परिपूर्णावयवा, मुहु , कार्यवशत , अतिकृशा—प्रतिमुखे लक्ष्यालक्ष्यव्यक्तेरतिक्षीणा, मुहु , भ्रश्यद्बीजा—

दृष्टनष्टान्वेषणान्नश्यदुद्योगा, मुहुः, बहुप्रापितफला—निर्वहणे सर्वार्थोपसहारा-दुपगतसाफल्या ॥३॥

हिन्दी अनुवाद—[तत्पश्चात् एक अनुचर के साथ भागुरायण प्रवेश करता है ।]

भागुरायण—[मन मे] आर्य चाणक्य की नीति की विचित्रता अद्भुत है । क्योकि—

बार-बार अनुमान करने योग्य प्राकट्य वाली, फिर भी उपलब्धि के अभाव के कारण दुर्बोध, क्षण-क्षण में परिपुष्ट अगो वाली, फिर भी कार्य के अनुरोध से अत्यन्त क्षीण, बार-बार नष्ट बीज वाली, फिर भी अत्यधिक फल प्राप्त कराने वाली नीतिज्ञ की नीति भाग्य के समान बहुरगी होती है, यह आश्चर्य है ॥३॥

टिप्पणी—सम्पूर्णाङ्गी—सम्पूर्णानि अङ्गानि अस्याः इति सम्पूर्णाङ्गी बहुव्रीहि स०, ङीप् । इस श्लोक मे सन्धियो का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है—मुहुर्लक्ष्योद्भेदा—मुखसन्धि । मुहुरधिगमाभावगहना मुहुरतिकृशा कार्यवशत.—प्रतिमुखसन्धि । मुहुर्नश्यद्बीजा—गर्भसन्धि । मुहुः सम्पूर्णाङ्गी—विमर्शसन्धि । मुहुरपि बहुप्रापितफला—निर्वहणसन्धि । इस पद्य मे काव्यलिंग से अनुप्राणित उपमा और अप्रस्तुतप्रशसा अलंकारो की ससृष्टि है । इसमें प्रसाद गुण है, पाञ्चाली रीति है और शिखरिणी छन्द है । इस छन्द का लक्षण १, १२ में देखिए ॥३॥

[प्रकाशम्] भद्र भासुरक ! न मां दूरीभवन्तमिच्छति कुमारः । अतोऽस्मिन्नेवास्थानमण्डपे विन्यस्यतामासनम् ।

पुरुषः—एदं आसनं, उपबिसदु अज्जो । (एतदासनम्, उपविशत्वार्यः ।)

भागुरायणः—[उपविश्य] भद्र भासुरक ! यः कश्चिन्मुद्रार्थी मां द्रष्टुमिच्छति, स त्वया प्रवेशयितव्यः ।

पुरुषः—जं अज्जो आणवेदि । (यदार्य आज्ञापयति ।)

[इति निष्क्रान्तः]

भागुरायण —[स्वगतम्] कष्टमेवमप्यस्मासु स्नेहवान् कुमारो मलयकेतुरतिसन्धातव्य इत्यहो दुष्करम्। अथवा—

कुले लज्जायाञ्च स्वयशसि च माने च विमुख
शरीरं विक्रीय क्षणिकधनलाभाद्धनवति।
तदाज्ञां कुर्वाणो हितमहितमित्येतदधुना
विचारातिक्रान्तः किमिति परतन्त्रो विमृशति ॥४॥

अन्वय —क्षणिकधनलाभात् लज्जाया माने च स्वयशसि च कुले च विमुखः (भूत्वा) धनवति शरीरं विक्रीय विचारातिक्रान्तः परतन्त्रः अधुना तदाज्ञां कुर्वाणः इति हितम् एतत् अहितम् इति किं विमृशति ? ॥४॥

व्याख्या—क्षणिकधनलाभात्—क्षणिकम् अल्पकालिकं यत् धनं वित्तं तस्य लाभः प्राप्तिः तस्माद्धेतोः, लज्जाया—त्रपाया, माने च—प्रतिष्ठायां च, स्वयशसि च—आत्मकीर्तौ च, कुले च—(स्व-) वंशे च, विमुखः—विरक्तः (भूत्वा), धनवति—वित्तशालिनि (जने), शरीरं—वपुः, विक्रीय—तदायत्तं कृत्वा, विचारातिक्रान्तः—विचारम् विवेकम् अतिक्रान्तः अतीतः, परतन्त्रः—पराधीनः, (मादृशो जनः) अधुना—साम्प्रतम्, तदाज्ञां—तस्य धनवतः प्रभोः आज्ञां नियोगं, कुर्वाणः—विदधत्, इति—इदम्, हितम्—पथ्यम्, एतत्—इदम्, अहितम्—अपथ्यम्, इति—एतत्, किं—कथं, विमृशति—विचारयति ? ॥४॥

हिन्दी अनुवाद—[प्रकट] भद्र भासुरक ! कुमार मुझे दूर होता हुआ नहीं देखना चाहते हैं। इसलिए इसी सभा-मण्डप में आसन लगा दो।

पुरुष—यह आसन है, आर्य बैठें।

भागुरायण—[बैठकर] भद्र भासुरक ! जो कोई मुद्रा चाहने वाला व्यक्ति मुझसे मिलना चाहे, उसे तुम भीतर ले आना।

पुरुष—आप की जो आज्ञा।

[बाहर चला जाता है।]

भागुरायण—[मन में] कष्ट की बात है कि इस प्रकार मुझसे स्नेह

करने वाले कुमार मलयकेतु को भी धोखा देना है—यह कठिन एवम् आश्चर्यजनक (विषय) है। अथवा—

क्षणिक धन की प्राप्ति के कारण लज्जा, सम्मान, अपने यश और कुल से भी विमुख होकर धनवान् के हाथ शरीर को बेचकर विवेक का अतिक्रमण करके पराधीन होकर इस समय उस (धनवान्) की आज्ञा का अनुसरण करता हुआ (मेरे जैसा व्यक्ति) यह हितकारी है और यह अहितकारी है, ऐसा क्यों सोचता है ? ॥४॥

टिप्पणी—आस्थानमण्डपे—सभामण्डपे। आ√स्था + ल्युट् भावे = आस्थानम्। तस्य मण्डपः, तस्मिन्। 'मण्डपोऽस्त्री जनाश्रयः' इत्यमरः। अतिसन्धातव्यः—प्रतारणीयः। विचारातिक्रान्त.—परित्यक्तसदसद्विवेकः। इस पद्य मे पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलंकार है, प्रसाद गुण है, वैदर्भी रीति है और शिखरिणी छन्द है ॥४॥

[ततः प्रविशति प्रतीहार्यनुगतो मलयकेतुः ।]

मलयकेतुः—[स्वगतम्] अहो ! राक्षसं प्रति मे विकल्पबाहुल्यादाकुला बुद्धिर्न निश्चयमधिगच्छति। कुतः—

भक्त्या नन्दकुलानुरागदृढया नन्दान्वयालम्बिना
किं चाणक्यनिराकृतेन कृतिना मौर्येण सन्धास्यते।
स्थैर्यं भक्तिगुणस्य वा विगणयन् किं सत्यसन्धो भवे-
दित्यारूढकुलालचक्रमिव मे चेतश्चिरं भ्राम्यति ॥५॥

अन्वयः—कृतिना चाणक्यनिराकृतेन नन्दान्वयालम्बिना मौर्येण नन्दकुलानुरागदृढया भक्त्या सन्धास्यते किम्, वा भक्तिगुणस्य स्थैर्यम् विगणयन् सत्यसन्धो भवेत् किम् इति मे चेतः आरूढकुलालचक्रम् इव चिरं भ्राम्यति ॥५॥

व्याख्या—कृतिना—कुशलेन, चाणक्यनिराकृतेन—चाणक्येन कौटिल्येन निराकृतः परित्यक्तः तथाभूतेन, नन्दान्वयालम्बिना—नन्दान्वयं नन्दवंशम् अवलम्बते आश्रयते यः तादृशेन, मौर्येण—वृषलेन, नन्दकुलानुरागदृढया—नन्दकुले यः अनुरागः स्नेहः तेन दृढा स्थिरा तथाभूतया, भक्त्या—सेवया हेतुना,

मन्धास्यते किम्—सन्धि करिष्यति किम्, वा—अथवा, भक्तिगुणस्य—भक्ति अनुराग एव गुण तस्य, स्थैर्यं—स्थिरता, विगणयन्—विचारयन्, सत्यसन्ध—सत्या यथार्था सन्धा प्रतिज्ञा यस्य तथाभूत , भवेद् किम्—स्यात् किम्, इति अनेन प्रकारेण, मे—मम, चेत —चित्तम्, आरूढकुलालचक्रम्—आरूढम् अधिष्ठितम् कुलालचक्रम् कुम्भकारचक्रम् यत तादृशम्, इव—तद्वत्, चिर—बहुकाल, भ्राम्यति—सन्देहास्पद भवतीत्यर्थ. ।।५।।

हिन्दी अनुवाद—[तदनन्तर मलयकेतु और साथ-साथ प्रतीहारी का प्रवेश]

मलयकेतु—[मन में] ओह ! राक्षस के प्रति सदेहो की बहुलता से व्याकुल मेरी बुद्धि निश्चय नही कर पा रही है। क्योंकि—

कुशल, चाणक्य से परित्यक्त और नन्दवश का अवलम्बन करने वाले चन्द्रगुप्त के साथ (वह राक्षस) नन्द-वश म अनुराग होने से दृढ भक्ति के कारण क्या सधि कर लेगा। अथवा मेरी (मेरी) भक्ति रूपी गुण की दृढता का विचार करते हुए सत्यप्रतिज्ञ होगा, इस प्रकार मेरा चित्त कुम्हार के चक्र पर चढे हुए के समान चिरकाल से घूम रहा है ।।५।।

टिप्पणी—विकल्पबाहुल्यात्—सन्देहाधिक्यात् । विशेषेण कल्प्यते इति विकल्प कर्माणि घञ् । तस्य बाहुल्यम् । तस्मात् । हेतौ पञ्चमी । कृतिना—कुशल या कृतार्थ । इस श्लोक म उत्प्रेक्षा अलकार से ससृष्ट परिकर अलकार का विकल्प नामक अलकार के साथ साकर्य है। इसमे शार्दूलविक्रीडित छन्द है। इस छन्द का लक्षण २, १२ मे देखिए ।।५।।

[प्रकाशम्] विजये ! क्व भागुरायण ।

प्रतीहारी—कुमार ! एसो क्खु कडआदो णिक्कमिदुकामाण मुद्दासपदाण अणु चिट्ठदि। (कुमार ! एष खलु कटकान्निष्क्रमितुकामाना मुद्रासम्प्रदानमधितिष्ठति ।)

मलयकेतु—विजये ! मुहूर्त्तं निभृतपदसञ्चारा भव, यावदस्य पराङ्मुखस्यैव पाणिभ्या नयने पिदधामि ।

प्रतीहारी—ज कुमारो आणवेदि । (यत् कुमार आज्ञापयति ।)

भागुरक—[प्रविश्य] अज्ज ! एसो क्खु क्खवणओ मुद्दाणिमित्त

अज्जं पेक्खिदुमिच्छदि। (आर्य ! एष खलु क्षपणको मुद्रानिमित्तमार्यं प्रेक्षितुमिच्छति।)

भागुरायणः—प्रवेशय।

भासुरकः—जं अज्जो आणवेदि। (यदार्य आज्ञापयति।)

[इति निष्क्रान्तः।]

क्षपणकः—[प्रविश्य] सावकाणं धम्मविद्धी होदु। (उपासकानां धर्मवृद्धिर्भवतु।)

भागुरायणः—[नाट्येनावलोक्य स्वगतम्] अये ! राक्षसस्य मित्रं जीवसिद्धिः। [प्रकाशम्] भदन्त ! न खलु राक्षसस्य प्रयोजनमेव किञ्चिदुद्दिश्य गम्यते ?

हिन्दी अनुवाद—[प्रकट] विजये ! भागुरायण कहाँ है ?

प्रतीहारी—कुमार ! ये शिविर से बाहर जाने की इच्छा करने वालों को मुद्रा दे रहे हैं।

मलयकेतु—विजये ! क्षण भर के लिए पैरों की गति को रोक दो, जबतक कि मैं दूसरी ओर मुँह किये हुए ही इसकी आँखो को (अपने) हाथों से बंद कर दूं।

प्रतीहारी—जो कुमार की आज्ञा।

भासुरक—[प्रवेश करके] आर्य ! ये क्षपणक मुद्रा के लिए आर्य से मिलना चाहते हैं।

भागुरायण—प्रवेश कराओ।

भासुरक—जो आर्य की आज्ञा।

[बाहर चला जाता है।]

क्षपणक—[प्रवेश करके] उपासकों का धर्म बढ़े।

भागुरायण—[अभिनय के साथ देखकर मन में] अरे ! राक्षस का मित्र जीवसिद्धि है। [प्रकट] भदन्त ! राक्षस के ही किसी प्रयोजन को लक्ष्य करके तो नहीं जा रहे हैं ?

टिप्पणी—निष्क्रमितुकामानाम्—बाहर जाने के इच्छुकों को। निष्क्रमितुम् इत्यत्र भावे तुमुन् 'अव्ययकृतो भावे' इति नियमात्। अतएव निष्क्रमितुम् अर्थात् निष्क्रमणे कामः एषाम् इति निष्क्रमितुकामा व्यधिकरणबहुव्रीहि स०, 'तुङ्काममनसोरपि' इति कारिकया मलोप। तेषाम्। मुद्रासम्प्रदानम्—गमनागमनादेशपत्रमित्यर्थः, पासपत्र (पासपोर्ट)। निभृतपदसञ्चारा—त्यक्तचरणप्रक्षेपा निवृत्तगमनेति यावत्। पिदधामि—अत्र 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयो। आपञ्चापि हलन्ताना यथा वाचा निशा दिशा॥' इति कारिकया अप्युपसर्गाकारस्य लोप। राक्षसस्य मित्रम् भागुरायण को यह नही मालूम है कि जीवसिद्धि चाणक्य का मित्र एव गुप्तचर है, इसीलिए उसने ऐसा स्वगत कहा है।

क्षपणक —[कर्णौ पिधाय] सन्त, पाव, सन्त पाव। सावका ! तहिं ज्जेव गमिस्स जहिं रक्खसस्स पिसाचस्स वा णाम पि ण सुणीअदि। (शान्तं पाप शान्त पापम्। उपासक ! तत्रैव गमिष्यामि, यत्र राक्षसस्य पिशाचस्य वा नामापि न श्रूयते।)

भागुरायण —भदन्त ! बलीयास्ते सुहृदि प्रणयकोप। तत् किमपराद्ध राक्षसेन भदन्तस्य ?

क्षपणक —सावका ! ण मम किं पि रक्खसेण अवलद्ध, सअ ज्जेव्व मन्दभाओ अत्तणो कम्मसु लज्जामि। (उपासक ! न मे किमपि राक्षसेनापराद्ध, स्वयमेव मन्दभाग्य आत्मनः कर्मसु लज्जे।)

भागुरायण —भदन्त ! वर्धयसि मे कुतूहलम्।

मलयकेतु —[स्वगतम्] मम च।

भागुरायण —श्रोतुमिच्छामि।

मलयकेतु —[स्वगतम्] अहमपि।

क्षपणक —सावका ! किं एदिणा असुणिदव्वेण सुदेण ? (उपासक ! किमेतेनाश्रोतव्येन श्रुतेन ?)

भागुरायण—भदन्त ! यदि रहस्य, तदा तिष्ठतु।

क्षपणक —सावका ! ण हि रहस्स। (उपासक ! न हि रहस्यम्।)

भागुरायण —तर्हि कथ्यताम्।

क्षपणकः—साबका ! णत्थि एदं, तधावि ण कधइस्सं अदिणिसंसं। (उपासक ! नास्तीदं, तथापि न कथयिष्याम्यतिनृशंसम्।)

भागुरायणः—भदन्त ! अहमपि मुद्रां न दास्यामि।

क्षपणकः—[स्वगतम्] युक्तमिदानीमर्थिने कथयितुम्। [प्रकाशम्] का गदी ? एसे णिवेदेमि, सुणादु साबको। अत्थि दाव हगे अधण्णो पढ़मं पाड़लिउत्ते णिबसमाणो रक्खसस्स मित्तत्तणं उबगदे। तहिं अबसले रक्खसेण गूढं बिकसण्णाप्पओअं समुप्पादिअ घादिदे देव पब्बदीसले। (का गतिः ? एष निवेदयामि, शृणोतु उपासकः। अस्ति तावदहमधन्यः प्रथम पाटलिपुत्रे निवसन् राक्षसस्य मित्रत्वमुपागतः। तस्मिन्नवसरे राक्षसेन गूढ विषकन्याप्रयोगं समुत्पाद्य घातितो देवः पर्वतेश्वरः।)

हिन्दी अनुवाद—क्षपणक—[कानों को बन्द करके] पाप शान्त हो, पाप शान्त हो। उपासक ! मैं वहीं जाऊँगा, जहाँ राक्षस या पिशाच का नाम भी नही सुना जाता है।

भागुरायण—भदन्त ! मित्र पर आपका बड़ा भारी प्रेम-कोप है। सो राक्षस ने भदन्त का क्या अपराध किया ?

क्षपणक—उपासक ! राक्षस ने मेरा कुछ भी अपराध नहीं किया, मैं अभागा स्वयं ही अपने कर्मों से लज्जित हूँ।

भागुरायण—भदन्त ! आप मेरे कुतूहल को बढ़ा रहे हैं।

मलयकेतु—[मन में] मेरे भी।

भागुरायण—मैं सुनना चाहता हूँ !

मलयकेतु—[मन में] मै भी।

क्षपणक—उपासक ! इस न सुनने योग्य (विषय) के सुनने से क्या (लाभ) ?

भागुरायण—भदन्त ! यदि गोपनीय हो तो रहने दीजिये।

क्षपणक—उपासक ! गोपनीय नही है।

भागुरायण—तब कहिए।

क्षपणक—उपासक ! यह (गोपनीय) नहीं है, तो भी अत्यन्त कठोर बात मैं नहीं कहूँगा ।

भागुरायण—भदन्त ! मैं भी मुद्रा नहीं दूँगा ।

क्षपणक—[मन मे] इस समय (सुनाने के) प्रार्थी को कहना उचित है । [प्रकट] क्या उपाय है ? अभी बताता हूँ, उपासक सुने । यह सत्य है कि पहले पाटलिपुत्र मे रहता हुआ भाग्यहीन मैं राक्षस का मित्र बन गया। उसी समय राक्षस ने गुप्त रूप से विषकन्या का प्रयोग करके महाराज पर्वतेश्वर को मरवा दिया ।

टिप्पणी—प्रणयकोप —प्रणयकृत कोप प्रणयकोपः मध्यमपदलोपी स० । अपराद्धम्—अप्√राध् (दिवादि)+क्त भावे अथवा अप√राध्+ क्त कर्मणि अपराद्धम् । प्रथम व्युत्पत्ति किम् को प्रश्नवाची मानकर की गई है और दूसरी व्युत्पत्ति किम् को 'अपराद्धम्' का विशेषण मानकर दिखाई गई है । भदन्तस्य—यहाँ 'राधीक्ष्यार्यस्य विप्रश्न ' सूत्र से चतुर्थी होनी चाहिए थी, किन्तु शेष की विवक्षा मे षष्ठी हो गई। अतिनृशसम्—अतिशयक्रूरम् । घातित पर्वतेश्वर —राक्षस ने पर्वतेश्वर का वध कराया है, यह अफवाह चाणक्य ने फैला दी थी, जो राक्षस को मालूम थी । किन्तु मलयकेतु के कानो तक नही पहुँची थी। अब जीवसिद्धि भागुरायण के द्वारा मलयकेतु को इससे अवगत करा देना चाहता है ।

मलयकेतु —[सवाष्पमात्मगतम्] कथ राक्षसेन घातितस्तातो न चाणक्येन ?

भागुरायण —भदन्त ! ततस्ततः ?

क्षपणक —तदो हगे रक्खसस्स मित्त कदुअ चाणक्कहदएण सणिकाल णअरादो णिव्वासिदो । दाणी पि रक्खसेण अणेअकज्जकुसलेण किंपि तादिस आलहीअदि, जेण हगे जीअलोआदो णिक्कासिज्जेमि । (ततोऽह राक्षसस्य मित्र कृत्वा चाणक्यहतकेन सनिकार नगरान्निर्वासित । इदानीमपि राक्षसेनानेकाकार्यकुशलेन किमपि तादृशमारभ्यते, येनाह जीवलोकान्निष्कासिष्ये ।)

भागुरायणः—भदन्त ! प्रतिश्रुतराज्यार्धमयच्छता चाणक्यहतकेनेदमकार्यमनुष्ठितं न राक्षसेनेति श्रुतमस्माभिः।

क्षपणकः—[कर्णौ पिधाय] सन्तं पावं। सावका ! चाणक्को बिसकण्णाए णामपि ण जाणादि। तेण ज्जेब दुट्टबुद्धिणा रक्खसेण एसा अकज्जसिद्धी किना (शान्तं पापम्। उपासक ! चाणक्यो विषकन्याया नामापि न जानाति। तेनैव दुष्टबुद्धिना राक्षसेनैषाऽकार्यसिद्धिः कृता।)

भागुरायणः—भदन्त ! कष्टमिदमियं मुद्रा दीयते, एहि कुमारं संश्रावयावः।

हिन्दी अनुवाद—**मलयकेतु**—[आँसू के साथ मन में] कैसे राक्षस ने पिता जी को मरवाया चाणक्य ने नहीं ?

भागुरायण—भदन्त ! तब क्या हुआ ?

क्षपणक—तब मैं राक्षस का मित्र हूँ, ऐसा करके दुष्ट चाणक्य के द्वारा अपमानपूर्वक नगर से निकाल दिया गया। अभी भी अनेक प्रकार के कुकर्मों में निपुण राक्षस ने कुछ वैसा (काम) प्रारंभ किया है, जिससे मैं संसार से निकाल दिया जाऊँगा।

भागुरायण—भदन्त ! प्रतिज्ञा किये हुए राज्य का आधा (भाग) न देते हुए दुष्ट चाणक्य ने यह कुकर्म किया राक्षस ने नहीं, ऐसा हमने सुना था।

क्षपणक—[कानों को बन्द करके] पाप शान्त हो। उपासक ! चाणक्य विषकन्या का नाम भी नहीं जानता है। उसी दुष्टबुद्धि राक्षस ने यह कुकर्म का अनुष्ठान किया है।

भागुरायण—भदन्त ! यह कष्ट की बात है। यह मुद्रा दे रहा हूँ। आइए, कुमार को हम दोनों सुनावें।

टिप्पणी—राक्षसस्य मित्रमिति कृत्वा—पहले अंक में यह संकेत आ चुका है कि जीवसिद्ध को चाणक्य ने राक्षस का मित्र बनकर कार्य सिद्ध करने का आदेश दिया। अतएव जीवसिद्धि ने राक्षस का इतना विश्वास प्राप्त कर लिया कि विषकन्या के द्वारा चन्द्रगुप्त को मरवाने के कार्य में राक्षस ने जीवसिद्धि को ही नियुक्त किया। किन्तु जीवसिद्धि ने विषकन्या का प्रयोग चन्द्रगुप्त के प्रति

न करके पर्वतेश्वर के प्रति कर दिया। राक्षस ने इस रहस्य को नहीं समझा। अतएव उसने भाग्य को इसके लिए दोषी ठहराया। **सनिकारम्**—सापमानम्। **निर्वासित**—निष्कासित। **तादृशम्**—पर्वतेश्वरघातनसदृशम्। गूढार्थस्तु मलयकेतुनिग्रहरूप कार्यम्। **जीवलोकात्**—संसारात्। **प्रतिश्रुतराज्यार्धम्**—प्रतिश्रुत च तद्राज्यार्धम् प्रतिश्रुतराज्यार्धम् = प्रतिज्ञातराज्यार्धभागम्। **अयच्छता**—अददता। **अकार्यम्**—पर्वतेश्वरघातनात्मक निन्दित कर्म।

मलयकेतु—

> श्रुत सखे! श्रवणविदारण वच
> सुहृन्मुखाद्रिपुमधिकृत्य भाषितम्।
> पितुर्वधव्यसनमिद हि येन मे
> चिरादपि द्विगुणमिवाद्य वर्धते॥ ६॥

अन्वय—सखे! रिपुमधिकृत्य भाषित श्रवणविदारण वचः सुहृन्मुखात् श्रुतम् येन इद मे पितुर्वधव्यसन चिरादपि अद्य द्विगुणमिव वर्धते हि॥ ३॥

व्याख्या—सखे!—मित्र!, रिपुम्—शत्रुम्, अधिकृत्य—उद्दिश्य, भाषित—कथित, श्रवणविदारण—श्रवणयो कर्णयो विदारण भेदकमिव, वच—वचन सुहृन्मुखात्—सुहृद मित्रस्य शत्रोरेव राक्षसस्य सुहृद जीवसिद्धे· मुखात् आननात्, श्रुतम्—आकर्णितम्, येन—श्रवणेन, इदम्—अनुभूयमान, मे—मम, पितुर्वधव्यसन—तातविनाशजन्यदु ख, चिरादपि चिरकालजातमपि, अद्य—अस्मिन् दिने, द्विगुणमिव—अधिकमिव, वर्धते हि—वृद्धते एव॥६॥

हिन्दी अनुवाद—मलयकेतु—

मित्र! शत्रु को लक्ष्य करके कहा हुआ कर्णभेदी वचन (राक्षस के) मित्र के मुख से सुन लिया, जिससे यह मेरा पितृ-वध से उत्पन्न दु ख बहुत दिन हो जाने से भी आज मानो दूना बढ़ रहा है॥६॥

टिप्पणी—**श्रवणविदारणम्**—कानो को विदीर्ण करने वाला। विदारयति इति वि√दृ + णिच् + ल्युट् कर्तरि बाहुलकात् = विदारणम्। श्रवणयो· विदारणम् षष्ठीतत्०। **सुहृन्मुखात्**—(राक्षस के) मित्र के मुख से। चूंकि राक्षस

का मित्र ही ऐसा कह रहा है, इसलिए इस समाचार पर सन्देह करने की कोई गुंजाइश नहीं है। सुहृत् और मित्र आदि में अन्तर—'अत्यागसहनो बन्धुः सदैवानुमतः सुहृत् । एकक्रियं भवेन्मित्रं समप्राणः सखा मतः ।' इस पद्य में उत्प्रेक्षा अलंकार है और रुचिरा छंद है। रुचिरा का लक्षण २, ३ में देखिए ॥ ६ ॥

क्षपणकः—[स्वगतम्] अये श्रुतं मलयकेतुहतकेन !! कृतार्थोऽस्मि।

[इति निष्क्रान्तः ।]

मलयकेतुः—[प्रत्यक्षवदाकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा] राक्षस ! युक्तमिदम् ।

मित्रं ममायमिति निर्वृतचित्तवृत्तिं
विश्रम्भतस्त्वयि निवेशितसर्वकार्यम् ।
तातं निपात्य सह बन्धुजनाक्षितोयै-
रन्वर्थतोऽपि ननु राक्षस ! राक्षसोऽसि ॥ ७ ॥

अन्वयः—ननु राक्षस ! अयं मम मित्रम् इति विश्रम्भतः त्वयि निवेशितसर्वकार्यम् निर्वृतचित्तवृत्तिं तातं बन्धुजनाक्षितोयैः सह निपात्य अन्वर्थतोऽपि राक्षसोऽसि ॥ ७ ॥

व्याख्या—ननु राक्षस—भो राक्षस ! अयं—राक्षसः, मम—मे, मित्रम्—सुहृत्, इति—एवम्, विश्रम्भतः—विश्वासात्, त्वयि—राक्षसे, निवेशितसर्वकार्यम्—निवेशितं समर्पितं सर्वकार्यं निखिलं राज्यं यादृशम्, निर्वृतचित्तवृत्तिं—निर्वृता स्वस्था चित्तवृत्तिः मनोव्यापारः यस्य तादृशम्, तातं—पितरं, बन्धुजनाक्षितोयैः—आत्मीयजनाश्रुभिः, सह—साकम्, निपात्य—धराशायिनं कृत्वा, अन्वर्थतोऽपि—योगार्थादपि, राक्षसोऽसि—असुरोऽसि ॥७॥

हिन्दी अनुवाद—**क्षपणक**—[मन में] अरे ! दुष्ट मलयकेतु ने सुन लिया !! मै कृतार्थ (हो गया) हूँ।

[बाहर चला जाता है।]

मलयकेतु—[आकाश में प्रत्यक्ष की भाँति दृष्टि बाँधकर] राक्षस ! यह ठीक है।

राक्षस ! यह मेरा मित्र है—इस प्रकार विश्वास के कारण तुम्हें सम्पूर्ण

(राज्य) कार्य सौंप देने वाले और (अतएव) स्वस्थ चित्तवृत्ति वाले पिता (पर्वतेश्वर) को बन्धुजनो के आँसुओं के साथ धराशायी करके तुम अर्थ की दृष्टि से भी राक्षस हो (अर्थात् केवल नाम्ना ही राक्षस नहीं हो अपितु कर्मणा भी राक्षस हो) ॥७॥

टिप्पणी—अये श्रुतम् क्षपणक को यह नही मालूम था कि मलयकेतु उसकी बात सुन रहा है। इसलिए जब मलयकेतु ने कहा कि मैंने सब कुछ सुन लिया तब वह बहुत प्रसन्न हुआ और यह कह उठा कि मैं कृतकृत्य हो गया। क्योकि वह इसी कार्य के लिए नियुक्त था कि मलकेतु के मन मे पर्वतेश्वर की हत्या राक्षस ने करवाई है चाणक्य ने नही—इस बात को जमा दे। सो वह इस कार्य में सफल हो गया। बन्धुजनाक्षितोयैः—बन्धुजनानाम् अक्षितोयैः=नेत्रजलै। निपात्य—प्राणैर्वियोज्य इत्यर्थ। अन्वर्थत— अर्थ का अनुसरण करते हुए, यथार्थ मे। अनुगत अर्थम् अन्वर्थ, तेन। 'तृतीयायास्तसि' इत्यनेन तसिप्रत्यय। इस पद्य मे अतिशयोक्तिमूलक सहोक्ति अलकार है। इसमे वसन्ततिलका छद है। इस छन्द का लक्षण १, ८ में देखिए ॥७॥

भागुरायण—[स्वगतम्] रक्षणीया राक्षसस्य प्राणा इत्यार्यादेश। भवत्वेव तावत्। [प्रकाशम्] कुमार! अलमावेगेन। आसनस्थ कुमार किञ्चिद्विज्ञापयितुमिच्छामि।

मलयकेतु—[उपविश्य] सखे! किमसि वक्तुकाम?

भागुरायण—कुमार! खल्वर्थशास्त्रव्यवहारिणामर्थवशादरिमित्रोदासीनव्यवस्था न लौकिकानामिव स्वेच्छावशात्। यतस्तस्मिन् काले सर्वार्थसिद्धि राजनमिच्छतो राक्षसस्य चन्द्रगुप्तादपि बलीयस्तया सुगृहीतनामा देव पर्वतेश्वर एवार्थपरिपन्थी महानरातिरासीत्। तस्मिश्च काले राक्षसेनेदमनुष्ठितमिति नातिदोषमत्र पश्यामि। पश्यतु कुमार—

मित्राणि शत्रुत्वमिवानयन्ती
मित्रत्वमर्थस्य वशाच्च शत्रून्।
नीतिर्नयत्यस्मृतपूर्ववृत्त
जन्मान्तर जीवत एव पुस ॥८॥

अन्वयः—अर्थस्य वशात् नीतिः अस्मृतपूर्ववृत्तं मित्राणि शत्रुत्वं शत्रून् च मित्रत्वम् इव आनयन्ती जीवत एव पुंसः जन्मान्तरं नयति ॥८॥

व्याख्या—अर्थस्य—प्रयोजनस्य, वशात्—अनुरोधात्, नीतिः—नय-व्यवहारः, अस्मृतपूर्ववृत्तम्—अस्मृतं स्मृतिपथमनारूढं पूर्ववृत्तं प्राग्व्यवहारः यस्मिन् तत् यथा तथा, मित्राणि—सुहृदः, शत्रुत्वं, शत्रून् च—अरींश्च, मित्रत्वम्—सुहृत्त्वम्, इव—तद्वत्, आनयन्ती—प्रापयन्ती, जीवत एव—अमृतानेव, पुंसः—पुरुषान्, जन्मान्तरम्—अन्यज्जन्म, नयति—प्रापयति ॥८॥

हिन्दी अनुवाद—भागुरायण—[मन में] राक्षस के प्राण बचाने चाहिए, यह आर्य (चाणक्य) की आज्ञा है। तब तक ऐसा हो। [प्रकट रूप से] कुमार ! क्रोध में न आवें। आसनासीन हुए कुमार से कुछ निवेदन करना चाहता हूँ।

मलयकेतु—[बैठकर] मित्र ! क्या कहना चाहते हो ?

भागुरायण—कुमार ! नीतिशास्त्र के अनुसरण करने वालों की शत्रु, मित्र और तटस्थ की व्यवस्था प्रयोजनवश हुआ करती है, साधारण व्यक्तियों की तरह स्वेच्छानुसार नहीं। क्योंकि उस समय सर्वार्थसिद्धि को राजा बनाने की इच्छा करते हुए राक्षस के लिये चन्द्रगुप्त से भी बलवान् प्रातः स्मरणीय महाराज पर्वतेश्वर ही स्वार्थ में बाधक महान् शत्रु थे। (अतएव) उस समय राक्षस ने यह किया, इसलिए इसमें (उसका) बहुत दोष नहीं देखता हूँ। कुमार देखें—

प्रयोजनवश नीति पहले के व्यवहार को बिना स्मरणपथ में लाये मित्रों को शत्रु और शत्रुओं को मित्र के समान बनाती हुई जीवित ही पुरुषों को दूसरे जन्म मे पहुँचा देती है ॥८॥

टिप्पणी— अर्थशास्त्रव्यवहारिणाम् — नीतिशास्त्रानुसरणशीलानाम्। अर्थशास्त्रेण व्यवहर्तुं शीलमेषाम् इति अर्थशास्त्र—वि—अव √हृ + णिनि कर्तरि तच्छील्ये, तेषाम्। अर्थवशात्—अर्थस्य प्रयोजनस्य वशम् आयत्तता, तस्मात्। अरिमित्रोदासीनव्यवस्था—वि-अव √स्था + अङ् भावे = व्यवस्था। अरयश्च मित्राणि च उदासीनाश्च इति द्वन्द्व स०, तेषाम् व्यवस्था। लौकिकानाम्—लोकानुसरणशीलानाम् साधारणजनानामित्यर्थः। लोके भवाः

लौकिकाः लोक+ठञ् अध्यात्मादित्वात् । अर्थपरिपन्थी—कार्यप्रतिद्वन्द्वी। परिपन्थ शब्द अव्युत्पन्न है। व्युत्पन्न शब्द है परिपथ । परितः पन्था इति परिपथः। 'परिपथशब्दपर्यायः परिपन्थशब्दः अस्ति' इति काशिका। परिपन्थः अस्ति अस्य इति परिपन्थ+इनि मत्वर्थे=परिपन्थी। 'रिपौ वैरिसपत्नारि'—इत्युपक्रम्य 'प्रत्यर्थिपरिपन्थिन' इत्यमरः। भानुजी के अनुसार 'परि दोषाख्यानं पन्थयितुं शीलमस्य इति परि√पन्थ (गतौ चुरादि)+णिनि कर्तरि ताच्छील्ये=परिपन्थी। अर्थस्य परिपन्थी। अराति—शत्रुः। अस्मृतपूर्ववृत्तम्—पूर्व वृत्तान्त का स्मरण किये बिना अर्थात् जैसे जन्मान्तर में पूर्वजन्म का वृत्तान्त नहीं किया जाता या दूसरे शब्दों में स्मरण नहीं होता उसी तरह राजनीति में पहले के किये हुए अपकार आदि स्मरण नहीं किये जाते या दूसरे शब्दों में स्मरण होने पर भी भुला दिये जाते हैं। इस पद्य में उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति अलंकारों की संसृष्टि है। इसमें इन्द्रवज्रा छन्द है। इस छन्द का लक्षण यह है—'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ ग'॥८॥

तदत्र वस्तुनि नोपालभ्यो राक्षसः, आ नन्दराज्यलाभादनुग्राह्यश्च। परतस्तस्य परिग्रहे परित्यागे वा कुमारः प्रमाणम्।

मलयकेतु—एवं भवतु। सखे! सम्यक् दृष्टवानसि। अमात्यस्य वधे प्रकृतिक्षोभः स्यात् एवञ्च सन्दिग्धो विजयः स्यात्।

पुरुष—[प्रविश्य] जेदु कुमारो। अअ अज्जस्स गुम्मट्ठाणाधिकिदो दीहचक्खू अज्ज विण्णवेदि—एसो क्खु अह्मेहिं कडआदो णिक्कमन्तो अगहीदमुद्दो सलेहो पुरिसो गहीदो, ता पच्चक्खीकरेदु णं अज्जो त्ति। (जयतु कुमारः। अयमार्यस्य गुल्मस्थानाधिकृतो दीर्घचक्षुरार्यं विज्ञापयति—एष खल्वस्माभिः कटकान्निष्क्रामन्नगृहीतमुद्रः सलेखः पुरुषो गृहीतस्तत् प्रत्यक्षीकरोत्वेनमार्य इति।)

भागुरायण—भद्र! प्रवेशय।

पुरुषः—जं अज्जो आणवेदि। (यदार्यं आज्ञापयति)

[इति निष्क्रान्तः।]

[ततः प्रविशति पुरुषेणानुगम्यमानः संयतः सिद्धार्थकः।]

सिद्धार्थकः—[**स्वगतम्**]

तिप्पन्तीए गुणेसुं दोसेसुं परंमुहं करन्तीए ।
अह्मारिसजणणीए प्पणमामो सामिभत्तीए ॥९॥
(तृप्यन्त्यै गुणेषु दोषेषु पराङ्मुखं कुर्वन्त्यै ।
अस्मादृशजनन्यै प्रणमामः स्वामिभक्त्यै ॥९॥)

अन्वयः—गुणेषु तृप्यन्त्यै दोषेषु पराङ्मुखं कुर्वन्त्यै अस्मादृशजनन्यै स्वामिभक्त्यै प्रणमामः ॥९॥

व्याख्या—गुणेषु—उत्कर्षेषु, तृप्यन्त्यै—सन्तुष्टायै, दोषेषु—अपराधेषु, पराङ्मुखं—विमुखं, कुर्वन्त्यै—विदधत्यै, अस्मादृशजनन्यै—अस्मादृशानां मद्विधानां जनन्यै (अन्नदानादिपोषणकर्मभिः) मातृरूपायै, स्वामिभक्त्यै—प्रभुसेवायै, प्रणमामः—नमस्कुर्मः ॥९॥

हिन्दी अनुवाद—इसलिए इस (पर्वतेश्वर के वध के) विषय में राक्षस को उलाहना नही देना चाहिए, प्रत्युत नन्द-राज्य के मिलने तक (उस पर) अनुग्रह करना चाहिए । बाद में स्वीकार करने में या परित्याग करने में कुमार प्रमाण हैं (अर्थात् आपकी इच्छा है ।)

मलयकेतु—ऐसा ही रहे । मित्र ! तुमने अच्छा सोचा है । अमात्य के वध करने पर प्रजा में विद्रोह उठ खड़ा होगा और इस प्रकार विजय संदिग्ध हो जाएगी ।

पुरुष—[**प्रवेश करके**] कुमार की जय हो । ये आर्य के प्रधान शिविरपाल दीर्घचक्षु आर्य से निवेदन करते हैं—'बिना मुद्रा लिये एक लेख-पत्र के साथ शिविर से निकलते हुए इस पुरुष को हमने पकड़ा है, इसलिए आर्य इसको देखें ।

भागुरायण—भद्र ! प्रवेश कराओ ।

पुरुष—आर्य की जैसी आज्ञा । [**बाहर चला जाता है ।**]

[**तदनन्तर बँधे हुए सिद्धार्थक और पीछे-पीछे एक पुरुष का प्रवेश**]

सिद्धार्थक—[**मन में**]

गुणों से संतुष्ट और दोषों से विमुख करने वाली हम लोगों की मातृतुल्य स्वामि-भक्ति को प्रणाम है ॥९॥

टिप्पणी—अत्र वस्तुनि—अस्मिन् पर्वतेश्वरवधे इत्यर्थ । अनुग्राह्य — अनु√ग्रह+ण्यत् कर्मणि । प्रमाणम्—निदर्शनम् । नन्दराज्यप्राप्त्युत्तरकाले यथा भवत रोचते तथा करिष्यतीत्यर्थ । सन्दिग्ध —सन्देहयुक्त । सम्√दिह्+क्त अधिकरणे 'क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्य.' इत्यनेन । गुल्मस्थानाधिकृत —शिविरप्रधानद्वारपालक । गुल्मस्थाने अधिकृत. । गुणेषु—अत्र विषयाधिकरणे सप्तमी । तृप्यन्त्यै— तृपेरन्तर्भावितण्यर्थत्वात् तृप्तिप्रदायिन्यै इत्यर्थ । स्वामिभक्त्यै—यह प्रणामाम' का कर्म है । इसलिए 'स्वामिभक्तम्' प्रयोग होना चाहिए था । किन्तु 'स्वामिभक्तिमनुकूलयितु प्रणामाम' इस विवक्षा मे 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिन' इस सूत्र से चतुर्थी होने पर 'स्वामिभक्त्यै' प्रयोग हो सकता है । इस पद्य मे निरङ्गरूपक अलकार है और आर्या छन्द है । आर्या का लक्षण १, ५ में देखिए ॥ ६ ॥

पुरुष —[उपसृत्य] अज्ज ! अअ सो पुरिसो । (आर्य ! अय स पुरुष ।)

भागुरायण —[सादरेणावलोक्य] भद्र ! किमयमागन्तुक , आहो स्विदिहैव कस्यचित्परिग्रह ?

सिद्धार्थक —अज्ज ! अह क्खु अमच्चरक्खसस्स सेवओ । (आर्य ! अह खल्वमात्यराक्षसस्य सेवक ।)

भागुरायण —भद्र ! तत् किमर्थमनुगृहीतमुद्र कटकान्निष्क्रामसि ?

सिद्धार्थक —अज्ज ! कज्जगोरवेण तुवराविदोह्मि । (आर्य ! कार्य-गौरवेण त्वरायितोऽस्मि ।)

भागुरायण —कीदृश तत्कार्यगौरव, यद्राजशासनमुल्लङ्घयसि ?

मलयकेतु —सखे भागुरायण ! लेखमुपानय ।

सिद्धार्थक —[भागुरायणाय लेखमर्पयति ।]

भागुरायण —[सिद्धार्थकहस्ताल्लेख गृहीत्वा मुद्रा दृष्ट्वा] कुमार ! अय लेख , राक्षसनामाङ्कितेय मुद्रा ।

मलयकेतु —मुद्रा परिपालयन्नुद्घाट्य दर्शय ।

भ रायण —[तथा कृत्वा दर्शयति ।]

मलयकेतुः—[गृहीत्वा वाचयति।] 'स्वस्ति, यथास्थानं कुतोपि, कोपि, कमपि, पुरुषविशेषमवगमयति। अस्मद्विपक्षं निराकृत्य दर्शिता कापि सत्यता सत्यवादिना। साम्प्रतमेषामपि प्रथममुपन्यस्तसन्धीनामस्मत्सुहृदां, पूर्वप्रतिज्ञातसन्धिपरिपणवस्तुप्रतिपादनप्रोत्साहनेन सत्यसन्धः, प्रीतिमुत्पादयितुमर्हति। एते ह्येवमनुगृहीताः सन्तः स्वाश्रयविनाशेनैवोपकारिणमाराधयिष्यन्ति। अविस्मृतमप्येतत्—सत्यवतः स्मारयामः। एतेषां मध्ये केचिदरेः कोषदन्तिभ्यामर्थिनः, केचिद् विषयेणेति अस्मान् प्रत्यलङ्कारत्रयञ्च, यत् सत्यवताऽनुप्रेषितं तदुपगतम्। अस्माभिरपि लेखस्याशून्यार्थं किञ्चिदनुप्रेषितं तदुपगमनीयं, वाचिकञ्चाप्ततमात् सिद्धार्थकाच्छ्रोतव्यम्' इति।

व्याख्या—स्वस्ति—मङ्गलार्थकमव्ययमेतत्, यथास्थानं—स्थानमनतिक्रम्य कुतोऽपि—कस्मादपि स्थानादिति शेषः, कमपि, पुरुषविशेषम्—जनम्, अवगमयति—विज्ञापयति। अस्मद्विपक्षं—मम शत्रुं, निराकृत्य—निष्काश्य अमात्यपदात् पृथक्कृत्येत्यर्थः, सत्यवादिना—तथ्यभाषिणा, (भवता) कापि—लोकोत्तरा, सत्यता—सत्यपालनकर्तृता, दर्शिता—प्रकटिता। साम्प्रतम्—इदानीम्, प्रथमम्—प्राक्, उपन्यस्तसन्धीनाम्—उपन्यस्तः कृतः सन्धिः भवता सह सम्मेलनं यैः तथाविधानाम्, एषाम्, अस्मत्सुहृदाम्—अस्मन्मित्राणां, पूर्वप्रतिज्ञातसन्धिपरिपणवस्तुप्रतिपादनप्रोत्साहनेन—पूर्वं प्राक् प्रतिज्ञातस्य प्रतिश्रुतस्य सन्धेः सम्मेलनस्य परिपणः मूल्यभूतं यद् वस्तु तस्य प्रतिपादनं समर्पणं तेन प्रोत्साहनम् आश्वासनम् तेन, सत्यसन्धः—सत्यप्रतिज्ञः, प्रीतिम्—मुदम्, उत्पादयितुम् जनयितुम्, अर्हति—योग्यो भवति। एते—कौलूतप्रभृतयः, एवम्—इत्थम्, अनुगृहीताः—अनुकम्पिताः, सन्तः—भवन्तः, स्वाश्रयविनाशेनैव—स्वकीयावलम्बविघातेनैव हेतुना, उपकारिणम्—हितकारकं भवन्तमिति शेषः, आराधयिष्यन्ति। एतत्—पूर्वोक्तम्, अविस्मृतमपि—स्मृतमपीत्यर्थः, सत्यवतः—सत्यवादिनः भवत इत्यर्थः, स्मारयामः—स्मृतिपथं प्रापयामः। एतेषां—कौलूतप्रभृतीनां मध्ये, केचित्—कियन्तो जना इति शेषः, अरेः—रिपोः, कोषदन्तिभ्याम्—अर्थराशिगजाभ्याम्, अर्थिनः—धनवन्तः, केचित्—कियन्तो जनाः, विषयेण—राज्येन इति। अस्मान् प्रति अस्माकं पार्श्वे, अलङ्कारत्रयम्—त्रीणि भूषणानि, यत्, सत्यवता—सत्यभाषिणा भवतेति शेषः, अनुप्रेषितम्—प्रहितम्, तत्, उपगतम्—प्राप्तम्

सिद्धार्थक —[भय नाटयन्] तुह्मेहिं। (युष्माभि ।)

भागुरायण.—किमस्माभि ?

सिद्धार्थक —मिस्सेहिं गहीदो, ण आणामि, किं भणामि त्ति। (मिश्रैर्गृहीतो न जानामि किं भणामीति।)

भागुरायण —[सक्रोधम्] एप ज्ञास्यसि। भद्र भामुरक ! वहिर्नीत्वा ताड्यता तावत्, यावत् सवमनन कथित भवेत्।

भामुरक —ज अज्जो आणवेदि। (यदार्य आज्ञापयति।)

[इति सिद्धार्थकेन सह निष्क्रान्त]

[पुन प्रविश्य] अज्ज ! इअ तस्स ताडीअमाणस्स कक्खादो णाममुद्दालञ्छिदा आहरणपेडिआ णिवडिदा। (आर्य ! इय तस्य ताड्यमानस्य कक्षत नाममुद्रालाञ्छिताऽऽभरणपेटिका निपतिता।)

हिन्दी अनुवाद—मलयकेतु—भागुरायण ! कैसा लेख है ?

भागुरायण—भद्र सिद्धार्थक ! यह किसका लेख है ?

सिद्धार्थक—आर्य ! नहीं जानता हूँ।

भागुरायण—रे धूर्त ! पत्र ले जा रहा है और नहीं जानता है कि यह किसका है। अच्छा, रहे सब कुछ। तुमसे मौखिक सदेश किसे सुनना है ?

सिद्धार्थक—[भय का अभिनय करते हुए] आप को।

भागुरायण—क्या मुझको ?

सिद्धार्थक—आपके द्वारा पकडा हुआ मैं नहीं जानता हूँ कि क्या कह रहा हूँ।

भागुरायण—[क्रोध के साथ] अभी जान जाओगे। भद्र भामुरक ! बाहर ले जाकर (इस) तबतक पीटो, जबतक यह सब कुछ (न) बता दे।

भामुरक—आर्य की जैसी आज्ञा।

[सिद्धार्थक के साथ चला जाता है।]

[पुन प्रवेश करके] आर्य ! पीटे जाते हुए इसकी काँख से यह नाम की छाप से चिह्नित गहनों की पेटी गिर पडी।

टिप्पणी—भद्र !—भद्रम् अस्य अस्ति इति भद्रः भद्र+अच् अर्श आदित्वात्। तत्सम्बुद्धो हे भद्र इति। **सर्वं तावत्तिष्ठतु**—अच्छा रहने दो। मैं तुमसे इन सब बातो के विषय में नहीं पूछता हूँ। मैं केवल मौखिक सन्देश के बारे में जानना चाहता हूँ। **युष्माभिः**—श्रोतव्यमिति शेषः। यहाँ गूढ़ तात्पर्य यह है कि आप लोगों के सुनने के लिए ही यह सब कुछ आयोजन किया गया है, अतएव आप लोग इसे सुनें। **मिश्रैः**—पूज्यैः भवद्भिरिति शेषः। **ताड्यताम्**—आहन्यताम्। **कक्षतः**—भुजमूलात्।

भागुरायणः—[विलोक्य] कुमार ! इयमपि राक्षसमुद्राङ्कितैव।

मलयकेतुः—अयं लेखस्याशून्यार्थो भविष्यति। इमामपि मुद्रां परिपालयन्नुद्घाट्य दर्शय।

भागुरायणः—[तथा कृत्वा दर्शयति।]

मलयकेतुः—[विलोक्य] अये ! तदिदमाभरणं, यन्मया स्वशरीराद-वतार्य राक्षसाय प्रेषितम्। व्यक्तं चन्द्रगुप्तस्यायं लेखः।

भागुरायणः—कुमार ! एष निर्णीयते संशयः। भद्र ! पुनरपि ताड्यताम्।

पुरुषः—जं अज्जो आणवेदि। (यदार्य आज्ञापयति।) [इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य च] अज्ज ! एसो क्खु ताड़ीअमाणो विण्णवेदि—कुमारस्स सअं ज्जेव णिवेदेमि त्ति। (आर्य एष खल ताड्यमानो विज्ञापयति—कुमारस्य स्वयमेव निवेदयामीति।)

मलयकेतुः—प्रवेशय।

पुरुषः—जं कुमालो आणवेदि। (यत् कुमार आज्ञापयति।)

[इति निष्क्रम्य सिद्धार्थकेन सह पुनः प्रविशति।]

सिद्धार्थकः—[पादयोर्निपत्य]—अभएण मे कुमालो प्पसादं करेदु। (अभयेन मे कुमारः प्रसादं करोतु।)

मलयकेतुः—भद्र ! भद्र !! अभयमेव परायत्तजनस्य, तन्निवेद्यतां यथाऽवस्थितम्।

सिद्धार्थक—णिसामेदु कुमालो, अह क्खु अमच्चरक्खसेण इम लेह देइअ, चन्दउत्तसआस प्पेसिदोह्मि। (निशामयतु कुमार, अह खल्वमात्यराक्षसेनेम लेख दत्त्वा चन्द्रगुप्तसकाश प्रेपितोऽस्मि।)

मलयकेतु —भद्र वाचिकमिदानी श्रोतुमिच्छामि।

हिन्दी अनुवाद—भागुरायण—[देखकर] कुमार ! यह भी राक्षस की मुद्रा से अकित ही है।

मलयकेतु—यह पत्र का रिक्तनापूरक (उपहार) होगा। इस मुद्रा को भी बचाते हुए खोलकर दिखाओ।

भागुरायण—[वैसा करके दिखाता है।]

मलयकेतु—[देखकर] अरे ! यह तो वह आभूपण है, जिसे मैंने अपने शरीर से उतार कर राक्षस के लिए भेजा था। स्पष्टत, यह च द्रगुप्त के लिए पत्र है।

भागुरायण—कुमार ! अभी सदेह का निर्णय कर लिया जाता है। भद्र ! फिर पीटो (इसे)।

पुरुष—आर्य की जैसी आज्ञा। [निकलकर और पुन प्रवेश करके] आर्य ! पीटने पर इसने कहा—कुमार को स्वय ही बताऊँगा।

मलयकेतु—प्रवेश कराओ।

पुरुष—कुमार की जैसी आज्ञा।

[निकलकर सिद्धार्थक के साथ पुन प्रवेश करता है।]

सिद्धार्थक—[पैरों पर गिरकर] कुमार मुझे अभयदान देने की कृपा करें।

मलयकेतु—भद्र ! भद्र !! पराधीन मनुष्य के लिए अभय ही है, इसलिए जैसा है, वैसा बताओ।

सिद्धार्थक—कुमार सुनें, अमात्य राक्षस ने मुझे यह लेख देकर चन्द्रगुप्त के पास भेजा है।

मलयकेतु—भद्र ! अब मौखिक सदेश सुनना चाहता हूँ।

टिप्पणी—**व्यक्तं चन्द्रगुप्तस्यायं लेखः**—चन्द्रगुप्त के लिए यह पत्र लिखा गया है। इसका प्रमाण यह है कि राजा के धारण करने योग्य जो आभूषण मैंने राक्षस के लिए भिजवाया था, वही आभूषण उसने चन्द्रगुप्त के लिए भेजा है। **संशयः**—संशय्यते असौ इति संशयः सम्√शी+अच् कर्मणि 'एरच्' इत्यनेन। **निवेदयामि**—अत्र भविष्यत्सामीप्ये लट्। **अभयेन**—भयस्य अभावः अभयम् अव्ययीभाव स०, तेन। **यथावस्थितम्**—अवस्थितमनतिक्रम्य यथावस्थितम् अव्ययीभाव स०। याथातथ्येन सर्व वृत्तमित्यर्थः। **निवेद्यताम्**—कथ्यताम्।

सिद्धार्थकः—कुमाल! संदिट्ठोह्मि अमच्चरक्खसेण, जहा—'एदे मम प्पिअबअस्सा पञ्च राआणो तुए सह प्पढ़मसमुप्पण्णसन्धाणा। जहा—कुलूदाहिबो चित्तवम्मा, मलअजणबदाहिबो सिहणादो, कस्सीरदेसणाहो पुक्खरक्खो, सिन्धुराओ सिन्धुसेणो, पारसीआधिबदी मेहक्खो त्ति। एत्थ ज्जेब पढ़मभणिदा तिण्णि राआणो मलअकेदुणो बिसअं अहिलसन्ति, इदरे दुबे कोसं हत्थिबलं अ त्ति। ता जहा चाणक्कं णिराकरिअ महाराएण, मम प्पीदी उप्पादिआ, तदा एदाणं पि प्पढ़मभणिदो अत्थो संपादइदव्वो' त्ति एत्तिओ बाआसन्देसो त्ति। (कुमार! सन्दिष्टोऽस्म्यमात्यराक्षसेन, यथा—'एते मम प्रियवयस्याः पञ्च राजानस्त्वया सह प्रथमसमुत्पन्नसन्धानाः। यथा—कुलूताधिपश्चित्रवर्मा, मलयजनपदाधिपः सिंहनाद, काश्मीरदेशाधिपः पुष्कराक्षः, सिन्धुराजः सिन्धुसेनः, पारसीकाधिपतिर्मेघाक्ष इति। अत्रैव प्रथमभणितास्त्रयो राजानः मलयकेतोर्विषयमभिलमषन्ति, इतरौ द्वौ कोषं हस्तिबलञ्चेति। तद्यथा चाणक्यं निराकृत्य महाराजेन मम प्रीतिरुत्पादिता, तथैतेषामपि प्रथमभणितोऽर्थः संपादयितव्यः' इत्येतावान् वाक्सन्देश इति।)

मलयकेतुः—(स्वगतम्) कथं चित्रवर्मादयोऽपि मामभिद्रुह्यन्ति, अत एवैतेषा राक्षसे निरतिशया प्रीतिः। [प्रकाशम्] विजये! अमात्यराक्षसं द्रष्टुमिच्छामि।

प्रतिहारी—जं कुमालो आणवेदि। (यत् कुमार आज्ञापयति।)

[इति निष्क्रान्ता।]

[तत प्रविशत्यासनस्थ स्वभवनगतः पुरुषेणानुगम्यमान सचिन्तो राक्षसः]

राक्षसः—[स्वगतम्] सम्पूर्णमस्मद्बलं चन्द्रगुप्तबलैरिति यत् सत्य न मे मनस' शुद्धिरस्ति । कुत ?—

हिन्दी अनुवाद—सिद्धार्थक—कुमार ! अमात्य राक्षस ने मुझसे सदेश (पहुँचाने के लिए) कहा है । जैसे—'ये मेरे प्रिय मित्र पाँच राजा तुम्हारे साथ पहले से (ही) सधि कर चुके हैं । जैसे—कुलूत (कुल्लू प्रदेश) का स्वामी चित्रवर्मा, मलय जनपद का अधिपति सिंहनाद, काश्मीर देश का स्वामी पुष्कराक्ष, सिन्धु देश का राजा सिन्धुसेन और पारसीक (फारस) का अधिपति मेघाक्ष । इन्ही मे से पहले कहे गये तीन राजा मलयकेतु का राज्य चाहते हैं और दूसरे दो खजाना तथा हाथियो की सेना । तो जिस प्रकार चाणक्य को हटाकर महाराज ने मेरी प्रीति को उत्पन्न किया है, उसी प्रकार इनका भी उपर्युक्त प्रयोजन पूरा कर देना चाहिये ।' बस, इतना ही मौखिक सदेश है ।

मलयकेतु—[मन में] वैसे चित्रवर्मा आदि भी मुझसे द्रोह करते हैं । इसीलिये राक्षस मे इनकी अत्यत प्रीति है । [प्रकट] विजये ! अमात्य राक्षस को देखना चाहता हूँ ।

प्रतीहारी—जो कुमार की आज्ञा । [बाहर चली जाती है ।]

[तदनन्तर अपने भवन में आसन पर विराजमान चिन्तामग्न राक्षस एक पुरुष के साथ प्रवेश करता है ।]

राक्षस—[मन में] हमारी सम्पूर्ण सेना चन्द्रगुप्त की सेनाओ से भर चुकी है, यह जो सत्य बात है—इस कारण मेरे मन मे शान्ति नही है । क्योकि—

टिप्पणी—प्रियवयस्या —वयसा तुल्या इति वयस्या वयस्+यत् । प्रिया' वयस्या' इति प्रियवयस्या कर्मधारय स० । मामभिद्रुह्यन्ति—अत्र 'क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयो कर्म' इत्यनेन कर्मसज्ञा—द्वितीया । निरतिशया—अत्य धिक । निर्गतः निश्चित वा अतिशयः अस्ति अस्या इति निरतिशया ।

साध्ये निश्चितमन्वयेन घटितं बिभ्रत् सपक्षे स्थितिं
व्यावृत्तञ्च विपक्षतो भवति यत् तत् साधनं सिद्धये ।
यत् साध्यं स्वयमेव तुल्यमुभयोः पक्षे विरुद्धञ्च यत्
तस्याङ्गीकरणेन वादिन इव स्यात् स्वामिनो निग्रहः ॥ १० ॥

अन्वयः—यत् साधन साध्ये निश्चितम् सपक्षे स्थितिं बिभ्रत् अन्वयेन घटितं विपक्षतो व्यावृत्तं च तत् सिद्धये भवति । यत् स्वयमेव साध्यम् उभयोः तुल्यम्, यच्च पक्षे विरुद्ध तस्य अङ्गीकरणेन वादिनः इव स्वामिनः निग्रहः स्यात् ॥ १० ॥

व्याख्या—(वादिपक्षे—)यत् साधनं—धूमादिरूपं हेतुः, साध्ये—सिद्धिविषयीभूते वह्न्यादौ निश्चितं—निश्चितव्याप्तिकम् असंदिग्धमिति यावत्, सपक्षे—पक्षसदृशे निश्चितसाध्यवति महानसादौ, स्थितिं—सत्ता, बिभ्रत्—धारयत्, अन्वयेन—तत्सत्त्वनियतसत्ताकत्वरूपान्वयव्याप्त्या, घटितं—विशिष्ट, विपक्षतः—साध्याभाववतः जलह्रदादेः, व्यावृत्तं च—व्यपगत च अवर्तमाने प्रतिपाद्य स्वयमप्यवर्तमानमित्यर्थः, तत्—साधन सिद्धये—वह्न्यनुमानाय, भवति—जायते । यत्—साधनं हेतुः, स्वयमेव, साध्य—हेत्वन्तरेणानुमेयम्, उभयोः—सपक्षविपक्षयोः, तुल्यम्—उभयत्र वर्तमानमवर्तमान वा (दृश्यते), यच्च—साधनं, पक्षे, विरुद्धं—विपरीतं साध्यधर्मासत्त्वेऽपि स्वय सदित्यर्थः, तस्य—तथाविधस्य साधनस्य, अङ्गीकरणेन—स्वीकरणेन, स्वामिनः—भर्तुः राज्ञ इत्यर्थः, इव, वादिनः—तार्किकस्य, निग्रहः—पराजयः, स्यात्—भवेत् । (स्वामिपक्षे—) साध्ये—शत्रुविनाशनात्मके कार्ये, निश्चितं—निर्णीत योग्य-तया अध्यवसितमित्यर्थः, यत् साधनं—सैन्यम्, अन्वयेन—पुरुषपरम्परया, घटितं—प्राप्तं कुलक्रमागतमित्यर्थः, सपक्षे—निजवर्गे, स्थितिम्—अवस्थानं, बिभ्रत्—दधत्, विपक्षतः—शत्रुवर्गात्, व्यावृत्तं—पराङ्मुखम्, तत् सैन्यम्, सिद्धये—कार्यसिद्धये, भवति । यत्—सैन्यम्, स्वयमेव—आत्मना एव, साध्यम्—सम्पाद्यम् (न तु कुलक्रमागतमिव सिद्धम् अथवा), उभयोः—सपक्षविपक्षयोः, तुल्यम्—समानादरम्, यच्च, पक्षे—स्ववर्गे, विरुद्धं—विषमं, तस्य, अङ्गीकरणेन, वादिनः इव स्वामिनः निग्रहः स्यात् ॥ १० ॥

हिन्दी अनुवाद—(वादी के पक्ष में—) जो (धूम आदि रूप) हेतु

साध्य (वह्नि आदि में) निश्चित रूप से है, सपक्ष (महानस आदि) में सत्ता धारण करता हुआ अन्वय-व्याप्ति से विशिष्ट है और विपक्ष (जलाशय आदि) में निवृत्त (अर्थात् वहाँ नहीं रहता) है वह (वह्नि के अनुमान की) सिद्धि के लिये (समर्थ) होता है। किन्तु जो हेतु स्वयं ही साध्य (अर्थात् दूसरे हेतु से अनुमान करने योग्य) है तथा सपक्ष और विपक्ष दोनों में समान है और जो हेतु पक्ष से विपरीत है, उस हेतु के स्वीकार करने से स्वामी की तरह वादी का पराजय होता है। (स्वामी के पक्ष में—) साध्य (शत्रु विनाश रूप कार्य) में लगी हुई जो सेना वंशपरम्परा से आयी हुई है और अपने वर्ग में स्थिति धारण करती हुई शत्रु-वर्ग से विमुख है, वह कार्य-सिद्धि के लिए (समर्थ) होती है। किन्तु जो सेना स्वयं ही साध्य है (अर्थात् वंश परम्परा से आयी हुई की तरह सिद्ध नहीं है) तथा अपने पक्ष और शत्रु-पक्ष में समान (आदर रखती) है और जो सेना अपने पक्ष से विपरीत है, उसके स्वीकार करने से वादी की तरह स्वामी का पराजय होता है ॥ १० ॥

टिप्पणी—साधनम्—साध्यते अनेन इति √साध्+ल्युट् करणे। हेतु, पक्षान्तर में—सेना। 'साधनं सिद्धिसैन्ययोः' इति हैमः। साध्ये—√साध्+ण्यत् कर्मणि=साध्य—वह जिसे सिद्ध करना है। जैसे 'पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमात्' में वह्निमत्त्व या वह्नि साध्य है। पक्षान्तर में—जिसे प्राप्त करना है। निश्चितम्—असन्दिग्ध। पक्षान्तर में—कृतसंकल्प। सपक्षे—पक्षेण सह वर्तमानः इति सपक्षः। निश्चितसाध्यवान् सपक्षः। जिसमें साध्य या अनुमान का विषय हो। पक्षान्तर में—समानः पक्षः अस्य इति सपक्षः। एक ही (समान) पक्ष का। अन्वयेन घटितम्—अनु√इ+अच् भावे=अन्वय। तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम्। उस (हेतु) के रहने पर उस (साध्य) की सत्ता निश्चित है, फलतः हेतु और साध्य का साहचर्य। पक्षान्तर में—अनु√इ+अच् अधिकरणे=अन्वय=वंश। √घट्+णिच्+क्त कर्मणि=घटित 'मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्व। युक्त। पक्षान्तर में—लग्न। सिद्धये—सिद्धि (वह्नि की अनुमिति, पक्षान्तर में—विजयादि की प्राप्ति) के लिए। विपक्षतः—विभिन्नः पक्षात् विपक्षः प्रादितत्० पक्ष से भिन्न वस्तु (जलाशय

आदि) से। पक्षान्तर में—विरुद्धः पक्षः अस्य इति विपक्षः शत्रु मे। व्यावृत्तम्—हटा हुआ। वि-आ√वृत्+क्त कर्मणि। निग्रहः—पराजय। नि√ग्रह्+अप् भावे।

यहाँ दार्ष्टान्तिक पक्ष का अभिप्राय यह है कि चन्द्रगुप्त की लक्ष्मी को स्थिर करने रूप साध्य में निश्चित मौर्य की स्थिति तथा नन्द के विनाश रूप अन्वय और व्यतिरेक व्याप्ति से विशिष्ट, भद्रभट, भागुरायण आदि रूप सपक्ष में स्थिति को धारण करने वाली और मलयकेतु रूप विपक्ष से अलग चाणक्य-नीति रूप साधन मौर्य की लक्ष्मी को स्थिर करने के लिए समर्थ है। किन्तु जो मलयकेतु की सेना भद्रभट आदि के कारण स्वयमेव साध्य है (अर्थात् वंश-परम्परागत पुरुषो से युक्त नही है) मलयकेतु और चाणक्य दोनों पक्षों में समान (आदर रखती) है और मलयकेतु के पक्ष मे भद्रभटादिको के रूप में विपरीत है, उस सेना के स्वीकार करने से स्वामी (अर्थात् मलयकेतु) का पराजय अवश्यम्भावी है। इस श्लोक में श्लेषालंकार से अनुप्राणित श्रौती पूर्णोपमा अलंकार है और शार्दूलविक्रीडित छन्द है। इस छन्द का लक्षण १, १२ में देखिए ॥ १० ॥

अथवा तैस्तैर्विज्ञातापरागहेतुभिः प्राक्परिगृहीतोपजापैरापूर्णमिति न विकल्पयितुमर्हामि। [प्रकाशम्] प्रियंवदक! उच्यन्तामस्मद्वचनात् कुमारानुयायिनो राजानः—सम्प्रति दिने दिने प्रत्यासीदति कुसुमपुरम्। अतः परिकल्पितविभागैर्भवद्भिः प्रयाणे प्रस्थातव्यम्। कथमिति ?

प्रस्थातव्यं पुरस्तात् खसमगधगणैर्मामनुव्यूह्य सैन्यै-
र्गान्धारैर्मध्ययाने सयवनपतिभिः संविधेयः प्रयत्नः।
पश्चाद् गच्छन्तु वीराः शकनरपतयः संवृताश्चेदिहूणैः
कौलूताद्यश्च शिष्टः पथि परिवृणुयाद्राजलोकः कुमारम् ॥ ११ ॥

अन्वयः—पुरस्तात् व्यूह्य मामनु खसमगधगणैः सैन्यैः प्रस्थातव्यम्। मध्ययाने सयवनपतिभिः गान्धारैः प्रयत्नः संविधेयः। पश्चात् चेदिहूणैः संवृताः वीराः शकनरपतयः गच्छन्तु। शिष्टः च कौलूताद्यः राजलोकः पथि कुमारं परिवृणुयात् ॥ ११ ॥

व्याख्या—पुरस्तात्—(सग्रामोद्यतसैन्यसमुदायस्य) अग्रे, व्यूह्य—विभाग कृत्वा, माम् अनु—मम पृष्ठत , खसमगधगणै —खसाश्च मगधाश्च खसमगधा तेषा गणो येषु तानि खसमगधगणानि तथाविधै , सैन्यै —सैनिकै , प्रस्थातव्यम—प्रयातव्यम् । मध्ययाने – सैन्यमध्यगमने, सयवनपतिभि —यवनराजै सह, गान्धारै —गान्धारदेशवासिभि सैन्यैरिति शेष , प्रयत्न —उद्योग , सविधेय —कार्य । पश्चात्—अनन्तरम्, चेदिहूणै —चेदिदेशोयम्लेच्छविशेषै , सवृता —सम्मिलिता वीरा —पराक्रमशालिन , शकनरपतय —शकदेशीयराजान , गच्छन्तु—यान्तु । शिष्टः च—अवशिष्टश्च, कौलूताद्य —कुलूतराजप्रमुख , राजलोक —नृपवर्ग , पथि— मार्गे, कुमार—मलयकेतुम्, परिवृणुयात्—वेष्टयित्वा यायात् ॥ ११ ॥

हिन्दी अनुवाद—अथवा (चन्द्रगुप्त के प्रति) जिनके विराग के कारणो को जान लिया गया है ऐसे तथा पहले से (हमारे) भेदो को जान हुए उन (भद्रभटादिको) से व्याप्त है—इस प्रकार सन्देह करने के योग्य नहीं हूँ। [प्रकट] प्रियवदक ! मेरी ओर से कुमार के अनुयायी राजाओ से कहो—अब पाटलिपुत्र दिनोदिन समीप आता जा रहा है । इसलिए विभागो की रचना करके आप लोगों को यात्रा म चलना चाहिये । किस प्रकार ?—

(सैन्यसमूह के) अग्रभाग मे व्यूह बनाकर मेरे पीछे खस और मगध के समूहो वाली सेनाओ को चलना चाहिये । मध्य भाग में यवन राजाओ के साथ गान्धार सैनिको को प्रयत्न करना चाहिये । पश्चात् चेदि देश के रहने वाले हूणो से सम्मिलित होकर वीर शक राजगण जायँ । और अवशिष्ट कौलूत आदि राजाओं का समूह मार्ग मे कुमार को घेर कर चलें ॥ ११ ॥

टिप्पणी—विज्ञातापरागहेतुभि —विज्ञाता अनुमिता अपरागहेतवः विरागकारणानि येषा ते तथोक्ता , तै । प्राक्परिगृहीतोपजापे —प्राक् पूर्व परिगृहीत ज्ञात उपजाप भेद यै ते तथोक्ता , तै । परिकल्पितविभागै —परिकल्पित आरचित विभाग सैन्यविभाग यै ते तथोक्ता , तै । माम अनु—अत्र अनो कर्मप्रवचनीयत्वेन तद्योगे द्वितीया । व्यूह्य—व्यूह कृत्वा इति व्यूह + णिच् + क्त्वा—ल्यप् । यहाँ ल्यप् आदेश किसी भी सूत्र से सम्भव नही है । यदि 'वि ✓ऊह् + क्त्वा—ल्यप्' ऐसी व्युत्पत्ति करते हैं तो 'उपसर्गाद्ध्रस्व ऊहतेः'

सूत्र से ह्रस्वता हो जाने पर 'व्युह्य' रूप बनाता है। मध्ययाने—मध्ये यानम् सुप्सुपा स०, अथवा मध्यं यानम् कर्मधारय स०। इस श्लोक मे स्वभावोक्ति अलंकार है और स्रग्धरा छन्द है। स्रग्धरा का लक्षण १,१ में देखिये ॥ ११ ॥

प्रियंवदकः—ज अमच्चो आणबेदि। (यदमात्य आज्ञापयति) [इति निष्क्रान्तः।]

प्रतीहारी—[प्रविश्य] जेदु जेदु अमच्चो। अमच्च ! इच्छदि तुमं कुमालो प्पेक्खिदुं। (जयतु जयत्वमात्यः। अमात्य ! इच्छति त्वां कुमारः प्रेक्षितुम्।)

राक्षसः—भद्रे ! मुहूर्तं तिष्ठ। क. कोऽत्र भो. ?

पुरुषः—[प्रविश्य] आणबेदु अमच्चो। (आज्ञापयत्वमात्यः।)

राक्षसः—भद्र ! उच्यतां शकटदास यथा परिधापिता वयमाभरणं कुमारेण, तन्न युक्तमिदानीमस्माभिरनलङ्कृतैः कुमारदर्शनमनुभवितुम्, अतो यदलङ्करणत्रयं क्रीतं तन्मध्यादेकं दीयतामिति।

पुरुषः—जं अमच्चो आणबेदि। (यदमात्य आज्ञापयति।) [इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य च] अमच्च ! इदं तं अलङ्करणं। (अमात्य ! इदं तदलङ्करणम्।)

राक्षसः—[नाट्येनावलोक्यात्मानमलंकृत्योत्थाय च] भद्रे ! राजकुल-गामिनं मार्गमादेशय।

प्रतीहारी—एदु एदु अमच्चो। (एतु एत्वमात्यः।)

राक्षसः—[स्वगतम्] अधिकारपदं नाम निर्दोषस्यापि पुरुषस्य महदाशङ्कास्थानम्। कुतः?—

भयं तावत् सेव्यादभिनिविशते सेवकजन
ततः प्रत्यासन्नाद् भवति हृदयेष्वेव निहितम्।
ततोऽध्यारूढानां पदमसुजनद्वेषजननं
मतिः सोच्छ्रायाणां पतनमनुकूलं कलयति ॥१२॥

अन्वयः—सेवकजनं तावत् भयं सेव्यात् अभिनिविशते। ततः प्रत्यासन्नात्

राक्षस—[अभिनय के साथ देखकर] अरे ये कुमार हैं। जो ये—
मनोव्यापार से रहित होने के कारण उस (पैर के अग्र भाग) के विशेषों (अंगुष्ठ कनिष्ठिका आदि) को न जानने वाली स्थिर दृष्टि को पैर के अग्र भाग पर रख कर महान् कार्यों की गुरुता से मानो झुके हुए मुखचन्द्र को हाथ से धारण कर रहे हैं ॥ १३ ॥

टिप्पणी—शून्यत्वात्—मन के साथ न रहने पर नेत्रों के खुले रहने पर भी पदार्थ का अवलोकन नहीं होता है। उपनिषद् में भी कहा है—'अन्यत्रमनाः अभूवम् नापश्यम्'। निश्चलन्तीम्—इसके स्थान में 'निश्चलाङ्गीम्' भी पाठ मिलता है। अर्थ स्पष्ट है। वक्त्रेन्दुम्—वक्त्रम् मुखम् इन्दुरिव अथवा वक्त्रमिव इन्दु इति वक्त्रेन्दु उपमितकर्मधारय स०, तम्। यहाँ रूपक और उपमा अलंकारों का सन्देहसङ्कर है, जो वाच्योत्प्रेक्षा अलंकार से संसृष्ट है। इसमें प्रहर्षिणी छन्द है। इसका लक्षण १, ७ में देखिए ॥ १३ ॥

[उपसृत्य] विजयतां विजयतां कुमार ।

मलयकेतु—आर्य ! अभिवादये । इदमासनमास्यताम् ।

राक्षस—[उपविशति]

मलयकेतु—अमात्य ! चिरदर्शनेनार्यस्य वयमुद्विग्ना ।

राक्षस—कुमार ! प्रयाणे प्रतिविधानमनुतिष्ठता मया कुमारादयमुपालम्भोऽधिगत ।

मलयकेतु—अमात्य ! प्रयाणे कथं प्रतिविहितमिति श्रोतुमिच्छामि ।

राक्षस—कुमार ! एवमादिष्टा कुमारस्यानुयायिनो राजान ।

[प्रस्थातव्यमित्यादिश्लोकं पुन पठति ।]

मलयकेतु—[स्वगतम्] विज्ञायते, कथं य एव मद्विनाशेन चन्द्रगुप्तमाराधयितुमुद्यता त एव मां परिवृण्वन्ति [प्रकाशम्] आर्य ! अस्ति कश्चित् य कुसुमपुरं प्रति गच्छति तत आगच्छति वा ?

राक्षस—कुमार ! अवसितमिदानीं गतागतप्रयोजनम् । ननु पञ्च दिवसैरेभिर्वयमेव तत्र गन्तास्म ।

मलयकेतुः—[**स्वगतम्**] विज्ञायते । [**प्रकाशम्**] यद्येवं, तत् किमयमार्येण सलेखः पुरुषः कुसुमपुरं प्रस्थापितः ?

हिन्दी अनुवाद—[**समीप जाकर**] कुमार की विजय हो, विजय हो ।

मलयकेतुः—आर्य ! प्रणाम करता हूँ । इस आसन पर बैठिए ।

राक्षस—[बैठता है]

मलयकेतु—अमात्य ! बहुत देर के बाद आर्य के दर्शन होने से हम बेचैन हैं ।

राक्षस—कुमार ! प्रयाण की तैयारी करते हुए मैंने कुमार से यह उलाहना पाया ।

मलयकेतु—अमात्य ! प्रयाण की कैसे तैयारी की है, यह सुनना चाहता हूँ ।

राक्षस—कुमार ! कुमार के अनुयायी राजाओं को इस प्रकार आदेश दिया है ।

['प्रस्थातव्यम्' इत्यादि श्लोक को पुनः पढ़ता है ।]

मलयकेतु— [मन में] समझता हूँ, कैसे जो ही मेरे विनाश के द्वारा चन्द्रगुप्त की सेवा करने के लिए उद्यत है, वे ही मुझे घेर रहे हैं । [**प्रकट**] आर्य ! (ऐसा) कोई है, जो पाटलिपुत्र जा रहा है या वहाँ से आ रहा है ?

राक्षस—कुमार ! अब जाने-आने का प्रयोजन समाप्त हो गया है । पाँच-छः दिनों में हम ही वहाँ पहुँच जाएँगे ।

मलयकेतु—[मन में] जानता हूँ । [**प्रकट**] यदि ऐसा है तो आर्य ने इस व्यक्ति को पत्र के साथ पाटलिपुत्र क्यों भेजा है ?

टिप्पणी—चिरदर्शनेन—बहुकालोत्तरमवलोकनेन । यहाँ गूढ अर्थ यह है कि आपका दर्शन इस समय मेरे लिए उद्वेगजनक हो रहा है । प्रतिविधानम्—प्रयत्न, व्यवस्था । अनुतिष्ठता—कुर्वता । अवसितम्—समाप्त । अव √ सो + क्त कर्तरि । पञ्चषैः—पञ्च षट् वा परिमाण येषां तानि पञ्चषानि बहुव्रीहि स०, 'बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात्' इत्यनेन डच्प्रत्ययः । तैः । यह 'अहोभिः' का विशेषण है ।

राक्षस —[विलोक्य] अये ! सिद्धार्थक । भद्र ! किमिदम् ?

सिद्धार्थक —[सवाष्प लज्जा नाटयन्] प्पसीददु प्पसीददु अमच्चो। अमच्च ! अतिताडीअन्तेण मए ण पारिद अमच्चस्स रहस्स धारिदु। (प्रसीदतु प्रसीदत्वमात्य । अमात्य ! अतिताड्यमानेन मया न पारितम-मात्यस्य रहस्य धारयितुम् ।)

राक्षस —भद्र ! कीदृश तत् रहस्यम् ? न खलववगच्छामि ।

सिद्धार्थक —ननु विण्णवेमि, ताडीअन्तेण मए—' । (ननु विज्ञाप-यामि ताड्यमानेन मया—') [इत्यर्धोक्ते सभयमधोमुखस्तिष्ठति]

मलयकेतु — भागुरायण ! स्वामिन पुरस्ताद् भीतो लज्जितश्च नैप कथयिष्यति, अत स्वयमेवार्याय कथय ।

भागुरायण — यदाज्ञापयति कुमार । अमात्य ! एष कथयति, यथा— 'अहममात्यराक्षसेन लेख दत्त्वा वाचिकञ्च सन्दिश्य चन्द्रगुप्तसकाश प्रेषित ' इति ।

राक्षस —भद्र सिद्धार्थक ! अपि सत्यम् ?

सिद्धार्थक —[लज्जा नाटयन] एव्व अतिताडीअन्तेण मए णिवेदिद । (एवमतिताड्यमानेन मया निवेदितम् ।) ।

राक्षस — कुमार ! अनृतमेतत् ताड्यमान किं न ब्रूयात् ?

मलयकेतु —भागुरायण ! दर्शय लेख, वाचिकञ्चायमस्मै स्वभृत्यः कथयिष्यति ।

हिन्दी अनुवाद—राक्षस—[देखकर] अरे ! सिद्धार्थक । भद्र ! यह क्या ?

सिद्धार्थक—[आंसू के साथ लज्जा का अभिनय करते हुए] अमात्य प्रसन्न हो, प्रसन्न हो । अमात्य ! बहुत पीटा जाता हुआ मैं अमात्य का रहस्य नही धारण कर पाया ।

राक्षस—भद्र ! कैसा वह रहस्य है ? मै नही समझ पा रहा हूँ ।

सिद्धार्थक—निवेदन तो कर रहा हूँ कि पीटा जाता हुआ मैं—' । [ऐसा आधा कहने पर भयपूर्वक मुँह नीचे किये खडा हो जाता है ।]

मलयकेतु—भागुरायण ! स्वामी के आगे डरा हुआ तथा लज्जित यह नहीं कहेगा। इसलिए स्वयम् आर्य को बता दो।

भागुरायण—कुमार की जो आज्ञा। अमात्य ! यह कह रहा है कि मुझे अमात्य राक्षस ने पत्र देकर और मौखिक संदेश कहकर चन्द्रगुप्त के पास भेजा है।

राक्षस—भद्र सिद्धार्थक ! क्या (यह) सत्य है ?

सिद्धार्थक—[लज्जा का अभिनय करते हुए]·········बहुत पीटे जाते हुए मैंने ऐसा निवेदन किया।

राक्षस—कुमार ! यह असत्य है। पीटा जाता हुआ (व्यक्ति) क्या नहीं कह सकता है ?

मलयकेतु—भागुरायण ! पत्र दिखाओ, मौखिक संदेश तो यह इनको अपना भृत्य कहेगा।

टिप्पणी—प्रसीदतु प्रसीदतु—शीघ्रता सूचित करने के लिए दो बार उच्चारण किया गया है। न पारितं रहस्यं धारयितुम्—इससे सत्यता को स्वीकार किया है।

भागुरायणः—[लेखमवलोकयन्] 'स्वस्ति यथास्थाने कुतोऽपि पुरुषविशेषमवगमयति' इति वाचयति।

राक्षसः—कुमार ! शत्रोः प्रयोग एषः।

मलयकेतुः—लेखस्याशून्यार्थमार्येणेदमाभरणमनुप्रेषितमिति तत् कथं शत्रोः प्रयोग एष स्यात् ? [इत्याभरणं दर्शयति।]

राक्षसः—[आभरणं निर्वर्ण्य] कुमार ! नैतन्मयाऽनुप्रेषितम्, एतद्धि कुमारेण मह्यं दत्तं; मया च परितोषस्थाने सिद्धार्थकाय दत्तम्।

भागुरायणः—भो अमात्य ! ईदृशस्याभरणविशेषस्य, विशेषतः कुमारेण स्वगात्रादवतार्य दत्तस्येयं परित्यागभूमिः ?

मलयकेतुः—वाचिकमप्याप्ततमात्सिद्धार्थकाच्छ्रोतव्यमिति लिखितमार्येण।

राक्षस—कुतो वाचिकम् ? कस्य वा लेख ? अयमेवास्मदीयो न भवति ।

मलयकेतु—इयं तर्हि कस्य मुद्रा ?

राक्षस—कुमार ! कपटमुद्रामप्युत्पादयितुं शक्नुवन्ति धूर्ताः ।

भागुरायण—कुमार ! सम्यगमात्यो विज्ञापयति । सिद्धार्थक ! केनाय लिखितो लेख ?

सिद्धार्थक—[राक्षसमुखमवलोक्य तूष्णीमधोमुखस्तिष्ठति ।]

हिन्दी अनुवाद—भागुरायण—[पत्र को देखता हुआ] 'स्वस्ति यथास्थाने' इत्यादि वाच देता है ।

राक्षस—कुमार ! यह शत्रु की चाल है ।

मलयकेतु—पत्र की रिक्तता को पूर्ण करने के लिए आर्य ने यह आभूषण भेजा है । तब यह शत्रु की चाल कैसे है ? [आभूषण दिखाता है ।]

राक्षस—[आभूषण को ध्यान से देखकर] कुमार ! मैंने यह नहीं भेजा है । यह तो कुमार ने मुझे दिया था, और मैंने पारितोषिक के रूप मे सिद्धार्थक को दे दिया ।

भागुरायण—अमात्य महोदय ! ऐसे विशिष्ट आभूषण का, विशेष करके कुमार के द्वारा शरीर से उतारकर दिये हुए का यह देने का स्थान है ?

मलयकेतु—अत्यन्त विश्वासपात्र सिद्धार्थक से मौखिक सन्देश भी सुनना चाहिए—यह आर्य ने लिखा है ।

राक्षस—कहाँ से मौखिक सन्देश ? या किसका पत्र ? यह (पत्र) ही मेरा नहीं है ।

मलयकेतु—तब यह मुद्रा किसकी है ?

राक्षस—कुमार ! धूर्त लोग कृत्रिम मुद्रा भी बना सकते हैं ।

भागुरायण—कुमार ! अमात्य ठीक कह रहे हैं । सिद्धार्थक ! यह पत्र किसने लिखा है ?

सिद्धार्थक—[राक्षस का मुंह देखकर चुपचाप मुंह लटकाये खड़ा रहता है ।]

टिप्पणी—परित्यागभूमिः—दानपात्रम्। अर्थात् वस्तु-विशेष का दान पात्रविशेष को ही देना चाहिए। यह इसका उपयुक्त पात्र नहीं है। **कुतोवाचिकम्**—यहाँ 'कुतः' सूचित करता है भेजने वाले को।

भागुरायणः—अलं पुनरात्मानं ताडयित्वा, कथय।

सिद्धार्थकः—अज्ज, सअड़दासेण। (आर्य ! शकटदासेन।)

राक्षसः—कुमार ! यदि शकटदासेन लिखितस्तर्हि मयैव लिखितः।

मलयकेतुः—विजये ! शकटदासं द्रष्टुमिच्छामि।

प्रतीहारी—ज कुमालो आणबेदि। (यत् कुमार आज्ञापयति।)

भागुरायणः—[स्वगतम्] न खल्वनिश्चतायमार्यचाणक्यप्रणिधयोऽभिधास्यन्ति। आगत्य शकटदासो वा 'सोऽयं लेखः' इति प्रत्यभिज्ञाय पूर्ववृत्तं प्रकाशयेत्। एवं सति सन्दिहानो मलयकेतुरस्मिन् प्रयोगे श्लथादरो भवेत्। [प्रकाशम्] कुमार ! न कदाचिदपि शकटदासोऽमात्यराक्षसस्याग्रतो 'मया लिखितः' इति प्रतिपत्स्यते, अतोऽन्यलिखितमस्यानीयतां, यतो वर्णसंवाद एवैतत् सर्वं विभावयिष्यति।

मलयकेतुः—विजये ! एवं क्रियताम्।

भागुरायणः—कुमार ! मुद्रामप्यानयत्वियम्।

मलयकेतुः—उभयमप्यानीयताम्।

प्रतीहारी—जं कुमालो आणबेदि। (यत् कुमार आज्ञापयति।) [इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य] कुमाल ! इदं क्खु तं सअड़दासेण स्सहत्थलिहिदं पत्तअं मुद्दा अ। (कुमार ! इदं खलु तत् शकटदासेन स्वहस्तलिखितं पत्रं मुद्रा च।)

मलयकेतुः—[उभयमपि नाट्येनावलोक्य] आर्य ! संवदन्त्यक्षराणि।

राक्षसः—[स्वगतम्] संवदन्त्यक्षराणि, शकटदासस्तु मम मित्रमिति च विसंवदन्त्यक्षराणि, तत् किं शकटदासेन लिखितम्?

स्मृतं स्यात् पुत्रसाराणां विस्मृताः स्वामिभक्तयः।
चलेष्वर्थेषु लुब्धेन न यशःस्वनपायिषु ॥ १४ ॥

अन्वय—चलेषु अर्थेषु लुब्धेन न अनपायिषु यश सु (लुब्धेन) स्वामिभक्तय विस्मृता, पुत्रदाराणा स्मृत स्यात् ॥ १४ ॥

व्याख्या—चलेषु—अस्थिरेषु, अर्थेषु—धनेषु, लुब्धेन—इच्छुकेन, न—नहि, अनपायिषु—स्थिरेषु, यश सु—कीर्तिषु, (लुब्धेन) स्वामिभक्तय —प्रभुविषयकानुरागाः, विस्मृता —मनसा परिहृताः (स्यु), पुत्रदाराणा—पुत्राणा सुताना दाराणा स्त्रियाश्च, स्मृत स्यात्—स्मरण कृत स्यात् ॥ १४ ॥

हिन्दी अनुवाद—भागुरायण—पुन अपने को मार मिलाना व्यर्थ है, बताओ।

सिद्धार्थक—आर्य ! शकटदास ने।

राक्षस—कुमार ! यदि शकटदास ने लिखा है तब मैने ही लिखा है।

मलयकेतु—विजये ! शकटदास को देखना चाहता हूँ।

प्रतीहारी—जो कुमार की आज्ञा।

भागुरायण—[मन मे] आर्य चाणक्य के गुप्तचर अनिश्चित बात को नही बतायेंगे। अथवा आकर शकटदास 'यह वही लेख है' ऐसा पहचानकर पहले की बात खोल दे। ऐसा होने पर सदेह करता हुआ मलयकेतु इस प्रयोग में अनुत्साहित हो जायेगा [प्रकट] कुमार ! शकटदास अमात्य राक्षस के सामने 'मैंने लिखा है' ऐसा कभी भी स्वीकार नही करेगा। इसलिये उसकी दूसरी लिखावट मँगायी जाय, जिसलिये कि अक्षरो की समानता ही यह सब निर्णय कर देगी।

मलयकेतु—विजये ! ऐसा करो।

भागुरायण—कुमार ! यह मुद्रा भी ले आवे।

मलयकेतु—दोनो ले आओ।

प्रतीहारी—जो कुमार की आज्ञा। [बाहर जाकर पुन प्रवेश करके] कुमार ! यह वह शकटदास का अपने हाथ से लिखा हुआ पत्र और मुद्रा है।

मलयकेतु—[दोनो को अभिनय के साथ देखकर] आर्य ! अक्षर मिल रहे हैं।

राक्षस—[मन में] अक्षर मिल रहे हैं। किन्तु शकटदास मेरा मित्र है, इसलिए अक्षर नहीं मिल रहे हैं। तो क्या शकटदास ने लिखा ?

स्थिर यश के नही बल्कि अस्थिर धन के लोभी (शकटदास) ने स्वामि-भक्तियों को भुला दिया होगा और स्त्री-पुत्रों का स्मरण किया होगा ॥ १४ ॥

टिप्पणी—ताडयित्वा—अत्र 'अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा' इति सूत्रेण क्त्वाप्रत्ययः। न खलु—भागुरायण नहीं जानता है कि यह लेख किसका है। इसलिए वह सन्देह में है कि कहीं ऐसा न हो कि शकटदास इस लेख को पहचान कर सब रहस्य खोल दे। इसलिए वह ऐसा प्रस्ताव रखता है। जिससे शकटदास का आना ही रुक जाता है। वर्णसंवादः—अक्षरसादृश्यम्। सम्√वद्+घञ् भावे संवादः। वर्णानां संवादः वर्णसंवादः। विभावयिष्यति—कथयिष्यतीत्यर्थः। वि√भू+णिच्+लृट्—तिप्। पुत्र-दाराणाम्—पुत्राश्च दाराश्च इति पुत्रदाराः द्वन्द्व स०। यहाँ पुत्र को हि अभ्यर्हित (श्रेष्ठ) मानकर 'अभ्यर्हितं च' से उसका पूर्व प्रयोग किया गया है। 'पुत्रप्रयोजना दाराः' इसके अनुसार पुत्र ही मुख्य है। तेषाम्। अत्र 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' इत्यनेन कर्मणि षष्ठी। इस पद्य में परिसंख्या अलंकार है और अनुष्टुप् छन्द है। इस छन्द का लक्षण १, ३ में देखिये ॥ १४ ॥

अथवा, कः सन्देहः ?

मुद्रा तस्य कराङ्गुलिप्रणयिनी सिद्धार्थकस्तत्सुहृत्
तस्यैवापरलेख्यसूचितमिदं पत्रं प्रयोगाश्रयम्।
सुव्यक्तं शकटेन भेदपटुभिः सन्धाय सार्द्धं परै-
र्भर्तृस्नेहपराङ्मुखेन कृपणं प्राणार्थिना चेष्टितम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—प्राणार्थिना भर्तृस्नेहपराङ्मुखेन शकटेन भेदपटुभिः परैः सार्द्धं सन्धाय कृपणं चेष्टितम् (इति) सुव्यक्तम्। (यतो हि) मुद्रा तस्य कराङ्गुलि-प्रणयिनी, प्रयोगाश्रयम् अपरलेख्यसूचितम् इदं पत्रं तस्यैव, सिद्धार्थकः तत्सुहृत् ॥ १५ ॥

व्याख्या—प्राणार्थिना—पुत्रदारादिजीवनाभिलाषिणा, भर्तृस्नेहपराङ्मुखेन—भर्तुः स्वामिनः स्नेहः प्रीतिः तस्मात् पराङ्मुखेन विमुखेन, शकटेन—शकटदासेन,

भेदपटुभि —उपजापनिपुणै , परै —शत्रुभि , सार्द्धं—सह, सगत्य—मिलित्वा, कृपण—हीन, चेष्टितम्—आचरितम्, (इति) सुव्यक्तम्—सुस्पष्टम् । (यतो हि) मुद्रा—अङ्गुलिमुद्रा, तस्य—शकटदासस्य, कराङ्गुलिप्रणयिनी—करशाखावर्तिनी, प्रयोगाश्रयम्—प्रयोग शत्रुकृतभेदोपाय आश्रय आलम्ब यस्य तथाभूतम्, अपरलेख्यसूचितम्—अपरेण इतरेण लेख्येन सूचित लेखेन सवादितम्, इद—दृश्यमान, पत्रम्, तस्यैव—शकटस्यैव, सिद्धार्थक , तत्सुहृत्—तस्य शकटस्य सुहृत्—मित्रम् ॥ १५ ॥

हिन्दी अनुवाद—अथवा, क्या सन्देह है ?

प्राणो के इच्छुक तथा स्वामिभक्ति से विमुख शकटदास ने फूट डालने मे पटु शत्रुओ से मिलकर हीन चेष्टा की है—यह सुस्पष्ट है, क्योंकि (यह) मुद्रा (अँगूठी) उस (शकटदास) के हाथ की अँगुली से प्रेम करने वाली है, (अर्थात् मुद्रा उसी के पास रहती है), (कूटनीतिक) प्रयोग पर आधारित तथा दूसरी लिखावट से सूचित (अर्थात् मिलता हुआ) यह पत्र उसी (शकटदास) का है और सिद्धार्थक उसका मित्र है ॥ १५ ॥

टिप्पणी—प्राणार्थिना—यहाँ प्राण का तात्पर्य है स्त्री-पुत्रो के जीवन से । भर्तृस्नेहपराङ्मुखेन—परा=दूर । परा अञ्चति इति परा√अञ्च्+क्विन् कर्तरि=पराच् (प्रातिपदिक) । पराक् मुखमस्य इति पराङ्मुख , तेन । 'पदव्यवाये च' इति णत्वनिषेध । भर्तु स्नेह , तत्र तस्माद् वा पराङ्मुखेन । शकटेन—यहाँ 'शकट' शकटदास के लिए आया है । जैसे 'भीमसेन' के लिए 'भीम' और 'गोदावरी' के लिए 'गोदा' का प्रयोग किया जाता है । मुद्रा तस्य—यह मुद्रा राक्षस ने शकटदास को दी थी और कहा था कि इसी मुद्रा से तुम व्यवहार करना—'अनयैव मुद्रया स्वाधिकारे व्यवहर्तव्यम्'—द्वितीय अक । प्रयोगाश्रयम्—प्रयोग=साम, दान, दण्ड और भेद । इनमें से कोई भी जिनका अवलम्ब है । लेख्य—अक्षर लिखावट । √लिख्+ण्यत् कर्मणि=लेख्यम् । इस श्लोक में काव्यलिंग अलकार तथा समुच्चय अलकार हैं । इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है । इस छन्द का लक्षण १, १२ में देखिए ॥ १५ ॥

मलयकेतु —आर्य ! 'अलङ्कारत्रय श्रीमता यदनुप्रेषित, तदुपगतम्'

इत्यार्येण यल्लिखितं, तन्मध्यादेकं किमिदम् ? [निर्वर्ण्यात्मगतम्] कथं तातेन धृतपूर्वमिदमाभरणम् ? [प्रकाशम्] आर्य, कुतोऽयमलङ्कारः ?

राक्षसः—वणिग्भ्यः क्रयादधिगतः ।

मलयकेतुः—विजये ! अपि प्रत्यभिजानाति भवती भूषणमिदम् ?

प्रतीहारी—[निर्वर्ण्य सबाष्पम्] कुमाल ! अहं ण पच्चभिआणिस्सं ? इमं क्खु सुगिहीदणामधेएण देएण पव्वदीसरेण धारिदपुव्वं । (कुमार ! कथं न प्रत्यभिज्ञास्यामि ? इदं खलु सुगृहीतनामधेयेन देवेन पर्वतेश्वरेण धारितपूर्वम् ।)

मलयकेतुः—[सबाष्पम्] हा तात !—

एतानि तानि तव भूषणवल्लभस्य
गात्रोचितानि कुलभूषण ! भूषणानि ।
यैः शोभितोऽसि मुखचन्द्रकृतावभासो
नक्षत्रवानिव शरत्समयप्रदोषः ।। १६ ।।

अन्वयः—कुलभूषण ! भूषणवल्लभस्य तव गात्रोचितानि एतानि तानि भूषणानि यैः शोभितः मुखचन्द्रकृतावभासः नक्षत्रवान् शरत्समयप्रदोष इव असि ।। १६ ।।

व्याख्या—कुलभूषण !—हे वंशालङ्करण ! भूषणवल्लभस्य—भूषणानि अलङ्काराः वल्लभानि प्रियाणि यस्य तथाविधस्य, तव—भवतः, गात्रोचितानि—शरीरयोग्यानि, एतानि—इमानि, तानि—प्रसिद्धानि, भूषणानि—अलङ्करणानि, यैः—भूषणैः, शोभितः—अलङ्कृतः, मुखचन्द्रकृतावभासः—मुखचन्द्रेण चन्द्रतुल्येन मुखेन कृतः विहितः अवभासः दीप्तिः येन तादृशः (पक्षान्तरे—) मुखे आरम्भे चन्द्रेण कृतः अवभासः प्रकाशः यस्य तथाविधः, नक्षत्रवान्—तारकामण्डितः, शरत्समयप्रदोष इव—शरत्समयस्य शरत्कालस्य प्रदोषः रजनीमुखमिव, असि—अभूः ।।१६।।

हिन्दी अनुवाद—मलयकेतु—आर्य ! 'श्रीमान् ने जो तीन आभूषण भेजे, वे मिल गये' यह जो आर्य ने लिखा है सो क्या उन्हीं (आभूषणों) में से यह एक है ? [**अच्छी तरह देखकर मन में**] पहले पिता जी के द्वारा धारण

किया हुआ यह आभूषण कैसे ? [प्रकट] आर्य ! यह आभूषण कहाँ से (प्राप्त किया) ?

राक्षस—वनियो से खरीदकर प्राप्त किया ।

मलयकेतु—विजये ! क्या तुम इस आभूषण को पहचानती हो ?

प्रतीहारी—[भली भाँति देखकर आँसू के साथ] कैसे न पहचानूगी ? यह तो पहले प्रात स्मरणीय महाराज पर्वतेश्वर के द्वारा धारण किया गया है ।

मलयकेतु—[आँसू के साथ] हाय पिता जी !

हे कुलभूषण ! आभूषण के प्रेमी आपके शरीर के योग्य ये वे आभूषण हैं, जिनसे सुशोभित होकर (अपने) चन्द्रतुल्य मुख से कान्ति फैलाते हुए आप नक्षत्रों से युक्त शरत्कालीन प्रदोष के समान लगते थे ॥१६॥

टिप्पणी—तन्मध्यात्—'तत्' अलकारत्रय को सूचित करता है । यहाँ वुद्धिस्थ अपादान की अपेक्षा करके पञ्चमी हुई है । इस प्रश्न से मलयकेतु की वुद्धिहीनता सूचित होती है । क्योकि उसकी दृष्टि मे राक्षस चन्द्रगुप्त से मिला हुआ है, ऐसी स्थिति मे राक्षस चन्द्रगुप्त का दिया हुआ पर्वतेश्वर वाला आभूषण पहनकर मलयकेतु के पास कैसे आ सकता है । यदि कहे कि राक्षस को इसका ज्ञान नही है कि यह आभूषण किसका है तो भला चन्द्रगुप्त ही मलयकेतु के पास रहते हुए राक्षस को यह आभूषण कैसे भेज सकता है, जबकि वह राक्षस से गुप्त सन्धि कर चुका है । क्या कभी इस आभूषण के देख लेने से मलयकेतु के मन मे राक्षस के प्रति सन्देह नही उत्पन्न हो सकता है ? प्रत्यभिजानासि—प्रति-अभि√ज्ञा+लट्—सि । अत्र 'सम्प्रतिभ्यामनाध्याने' इति सूत्रेण नात्मनेपदम् अभिना व्यवधानात् । धारितपूर्वम्—धृतपूर्वम् । 'धारित' इत्यत्र स्वार्थे णिच् । असि—अभू । अत्र वर्तमानसामीप्ये भूतार्थे लट् । इस श्लोक मे लाटानुप्रास, रूपक और उपमा का सन्देहसकर, प्रतीयमानोपमा और पूर्णोपमा अलकार हैं । इसमे वसन्ततिलका छन्द है । इस छन्द का लक्षण १, ८ मे देखिये ॥१६॥

राक्षस—[स्वगतम्] कथ पर्वतेश्वरधृतपूर्वाणीत्याह ? [प्रकाशम] व्यक्तमेतान्यपि तेन चाणक्यप्रयुक्तेन वणिग्जनेनास्मासु विक्रीतानि ।

मलयकेतुः—आर्य ! तातेन धृतपूर्वाणामाभरणविशेषाणां विशेषतश्चन्द्रगुप्तहस्तगतानां वणिग्भ्यः क्रयादधिगम इति न युज्यते, अथवा युज्यत एवैतत्—

चन्द्रगुप्तस्य विक्रेतुरधिकं लाभमिच्छतः ।
कल्पिता मूल्यमेतेषां क्रूरेण भवता वयम् ॥१७॥

अन्वयः—अधिकं लाभम् इच्छतः विक्रेतुः चन्द्रगुप्तस्य क्रूरेण भवता वयम् एतेषां मूल्यं कल्पिताः ॥१७॥

व्याख्या—अधिकं—विशेषं,लाभं - प्राप्तिम्, इच्छतः—वाञ्छतः, विक्रेतुः—विनिमयकामस्य, चन्द्रगुप्तस्य—मौर्यस्य, क्रूरेण—नृशंसेन, भवता—त्वया, वयम्—अहम्, एतेषाम्—आभूषणानाम्, मूल्यम्—अर्घः, कल्पिताः—निरूपिताः ॥१७॥

हिन्दी अनुवाद—**राक्षस**—[**मन में**] पहले पर्वतेश्वर के धारण किये हुए हैं, यह कैसे कहा ? [**प्रकट**] स्पष्ट है कि ये (आभूषण) भी चाणक्य के द्वारा नियुक्त उन बनियों ने हमें बेंच दिये है ।

मलयकेतु—आर्य ! पिता जी के द्वारा पहले धारण किये गये और विशेष करके चन्द्रगुप्त के हाथ में गये हुए विशिष्ट आभूषणों का बनियों से खरीदकर प्राप्त करना ठीक नहीं है । अथवा यह ठीक ही है—

अधिक लाभ चाहने वाले विक्रेता चन्द्रगुप्त के लिए क्रूर आप ने मुझे (ही) इन (आभूषणों) का मूल्य बनाया है ॥१७॥

टिप्पणी—तान्यपि—दूसरे अंक मे आ चुका है—'परितोष्य विक्रेतारं गृह्यन्ताम्' । सो अब राक्षस की समझ में बात आयी कि वे विक्रेता लोग चाणक्य के ही भेजे हुए थे । वयम्—अत्र 'अस्मदो द्वयोश्च' इति सूत्रेण बहुत्वम् । इस श्लोक में परिवृत्ति अलंकार है और अनुष्टुप् छन्द है । अनुष्टुप् का लक्षण १, ३ में देखिये ॥१७॥

राक्षसः—[आत्मगतम्] अहो ! सुश्लिष्टोऽयमभूच्छत्रुप्रयोगः कुतः ?—

लगा हुआ मित्र का पुत्र हूँ। वह तुमको धन देने वाला है और (यहाँ) तुम अपनी इच्छा के अनुसार मुझे देते हो। वहाँ तुम्हारा मन्त्री का पद सत्कारपूर्वक दासता ही है और यहाँ (तुम्हारा) स्वामित्व है। फिर इससे अधिक किस स्वार्थ के विषय मे कामना तुम्हे अनार्य बना रही है? ॥१९॥

टिप्पणी—अनार्या सवृत्ता—आर्य का लक्षण यह है—'कर्तव्यमाचरन् काममकर्तव्यमनाचरन्। तिष्ठति प्रकृताचारे स वा आर्य इति स्मृत ॥' जो कर्तव्य करे और अकर्तव्य न करते हुए सदाचारी हो, वह आर्य है। हमने तो आपके उपकार रूप कर्तव्य का पालन नही किया, बल्कि आपके अपकार रूप अकर्तव्य का अनुष्ठान किया, इसलिये हम अनार्य हो गये। मौर्योऽसौ अर्थात् चन्द्रगुप्त तुम्हारे लिये प्रभु के समान सेव्य है और मैं तुम्हारा सेवक हूँ, फलत वहाँ दासता है और यहाँ स्वामित्व है। दाता चन्द्रगुप्त तुमको धन देनेवाला है और यहा तुम अपनी इच्छा से धन देते हो अर्थात् वहाँ धन के विषय मे परतन्त्रता है और यहाँ स्वतन्त्रता है। दास्यम् चन्द्रगुप्त के पास मन्त्री का पद दासता है और यहाँ मेरे पास तुम स्वामी हो। स्वार्थे कस्मिन् उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि तुम्हारे लिये मेरे यहाँ से बढकर चन्द्रगुप्त के यहाँ कोई भी चीज प्रलोभन की नहीं है। फिर क्यों तुम मुझे छोड़कर शत्रु का आश्रय ले रहे हो? इससे बढकर अनार्यता क्या होगी। इस श्लोक मे यथासख्य अलकार है और स्रग्धरा छन्द है। स्रग्धरा का लक्षण १, १ मे देखिये ॥१९॥

राक्षस—कुमार! एवमयुक्तव्याहारिणा भवतैव मे निर्णयो दत्त, कुत?—['मौर्योऽसौ स्वामिपुत्र' इति युष्मदस्मदोर्व्यत्ययेन पठति।]

मलयकेतु—[लेखमलङ्करणस्थगिकाञ्च विनिर्दिश्य] इदमिदानीं किम्?

राक्षस—[सबाष्पम्] विधेर्विलसितमिद, कुत?—

> भृत्यत्वे परिभावधामनि सति स्नेहात् प्रभूणा सता
> पुत्रेभ्य कृतवेदिना कृतधिया येषामभिन्ना वयम्।
> ते लोकस्य परीक्षका क्षितिभृत पापेन येन क्षता
> तस्येद विपुल विधेर्विलसित पुसा प्रयत्नच्छिद ॥२०॥

अन्वय—कृतधिया कृतवेदिना येषा सता प्रभूणा वय परिभावधामनि

भृत्यत्वे सति स्नेहात् पुत्रेभ्यः अभिन्नाः, ते लोकस्य परीक्षकाः क्षितिभृतः येन पापेन क्षताः तस्य पुंसां प्रयत्नच्छिदः विधेः इदं विपुलं विलसितम् ॥२०॥

व्याख्या—कृतधियां—परिनिष्ठितबुद्धीनां, कृतवेदिनां—कृतं कर्म विदन्ति जानन्ति ये तादृशानां गुणज्ञानां, येषां, सतां प्रभूणां—नृपोत्तमानां, (सम्बन्धे) वयम्—अहम्, परिभावधामनि—तिरस्कारास्पदे, भृत्यत्वे—सेवकत्वे, सति, स्नेहात्—प्रेम्णः, पुत्रेभ्यः—आत्मजेभ्यः, अभिन्नाः—नान्याः (स्म), ते—तथाविधाः, लोकस्य—पुरुषस्य, परीक्षकाः—विनिर्णयसमर्थाः, क्षितिभृतः—राजानः, येन, पापेन—दुराचारेण विधिना, क्षताः विनाशिताः, तस्य—तथाविधस्य, पुंसां—पुरुषाणां, प्रयत्नच्छिदः—उद्योगनाशिनः, विधेः—दैवस्य, इदं दृश्यमानं, विपुलं—महत्, विलसितम्—लीला ॥२०॥

हिन्दी अनुवाद—राक्षस—कुमार ! इस प्रकार अनुचित कहने वाले आपने ही मेरा निर्णय कर दिया। क्योंकि—[**'मौर्योऽसौ स्वामिपुत्रः' इस श्लोक में युष्मद् और अस्मद् शब्दों को एक दूसरे से बदलकर पढ़ता है।**]

मलयकेतु—[**पत्र और आभूषणों की पेटी को बता कर**] सम्प्रति यह क्या है ?

राक्षस—[**आँसू के साथ**] यह भाग्य की लीला है। क्योंकि—

संयत चित्त वाले तथा उपकार को समझने वाले जिन उत्तम राजाओं के अपमानास्पद सेवक-पद पर होने पर (भी) मैं स्नेह के कारण पुत्रों से भिन्न नहीं समझा जाता था, वे लोगों के परीक्षक (अर्थात् सदसद्विवेक-कर्ता) राजा जिस पापी (भाग्य) के द्वारा विनष्ट कर दिये गए, उस पुरुषों के प्रयत्न को नष्ट करने वाले भाग्य की यह महान् लीला है ॥ २० ॥

टिप्पणी—अयुक्तव्याहारिणा—अनुचितवादिना। अयुक्तं व्याहरति तच्छीलः इति अयुक्त–वि–आ√हृ+णिनि कर्तरि ताच्छील्ये = अयुक्तव्याहारी, तेन। युष्मदस्मदोर्व्यत्ययेन—युष्मद् और अस्मद् शब्द के व्यत्यय से 'मौर्योऽसौ'—श्लोक का पाठ इस प्रकार होता है—

मौर्योऽसौ स्वामिपुत्रः परिचरणपरो मित्रपुत्रो मम त्वं
दाता सोऽर्थस्य मह्यं स्वमतमनुगतोऽहं तु तुभ्यं ददामि।

दास्यं सत्कारपूर्वं ननु सचिवपदं तत्र मे स्वाम्यमत्र
स्वार्थे कस्मिन् समीहा पुनरधिकतरे मामनार्यं करोति ॥

वह चन्द्रगुप्त स्वामी (नन्द) का पुत्र है (अतः स्वामी के समान सेव्य है) और सेवापरायण तुम मेरे मित्र के पुत्र हो (इसलिए सेवकतुल्य हो)। वह (चन्द्रगुप्त) मुझे धन देने वाला है और (यहाँ) मैं तुमको अपनी इच्छा के अनुसार धन देता हूँ। वहाँ सम्मानपूर्वक मंत्री का पद दासता है और यहाँ मेरा स्वामित्व है। फिर किस विशेष स्वार्थ में इच्छा मुझे अनार्य बना रही है ?

विलसितम्—विलास। वि√लस्+क्त भावे। कृतधियाम्—कृता परिनिष्ठिता सम्यता वा धीः बुद्धिः येषां ते कृतधियः, तेषाम्। कृतवेदिना—कृतज्ञानाम्। कृतं वेत्तुं शीलमेषाम् इति कृत√विद्+णिनि कर्तरि ताच्छील्ये। परिभावधामनि—अनादर के स्थान। परि√भू+घञ्=परिभावः, तस्य धाम, तस्मिन्। भृत्यत्वे—अत्र अनादरे सप्तमी। भृत्यत्वमनादृत्य=सति भृत्यत्वे? प्रभूणाम्—यह नन्द को सूचित करता है। आदरार्थे बहुवचनम्। पापेन—पापविशिष्टेन। पाप+अच् अर्शआदित्वात्। प्रयत्नच्छिदः—उद्योगनाशक। प्रयत्नं छिनत्ति इति प्रयत्न√छिद्+क्विप् कर्तरि=प्रयत्नच्छिद्, तस्य। इस श्लोक में अतिशयोक्ति और परिसंख्या अलंकारों की संसृष्टि है। इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है। इस छन्द का लक्षण १, १२ में देखिए ॥ २० ॥

मलयकेतु—[सक्रोधम्] कथमद्यापि निह्नूयते विधेर्विलसितमिदं, न ममेति ? अनार्य !

कन्या तीव्रविषप्रयोगविषमा कृत्वा कृतघ्न ! त्वया
विस्रम्भप्रवणः पुरा मम पिता नीतः कथाशेषताम्।
सम्प्रत्याहितगौरवेण भवता मन्त्राधिकारे रिपोः
प्रारब्धाः प्रणयाय मांसवदहो ! विक्रेतुमेते वयम् ॥ २१ ॥

अन्वय—कृतघ्न ! पुरा त्वया तीव्रविषप्रयोगविषमा कन्या कृत्वा विस्रम्भप्रवणः मम पिता कथाशेषतां नीतः। सम्प्रति अहो रिपोः मन्त्राधिकारे आहितगौरवेण भवता प्रणयाय एते वयं मांसवत् विक्रेतुं प्रारब्धाः ॥ २१ ॥

व्याख्या—कृतघ्न !—अकृतज्ञ !, पुरा—पूर्वम्, त्वया—भवता, तीव्रविष-

प्रयोगविषमां—तीव्रस्य तीक्ष्णस्य विषस्य गरलस्य प्रयोगेण नित्यसेवनेन विषमां घोरां, कन्यां—बालिकां, कृत्वा—विधाय, विस्रम्भप्रवणः—अतिविश्वस्तः, मम—मे, पिता—तातः, पर्वतेश्वर इति यावत्, कथाशेषतां—नाममात्रस्थितत्वं, नीतः—प्रापितः। सम्प्रति—अधुना, अहो—खेदस्य विषयः (यत्), रिपोः—शत्रोः, मन्त्राधिकारे—मन्त्रस्य मन्त्रणाकार्यस्य यः अधिकारः नियोगः तस्मिन्, आहितगौरवेण—आहितं स्थापितं गौरवम् महत्त्वम् यस्मिन् तथाविधेन, भवता—त्वया, प्रणयाय—तत्प्रीत्यर्थं एते—विश्वस्ताः, वयम्, मांसवत्—क्रव्यमिव, विक्रेतुं—पणायितुं, प्रारब्धाः—प्रक्रान्ताः ॥ २१ ॥

हिन्दी अनुवाद—मलयकेतु—[क्रोध के साथ] कैसे अब भी छिपा रहे हो कि यह भाग्य की लीला है, मेरा (काम) नही है। नीच !

कृतघ्न ! पहले तुमने तीक्ष्ण विप के नित्य सेवन के कारण घातरक कन्या का निर्माण करके अत्यन्त विश्वस्त मेरे पिता को नाममात्र से अवशिष्ट कर दिया। ओह ! और अब तो शत्रु के मंत्रणाकार्य रूप अधिकार (अर्थात् महामात्य के पद) को महत्त्व देने वाले तुमने (उसकी) प्रीति के लिए हमें मांस के समान वेचना प्रारम्भ कर दिया है ॥ २१ ॥

टिप्पणी—निह्नूयते—प्रच्छाद्यते। छिपाया जा रहा है। **विस्रम्भप्रवणः**—विस्रम्भे विश्वासे प्रवणः उन्मुखः अनाशङ्क इत्यर्थः। **कथाशेषतां नीतः**—कथा नाममात्रं शेषः अस्य इति कथाशेषः, तस्य भावः तत्ता, ताम् नीतः प्रापितः। अर्थात् मरवा दिया। **मन्त्राधिकारे**—मन्त्रित्वे इत्यर्थः। **आहितगौरवेण**—धृताभिलाषेण इत्यर्थः। **प्रणयाय**—अत्र 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' इति सूत्रेण चतुर्थी। इस श्लोक में श्रौती पूर्णोपमा अलंकार है और शार्दूलविक्रीडित छन्द है। छन्द का लक्षण १, १२ में देखिए ॥ २१ ॥

राक्षसः—[स्वगतम्] अयमपरो गण्डस्योपरि विस्फोटः। **[प्रकाशं कर्णौ पिधाय]** शान्तं पाप, शान्तं पापम्। नाहं विषकन्यामारोपितवानपापोऽहं पर्वतेश्वरे।

मलयकेतुः—केन तर्हि व्यापादितस्तातः ?

राक्षसः—दैवमत्र प्रष्टव्यम्।

मलयकेतु —[सक्रोधम्] दैवमत्र प्रष्टव्य, न क्षपणको जीवसिद्धि ?

राक्षस —[स्वगतम्] कथ जीवसिद्धिरपि चाणक्यप्रणिधि ? हन्त हृदयमपि मे रिपुभि स्वीकृतम् ।

मलयकेतु —[सक्रोधम] भासुरक ! आज्ञाप्यता शिखरसेन सेनापति —'ये एतेन राक्षसेन सह सौहार्दमुत्पाद्यास्मच्छरीरद्रोहेण चन्द्रगुप्तमाराधयितुकामा पञ्च राजान , तद्यथा—'कौलूत चित्रवर्मा, मलयनरपति सिंहनाद , काश्मीर पुष्कराक्ष , सिन्धुराज सुषेण , पारसीकाधिराजो मेघाक्ष इति । तेषु त्रय प्रथमा मदीया भूमि कामयन्ते, ते गम्भीरश्वभ्रमुपनीय पाशुभि पूर्यन्ताम्, इतरौ तु द्वौ हस्तिबलकामौ हस्तिनैव घात्येतामि' ति ।

पुरुष —ज कुमारो आणवेदि । (यत् कुमार आज्ञापयति ।) [इति निष्क्रान्त ।]

मलयकेतु —[सक्रोधम्] राक्षस ! राक्षस ! नाह विस्रम्भघाती राक्षसो मलयकेतु खल्वह, तद् गच्छ, समाश्रीयता सर्वात्मना चन्द्रगुप्त इति,—

विष्णुगुप्तञ्च मौर्यञ्च सममप्यागतौ त्वया ।
उन्मूलयितुमीशाऽह त्रिवर्गमिव दुर्नय ॥ २२ ॥

अन्वय —त्वया समम् अपि आगतौ विष्णुगुप्त च मौर्य च अह त्रिवर्ग दुर्नय इव उन्मूलयितुम् ईश ॥ २२ ॥

व्याख्या—त्वया राक्षसेन, समम् अपि—सार्धमपि, आगतौ—आयातौ, विष्णुगुप्त च—चाणक्य च, मौर्य च—वृषल च, अह—मलयकेतु , त्रिवर्ग—धर्मार्थकामान् दुर्नय इव—कुनीतिरिव, उन्मूलयितुम्—विनाशयितुम्, ईश —समर्थ (अस्मि) ॥ २२ ॥

हिन्दी अनुवाद—राक्षस—[मन में] यह मर्म-स्थान के फोडे पर दूसरा फोडा है । [प्रकट रूप से कानों को बन्द करके] पाप शान्त हो, पाप शान्त हो । मैंने (पर्वतेश्वर पर) विषकन्या का प्रयोग नही किया, मैं पर्वतेश्वर के प्रति निष्पाप हूं ।

मलयकेतु—तब किसने पिता जी को मारा ?

राक्षस—इस बारे में भाग्य से पूछना चाहिए।

मलयकेतु—[**क्रोध के साथ**] इस बारे में भाग्य से पूछना चाहिए, और क्षपरगक जीवसिद्धि से नही ?

राक्षस—[**मन में**] क्या जीवसिद्धि भी चाणक्य का गुप्तचर है ? हाय ! शत्रुओं ने मेरे हृदय पर भी अधिकार कर लिया।

मलयकेतु—[**क्रोध के साथ**] भासुरक ! सेनापति शिखरसेन को आज्ञा दे दो कि ये जो मेरे शरीर से द्रोह करने वाले राक्षस के साथ मित्रता करके चन्द्रगुप्त की सेवा करने के इच्छुक पाँच राजा, जैसे—कुलूत का चित्रवर्मा, मलय का राजा सिहनाद, काश्मीर का पुष्कराक्ष, सिन्धु का राजा सुषेण और पारसीक का अधिपति मेघाक्ष है, इनमें से पहले तीन मेरी भूमि चाहते है। उन्हे गहरे गड्ढे में ले जाकर मिट्टी से तोप दो और गजसेना चाहने वाले अन्य दो (राजाओं) को हाथी से मरवा ही डालो।

पुरुष—जो कुमार की आज्ञा। [**बाहर चला जाता है।**]

मलयकेतु—[**क्रोध के साथ**] राक्षस ! राक्षस ! मैं विश्वासघाती राक्षस नही हूँ। मैं मलयकेतु हूँ। इसलिए जाओ। सब तरह से चन्द्रगुप्त का आश्रय लो।

तुम्हारे सहित आये हुए चाणक्य और चन्द्रगुप्त को विनष्ट करने में मैं उसी तरह समर्थ हूँ जैसे दुर्नीति धर्म, अर्थ और काम को (विनष्ट करने मे समर्थ होती है) ॥२२॥

टिप्पणी—**गण्डस्य**—मर्मस्थान में हुए फोडे को गंड कहते है। **विस्फोटः**—फोडा। **आरोपितवान्**—प्रयुक्तवान्। **दैवमत्र**—राक्षस के पास इसका कोई प्रमाण नही है कि चाणक्य ने पर्वतेश्वर को नही मरवाया है। इसलिए वह भाग्य से पूछने को कहता है। वह अपनी सारी असफलताओं पर भाग्य को ही दोष देता है। छठे अंक में उसने कहा है—'दैवं हि नन्दकुलशत्रुरसौ न विप्रः'। वह 'दैवाधीनं जगत्सर्वम्' इस शास्त्रवचन पर पूर्ण विश्वास करते हुए दिखाई पडता है। **हृदयमपि**—राक्षस जीवसिद्धि को अभिन्नहृदय समझता

था। उस अपने हृदय की सब बातें बता दिया करता था। जब वह भी चाणक्य का गुप्तचर निकला तब राक्षस की कौन सी बात शत्रु के लिए अज्ञात बच गई। इसलिए उसने कहा है कि शत्रु ने मेरे हृदय पर भी अधिकार कर लिया है। अस्मच्छरीरद्रोहेण— अत्र 'क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म' इत्यनेन कर्मत्वम्। कर्मषष्ठ्या समासः। श्वभ्रम्—गर्तम्। गड्ढा। 'गर्तावटौ भुवि श्वभ्रे' इत्यमरः। घातयेताम्—√हन्+णिच्+लोट् कर्मणि। विस्रम्भघाती— विस्रम्भं घातयति इति विस्रम्भ√हन्+णिनि कर्तरि ताच्छील्ये। आगतौ— यहाँ द्विवचन इसलिए है कि 'विष्णुगुप्तः च मौर्यः च इति विष्णुगुप्तमौर्यौ' इस द्वन्द्वसमास का विशेषण इसे माना गया है। त्रिवर्गम्—धर्म, अर्थ और काम या क्षय, स्थान और वृद्धि के समूह को त्रिवर्ग कहते हैं। 'त्रिवर्गो धर्मकामार्थैश्चतुर्वर्गः समोक्षकैः', 'क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च त्रिवर्गो नीतिवेदिनाम्' इति चामरः। दुर्नय —दुष्टो नयः दुर्नयः प्रादिसमासः, 'दुरः षत्वणत्वयोरुपसर्गत्वप्रतिषेधः' इति न णत्वम्। इस श्लोक में श्रौती पूर्णोपमा अलंकार है और अनुष्टुप् छन्द है। अनुष्टुप् का लक्षण १, ३ में देखिये ॥२२॥

भागुरायण —कुमार! कृतं कालहरणेन। शीघ्रमेव कुसुमपुरोपरोधाय प्रतिष्ठाप्यन्तामस्मद्बलानि,—

गौडीनां लोध्रधूलीपरिमलबहलान् धूम्रयन्तः कपोलान्
क्लिश्नन्तः कृष्णिमानं भ्रमरकुलरुचः कुञ्चितस्यालकस्य।
पांशुव्यूहा बलानां तुरगखुरपुटक्षोदलब्धात्मलाभाः
शत्रूणामुत्तमाङ्गे गजमदसलिलच्छिन्नमूलाः पतन्तु ॥२३॥

[इति सपरिजनो निर्गतो मलयकेतुः।]

अन्वय —बलानां तुरगखुरपुटक्षोदलब्धात्मलाभाः पांशुव्यूहाः गजमदसलिलच्छिन्नमूलाः (सन्तः) गौडीनां लोध्रधूलीपरिमलबहलान् कपोलान् धूम्रयन्तः भ्रमरकुलरुचः कुञ्चितस्य अलकस्य कृष्णिमानं क्लिश्नन्तः शत्रूणाम् उत्तमाङ्गे पतन्तु ॥२३॥

व्याख्या—बलानां—सैन्यानां, तुरगखुरपुटक्षोदलब्धात्मलाभाः—तुरगाणां घोटकानां खरपुटे अविभक्तत्वात् पुटिते - शफे यः क्षोदः चूर्णनं तेन लब्धः

प्राप्तः आत्मलाभः जन्म यैः तादृशाः पांशुव्यूहाः—रजोराशयः, गजमदसलिलच्छिन्नमूलाः—गजानां हस्तिनां मदा एव सलिलानि दानवारयः तैः छिन्नं विनाशितं मूलं ब्रध्नः येषां तथाभूताः (सन्तः), गौडीनां—गौडदेशरमणीनां, लोध्रधूलीपरिमलबहलान्—लोध्राणां लोध्रपुष्पाणां धूली परागः तस्य परिमलः आमोदः तेन बहलान् व्याप्तान्, कपोलान्—गण्डस्थलानि, धूम्रयन्तः—मलिनयन्तः, भ्रमरकुलरुचः—भ्रमरकुलानां मधुपवृन्दानां रुक् कान्तिरिव रुक् यस्य तादृशस्य, कुञ्चितस्य—कुटिलस्य, अलकस्य—चूर्णकुन्तलस्य, कृष्णिमानं—कार्ष्ण्यं, क्लिश्नन्तः—अभिभवन्तः, शत्रूणाम्—रिपूणाम्, उत्तमाङ्गे—शिरसि, पतन्तु—अवरोहन्तु ॥ २३ ॥

हिन्दी अनुवाद—भागुरायण—कुमार ! समय बिताना व्यर्थ है। शीघ्र ही पाटलिपुत्र को घेरने के लिए हमारी सेनायें प्रयाण कर दें—

(हमारी) सेनाओं के घोड़ों के खुर-पुटों से किये जाने वाले चूर्ण से उत्पन्न धूलराशियाँ हाथियों के मदजल से छिन्न-मूल होते हुए गौड़ देश की रमणियो के लोध्रपुष्प के पराग की सुगंधि से व्याप्त कपोलों को मलिन करते हुए और भ्रमर-समूहों की कान्ति जैसी कान्तिवाले घुंघराले बालों की कालिमा को अभिभूत करते हुए, शत्रुओ के शिर पर गिरें ॥ २३ ॥

[परिजनों समेत मलयकेतु चला जाता है।]

टिप्पणी— **प्रतिष्ठाप्यन्ताम्**—प्रेष्यन्तामित्यर्थः। **गौडीनाम्**—गौड एक क्षत्रिय-वंश का नाम है। गौडानां निवासो जनपदः गौडाः = गौड़ देश। गौडाः विषयो देशः एषाम् इति गौडाः = गौड़ देश के निवासी। गौडानाम् अपत्यानि स्त्रियः इति गौड + अण् + ङीप् = गौड्यः, तासाम्। **धूली**—धूलि + ङीष्। **धूम्रयन्तः**—धूम्र = धूसर। धूम्रं कुर्वन्तः इति धूम्र + णिच् + लट्—शतृ। **कृष्णिमानम्**—कृष्णस्य भावः इति कृष्ण + इमनिच् = कृष्णिमा, तम्। **क्लिश्नन्तः**—दबाते या तिरस्कृत करते हुए। क्लिश् (क्र्यादिगणीय) + लट्—शतृ। इस श्लोक में तद्गुण, लुप्तोपमा, रूपक, पर्याय और स्वभावोक्ति अलंकारों का सांकर्य है। इसमें गौडी रीति है, ओज गुण है और स्रग्धरा छन्द है। स्रग्धरा का लक्षण १, १ मे देखिए ॥ २३ ॥

राक्षसः—[सावेगम्] हा धिक् कष्टम् ! तेऽपि हतास्तपस्विनश्चित्र-वर्मादयः !! तत् कथं सुहृन्नाशाय राक्षसश्चेष्टते, न रिपुविनाशाय ? तत् किमिदानीं करवाणि मन्दभाग्यः ?

किं गच्छामि तपोवनम् ? न तपसा शाम्येत् सवैरं मनः
किं भर्तॄननुयामि जीवति रिपौ ? स्त्रीणामियं योग्यता ।
किं वा खड्गसखः पताम्यरिबले ? नेदं न युक्तं भवेत्
चेतश्चन्दनदासमोक्षरभसं रुन्ध्यात् कृतघ्नं न चेत् ॥२४॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।]

॥ इति पञ्चमोऽङ्कः ॥

अन्वय—तपोवनम् गच्छामि किम् ? सवैरं मनः तपसा न शाम्येत् । रिपौ जीवति भर्तॄन् अनुयामि किम् ? इयं स्त्रीणां योग्यता । वा खड्गसखः अरिबले पतामि किम् ? न इदं युक्तं न भवेत्, चन्दनदासमोक्षरभसं चेतः रुन्ध्यात्, चेत् न कृतघ्नं भवेत् ॥ २४ ॥

व्याख्या—तपोवनम्—तपस्यार्थमरण्यं, गच्छामि किम्—यामि किम् ?, सवैरं—सामर्षं, मनः चेतः, तपसा—तपश्चरणेन, न—नहि, शाम्येत्—शान्तिं प्राप्नुयात् । रिपौ—शत्रौ, जीवति—प्राणधारणं कुर्वति (सति), भर्तॄन्—स्वामिना, अनुयामि किम्—अनुगच्छामि किम् ?, इयम्—एषा, स्त्रीणाम्—अबलानाम्, योग्यता—प्रतिविधानम् । वा—अथवा, खड्गसख—असिमात्रसहाय, अरिबले—शत्रुसैन्ये, पतामि किम्—विशामि किम् ?, न, इदम्—एतत्, युक्तं—समीचीनं, न भवेत्—न स्यात्, (यतो हि) चन्दनदासमोक्षरभसं—चन्दनदासस्य मोक्षे मोचने रभसः त्वरा यस्य तादृशं, चेतः—(मदीयं) मनः, रुन्ध्यात्—प्रतिबध्नीयात्, चेत्—यदि, न—एवं न कुर्यादित्यर्थः, (तदा मम मनः) कृतघ्नम्—अकृतज्ञं, भवेत्—स्यात् ॥ २४ ॥

हिन्दी अनुवाद—राक्षस—[आवेग के साथ] हाय धिक्कार है, कष्ट है ! वे बेचारे चित्रवर्मा आदि भी मारे गए ! तो क्या मित्रों के नाश के लिए राक्षस प्रयत्न करता है, शत्रुओं के विनाश के लिए नहीं ? तो मैं अभागा क्या करूँ ?

क्या मै तपोवन में चला जाऊँ ? वैरभाव से युक्त मन तपस्या से शान्त नहीं होगा। शत्रु के जीवित रहने पर क्या स्वामी का अनुकरण करूँ ? यह तो अबलाओं का काम है। अथवा क्या तलवार लेकर शत्रुदल में कूद पड़ूँ। नही, यह अच्छा नहीं होगा। (क्योंकि) चन्दनदास को छुड़ाने में व्यग्र (मेरा) मन रोकेगा। यदि नही (रोकेगा तो वह) कृतघ्न होगा ॥ २४ ॥

[**सभी (पात्र) बाहर चले जाते हैं।**]

॥ पाँचवाँ अंक समाप्त ॥

टिप्पणी—तोपि घातिताः—यहाँ अपि शब्द समुच्चयार्थक है, अर्थात् मेरे स्वामी और मित्र सब मारे गए। **तत् किमिदानीम्**—मेरे सभी प्रयत्न मुझे ही हानि पहुँचा रहे हैं, इसलिए अब क्या करूँ। **किं गच्छामि**—इस श्लोक में निराश होकर राक्षस सोच रहा है कि क्या मैं तप करने के लिए बन में चला जाऊँ अथवा क्या स्वामी का अनुगमन करने के लिए आत्महत्या कर लूँ अथवा तलवार लेकर शत्रुओं पर टूट पड़ूँ। इन सभी विकल्पों के बाद वह निश्चय करता है कि नहीं, ऐसा करने से मैं चन्दनदास के प्रति कृतघ्न हो जाऊँगा। इसलिए अब उसे छुड़ाने का ही प्रयत्न करूँगा। इस पद्य में दीपक अलंकार और वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग अलंकार का सांकर्य है। इसमें शार्दूल-विक्रीडित छन्द है। उक्त छन्द का लक्षण १, १२ में देखिए ॥ २४ ॥

षष्ठोऽङ्कः

[ततः प्रविशत्यलङ्कृतः सहर्षः सिद्धार्थकः ।]

सिद्धार्थकः—

जअदि जलदणीलो केसवो केसिघादी
जअदि अ जणदिट्ठे चन्दमा चन्दउत्तो ।
जअदि जअणसज्जं जा अकाऊण सेण्णं
पड़िहदपरपक्खा अज्जचाणक्कणीदी ॥ १ ॥

(जयति जलदनील केशव केशिघाती
जयति च जनदृष्टेश्चन्द्रमाश्चन्द्रगुप्त ।
जयति जयनसज्ज या अकृत्वा च सैन्य
प्रतिहतपरपक्षा आर्यचाणक्यनीति ॥ १ ॥)

अन्वय —जलदनील, केशिघाती केशव जयति । जनदृष्टेः चन्द्रमा चन्द्रगुप्तश्च जयति । आर्यचाणक्यनीतिश्च जयति या जयनसज्ज सैन्यम् अकृत्वा प्रतिहतपरपक्षा (विद्यते) ॥ १ ॥

व्याख्या—जलदनील —जलद मेघ इव नील' श्याम, केशिघाती—केशिनामदैत्यविनाशक , केशव —कृष्णावतार श्रीविष्णु', जयति—उत्कर्षं लभते । जनदृष्टे —लोकलोचनस्य सम्बन्धे, चन्द्रमा —चन्द्र (इव), चन्द्रगुप्तश्च—मौर्यश्च, जयति—उत्कर्षं लभते । आर्यचाणक्यनीतिश्च—पूज्यकौटिल्यनयश्च, जयति, या—चाणक्यनीति , जयनसज्ज—जयन युद्धादि तदर्थं सज्जा वेशो यस्य तादृश, सैन्यम्—सेनाम्, अकृत्वा—अविधाय सैय विनैवेत्यर्थः, प्रतिहतपरपक्षा—प्रतिहत विनाशित परपक्ष शत्रुपक्ष यया तादृशी, (विद्यते) ॥ १ ॥

हिन्दी अनुवाद—[तदनन्तर अलङ्कारयुक्त एवम् प्रसन्न सिद्धार्थक प्रवेश करता है ।]

सिद्धार्थक—मेघ के समान श्याम वर्ण वाले तथा केशी नामक राक्षस का मारने वाले विष्णु की जय हो, मनुष्यो की दृष्टि के लिए चन्द्रतुल्य चन्द्रगुप्त की जय हो और युद्धार्थ उद्यत सेना के विना ही शत्रुपक्ष को नष्ट कर देने वाली आर्य चाणक्य की नीति की जय हो ॥ १ ॥

टिप्पणी—इस प्रकार मलयकेतु के निग्रह रूप अवान्तर कार्य सम्पन्न हो जाने के बाद राक्षस को वश मे करने के लिए तथा मौर्य की लक्ष्मी को सुदृढ करने रूप महान् फल की सिद्धि के लिए छठे और सातवें अंको का उपक्रम किया गया है । जलदनील —जल ददातीति जलद । तद्वत् नील जलदनील उपमितकर्मधारय स० । केशिघाती—केशिन हन्तु शीलमस्य इति केशिन्✓हन्+णिनि कर्तरि ताच्छील्ये । केशव—क ब्रह्माणम् ईश रुद्रञ्च वर्तयति इति

केशवः। हरिवंश में इसकी निरुक्ति इस प्रकार की गई है—'हिरण्यगर्भः कः प्रोक्त ईशः शङ्कर एव च। सृष्ट्यादिना वर्तयति तौ यतः केशवो भवान् ॥' **जयन**—जयति अस्मिन् इति √जि+ल्युट् अधिकरणे=जयनम्। इस पद्य में लुप्तोपमा, रूपक तथा विभावना अलंकारों की संसृष्टि है। इसमें मालिनी छन्द है। मालिनी का लक्षण ३, १५ में देखिए ॥ १ ॥

ता जाव चिरस्य कालस्स प्पिअबअस्सं सुसिद्धत्थअ पेक्खामि। [परिक्रम्यावलोक्य च] अअं उण प्पिअबअस्सओ सुसिद्धत्थओ इदो ज्जेव आअच्छादी ता जाव उबसप्पामि। (तद्यावच्चिरस्य कालस्य प्रियवयस्यं सुसिद्धार्थकं पश्यामि। अयं पुनः प्रियवयस्यः सुसिद्धार्थक इत एवागच्छति, तद्यावदुपसर्पामि।

[ततः प्रविशति सुसिद्धार्थकः।]

सुसिद्धार्थकः—

सन्ताबेन्ता आबाणेसुं महूसवेसुं रुआबेन्ता।
हिअअच्छिआ अबि विहबा बिरहे मित्ताणं दुम्मणाअन्ते ॥२॥
(सन्तापयन्तः आपानेषु महोत्सवेषु रुजायन्तः।
हृदयस्थिता अपि विभवा विरहे मित्राणां दुर्मनायन्ते ॥२॥)

अन्वयः—मित्राणां विरहे विभवाः हृदयस्थिता अपि आपानेषु सन्तापयन्तः महोत्सवेषु रुजायन्तः दुर्मनायन्ते ॥ २ ॥

व्याख्या—मित्राणां—सुहृदां, विरहे—वियोगे, विभवाः—ऐश्वर्याणि, हृदयस्थिता अपि—अन्तःकरणवर्तिनोऽपि, आपानेषु—पानगोष्ठीषु, सन्तापयन्तः—क्लेशं जनयन्तः, महोत्सवेषु—नृत्यगीतादिषु समारम्भेषु, रुजायन्तः—मनोरोगं समुत्पादयन्तः, दुर्मनायन्ते—निरानन्दवन्तः सम्पत्स्यन्ते ॥ २ ॥

हिन्दी अनुवाद—तो बहुत दिनों के बाद प्रिय मित्र सुसिद्धार्थक को देख रहा हूँ। [घूमकर और देखकर] फिर यह प्रिय मित्र सुसिद्धार्थक इधर ही आ रहा है। इसलिए समीप जाता हूँ।

[तब सुसिद्धार्थक प्रवेश करता है।]

सुसिद्धार्थक—मित्रों के वियोग मे ऐश्वर्य हृदय मे विद्यमान रहने पर भी पान गोष्ठियो मे टीस उत्पन्न करते हुए और महोत्सवों मे रोग उत्पन्न करते हुए आनन्द शून्य हो जाते हैं ॥ २ ॥

टिप्पणी—चिरस्य कालस्य—बहो कालात् परमित्यर्थ । रुजायन्त—रुजा कुर्वन्त इति रुजा+णिच्+लट्+शतृ । दुर्मनायन्ते—अदुर्मनस दुर्मनसः भवन्ति इति दुर्मनस्+क्यङ्, सलोप 'भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हल.' इत्यनेन । इस पद्य मे दीपक अलकार और पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलकार में सांकर्य है । इसमे आर्या छन्द है । आर्या का लक्षण १, ५ मे देखिए ॥ २ ॥

सुदञ्च मए जधा—मलअकेदुकडआदो प्पिअवअस्सओ सिद्धत्थओ आअदो त्ति । ता जाव ण अण्णेसामि । [परिक्रम्योपसृत्य च] एसो सिद्धत्थओ । (श्रुतञ्च मया यथा—मलयकेतुकटकात् प्रियवयस्यः सिद्धार्थक आगत इति । तद्यावदेनमन्विष्यामि । एष सिद्धार्थक ।)

सिद्धार्थक—[विलोक्य] कथ इदो ज्जेव प्पिअवअस्सओ सुसिद्धत्थओ ! [उपगम्य] अवि सुह प्पिअवअस्सस्स ? (कथमित एव प्रियवयस्यः सुसिद्धार्थक ! अपि सुख प्रियवयस्यस्य ?)

[उभावन्योन्यमालिङ्गत]

सुसिद्धार्थक—अह वअस्स ! कुदो मे सुह, जस्स तुम चिरआलप्पवासपच्चागदोवि अआणिअ वुत्तन्त अण्णदो गदोसि ? त्ति । (अहो वयस्य ? कुतो मे सुखम्, यस्य त्व चिरप्रवासप्रत्यागतोऽप्यज्ञापयित्वा वृत्तान्तमन्यतो गतोऽसीति ।

सिद्धार्थक—प्पसीददु प्पिअवअस्सो । अह क्खु दिट्ठमेत्तो ज्जेव्व अज्जचाणक्केण आणत्तो जधा— सिद्धत्थअ ! गच्छ, एद प्पिअ वुत्तन्त प्पिअदसणस्स देवस्स चन्दसिरिणो णिवेदेहि' त्ति । तदा तस्स त णिवेदिअ एव्व अणुभूदपत्थिवप्पसादो अह प्पिअवअस्स प्पेक्खिदु तुह गेह चलिदोह्मि । (प्रसीदतु प्रियवयस्य । अह खलु दृष्टमात्र एवार्यचाणक्येनाज्ञप्तो यथा– 'सिद्धार्थक ! गच्छ, इम प्रिय वृत्तान्त प्रियदर्शनस्य देवस्य चन्द्रश्रियो निवेदयेति । ततस्तस्य तन्निवेद्य एवम-

नुभूतपार्थिवप्रसादोऽहं प्रियवयस्यं प्रेक्षितुं तव गेहं चलितोऽस्मि ।)

सुसिद्धार्थकः—वअस्स ! जदि मए एदं सुणिदव्वं भोदि, ता मं पि सुणावेहि, किं ते प्पिअं पिअदंसणस्स चन्दसिरिणो णिवेदिदं त्ति । (वयस्य ! यदि मयेदं श्रोतव्यं भवति, तन्मामपि श्रावय, किं तत् प्रियं प्रियदर्शनस्य चन्द्रश्रियो निवेदितमिति ।)

हिन्दी अनुवाद—मैंने सुना है कि मलयकेतु के शिविर से प्रिय मित्र सिद्धार्थक आया है । तब तक इसको खोजता हूँ । [घूमकर और पास जाकर] यह सिद्धार्थक है ।

सिद्धार्थक—[देखकर] कैसे इधर ही प्रिय मित्र सुसिद्धार्थक (आ रहा है) ! [समीप जाकर] प्रिय मित्र सुख से तो हैं ?

[दोनों परस्पर आलिंगन करते हैं ।]

सुसिद्धार्थक—वाह मित्र ! मुझे सुख कहाँ से, जिसके तुम चिरकाल के प्रवास से लौटकर बिना समाचार बताये दूसरी ओर चले गए हो ।

सिद्धार्थक—प्रिय मित्र प्रसन्न हों । मुझे तो देखते ही आर्य चाणक्य ने आज्ञा दी, जैसे—सिद्धार्थक ! जाओ, यह प्रिय समाचार प्रियदर्शन वाले महाराज चन्द्रगुप्त से निवेदन कर दो ।' तदनन्तर उनसे वह निवेदन करके इस प्रकार राजा की कृपा का अनुभव किये हुए मैं प्रिय मित्र को देखने के लिए तुम्हारे घर की ओर चला हूँ ।

सुसिद्धार्थक—मित्र ! यदि यह मेरे सुनने योग्य हो तो मुझे भी सुनाओ । वह कौन-सा प्रिय (समाचार) प्रियदर्शन चन्द्रगुप्त से निवेदन किया है ?

टिप्पणी—चिरप्रवासप्रत्यागतः—चिरं प्रवासः, तस्मात् प्रत्यागतः प्रतिनिवृत्तः । प्रियवयस्यः—स्निग्धमित्रम् । प्रियदर्शनस्य—प्रियम् सुखकारकं दर्शनम् अवलोकनम् यस्य स तथोक्तः, तस्य । देवस्य—अत्र शेषत्वविवक्षया षष्ठी । गेहं चलितः—गेहं प्रति चलितः ।

सिद्धार्थकः—प्पिअवअस्स ! तुह वि किं असुणिदव्वं अत्थि ? ता णिसामेहि । अत्थि दाव, अज्जचाणक्कणीदिमोहिदमदिणा मलअ-

केदूहदएण णिराकरिअ रक्खसं, सदा चित्तवम्मप्पमुहा प्पहाणा पच पत्थिवा, तदो असमिक्खकारी एसो दुराआरो त्ति कदुअ, उज्झिअ मलअकेदुकडअभूमिं, णिअभूमिकुसलदाए भअविलोलसेण्णतणूकिदसेस-परिवारेसु सक सक विसअ अभिप्पत्थिदेसु, पत्थिवेसु भद्रभट-पुरु-दत्त हिङ्गुरात वलउत्त-राअसण-भागुराअण-रोहिदक्ख-विजअवम्मप्पमुहेहिं सजमिदो मलअकेदू । (प्रियवयस्य ! तथापि किं श्रोतव्यमस्ति ? तन्निशा-मय— अस्ति तावदायचाणक्यनीतिमोहितमतिना मलयकेतुहतकेन निरा-कृत्य राक्षस, हताश्चित्रवर्मप्रमुखा प्रधाना पञ्च पार्थिवा । ततो ऽसमीक्ष्यकारी एष दुराचार इत्युज्झित्वा मलयकेतु कटकभूमि निजभूमि-कुशलतया भयविलोलसैन्यतनूकृतशेषपरिवारेषु स्वक स्वकं विषयमभि-प्रस्थितेषु पार्थिवेषु, भद्रभट पुरुदत्त-हिङ्गुरात बलगुप्त-राजसेन-भागु-रायण-रोहिताक्ष-विजयवर्मप्रमुखै संयमितो मलयकेतु ।)

हिन्दी अनुवाद— सिद्धार्थक—प्रिय मित्र ! क्या तुम्हे भी न सुनाने योग्य (कोई समाचार) है ? तो सुनो—बात यह है कि आर्य चाणक्य की नीति से किंकर्तव्यविमूढ बने मलयकेतु ने राक्षस को निकाल-बाहर करके चित्र-वर्मा आदि पाँच प्रधान राजाओं को मरवा डाला । तदनन्तर यह बिना विचारे काम करने वाला दुराचारी है—ऐसा समझकर अपने अधिकार की रक्षा करने मे निपुण होने के कारण मलयकेतु के शिविर को त्यागकर भय से विह्वल सैनिकों द्वारा अल्प किये गये अवशिष्ट अनुयायिवर्गों वाले राजाओं के अपने अपने देश को चले जाने पर भद्रभट, पुरुदत्त, हिङ्गुरात, बलगुप्त, राजसेन, भागुरायण, रोहिताक्ष और विजयवर्मा आदि ने मलयकेतु को पकड़ लिया ।

टिप्पणी—निशामय—शृणु । चाणक्यनीतिमोहितमतिना— चाणक्यस्य नीति नयः तया मोहिता वशीकृता मति बुद्धि. यस्य तथाभूतेन । मलयकेतुहतकेन— मलयकेतुश्चासौ हतक मलयकेतुहतक 'कुत्सितानि कुत्सितैः' इति समास , तेन । निराकृत्य—पृथक्कृत्य । असमीक्ष्यकारी—जाल्मः । सम्√ईक्ष्+क्त्वा—ल्यप्=समीक्ष्य । न समीक्ष्य असमीक्ष्य । असमीक्ष्य कर्तुं शीलमस्य इति असमीक्ष्य√कृ+णिनि कर्तरि ताच्छील्ये,

उपपदतत्० । **दुराचारः**— दुः दुष्ट आचारः व्यवहारः यस्य स दुराचारः प्रादिबहुव्रीहि स० । **उज्झित्वा**—परित्यज्य । **भयविलोलसैन्यतनूकृतशेषपरिवारेषु**—भयेन साध्वसेन विलोलानि चपलानि विह्वलानि वा सैन्यानि, तैः तनूकृताः शेषाः परिवाराः येषां ते तथोक्ताः, तेषु । **विषयम्**—जनपदम् । **संयतितः**—धृतः ।

सुसिद्धार्थकः—वअस्स ! भद्दभटप्पमुहा किल देअस्स चन्दसिरिणो अवरत्ता मलअकेदुं समास्सिदा त्ति लोए मन्तीअदि । ता किं णिमित्तं एदं कुकविणाडअस्स विअ अण्णं मुहे अण्णं णिव्वहणे त्ति ? (वयस्य ! भद्रभटप्रमुखाः किल देवस्य चन्द्रश्रियोऽपरक्ता मलयकेतुं समाश्रिता इति लोके मन्त्र्यते । तत् किं निमित्तमेतत् कुकविनाटकस्येवान्यन्मुखेऽन्यन्निर्वहण इति ?)

सिद्धार्थकः—वअस्स ! सुणु दाव, दैवगदीए विअ असुणिदगदीए णमो अज्जचाणक्कणीदीए । (वयस्य ! शृणु तावत्, देवगत्यै इवाश्रुतगत्यै नम आर्यचाणक्यनीत्यै ।)

सुसिद्धार्थकः—वअस्स ! तदो तदो ? (वयस्य ! ततस्ततः ?)

सिद्धार्थकः—वअस्स ! तदो प्पहुदि, सारसाहणसमुदएण इदो णिक्कमिअ अज्जचाणक्केण पडिवण्णं अराअलोअं असेसराअबलं । (वयस्य ! ततः प्रभृति सारसाधनसमुदयेनेतो निष्क्रम्य आर्यचाणक्येन प्रतिपन्नमराजलोकमशेषराजबलम् ।)

सुसिद्धार्थकः—वअस्स ! कहिं ? (वयस्य ! कुत्र ?)

सिद्धार्थकः—वअस्स ! जहिं एदे,—(वयस्य ! यत्रैते,—)

अदिसअगुरुएणं दाणदप्पेण दन्ती
सजलजलदलीला उव्वहन्ता णदन्ति ।
कसपहरभएण जादकम्पा तुरन्ता
गहिदजअणसज्जा सपदन्त तुलगा ।। २ ।।

(अतिशयगुरुकेण दानदर्पेण दन्तिनः
सजलजलदलीलामुद्वहन्तो नदन्ति ।

कशाप्रहारभयेन ।जातकम्पास्त्वरयन्त
गृहीतजयनसज्जाः सम्पद्यन्ते तुरङ्गाः ॥ ३ ॥)

अन्वय —गृहीतजयनसज्जाः दन्तिनः अतिशयगुरुकेण दानदर्पेण सजल-जलदलीलाम् उद्वहन्तः नदन्ति । तुरङ्गाः कशाप्रहारभयेन जातकम्पाः त्वरयन्तः सम्पद्यन्ते ॥ ३ ॥

व्याख्या—गृहीतजयनसज्जाः—गृहीतः परिहितः जयनस्य युद्धस्य सज्जः वेशः यैः तादृशाः, दन्तिनः—गजाः, अतिशयगुरुकेण—अतिप्रबलेन, दान-दर्पेण—मदजलगर्वेण, सजलजलदलीलाम्—सजलानां जलपूर्णानां जलदानां मेघानां लीलाम् चरितम्, उद्वहन्तः—धारयन्तः, नदन्ति—गर्जन्ति । तुरङ्गाः—अश्वाः कशाप्रहारभयेन—कशायाः ताडन्याः प्रहारः आघातः तस्मात् यत् भयं भीतिः तेन, जातकम्पाः—जातः उत्पन्नः कम्पः कम्पनं येषां तादृशाः, (अतएव) त्वरयन्तः—(स्वारोहिणः) त्वरायुक्तौ विदधतः, सम्पद्यन्ते—सन्नद्धा भवन्ति ॥ ३ ॥

हिन्दी अनुवाद—सुसिद्धार्थक—मित्र ! भद्रभट आदि महाराज चन्द्रगुप्त से विरक्त होकर मलयकेतु के आश्रय में चले गये—ऐसा लोगों में कहा जाता है । तो किस कारण यह अयोग्य कवि के द्वारा रचित नाटक की तरह मुख-सन्धि (अर्थात् प्रारम्भ) में कुछ और तथा निर्वहणसन्धि (अर्थात् अन्त) में कुछ और हो रहा है ?

सिद्धार्थक—मित्र ! सुनो, देवता के गति के समान न सुनी गई गति वाली आर्य चाणक्य की नीति को नमस्कार है ।

सुसिद्धार्थक—मित्र ! तब क्या हुआ ?

सिद्धार्थक—मित्र ! तत्पश्चात् उत्कृष्ट सेना के समूह के साथ आर्य चाणक्य ने यहाँ से निकलकर नृपसमूह से रहित सम्पूर्ण राजसेना को अधिकार में कर लिया ।

सुसिद्धार्थक—मित्र ! कहाँ ?

सिद्धार्थक—मित्र ! जहाँ ये—

युद्ध के वेश को धारण किये हुये हाथी अत्यन्त बढे हुये मदजल के गर्व

से सजल मेघों की भाँति लीला करते हुए गर्जन कर रहे हैं और घोड़े चाबुक की मार के भय से काँपते हुए तथा (अपने सवारों को) शीघ्रतायुक्त करते हुए (युद्धार्थ) तत्पर हो रहे हैं ॥ ३ ॥

टिप्पणी—**चन्द्रश्रियः**—अत्र शेषे षष्ठी। चन्द्रश्रियः चन्द्रगुप्तस्य सम्बन्धे अपरक्ताः। **मन्त्र्यते**—कथ्यते। **मुखे**—मुखसन्धौ प्रारम्भे इत्यर्थः। **निर्वहणे**—**निर्वहणसन्धौ**—उपसंहारे इत्यर्थः। निरुह्यते इतस्ततः आदाय पिण्डीक्रियते एकार्थीक्रियते अस्मिन् इति निर्√वह्+ल्युट् अधिकरणे=निर्वहणम्। **अश्रुतगत्यै**—अश्रुता गतिर्यस्याः सा अश्रुतगतिः, तस्यै अनाकर्णितकृत्यै इत्यर्थः। **आर्यचाणक्यनीत्यै**—अत्र नमः शब्दयोगे चतुर्थी। **सारसाधनसमुदयेन**—साध्यते अनेन इति √साध्+ल्युट् करणे=साधनम्=सैन्यम्। सारं साधनम्, तस्य समुदयेन समूहेन। **प्रतिपन्नम्**—अधिकृतम्। **अराजलोकम्**—नृपजनरहितम्। **अशेषराजबलम्**—समस्तनृपसैन्यम्। **अतिशयगुरुकेण**—गुरुरेव गुरुकः अतिशयश्चासौ गुरुकः अतिशयगुरुकः, तेन=अतिप्रवृद्धेन वा अतिप्रबलेन। **जातकम्पास्त्वरयन्तः**—यहाँ 'जातकम्पोत्तरङ्गाः' पाठभेद मिलता है। अर्थ होगा—काँपते हुए तथा चंचल। अर्थात् घोड़े इस तरह काँप रहे है कि मानो तरंगो के समान चक्कर काट रहे हैं। इस श्लोक के पूर्वार्ध में उपमा तथा रूपक का सन्देहसङ्कर है और उत्तरार्ध में समासोक्ति तथा पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलंकार हैं। इसमे मालिनी छन्द है। मालिनी का लक्षण ३, १५ में देखिए ॥ ३ ॥

सुसिद्धार्थकः—बअस्स ! एदं सव्वं दाव चिट्ठदु, तहा सव्वलोअप्पच्चक्खं उज्झआहिआरो भविअ कहं अज्जचाणक्को पुणो बि तं ज्जेब मन्तिपदं आरूढो ? (वयस्य ! एतत् सर्वं तावत् तिष्ठतु। तथा सर्वलोकप्रत्यक्षमुज्झिताधिकारो भूत्वा कथमार्यचाणक्यः पुनरपि तदेव मन्त्रिपदमारूढः ?)

सिद्धार्थकः—बअस्स ! अदिमुद्धो दाणीं सि तुमं, जो अमच्चरक्खसेण अणवगाहिदपुव्वं अज्जचाणक्कबुद्धिं अवगाहिदुं इच्छसि ? (वयस्य ! अतिमुग्ध इदानीमसि त्वं, योऽमात्यराक्षसेनानवगृहीतपूर्वामार्यचाणक्यबुद्धिमवगाहितुमिच्छसि।)

सुसिद्धार्थक—वअस्स ! अघ अमच्चरक्खसो दाणीं कहिं ? (वयस्य ! अथाऽमात्यराक्षस इदानीं कुत्र ?)

सिद्धार्थक—वअस्स ! सो क्खु तस्सि पलअकोलाहले वट्ढमाणे मलअकेदुकडआदो णिक्कमिअ उन्दुरणामहेएण चरेण अणुसरन्तो इमं ज्जेव कुसुमउरं आगदो त्ति अज्जचाणक्कस्स णिवेदिदं। (वयस्य ! स खलु तस्मिन् प्रलयकोलाहले वर्तमाने मलयकेतुकटकात् निष्क्रम्योन्दुरनामधेयेन चरेणानुस्रियमाण इदमेव कुसुमपुरमागत इत्यार्यचाणक्यस्य निवेदितम्।)

हिन्दी अनुवाद—सुसिद्धार्थक—मित्र ! यह सब रहे। उस प्रकार सब लोगों के सामने अधिकारत्यागी होकर आर्य चाणक्य ने फिर मंत्री का पद कैसे ग्रहण कर लिया ?

सिद्धार्थक—मित्र ! तुम इस समय अत्यन्त अबोध हो, जो कि पहले अमात्य राक्षस के द्वारा न समझी गई आर्य चाणक्य की बुद्धि को समझना चाहते हो।

सिद्धार्थक—मित्र ! अच्छा, इस समय अमात्य राक्षस कहाँ है ?

सिद्धार्थक—मित्र ! वह तो उस (मलयकेतु के शिविर) में प्रलयकालीन जैसे कोलाहल के बढ़ जाने पर मलयकेतु के शिविर से निकलकर उन्दुर नामक गुप्तचर के द्वारा पीछा किया जाता हुआ इसी कुसुमपुर में आ गया है—यह आर्य चाणक्य से निवेदन कर दिया गया है।

टिप्पणी—एतत् सर्वं तिष्ठतु—अर्थात् यह सब रहने दो। सर्वलोकप्रत्यक्षम्—समस्तजनसमक्षम्। उज्झिताधिकार —उज्झितः त्यक्तः अधिकारः मन्त्रिपदं येन तादृशः। आरूढ—प्राप्तः। स्वीकृतवानित्यर्थः। अतिमुग्ध—अतिशयाबोधः। अनवगृहीतपूर्वाम्—पूर्वमज्ञाताम्। अवगाहितुम्—बोद्धुम्। प्रलयकोलाहले—प्रलयकालिककोलाहलसदृशे कोलाहले। अत्र 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' इति सूत्रेण सप्तमी। अनुस्रियमाण—अनुगम्यमानः। आर्यचाणक्यस्य—अत्र शेषत्वविवक्षया षष्ठी। आर्यचाणक्यं पुरतः इति निवेदितम्।

सुसिद्धार्थकः—वअस्स ! तहा णाम अमच्चरक्खसो णन्दरज्जप्पच्चाणअणे किदव्ववसाओ णिक्कमिअ सम्पदं अकिदत्थो पुणो वि कहं इमं ज्जेव कुसुमउरं आअदो ? (वयस्य ! तथा नाम अमात्यराक्षसो नन्दराज्यप्रत्यानयने कृतव्यवसायो निष्क्रम्य साम्प्रतमकृतार्थः पुनरपि कथमिदमेव कुसुमपुरमागतः ?)

सिद्धार्थकः—वअस्स ! तक्केमि, चन्दणदासस्स सिणेहेण त्ति। (वयस्य ! तर्कयामि, चन्दनदासस्य स्नेहेनेति।)

सुसिद्धार्थकः—वअस्स ! सच्चं चन्दणदासस्स सिणेहेण त्ति ? अध चन्दणदासस्स मोक्खं प्पेक्खसि ? (वयस्य ! सत्य चन्दनदासस्य स्नेहेनेति ? अथ चन्दनदासस्य मोक्षं प्रेक्षसे ?)

सिद्धार्थकः—वअस्स ! कुदो से अधण्णस्स मोक्खो ? सो क्खु सम्पदं अज्जचाणक्कस्स आणत्तीए दुवेहिं पि अह्मेहिं बज्झट्ठाणं प्पवेसिअ वावादइदव्वो। (वयस्य ! कुतोऽस्याधन्यस्य मोक्षः ? स खलु साम्प्रतमार्यचाणक्यस्याऽऽज्ञप्त्या द्वाभ्यामप्यावाभ्यां वध्यस्थानं प्रवेश्य व्यापादयितव्यः।)

सुसिद्धार्थकः [सक्रोधम्] वअस्स ! किं अज्जचाणक्कस्स घादअजणो अणो णत्थि, जेण अह्मे ईदिसे णिसंसे कम्मे णिजुज्जीअदि ? (वयस्य ! किलार्यचाणक्यस्य घातकजनोऽन्यो नास्ति, येनावामीदृशे नृशंसे कर्मणि नियुज्यावहे ?)

सिद्धार्थकः—वअस्स ! को जीवलोए जीविदुकामो अज्जचाणक्कस्स आणत्तिं पड़िऊलेदि ? ता एहि, चंडालवेसधारिणा भविअ चन्दणदासं वज्झट्ठाणं णेह्म। (वयस्य ! को जीवलोके जीवितुकामः आर्यचाणक्यस्याज्ञप्तिं प्रतिकूलयति ? तदेहि, चाण्डालवेशधारिणौ भूत्वा चन्दनदासं वध्यस्थानं नयावः।)

[इत्युभौ निष्क्रान्तौ]

प्रवेशकः

हिन्दी अनुवाद—सुसिद्धार्थक—मित्र ! उस प्रकार नन्दराज्य को लौटाने

में प्रयत्नशील अमात्य राक्षस निकलकर सम्प्रति असफल होते हुए फिर इसी कुसुमपुर मे कैसे आ गए ?

सिद्धार्थक—मित्र ! मैं अनुमान करता हूँ कि चन्दनदास के स्नेह के कारण ।

सुसिद्धार्थक—मित्र ! सचमुच चन्दनदास के स्नेह के कारण ? क्या तुम चन्दनदास के छुटकारे की सभावना कर रहे हो ?

सिद्धार्थक—मित्र ! उस अभागे का छुटकारा कहाँ ? उसे तो इस समय आर्य चाणक्य की आज्ञा से हम दोनो के द्वारा वध्य स्थान में प्रवेश कराकर मार डालना है ।

सुसिद्धार्थक—[क्रोध के साथ] मित्र ! क्या आर्य चाणक्य को दूसरा कोई वधिक नही मिला, जिससे हम दोनो को ऐसे क्रूर कार्य मे नियुक्त कर दिया ?

सिद्धार्थक—मित्र ! ससार मे जीवन चाहने वाला कौन आर्य चाणक्य की आज्ञा अस्वीकार करता है ? इसलिए आओ चडाल का वेश धारण करके चन्दनदास को वध्यस्थान में ले चलते हैं ।

[दोनो बाहर चले जाते हैं ।]

प्रवेशक समाप्त

टिप्पणी—कृतव्यवसाय —विहितोद्योग । अकृतार्थ —असफल । तर्कयामि—सम्भावयामि । अथ—अत्र प्रश्नार्थकोऽय शब्द । 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ' इत्यमर । अधन्यस्य—हतभाग्यस्य । आज्ञप्त्या—आज्ञया । आ√ज्ञप्+णिच्+क्तिन् भावे=आज्ञप्ति, तया । व्यापादयितव्य —हन्तव्य । वि आ√पद्+णिच्+तव्य कर्मणि । जीवितुकाम —अत्र 'लुम्पेदवश्यम कृ ये' इति कारिकया मलोप । प्रतिकूलयति—अन्यथाकरोति अस्वीकरोति वा । प्रतिकूलेन योजयति इति प्रतिकूल+णिच्+पट्—तिप् । प्रवेशक —द० ५वें अक में श्लोक ३ से पूर्व टिप्पणी ।

[तत प्रविशति रज्जुहस्तः पुरुष. ।]

पुरुषः—

छग्गुणसंजोअदिढ़ा उवाअपरिवाडिघडिदपाशमुही ।
चाणक्कणीदिरज्जू रिउसंजमणउज्जुआ जअदि ॥४॥
(षड्गुणसंयोगदृढा उपायपरिपाटीघटितपाशमुखी ।
चाणक्यनीतिरज्जू रिपुसंयमनऋजुका जयति ॥४॥)

[परिक्रम्यावलोक्य च] एसो सो अज्जचाणक्कस्स उन्दुरएण चरेण कधिदो प्पदेसो, जहिं मए अज्जचाणक्काणत्तीए अमच्चरक्खसो प्पेक्खिदव्वो । [विलोक्य] कहं एसो क्खु अमच्चरक्खसो किदसीसावगुण्ठणो इदो ज्जेव आअच्छदि । ता जाव इमेहिं जिण्णुज्जाणपादवेहिं अववारिदसरीरो प्पेक्खामि, कहिं आसणपरिग्गहं करेदि । (एष स आर्यचाणक्यस्योन्दुरकेण चरेण कथितः प्रदेशः, यत्र मयाऽऽर्यचाणक्याज्ञप्त्याऽमात्यराक्षसः प्रेक्षितव्यः । कथमेष खल्वमात्यराक्षसः, कृतशीर्षावगुण्ठन इत एवागच्छति । तद्यावदेभिर्जीर्णोद्यानपादपैरपवारितशरीरः प्रेक्षे, कुत्रासनपरिग्रहं करोतीति । [इति परिक्रम्य तथा स्थितः ।]

अन्वयः—षड्गुणसयोगदृढा उपायपरिपाटीघटितपाशमुखी रिपुसयमनऋजुका चाणक्यनीतिरज्जुः जयति ॥४॥

व्याख्या—षड्गुणसंयोगदृढ़ा—सन्धिविग्रहयानासनद्वैधाश्रयात्मकानां षण्णां गुणानां संयोगेन सहघटनया दृढा दुर्भेद्या (रज्जुपक्षे—) षण्णां गुणानां षड्गुणितानां रज्जूनां संयोगेन सग्रथनेन दृढा अच्छेद्या, उपायपरिपाटीघटितपाशमुखी—उपायानां सामादिचतुष्टयानां परिपाट्या क्रमसमावेशेन घटितः रचितः यः पाशः जालं स मुखे प्रान्ते यस्याः तादृशी (रज्जुपक्षे—) उपायानां बहुविधनैपुण्यानां परिपाट्या घटितः यः पाशः स मुखे यस्याः तादृशी, रिपुसयमनऋजुका—रिपोः शत्रोः यत् संयमनं बन्धनं तेन ऋजुका ऋज्वी सरला, चाणक्यनीतिरज्जुः—चाणक्यस्य कौटिल्यस्य नीतिः नयः एव रज्जुः दाम सा (रज्जुपक्षे—) चाणक्यनीतिः इव रज्जुः बन्धनदाम, जयति—जयेन युज्यते ॥४॥

हिन्दी अनुवाद—[तदनन्तर हाथ में रस्सी लिये एक पुरुष प्रवेश करता है।]

पुरुष—(सन्धि, विग्रह आदि) छह गुणों के संयोग के कारण दृढ़, (साम, दान आदि) उपायों के क्रम से रचित पाश रूपी मुख वाली और शत्रु के बाँधने से सीधी चाणक्य की नीति रूपी रस्सी विजयी हो रही है। (रस्सी के पक्ष में—) छह डोरों के संयोग के कारण दृढ़, विविध कौशल-परम्परा से रचित पाश रूपी छोर वाली तथा शत्रु के बाँधने से सीधी चाणक्य की नीति के समान रस्सी उत्कर्ष प्राप्त कर रही है ॥४॥

[घूमकर और देखकर] यह वही आर्य चाणक्य के उन्दुरक नामक गुप्त-चर का बताया हुआ स्थान है, जहाँ मुझे आर्य चाणक्य की आज्ञा से अमात्य राक्षस को देखना है। [देखकर] कैसे ये अमात्य राक्षस सिर को ढके हुए इधर ही आ रहे हैं ? तो तब तक इस उद्यान के पुराने वृक्षों से शरीर को छिपाये हुए देखता हूँ कि (ये) कहाँ बैठते हैं। [घूमकर उसी तरह खड़ा हो गया।]

टिप्पणी—प्रेक्षितव्य —अवलोकितव्यः । कृतशीर्षावगुण्ठन—अव √गुण्ठ्+ल्युट्—अन भावे = अवगुण्ठनम् = ढकना। कृत शीर्षस्य अवगुण्ठनं येन स कृतशीर्षावगुण्ठन । अपवारितशरीर —अपवारित तिरोहित शरीर यस्य सः। षड्गुण —इस पद्य में रूपक और उपमा अलंकारों का संकर है और वह श्लेषालंकार से अनुप्राणित होकर पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलंकार से संकीर्ण भी है। इसमें आर्या छन्द है। आर्या का लक्षण १, ५ में देखिए ॥ ४ ॥

[ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टः सशस्त्रो राक्षसः ।]

राक्षस —[सबाष्पम्] कष्टं, भो कष्टम् ॥

उत्सन्नाश्रयकातरेव कुलटा गोत्रान्तरं श्रीर्गता
तामेवानुगता गतानुगतिकास्त्यक्तानुरागाः प्रजाः ।
आप्तैरप्यनवाप्तपौरुषफलैः कार्यस्य धूरुज्झिता
किं कुर्वन्त्वथवोत्तमाङ्गरहितैर्नागैरिव स्थीयते ॥ ५ ॥

अन्वय —श्रीः उत्सन्नाश्रयकातरा कुलटा इव गोत्रान्तरं गता। गतानुगतिकाः प्रजाः त्यक्तानुरागाः ताम् एव अनुगताः। अनवाप्तपौरुषफलैः आप्तैः अपि कार्यस्य धूः उज्झिता। अथवा किं कुर्वन्तु, उत्तमाङ्गरहितैः नागैः इव स्थीयते ॥ ५ ॥

व्याख्या—श्रीः—लक्ष्मीः, उत्सन्नाश्रयकातरा—उत्सन्नः विनष्टः आश्रयः अवलम्बः यस्याः तादृशी चासौ कातरा व्याकुला, कुलटा—स्वैरिणी, इव, गोत्रान्तरम्—अन्यवंशम्, गता—प्राप्ता। गतानुगतिकाः—गतस्य प्राक्प्रस्थितस्य यत् अनुगतम् अनुगमनं तच्छीलाः, प्रजाः—प्रकृतयः, त्यक्तानुरागाः—त्यक्तः परिहृतः अनुरागः स्नेहः याभिः तथाभूताः (सत्यः) ताम्—लक्ष्मीम्, एव, अनुगताः—अनुसृताः। अनवाप्तपौरुषफलैः—अनवाप्तं न प्राप्तम् पौरुषस्य पुरुषकारस्य फलं यैः तादृशैः, आप्तैः—विश्वस्तैः, अपि, कार्यस्य—कर्तव्यस्य, धूः—भारः, उज्झिता—त्यक्ता। अथवा—आहोस्वित्, (ते) किं कुर्वन्तु—किं विदधतु, उत्तमाङ्गरहितैः—शीर्षवियुक्तैः, नागैः—हस्तिभिः, इव (तैः) स्थीयते—वर्त्यते ॥ ५ ॥

हिन्दी अनुवाद—[तत्पश्चात् हाथ में शस्त्र लिये सिर ढके **राक्षस** प्रवेश करता है।]

राक्षस—[**आँसू के साथ**] अजी ! कष्ट है, कष्ट !!

लक्ष्मी आश्रय के विनष्ट हो जाने से व्याकुल कुलटा स्त्री के समान दूसरे कुल में चली गई। गये हुए के पीछे चलने वाली तथा अनुराग का त्याग किये हुई प्रजायें उसी (लक्ष्मी) के पीछे चली गई। पुरुषार्थ का फल न प्राप्त करने वाले विश्वस्त जनों ने भी कार्य के भार को छोड़ दिया। अथवा (वे) क्या करें (वे तो) सिर से रहित हाथियों के तरह रह रहे हैं ॥ ५ ॥

टिप्पणी—**यथानिर्दिष्टः**—यथा यद्वत् निर्दिष्टः वर्णितः पुरुषेण। सुप्सुपा स०। **उत्सन्न**—नष्ट। उद्√सद्+क्त कर्तरि। **कुलटा**—पुंश्चली, उत्कुला। अटति परित्यज्य गच्छति इति अटा√अट्+अच् कर्तरि स्त्रियाम्। कुलस्य अटा कुलटा शकन्ध्वादित्वात् पररूपम्। **गतानुगतिकाः**—अनुगतम् अनुगमनम् भावे क्तः। गतस्य अनुगतम्। तत् अस्ति एषां शीलत्वेन इति गतानुगत+ठन्—इक मत्वर्थे। **नागैरिव**—हाथियों या सर्पों की भाँति। भाव यह है कि जैसे हाथी या साँप शक्तिशाली होते हुए भी सिर से रहित होने पर अकिञ्चित्कर हो जाते हैं उसी तरह उत्कृष्ट शक्ति से सम्पन्न होने पर भी आप्त जन नायक के अभाव में कुछ भी नहीं कर पा रहे हैं। इस श्लोक में पूर्णोपमा,

काव्यलिंग तथा श्लेषानुप्राणित उपमा अलकारों की ससृष्टि है। इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है । इस छन्द का लक्षण १, १२ मे देखिए ॥ ५ ॥

अपि च—

पतिं त्यक्त्वा देवं भुवनपतिमुच्चैरभिजनं
गता च्छिद्रेण श्रीर्वृषलमविनीतेव वृषली ।
स्थिरीभूता चास्मिन् किमिह करवाम स्थिरमपि
प्रयत्नं नो येषां विफलयति दैवं द्विषदिव ॥ ६ ॥

अन्वयः—श्रीः उच्चैरभिजनं भुवनपतिं देवं त्यक्त्वा अविनीता वृषली इव छिद्रेण वृषलं गता अस्मिन् स्थिरीभूता च । इह किं करवाम येषां नः स्थिरमपि प्रयत्नं द्विषदिव दैवं विफलयति ॥६॥

व्याख्या—श्रीः—लक्ष्मी, उच्चैरभिजनम्—उच्चैः उन्नतः अभिजनः वंशः यस्य तादृशं, भुवनपतिं—जगत्प्रभुं, पतिं—स्वामिनं, देवं—राजानं नन्दं, त्यक्त्वा—विहाय, अविनीता—विनयरहिता दुश्चरितेति यावत्, वृषली इव—शूद्रा इव, छिद्रेण—रन्ध्रेण भर्तुरनवधानतयेति यावत्, वृषलं—मौर्यं, गता—समाश्रिता, अस्मिन्—मौर्ये, स्थिरीभूता च—अचला विद्यते च । इह—अस्मिन् विषये, किं करवाम—किं विदधाम वयमिति शेषः, येषाम्, नः—अस्माकं स्थिरमपि—दृढमपि, प्रयत्नं—प्रयासं, द्विषदिव—शत्रुरिव, दैवं—भाग्यं, विफलयति—विफलीकरोति ॥६॥

हिन्दी अनुवाद—और भी—

लक्ष्मी विशाल कुल मे उत्पन्न सम्राट् पति महाराज (नन्द) को छोडकर दुश्चरित्र शूद्रा के समान छल से मौर्य के पास चली गई और उस (मौर्य) में अचल (भी) हो गई । इस विषय में हम क्या करें, जिन हमारे सुदृढ प्रयत्न को भी शत्रु के समान भाग्य निष्फल कर देता है ॥६॥

टिप्पणी—उच्चैरभिजनम्—अभिजायते अस्मिन् इति अभिजनः = वंशः अभि√जन्+क घञर्थे । उच्चैः अभिजनो यस्य स, तम् । भुवनपतिम्—ससार के स्वामी । इन दोनो विशेषणो से यह सूचित किया गया है कि नन्द छोडने योग्य नही थे, फिर भी लक्ष्मी ने उन्हें छोडकर दुश्चरित्रा नीच स्त्री के

समान आचरण किया है। विफलयति—विफलं करोति इति विफल+णिच्+लट्—तिप्। इस श्लोक में दीपक, उपमा, अतिशयोक्ति तथा काव्यलिंग अलंकारों का संकर है। इसमें शिखरिणी छन्द है। इस छन्द का लक्षण १, १३ में देखिए ॥६॥

मया हि—

देवे गते दिवमतद्विधमृत्युयोग्ये
शैलेश्वरं तमधिकृत्य कृतः प्रयत्नः।
तस्मिन् हते तनयमस्य तथाप्यसिद्धि-
र्दैवं हि नन्दकुलशत्रुरसौ न विप्रः ॥७॥

अन्वयः—अतद्विधमृत्युयोग्ये देवे दिवं गते तं शैलेश्वरम् अधिकृत्य प्रयत्नः कृतः। तस्मिन् हते अस्य तनयम् (अधिकृत्य प्रयत्नः कृतः) तथापि असिद्धिः। दैवं हि नन्दकुलशत्रुः असौ विप्रः न ॥७॥

व्याख्या—अतद्विधमृत्युयोग्ये—तद्विधः तादृशः पामरजनसुलभ इत्यर्थः यः मृत्युः मरणं तस्य योग्यो यो न भवति तस्मिन्, देवे—राजनि नन्दे, दिवं गते—स्वर्गं प्रयाते, तं—प्रसिद्धं, शैलेश्वरं—पर्वतेश्वरम्, अधिकृत्य—आश्रित्य, प्रयत्नः—उद्योगः, कृतः—विहितः। तस्मिन्—पर्वतेश्वरे, हते—(चाणक्येन) घातिते, अस्य—पर्वतेश्वरस्य, तनयम्—पुत्रम् मलयकेतुमिति यावत्, (अधिकृत्य प्रयत्नः कृतः), तथापि—कृतेऽपि महत्यपि प्रयासे, असिद्धिः—असफलता (जाता)। दैवं हि—भाग्यमेव, नन्दकुलशत्रुः—नन्दकुलविद्वेषी, असौ— एषः, विप्रः—ब्राह्मणः चाणक्यः, न—नहि (शत्रुः) ॥७॥

हिन्दी अनुवाद—मैंने—

उस प्रकार की मृत्यु के अयोग्य महाराज (नन्द) के स्वर्ग चले जाने पर उस पर्वतेश्वर का आश्रय लेकर प्रयत्न किया। उस (पर्वतेश्वर) के मार डाले जाने पर उसके पुत्र (मलयकेतु) का (आश्रय लेकर प्रयत्न किया)। तो भी सफलता नहीं मिली। भाग्य ही नन्दवंश का शत्रु है, वह ब्राह्मण (चाणक्य) नहीं ॥७॥

टिप्पणी—अतद्विधमृत्युयोग्ये—तस्य विधा प्रकारः इव विधा अस्य

इति तद्विधः। तद्विध. मृत्यु. तद्विधमृत्यु.। तस्य योग्य । न तद्विधमृत्युयोग्यः अतद्विधमृत्युयोग्य', तस्मिन् । इस पद्य में काव्यलिंग, परिसङ्ख्या और अतिशयोक्ति अलकारों की ससृष्टि है। इसमें वसन्ततिलका छन्द है। इस छन्द का लक्षण १, ८ मे देखिए ॥७॥

अहो ! विवेकशून्यता म्लेच्छस्य मलयकेतो । कुत ?

> यो नष्टानपि जीवनाशमधुना शुश्रूषते स्वामिन-
> स्तेषा वैरिभिरक्षत कथमसौ सन्धास्यते राक्षसः ? ।
> इत्य वस्तु विवेकमूढमतिना म्लेच्छेन नालोचित
> दैवेनोपहतस्य बुद्धिरथवा पूर्वं विपर्यस्यति ॥८॥

अन्वय—य अधुना अपि जीवनाश नष्टान् स्वामिन शुश्रूषते असौ राक्षस अक्षत (सन्) तेषा वैरिभि कथ सन्धास्यते ? इत्य वस्तुविवेकमूढमतिना म्लेच्छेन न आलोचितम्, अथवा दैवेन उपहतस्य बुद्धि पूर्वं विपर्यस्यति ॥८॥

व्याख्या—य —राक्षस , अधुना अपि—इदानीमपि, जीवनाश—समूल, नष्टान्—मृतान्, स्वामिनः—प्रभून्, शुश्रूषते—परिचरति, असौ—एष, राक्षसः—नन्दामात्य., अक्षत —अविनष्टदेह (सन्), तेषा—स्वामिना, वैरिभि —शत्रुभिः (सह), कथ—केन प्रकारेण, सन्धास्यते—सधि करिष्यति ? इत्यम्—एतत्, वस्तुविवेकमूढमतिना—वस्तुन' यथार्थविषयस्य विवेके विचारे मूढा अल्पा असमर्थेति यावत् मतिः बुद्धि' यस्य तादृशेन, म्लेच्छेन—यवनेन मलयकेतुना, न—नहि, आलोचितम्—विचारितम्, अथवा—पक्षान्तरे, दैवेन—भाग्येन, अपहतस्य—ताडितस्य, बुद्धि—धी , पूर्वं—प्राक, विपर्यस्यति—विपरीता भवति ॥८॥

हिन्दी अनुवाद—यवन मलयकेतु की विवेकहीनता पर आश्चय है। क्योकि—

जो अभी भी समूल नष्ट हुए स्वामियो की सेवा कर रहा है, वह राक्षस अक्षतशरीर होता हुआ उन (स्वामियों) के शत्रुओ के साथ कैसे सन्धि कर लेगा ? इतना यथार्थ विषय के विवेक करने मे असमर्थ बुद्धि वाले यवन

मलयकेतु ने नहीं सोचा। अथवा भाग्य से मारे हुए की बुद्धि पहले विपरीत हो जाती है ॥८॥

टिप्पणी—जीवनाशम्—जीवन के नाश के साथ अर्थात् समूल। जीव√नश्+णमुल् 'कर्त्रोर्जीवपुरुषयोर्नशिवहोः' इत्यनेन। कहीं 'वीजनाशम्' पाठ है। उसका भी अर्थ 'समूल' होगा। वीज√नश्+णमुल् 'उपमाने कर्मणि च' इत्यनेन। शुश्रूषते—अत्र 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' इत्यनेन आत्मनेपदम्। विपर्यस्यति—वि-परि√अस्+लट्—तिप्। इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलंकार है, प्रसाद गुण है और वैदर्भी रीति है। इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है। इस छन्द का लक्षण १, १२ में देखिए ॥८॥

तदिदानीमपि तावदरातिहस्तगतो विनश्येद्राक्षसो, न तु चन्द्रगुप्तेन सह सन्धिं कुर्यादिति; अथवा मम काममसत्यसन्ध इति, वरमयशः, न पुनः शत्रुवञ्चनपरिभूतिः। [**समन्तादवलोक्य सास्रम्**] एतास्ता देवस्य पादक्रमणपरिचयपवित्रीकृतरथ्याः कुसुमपुरोपकण्ठभूमयः।

इह हि—

शार्ङ्गज्याकृष्टिमुक्तप्रशिथिलकविकाप्रग्रहेणात्र देशे
देवेनाकारि चित्रं प्रजविततुरगं बाणमोक्षश्चलेषु।
अस्यामुद्यानराजौ स्थितमिह कथितं राजभिस्तैर्विनेत्थं
सम्प्रत्यालोक्यमानाः कुसुमपुरभुवो भूयसा दुःखयन्ति ॥९॥

अन्वयः—अत्र देशे शार्ङ्गज्याकृष्टिमुक्तप्रशिथिलकविकाप्रग्रहेण देवेन चलेषु प्रजविततुरगं चित्रं बाणमोक्षः अकारि, अस्याम् उद्यानराजौ स्थितम्, इह राजभिः कथितम्; सम्प्रति तैः विना इत्थम् आलोक्यमानाः कुसुमपुरभुवः भूयसा दुःखयन्ति ॥९॥

व्याख्या—अत्र देशे—अस्मिन् भूभागे, शार्ङ्गज्याकृष्टिमुक्तप्रशिथिलकविकाप्रग्रहेण—शार्ङ्गस्य धनुषः ज्या मौर्वी तस्याः आकृष्टिः आकर्षणम् तया मुक्तः त्यक्तः (अतएव) प्रशिथिलः अतिश्लथः कविकायाः खलीनस्य प्रग्रहः रश्मिः यस्य तथाविधेन, देवेन—नन्देन, चलेषु—अस्थिरेषु, (लक्ष्येषु) प्रजविततुरगं प्रजवितः प्रवृद्धवेगः तुरगः अश्वः यस्मिन् कर्मणि तद् यथा तथा, (अतएव)

चित्र—महदाश्चर्यकारि, वाणमोक्ष.—शरत्याग., अकारि—कृत., अस्याम्—अमुष्याम्, उद्यानराजौ—उपवनपक्तौ, स्थितम्,—क्षणमुषितम्, इह—अस्मिन् स्थले, राजभि —नृपै , (सह) कथित—सम्भाषितम्, सम्प्रति—इदानीम्, तै —तदादिभिः राजभिः, विना—अन्तरा, इत्थम्—अनेन प्रकारेण, आलोक्यमाना —दृश्यमाना , कुसुमपुरभुव ,—पाटलिपुत्रभूमय· भूयसा—आधिक्येन, दु सयन्ति—क्लेशयन्ति ॥ ६ ॥

हिन्दी अनुवाद—इसलिए राक्षस अब भी शत्रु के हाथ में पडकर नष्ट हो जायेगा, किन्तु चन्द्रगुप्त के साथ सधि नही करेगा। अथवा (यह) प्रतिज्ञा को पूर्ण करन वाला नही है—ऐसा अपयश मेरे लिए कही अच्छा है, किन्तु शत्रु के छल से पराजित होना (अच्छा) नही है। [चारों ओर देखकर आँसू के साथ] ये वे महाराज के चरणों के न्यास के परिचय से (अर्थात् चरणो के बार-बार पडने से) पवित्र किये हुए राजमार्ग (या सतह) वाली पाटलिपुत्र की समीपवर्तिनी भूमियाँ हैं।

यहाँ—

इस स्थान पर धनुष की डोरी के खींचने मे छोडी हुई ढीली बागडोर वाले महाराज ने घोडे को दौडाते हुए तथा आश्चर्यजनक रूप से लक्ष्यो पर बाणों को छोडा था। इस उपवन की पक्ति मे बैठे थे। यहाँ राजाओ के साथ बातचीत की थी। इस समय उनके बिना इस प्रकार देखी जाती हुई पाटलिपुत्र की भूमियाँ अत्यन्त क्लेश पहुँचा रही हैं ॥ ६ ॥

टिप्पणी—अरातिहस्तगतः—अराति शत्रु चन्द्रगुप्त । तस्य हस्तः । त गत द्वितीयातत्० । कामम्—यथेच्छम् । असत्यसन्ध —असत्या सन्धा प्रतिज्ञा यस्य स । वरम्—प्रियम् । अयश —अकीर्ति । शत्रुवञ्चनपरिभूतिः—शत्रो चाणक्यस्य वञ्चनेन प्रतारणेन परिभूति पराजय· । पादक्रमणपरिचयपवित्रीकृतरथ्या —पादक्रमण चरणसञ्चार तस्य यः परिचय. उपलब्धि तेन पवित्रीकृता पूता रथ्या प्रतोली यत्र तथाविधा । कुसुमपुरोपकण्ठभूमय —कुसुमपुरसमीपप्रदशा । प्रजवित—प्रकृष्ट जव प्रजव प्रादिस० । स सञ्जात अस्य इति प्रजव+इतच् । तै —यह नन्द को सूचित करता है। आदरे बहुवचनम् । इस श्लोक में स्वभावोक्ति, दीपक तथा विनोक्ति

अलंकारों की संसृष्टि है। इसमें स्रग्धरा छन्द है। स्रग्धरा का लक्षण १, १ में देखिए ॥ ६ ॥

तत् क्व खलु गच्छामि मन्दभाग्यः ? [विलोक्य] भवतु दृष्टमेतज्जीर्णोद्यानम्, अत्र प्रविश्य कुतश्चिच्चन्दनदासस्य वृत्तान्तमुपलप्स्ये। [परिक्रम्य स्वगतम्] अहो ! अलक्षितोपनिपाताः पुरुषाणां समविषमदशाविभागपरिणतयो भवन्ति। कुतः ?—

पौरैरङ्गुलिभिर्नवेन्दुवदहं निर्दिश्यमानः शनैः
यो राजेव पुरा पुरान्निरगमं राज्ञां सहस्रैर्वृतः।
भूयः सम्प्रति सोऽहमेव नगरे तत्रैव बन्ध्यश्रमो
जीर्णोद्यानकमेष तस्कर इव त्रासाद् विशामि द्रुतम् ॥ १० ॥

अन्वयः—यः अहम् पुरा राज्ञां सहस्रैः वृतः राजा इव पौरैः अङ्गुलिभिः नवेन्दुवत् निर्दिश्यमानः (सन्) शनैः पुरात् निरगमं स एव वन्ध्यश्रमः अहं सम्प्रति भूयः तत्रैव नगरे तस्कर इव त्रासात् द्रुतं जीर्णोद्यानकम् एव विशामि ॥ १० ॥

व्याख्या—यः, अहम्—राक्षसः, पुरा—पूर्वं जीवति नन्दे इत्यर्थः, राज्ञां सहस्रैः—नृपसमूहैः, वृतः—परिवारितः (भूत्वा), राजा इव—भूप इव, पौरैः—पुरवासिभिः, अङ्गुलिभिः—करशाखासंकेतेनेत्यर्थः, नवेन्दुवत्—नवोदितचन्द्र इव, निर्दिश्यमानः—प्रदर्श्यमानः (सन्), शनैः—मन्दगति, पुरात्—नगरात्, निरगमम्—निर्गतवान्, स एव, वन्ध्यश्रमः—विफलप्रयासः, अहम्, सम्प्रति—अधुना, भूयः—पुनः, तत्रैव नगरे—तस्मिन्नेव पुरे, तस्कर इव—चौर इव, त्रासात्—भयात्, द्रुतं—सत्वरं, जीर्णोद्यानकम्—पुरातनाल्पोपवनम्, एषः, विशामि—प्रविशामि ॥ १० ॥

हिन्दी अनुवाद—तो मैं अभागा कहाँ जाऊँ ? [देखकर] अच्छा, इस पुराने उद्यान को देख लिया। इसमें प्रवेश करके कहीं से चन्दनदास का समाचार प्राप्त करूँगा। [घूमकर मन में] ओह ! मनुष्यो के अनुकूल और प्रतिकूल अवस्थाओ के विभाग के परिणाम बिना संभावना के आ टपकते हैं। क्योंकि—

जो मैं पहले सहस्रो राजाओ से घिरा हुआ तथा राजा के समान नागरिकों के द्वारा अँगुलियो से नवोदित चन्द्रमा की तरह दिखाया जाता हुआ धीरे-धीरे नगर से निकलता था, वही निष्फल प्रयास वाला मैं इस समय फिर उसी नगर मे चोर की भांति भय मे शीघ्रता के साथ जीर्ण-उपवन मे यह प्रवेश कर रहा हूँ ॥ १० ॥

टिप्पणी—अलक्षितोपनिपाता —बिना दिखे अर्थात् अप्रत्याशित रूप से आ जाने वाले। न लक्षितः अलक्षित। उप-नि√पद्+घञ् भावे=उपनिपाता। अलक्षिता उपनिपाता अलक्षितोपनिपाता =अतर्कितागमा। समविषमदशाविभागपरिणतय —समाश्च विषमाश्च समविषमा ताद्दश्य दशाः तासा विभागा तेषा परिणतय =तुल्यातुल्यावस्थापार्यवयपरिणामाः। पौरै — प्राचीन समय मे जब राजा बाहर निकलता था तब नागरिक अपने-अपने घरो की छत पर, सडको पर खडे होकर उसे देखने थे और एक दूसरे को दिखाते हुए कहते थे कि वह राजा जा रहा है, बात कर रहा है इत्यादि। उसी तरह राक्षस को भी देखकर लोग अगुल्या निर्देश करते थे। यहाँ उसी अवस्था का स्मरण राक्षस को हो रहा है। शनै —कहा भी है कि राजा, ज्ञानी, यौवनभाराक्रान्त युवती तथा गजराज धीरे-धीरे चलते हैं। निरगमम्—निर्√गम्+लुङ्—मिप्। तस्कर —'तद्—कर' इत्यवस्थायाम् 'तद्वृहतो करपत्योश्चोरदेवतयोः' इत्यनेन सुट् तलोपश्चेति निपातनात् तस्करपदसिद्धि। जीर्णोद्यानकम्—कुत्सितम् उद्यानम् उद्यानकम् उद्यान्+कन्। जीर्णञ्च तत् उद्यानकम् जीर्णोद्यानकम्। इस श्लोक मे राक्षस ने अपनी पहली अवस्था और वर्तमान दोनो का चित्र खीचा है। जैसे—पहले 'राजा इव' और अब 'तस्कर इव'। पहले 'पश्यन्तु लोका इति शनै' और अब 'लोकाः मा द्राक्षुः' इति द्रुतम्। पहले 'पुरात्' और अब 'जीर्णोद्यानकम्'। पहले 'निरगमम्' और अब 'विशामि' इत्यादि। इस पद्य मे तीन उपमा अलकार और द्वितीय पर्याय अलकार है। इसमे शार्दूलविक्रीडित छन्द है। इस छन्द का लक्षण १, १२ में देखिए ॥१०॥

अथवा, येषा प्रसादादिदमासीत् ते एव न सन्ति। [नाट्येन प्रविश्य विलोक्य च] अहो ! जीर्णोद्यानस्य नाभिरमणीयता। अत्र हि—

विपर्यस्तं सौधं कुलमिव महारम्भरचनं
सरः शुष्कं साधोर्हृदयमिव नाशेन सुहृदः ।
फलैर्हीना वृक्षा विगुणविधियोगादिव नया-
स्तृणैश्छन्ना भूमिर्मतिरिव कुनीत्या ह्यविदुषः ॥११॥

अन्वयः—महारम्भरचनं सौधं कुलमिव विपर्यस्तम् । सरः सुहृदः नाशेन साधोः हृदयमिव शुष्कम् । वृक्षाः विगुणविधियोगात् नया इव फलैः हीनाः । भूमिः कुनीत्या अविदुषः मतिरिव हि तृणैः छन्ना ॥ ११ ॥

व्याख्या—महारम्भरचनं—महता प्रचुरेण आरम्भेण उद्योगेन रचना निर्माणं यस्य तादृशं, सौधं—हर्म्यं, कुलमिव—(नन्दस्य) वंश इव, विपर्यस्तम्—विध्वस्तम् । सरः—जलाशयः, सुहृदः—मित्रस्य, नाशेन—ध्वंसेन, साधोः—महात्मनः, हृदयमिव—चित्तमिव, शुष्कम्—नीरसम् (जातम्) । वृक्षाः—पादपाः, विगुणविधियोगात्—विगुणस्य गुणहीनस्य प्रतिकूलस्येत्यर्थः विधेः दैवस्य योगात् वशात्, नया इव—नीतय इव, फलैः, हीनाः—रहिताः । भूमिः—अत्रत्या स्थली, कुनीत्या—दुर्नयेन, अविदुषः—अज्ञस्य मलयकेतोरिति यावत, मतिरिव—बुद्धिरिव, हि—एव, तृणैः—शष्पैः, छन्ना—आवृता ॥११॥

हिन्दी अनुवाद—अथवा जिनकी कृपा से यह (सब कुछ) था, वे ही नहीं है । [अभिनय पूर्वक प्रवेश करके और देखकर] हाय जीर्ण उद्यान मे सुन्दरता कहाँ ? यहाँ तो—

महान् प्रयत्न से निर्माण किया हुआ भवन (नन्द) वंश के समान ध्वस्त हो गया । सरोवर मित्र के विनाश से सज्जन के हृदय के समान सूख गया । वृक्ष प्रतिकूल भाग्य के कारण नीतियो के समान फलशून्य हो गए । भूमि कुनीति से मूर्ख की बुद्धि के समान ही तिनको से ढक गई ॥ ११ ॥

टिप्पणी—येषाम्—यह सर्वनाम नन्द के लिए आया है । महारम्भरचनम्—यह 'सौधम्' तथा 'कुलम्' दोनों का विशेषण है । शुष्कम्—√शुष्+क्त कर्तरि 'शुषः कः' इति सूत्रेण तस्य कः । विगुण—विगता गुणाः यस्य इति विगुणः प्रादिबहुव्रीहि स० । कुनीत्या—√नी+क्तिन् भावे= नीतिः । कुत्सिता नीतिः कुनीतिः, तया । इस श्लोक मे चार श्रौती पूर्णोपमा

अलंकार हैं। इसमें शिखरिणी छन्द है। इस छन्द का लक्षण १, १३ में देखिए ॥११॥

अपि च अत्र—

> क्षताङ्गानां तीक्ष्णैः परशुभिरुदग्रैः क्षितिरुहां
> रुजा कूजन्तीनामविरतकपोतोपरुदितैः ।
> स्वनिर्मोकच्छेदैः परिचितपरिक्लेशकृपया
> श्वसन्तः शाखानां व्रणमिव निबध्नन्ति फणिनः ॥१२॥

अन्वयः—तीक्ष्णैः उदग्रैः परशुभिः क्षताङ्गानां क्षितिरुहां रुजा अविरतकपोतोपरुदितैः कूजन्तीनां शाखानां व्रणं फणिनः परिचितपरिक्लेशकृपया श्वसन्तः स्वनिर्मोकच्छेदैः निबध्नन्ति इव ॥१२॥

व्याख्या—तीक्ष्णैः—शितधारैः, उदग्रैः—उन्नताग्रभागैः, परशुभिः—कुठारैः, क्षताङ्गानां—भिन्नदेहानाम्, क्षितिरुहां—वृक्षाणां, रुजा—पीडया, अविरतकपोतोपरुदितैः—अविरतानि अविच्छिन्नानि यानि कपोतानां—पारावतानाम् उपरुदितानि कूजनानि तैः, कूजन्तीनां—शब्दं कुर्वन्तीनां, शाखानां—विटपानां, व्रणं—क्षतं, फणिनः—सर्पाः, परिचितपरिक्लेशकृपया—परिचितस्य सहवासविज्ञातस्य यः परिक्लेशः यातना ततः सञ्जाता या कृपा दया तया हेतुना, श्वसन्तः—दीर्घनिःश्वासं त्यजन्तः, स्वनिर्मोकच्छेदैः—स्वेषाम् आत्मनाम् ये निर्मोकाः कञ्चुकरूपवसनानि तेषां छेदैः खण्डैः निबध्नन्ति इव—वेष्टयन्ति इव ॥१२॥

हिन्दी अनुवाद—और भी यहाँ—

तीक्ष्ण एवम् उन्नत अग्र भाग वाली कुल्हाड़ियों से कटे हुए अंगों वाले वृक्षों की पीडा में निरन्तर कबूतरों के शब्दों से (मानो) विलाप करती हुई शाखाओं के घाव को साँप परिचितों की वेदना से उत्पन्न करुणा के कारण आह खींचते हुए अपनी केंचुली (रूपी वस्त्रों) के टुकड़ों से मानों बाँध रहे हैं ॥१२॥

टिप्पणी—उदग्रैः क्षितिरुहां—इसके स्थान में 'उदग्रक्लमभृतां' यह पाठ भी मिलता है। उसकी व्याख्या होगी—'उदग्रः कठोरः यः क्लमः क्लान्तिः

तं बिभ्रति याः तादृशीनाम्'। तब यह 'शाखानाम्' का विशेषण होगा। परशुभिः—परान् अन्यान् शृणन्ति हिंसन्ति इति परशवः पर√शृ+डु, तैः। क्षताङ्गानाम्—अत्र 'अङ्गगात्रकण्ठेभ्यश्च' इति ङीप् विकल्पः। क्षताङ्गीनाम्। रुजा—√रुज्+क्विप् भावे=रुक्, तया। इस श्लोक मे गम्योत्प्रेक्षा, अपह्नुति, हेतूत्प्रेक्षा और उत्प्रेक्षा अलंकारों की संसृष्टि है। इसमें शिखरिणी छन्द है। इस छन्द का लक्षण १, १३ में देखिए ॥१२॥

एते च तपस्विनः—

> अन्तः शरीरपरिशोषमुपाश्रयन्तः
> कीटक्षतिस्रुतिभिरस्रमिवोद्वमन्तः
> छायावियोगमलिना व्यसने निमग्ना
> वृक्षाः श्मशानमुपगन्तुमिव प्रवृत्ताः ॥१३॥

अन्वयः—अन्तः शरीरपरिशोषम् उपाश्रयन्तः कीटक्षतिस्रुतिभिः अस्रम् उद्वमन्तः इव छायावियोगमलिनाः व्यसने निमग्नाः वृक्षाः श्मशानम् उपगन्तुम् प्रवृत्ताः इव ॥१३॥

व्याख्या—अन्तःशरीरपरिशोषम्—अन्तः शरीरस्य अभ्यन्तरदेहस्य परिशोषं विशीर्णताम्, उपाश्रयन्तः—प्राप्नुवन्तः, कीटक्षतिस्रुतिभिः—कीटैः कृताः याः क्षतयः रन्ध्राणि ताभ्यः याः स्रुतयः रसरक्षरणानि ताभिः करणैः, अस्रम्—अश्रु, उद्वमन्त इव—मुञ्चन्त इव, छायावियोगमलिनाः—छायायाः अनातपस्य वियोगेन अपगमेन मलिनाः विहतकान्तयः, व्यसने—दुःखे, निमग्नाः—पतिताः, वृक्षाः—पादपाः, श्मशानम्—पितृवनम्, उपगन्तुम्—अभियातुं मर्तुमित्यर्थः, प्रवृत्ताः इव—उद्युक्ता इव ॥१३॥

हिन्दी अनुवाद—ये वेचारे—

शरीर के भीतर शुष्कता को प्राप्त करते हुए, कीडों के किये छेदों से बहने वाले द्रव के रूप में आँसू बहाते हुए, छाया के न होने से हतश्रीक बने हुए और शोक में डूबे हुए वृक्ष मानों श्मशान जाने के लिए तैयार हो रहे हैं ॥१३॥

टिप्पणी—अन्तःशरीरपरिपोषम्—जल से न सीचे जाने के कारण वृक्ष

अभिनीय—मदन्तिक प्रापय्य, च, (ता) दर्शितः—साक्षात्कारित (अस्मि)। मन्ये—शङ्के, सम्प्रति—अधुना, माम्—राक्षसम्, अनुभावयितुम्—उपलम्भयितु, विधे —दैवस्य, यत्न —प्रयास (विद्यते) ॥ १५ ॥

हिन्दी अनुवाद—[सोचकर] अच्छा, समझ गया। यह मलयकेतु के पकड़ जाने से उत्पन्न राजकुल का—[ऐसा आधा कहने पर ईर्ष्या के साथ] (यह) मौर्यकुल की अधिक प्रसन्नता को सूचित करता है। [आँसू के साथ] कष्ट है जी ! कष्ट ॥

शत्रु की (राज्य)-लक्ष्मी को सुनाया गया हूँ और समीप लाकर दिखाया भी गया हूँ। मैं समझता हूँ कि इस समय मुझे अनुभव कराने के लिए भाग्य का (यह) प्रयत्न है ॥ १५ ॥

टिप्पणी—एष हि—नूनमय। मलयकेतुसयमनसञ्जात —मलयकेतो सयमनात् ग्रहणात् सञ्जात उद्गत। राजकुलस्य—यहाँ 'नहि नहि मौर्यकुलस्य' यह विवक्षित है। पिशुनयति—सूचयति। श्रिय— श्रावित, अत्र 'गतिबुद्धि'—इत्यादिसूत्रेण कर्मसज्ञा—द्वितीया। श्रिय दर्शित —अत्र 'दृशेश्च' इत्यनेन कर्मसज्ञा—द्वितीया। अनुभावयितुम्—अनु√भू+णिच्+तुमुन्। अह श्रियम् अनुभवामि=मा श्रियम् अनुभावयति। इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलकार है और अनुष्टुप् छन्द है। अनुष्टुप् का लक्षण ?, ३ में देखिए ॥१५॥

पुरुष —आसीणो अअ। ता जाव अज्जचाणक्कस्स आणत्ति सपादेमि। (आसीनोऽयम्। तद्यावदार्यचाणक्यस्याज्ञप्ति सम्पादयामि।) [राक्षसमपश्यन्निव तस्याग्रतो रज्जुपाशेन कण्ठमुद्बध्नाति।]

राक्षस —[विलोक्य स्वगतम्] अये ! कथमयमात्मानमुद्बध्नाति ? नन्वयमहमिव दु खितस्तपस्वी भवतु, पृच्छाम्येनम्। [उपसृत्य प्रकाशम्] भद्र भद्र ! किमिदमनुष्ठीयते ?

पुरुष —[सबाष्पम्] अज्ज ! ज प्पिअवअस्सविणासदु खिदो अह्मादिसो मन्दभाओ जणो अणुचिट्ठदि। (आर्य ! यत् प्रियवयस्यविनाशदु खितोऽस्मादृशो मन्दभाग्यो जनोऽनुतिष्ठति।)

राक्षस —[स्वगतम्] प्रथममेव मया ज्ञात, नूनमहमिवायमात-

स्तपस्वीति। भवतु, पृच्छाम्येनम् [प्रकाशम्] भद्र ! व्यसनसब्रह्म-चारिन् ! यदि न गुह्यं, नातिभारिकं वा; ततः श्रोतुमिच्छामि किं ते प्राणपरित्यागकारणम् ?

पुरुषः—[निरूप्य] अज्ज ! ण रहस्सं, ण वा अतिगुरुअं; किन्तु ण सक्कणोमि प्पिअबअस्सबिणासदुक्खिदहिअओ एत्तिअमत्तम्पि मरणस्स कालहरणं कादुं। (आर्य ! न रहस्यं, न वाऽतिगुरुकं, किन्तु न शक्नोति प्रियवयस्यविनाशदुःखितहृदय एतावन्मात्रमपि मरणस्य कालहरणं कर्तुम्।)

राक्षसः—[निःश्वस्याऽऽत्मगतम्] कष्टमेतेषु सुहृद्व्यसनेषु परवदुदासीनाः प्रत्यादिश्यामहे वयमनेन। [प्रकाशम्] भद्र ! यदि न रहस्यं, नाऽतिगुरुकं वा, तत् पुनः श्रोतुमिच्छामि। कथ्यतां का गतिः दुःखस्येति ?

हिन्दी अनुवाद—**पुरुष**—यह बैठा हुआ है। इसलिए अब आर्य चाणक्य की आज्ञा को सम्पन्न करता हूँ। [**राक्षस को न देखते हुए की तरह उसके आगे रस्सी के फन्दे से गले को बाँधता है।**]

राक्षस—[**देखकर मन में**] अरे ! क्यो यह अपने को बाँध रहा है ? निश्चित ही यह बेचारा मेरी तरह दुःखी है। अच्छा, पूछता हूँ इससे। [**समीप जाकर प्रकट रूप से**] भद्र ! भद्र !! यह क्या कर रहे हो ?

पुरुष—[**आँसू के साथ**] आर्य ! जो प्रिय मित्र के विनाश से दुःखी मेरे जैसा अभागा व्यक्ति करता है।

राक्षस—[**मन में**] पहले ही मैंने समझ लिया कि यह बेचारा निश्चित रूप से मेरे समान दुःखी है। अच्छा, पूछता हूँ इससे। [**प्रकट**] भद्र ! समान विपत्ति वाले ! यदि गोपनीय न हो, अथवा बहुत महान् न हो तो सुनना चाहता हूँ कि तुम्हारा प्राणत्याग करने का कारण क्या है।

पुरुष—[**देखभाल कर**] आर्य ! गोपनीय नही है या अत्यन्त महान् नही है, किन्तु प्रिय मित्र के विनाश से दुःखी हृदय वाला मैं मरने के समय को इतना भी गँवाने के लिए समर्थ नही हूँ।

राक्षसः—अलभ्यमनुरक्तवान् किमयमन्यनारीजनम् ?

पुरुष —[कर्णौपिधाय] अज्ज ! सन्त पाव, सन्त पाव । अभूमी क्खु एसो विणअणिधाणस्स सेट्ठिजणस्स, विसेसदो जिण्णुदासस्स । (आर्य ! शान्त पाप, शान्त पापम् । अभूमि खल्वेष विनयनिधानस्य वणिग्जनस्य, विशेषतो जिष्णुदासस्य ।)

राक्षस —किमस्य भवतो यथा सुहृद एव नाशो विषम् ? ॥१६॥

अन्वय —किम् औषधपथातिगैः महाव्याधिभिः उपहृत ? किम् अग्नि-विषकल्पया नरपतेः क्रुधा निरस्त ? किम् अयम् अलभ्यम् अन्यनारी-जनम् अनुरक्तवान् ? किम् भवत यथा सुहृद नाश एव विषम् (तथा) अस्य ? ॥१६॥

व्याख्या—किम्, औषधपथातिगैः—औषधाना भेषजाना पन्थान वर्त्म अतिगच्छन्ति अतीत्य वर्तन्ते ये तादृशैः अचिकित्स्यैरिति यावत्, महाव्याधिभि —भयकररोगैः, उपहृत —प्रपीडित ? किम्, अग्निविषकल्पया—वह्नि-विषतुल्यया, नरपतेः —राज्ञ , क्रुधा—कोपेन, निरस्त—समाक्षिप्त ? किम्, अय—जिष्णुदास , अलभ्य—दुष्प्राप्यम्, अन्यनारीजनम्—पारस्त्रियम्, अनु-रक्तवान्—आसक्तवान्, ? किम्, भवतः—तव, यथा—येन प्रकारेण, सुहृद —मित्रस्य, नाश एव—मरणमेव, विषम्—विनाशकारणं (तथा) अस्य—जिष्णुदासस्य (मित्रान्तरमरणमेव विनाशकारणं) ?

हिन्दी अनुवाद—राक्षस—भद्र ! तो तुम्हारे मित्र का अग्नि मे प्रवेश करने का क्या कारण है ?

क्या ओषधि के मार्ग का अतिक्रमण करने वाले (अर्थात् अचिकित्स्य) महान् रोगो से पीडित (होने के कारण ऐसा कर रहे) हैं ?

पुरुष—आर्य ! नही नही ।

राक्षस—क्या अग्नि और विष के तुल्य राजा के क्रोध से ग्रस्त (होने के कारण ऐसा कर रहे) हैं ?

पुरुष—आर्य ! पाप शान्त हो, पाप शान्त हो । चन्द्रगुप्त के राज्य मे क्रूर प्रवृत्ति नहीं है ।

राक्षस—क्या वे दुर्लभ पर-नारी में अनुरक्त (होने के कारण ऐसा कर रहे) हैं ?

पुरुष—[**कानों को बन्द करके**] आर्य ! पाप शान्त हो, पाप शान्त हो। यह अत्यन्त विनीत वणिग् जाति, विशेष करके जिष्णुदास के लिए अयोग्य बात है।

राक्षस—क्या आप की तरह मित्र का विनाश ही उनके विनाश का कारण है ?

टिप्पणी—औषधपथातिगैः—औषधानां पन्थाः औषधपथः 'ऋक्पूरब्धूः'—इत्यनेन समासान्तः अप्रत्ययः। तम् अतिगच्छन्ति इति औषधपथ अति√गम् + ड कर्तरि = औषधपथातिगाः, तैः। **अग्निविषकल्पया**—अग्निश्च विषञ्च इति अग्निविषे, ताभ्याम् ईषदूना इति अग्निविष + कल्पप् स्त्रियाम्, तया। **अनृशंसा**—अघातुका। **प्रतिपत्तिः**—प्रवृत्तिरित्यर्थः। **अभूमिः**—अविषयः। इस श्लोक में उपमोत्थापित रूपक अलंकार है। इसमें पृथ्वी छन्द है। पृथ्वी का लक्षण यह है—'जसौजसयलावसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः' ॥१६॥

पुरुषः—अज्ज ! अध इं ? (आर्य ! अथ किम् ?)

राक्षसः—[**सावेगमात्मगतम्**] चन्दनदासोऽस्य सुहृदः प्रियसुहृत्, तस्य प्रिसुहृद्विनाश एवाऽग्निप्रवेशहेतुरिति यत् सत्यं समाकुलित एवाऽस्मि सुहृत्स्नेहपक्षपातिना हृदयेन। [**प्रकाशम्**] भद्र ! तस्यापि तव सुहृदः सुचरितं विस्तरेण श्रोतुमिच्छामि।

पुरुषः—अज्ज ! अदो अबरं ण सक्कणोमि मन्दभाओ मरणस्स बिग्घमुप्पादेदुं। (आर्य ! अतोऽपरं न शक्नोमि मन्दभाग्यो मरणस्य विघ्नमुत्पादयितुम्।)

राक्षसः—श्रवणीयां कथां कथयतु भद्रमुखः।

पुरुषः—का गदी ? एसो क्खु णिवेदेमि, णिसामेदु अज्जो। (का गतिः ? एष खलु निवेदयामि, निशामयत्वार्यः।)

राक्षसः—भद्र ! दत्तावधानोऽस्मि।

पुरुष —अत्थि, जाणादि अज्जो, एत्थ णअरे मणिआरसेट्ठी चन्दणदासो णाम। (अस्ति, जानात्यार्य, इह नगरे मणिकारश्रेष्ठी चन्दनदासो नाम।)

राक्षस —[सविषादात्मगतम्] एतत्तदपावृतमस्मद्विनाशदीक्षाप्रकाशद्वार दैवेन। हृदय! स्थिरीभव, किमपि ते कष्टतरमाकर्णनीयम्। [प्रकाशम्] भद्र! श्रूयते मित्रवत्सल स साधु। किं तस्य?

पुरुषः—सो एदस्स जिण्णुदासस्स प्पिअवअस्सो होदि। (स एतस्य जिष्णुदासस्य प्रियवयस्यो भवति।)

राक्षस —[स्वगतम्] अयमभ्यर्णः शोकवज्रपातो हृदयस्य [प्रकाशम्] ततस्तत?

पुरुष.—तदो जिण्णुदासेण प्पिअवअस्सस्स सिणेहसरिस अज्ज विण्णत्तो चन्दउत्तो। (ततो जिष्णुदासेन प्रियवयस्यस्य स्नेहसदृशमद्य विज्ञप्तश्चन्द्रगुप्त।)

राक्षस —कथय किमिति?

पुरुष —देव! अत्थि मे गेहे कुटुम्बभरणपज्जत्तो अत्थो। तस्स विणिमएण मुञ्चिज्जदु मे प्पिअवअस्सो चन्दणदासो त्ति। (देव! अस्ति मे गृहे कुटुम्बभरणपर्याप्तोऽर्थ। तस्य विनिमयेन मुच्यता मे प्रियवयस्यश्चन्दनदास इति।)

हिन्दी अनुवाद—पुरुष—आर्य! और क्या?

राक्षस—[आवेग के साथ मन ही मन] चन्दनदास इसके मित्र के प्रिय मित्र हैं, और उसके प्रिय मित्र का विनाश ही अग्नि मे प्रवेश करने का कारण है। इसलिए सचमुच मित्र-स्नेह के पक्षपाती हृदय से मैं व्याकुल हूँ। [प्रकट] भद्र! तुम्हारे उस मित्र का भी सुचरित विस्तार से सुनना चाहता हूँ।

पुरुष—आर्य! इसके बाद मैं अभागा मृत्यु के विघ्न को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हूँ।

राक्षस—भद्रमुख सुनने योग्य कथा को कहे।

पुरुष—क्या उपाय है ? यह कहता हूँ, आर्य सुनें।

राक्षस—भद्र ! सावधान हूँ।

पुरुष—आर्य जानते होगे कि इस नगर में चन्दनदास नाम के सेठ जौहरी हैं।

राक्षस—[**विषाद के साथ मन में**] यह तो भाग्य ने मेरे विनाश के उपदेश के आने का मार्ग खोल दिया है। हृदय ! स्थिर हो जाओ। तुम्हें कुछ कष्टदायक (वचन) सुनना है। [**प्रकट**] भद्र ! सुना जाता है कि वे सज्जन मित्र के प्रेमी है। उनका क्या हुआ ?

पुरुष—वे इन जिष्णुदास के प्रिय मित्र है।

राक्षस—[**मन में**] यह हृदय का शोकरूपी वज्रपात समीप है। [**प्रकट**] तब क्या हुआ ?

पुरुष—तब आज जिष्णुदास ने प्रिय मित्र के स्नेह के अनुरूप चन्द्रगुप्त से निवेदन किया।

राक्षस—कहो क्या ?

पुरुष—महाराज ! मेरे घर में कुटुम्ब के भरण-पोषण के लिये पर्याप्त धन है। उसे लेकर मेरे प्रिय मित्र चन्दनदास को छोड़ दिया जाय।

टिप्पणी—सुहृत्स्नेहपक्षपातिना—मित्रानुरागासक्तेन। सुहृदः स्नेहः, तस्मिन् पक्षपातः, सः अस्ति अस्य इतिसुहृत्स्नेहपक्षपात + इनि। विस्तरेण—वि √ स्तृ—अप् भावे = विस्तरः; विस्तार शब्दे तु 'प्रथमे वावशब्दे' इति सूत्रेण घञ् प्रत्ययः। अतएव 'वाक्यस्य विस्तरः, 'पटस्य विस्तारः' इत्यादि। तेन। करणे तृतीया। अस्मद्विनाशदीक्षाप्रकाशद्वारम्—अस्मद्विनाशोपदेशागमनमार्गः। अभ्यर्णः—समीपवर्ती। अभि √ अर्द् + क्त कर्तरि = अभ्यर्णः वा अभ्यर्दितः।

राक्षसः—[**स्वगतम्**] साधु जिष्णुदास ! साधु !! अहो ! दर्शितो मित्रस्नेहः। कुतः ?—

> पितॄन् पुत्राः पुत्रान् परवदभिहिंसन्ति पितरो
> यदर्थं सौहार्दं सुहृदि च विमुञ्चन्ति सुहृदः।

प्रिय मोक्तु तद्यो व्यसनमिव सद्यो व्यवसित
कृतार्थोऽय सोऽर्थस्तव सति वणिक्त्वेऽपि वणिज ॥१७॥

अन्वयः—यदर्थं पुत्रा पितॄन्, पितरः पुत्रान् परवत् अभिहिंसन्ति, सुहृदः सुहृदि सौहार्दं विमुञ्चन्ति च। सः अयम् अर्थः वणिजः तव वणिक्त्वे सति अपि कृतार्थः, यः (त्व) तत् प्रिय व्यसनमिव सद्यः मोक्तु व्यवसितः ॥१७॥

व्याख्या—यदर्थं—यस्मै अर्थाय निमित्त, पुत्रा—सुताः, पितॄन्—जनकान्, पितर—जनकाः, पुत्रान्—सुतान्, परवत्—रिपव इव, अभिहिंसन्ति—निघ्नन्ति, सुहृद—मित्राणि, सुहृदि—मित्रे, सौहार्दं—मित्रत्व, विमुञ्चन्ति—त्यजन्ति च। सः अय—सर्वातिशयः, अर्थ—धन, वणिज—पण्यजीविनः, तव—भवतः, वणिक्त्वे—वणिग्भावे, सति अपि—विद्यमानेऽपि, कृतार्थं—सफल, य—त्वम्, तत् प्रिये—प्रार्थनीय, वस्तु अर्थमिति यावत्, व्यसनमिव—दुःखमिव, सद्य—तत्क्षणम्, मोक्तु—हातु, व्यवसितः—समुद्युक्तः ॥१७॥

हिन्दी अनुवाद—राक्षस—[मन में] वाह जिष्णुदास! वाह!! महा! मित्र-स्नेह (तुमने) दिखा दिया। क्योंकि—

जिस (धन) के लिए पुत्र पिताओं को और पिता पुत्रों को शत्रु की भाँति मार डालते हैं तथा मित्र मित्र के प्रति मित्रता त्याग देते हैं, वह यह धन वणिक् तुम्हारे वणिक् होने पर भी सार्थक हो गया। जो तुम उस प्रिय (धन) को दुःख की भाँति तुरन्त छोड़ने के लिए उद्यत हो गए हो ॥१७॥

टिप्पणी—सौहार्द्रम्—सुहृदो भाव इति सुहृत्+अण् 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' इत्युभयपदवृद्धिः। वणिक्त्वे सति—अत्र अनादरे सप्तमी। प्रियम्—अत्र सामान्ये नपुंसकम्। इस श्लोक मे दो उपमा अलकार, वाक्यार्थ-हेतुक काव्यलिंग अलकार और विरोधालकार की संसृष्टि है। इसमें शिखरिणी छद है। इस छन्द का लक्षण, १, १३ मे देखिए ॥१७॥

[प्रकाशम्] भद्र! ततस्तथाऽभिहितेन सता किं प्रतिपन्न मौर्येण?

पुरुष—अज्ज! तदो एव्व भणिदेण चन्दउत्तेण प्पडिभणिदो सेट्ठी जिण्णुदासो—'जिण्णुदास! ण मए अत्थस्स कालणेण सेट्ठी चन्दण-

दासो संजमिदो, किंदु प्पच्छादिदो अणेण अमच्चरक्खसस्स घरअणो, बहुसो जाचिदेणावि ण समप्पिदो त्ति ताजइ अमच्चरक्खसस्स घरअणं समप्पेदि, तदो अत्थि से मोक्खो, अण्णधा प्पाणहरो से दण्डो' त्ति भणिअ बज्झट्ठाणं आणीदो चन्दणदासो। तदो 'जाव प्पिअबअस्सस्स चन्दणदासस्स असुणिदव्वं ण सुणेमि, ताबज्जेब अत्ताणं बाबादेमि' त्ति ज्जलणे प्पबिसिदुकामो सेट्ठी जिण्णुदासो णअरादो णिग्गदो। अहं वि जाव प्पिअबअस्सस्स जिण्णुदासस्स असुणिदव्वं ण सुणेमि, ताव उब्बन्धिअ अत्ताणं बाबादेमि, त्ति इमं जिण्णुज्जाणं आगदो ह्मि।
(आर्य ! तत एवं भणितेन चन्द्रगुप्तेन प्रतिभणितः श्रेष्ठी जिष्णुदासः— 'जिष्णुदास ! न मयाऽर्थस्य कारणेन श्रेष्ठी चन्दनदासः संयमितः, किन्तु प्रच्छादितोऽनेनामात्यराक्षसस्य गृहजनः, बहुशो याचितेनाऽपि न समर्पित इति। तद्यद्यमात्यराक्षसस्य गृहजनं समर्पयति,ततोऽस्त्यस्य मोक्षः, अन्यथा प्राणहरोऽस्यदण्ड' इति भणित्वा वध्यस्थानमानीतश्चन्दनदासः। ततो 'यावत् प्रियवयस्यस्य चन्दनदासस्याश्रोतव्यं न शृणोमि, तावदेवात्मानं व्यापादयामि' इति ज्वलने प्रवेष्टुकामः श्रेष्ठी जिष्णुदासो नगरान्निर्गतः। अहमपि यावत् प्रियवयस्यस्य जिष्णुदासस्याश्रोतव्यं न शृणोमि, तावदुद्बध्यात्मानं व्यापादयामि, इतीदं जीर्णोद्यानमागतोऽस्मि।)

व्याख्या—ततः—तदनन्तरम्, एवम्—इत्यम्, भणितेन—उक्तेन, चन्द्रगुप्तेन—मौर्येण, श्रेष्ठी जिष्णुदासः प्रतिभणितः—प्रत्युक्तः, 'मया, अर्थस्य—धनस्य, कारणेन—हेतुना, श्रेष्ठी चन्दनदासः, न संयमितः—न बद्धः, किन्तु, अनेन, अमात्यराक्षसस्य, गृहजनः—कलत्रादि, प्रच्छादितः—गोपितः, बहुशः—असकृत्, याचितेनापि—अर्थितेनापि, न समर्पितः—न दत्तः। तत्—तस्मात्, यदि—चेद, अमात्यराक्षसस्य, गृहजनं—परिवारं, समर्पयति—ददाति, ततः—तदा, अस्य—चन्दनदासस्य, मोक्षः—मुक्तिः, (अस्ति) अन्यथा—तदसमर्पणे, अस्य—चन्दनदासस्य, प्राणहरः—जीवनाशः, दण्डः—क्लेशः, (भविष्यति)' इति भणित्वा—एवमुक्त्वा, चन्दनदासः, वध्यस्थानं—मारणभूमिम्, आनीतः—प्रापितः। ततः—तदुत्तरं 'यावत्—यत्कालपर्यन्तं; प्रियवयस्यस्य—प्रियसुहृदः चन्दनदासस्य, अश्रोतव्यम्—अनाकर्णनीयं मरणमिति यावत्, न शृणोमि—

न आकर्णयामि, तावदेव—तत्कालपर्यन्तमेव, आत्मान—प्राणान्, व्यापादयामि—विनाशयामि' इति—अतो हेतोः ज्वलन—अग्नौ, प्रवेष्टुकाम—प्रवेशाभिलाषी, श्रेष्ठी, जिष्णुदास, नगरात्—पुरात्, निर्गत—नि सृतः। अहमपि, यावत् प्रियवयस्यस्य, जिष्णुदासस्य, अश्रोतव्य, न शृणोमि, तावत्, उद्बध्य—ऊर्ध्वबन्धन कृत्वा, आत्मान, व्यापादयामि, इति—अतो हेतो, इदम्—एतद्, जीर्णोद्यान—पुरातनोपवनम्, आगतोऽस्मि—प्राप्तोऽस्मि।

हिन्दी अनुवाद—[प्रकट] भद्र! तब उस प्रकार कहे जाने पर चन्द्रगुप्त ने क्या उत्तर दिया?

पुरुष—आर्य! तब इस प्रकार कहे जाने पर चन्द्रगुप्त ने सेठ जिष्णुदास को उत्तर दिया—'जिष्णुदास! मैंने धन के निमित्त सेठ चन्दनदास को नहीं बाँधा है। किन्तु इसने अमात्य राक्षस के परिवार को छिपा रक्खा है और बहुत कहे-सुने जाने पर भी समर्पित नहीं किया। अत. यदि अमात्य राक्षस के परिवार को सौंप देता है तो इसका छुटकारा है, अन्यथा इसका प्राणनाशक दण्ड है' ऐसा कहकर चन्दनदास को वध्यभूमि में लाया गया है। उसके बाद 'जब तक प्रिय मित्र चन्दनदास के न सुनने योग्य (समाचार) को नहीं सुनता हूँ तब तक आत्महत्या कर लेता हूँ'—यह सोचकर अग्नि में प्रवेश करने की इच्छा से सेठ जिष्णुदास नगर से बाहर निकल गया है। मैं भी जब तक प्रिय मित्र जिष्णुदास का न सुनने योग्य (समाचार) नहीं सुनता हूँ तब तक फाँसी लगाकर आत्महत्या कर लेता हूँ—इस विचार से जीर्ण उपवन में आया हूँ।

टिप्पणी—अभिहितेन—कथितेन। अभि√धा+क्त कर्मणि, 'दधातेर्हिः' इत्यनेन धा इत्यस्य हि आदेश। प्रतिपन्नम्—प्रत्युक्तम। भणितेन—कथितेन।√भण्+क्त कर्मणि। अर्थस्य कारणेन—अत्र शेषत्वविवक्षया षष्ठी, अन्यथा 'अर्थेन कारणेन' इति प्रयोगेण भाव्यम्। अथवा√कृ+णिच्+ल्युट् भावे=कारणम्। अर्थस्य यत् कारण=प्रेरणा तेन हेतुना इत्यर्थोऽवसेयः। प्राणहर—प्राणान् हरतीति प्राण√हृ+अच् कर्तरि अथवा हरतीति हरः प्राणाना हर प्राणहरः।

राक्षस—न खलु व्यापादितश्चन्दनदास?

पुरुषः—अज्ज ! ण दाव बाबादीअदि । सो क्खु संप्पदं पुणो पुणो अमच्चरक्खसस्स घरजणं जाचीअदि । ण सो मित्तवच्छलदाए जाचीअन्तो बि तं समप्पेदि । ता एदिणा कालणेण होदि से मरणस्स कालहलणं । (आर्य ! न तावत् व्यापाद्यते । स खलु साम्प्रतं पुनः पुनरमात्यराक्षसस्य गृहजनं याच्यते । न स मित्रवत्सलतया याच्यमानोऽपि तं समर्पयति । तदेतेन कारणेन भवत्यस्य मरणस्य कालहरणम् ।)

राक्षसः—[सहर्षमात्मगतम्] साधु वयस्य चन्दनदास ! साधु साधु !—

शिवेरिव समुद्भूतं शरणागतरक्षया ।
निचीयते त्वया साधो ! यशोऽपि सुहृदा विना ॥१८॥

अन्वयः—साधो शरणागतरक्षया समुद्भूत शिवेः यश इव त्वया सुहृदा विनाऽपि निचीयते ॥१८॥

व्याख्या—साधो !—सज्जन ! शरणागतरक्षया—शरण रक्षितारम् आगतस्य प्राप्तस्य (जनस्य) रक्षया त्राणेन, समुद्भूतम्—उत्पन्नं, शिवेः—उशीनरदेशाधिपस्य, यश इव—कीर्तिरिव, (यशः) त्वया—भवता, सुहृदा—मित्रेण, विनाऽपि—ऋतेऽपि, निचीयते—अर्ज्यते ॥१८॥

हिन्दी अनुवाद—**राक्षस**—चन्दनदास को मार तो नहीं दिया ?

पुरुष—मारे नहीं गए हैं । इस समय उनसे बार-बार अमात्य राक्षस का परिवार माँगा जा रहा है । (किन्तु) वे मित्र-प्रेम के कारण माँगे जाते हुए भी उस (अमात्य परिवार) को नहीं सौंप रहे हैं । सो इस कारण से उनकी मृत्यु का कालक्षेप हो रहा है ।

राक्षस—[हर्षपूर्वक मन में] धन्य मित्र चन्दनदास ! धन्य (हो) धन्य !—

महात्मन् ! शरण में आये हुए की रक्षा करने से उत्पन्न शिवि के यश के समान (यश) तुमने बिना मित्र के भी अर्जित कर लिया ॥१८॥

टिप्पणी—सः गृहजनं याच्यते—यहाँ 'सः' 'याच्यते' का अप्रधान कर्म

है। 'अप्रधाने दुहादीनाम्' इस कारिका के बल से यह उक्त कर्म हो गया है। इसलिए इससे प्रथमा हुई। शरणागतरक्षया—शरण मे आये हुए कपोत रूप अग्नि की श्येन रूप इन्द्र से रक्षा करने के कारण। दे० १, २१ की टिप्पणी। सुहृदा विना—तात्पर्य यह है कि शिवि ने शरणागत के समक्ष अपना शरीर दिया था किन्तु तुम तो शरणागत मेरे परोक्ष में अपना शरीर दोगे, यह आश्चर्य की बात है। इस पद्य में उपमा और व्यतिरेक अलंकार की संसृष्टि है। इसमें अनुष्टुप् छन्द है। अनुष्टुप् का लक्षण १, ३ मे देखिए ॥१८॥

[प्रकाशम्] भद्र ! भद्र !! गच्छ शीघ्रमिदानी जिष्णुदास ज्वलन-प्रवेशान्निवारय। अहमपि चन्दनदास मरणान्मोचयामि।

पुरुष—अथ केण उण उवाएण अज्जो चन्दणदास मरणादो मोवेदि ? (अथ केन पुनरुपायेनार्यश्चन्दनदास मरणान्मोचयति ?)

राक्षस—[खड्गमाकृष्य] नन्वनेन व्यवसायमहासुहृदा निस्त्रिंशेन। ननु पश्य—

> निस्त्रिंशोऽयं विगतजलदव्योमसङ्काशमूर्ति-
> र्युद्धश्रद्धापुलकित इव प्राप्तसख्य करेण।
> सत्त्वोत्कर्षात् समरनिकषे दृष्टसार परैर्मे
> मित्रस्नेहाद् विवशमधुना साहसे मा नियुङ्क्ते ॥१९॥

अन्वय—विगतजलदव्योमसङ्काशमूर्ति समरनिकषे परै दृष्टसारः सत्त्वोत्कर्षात् युद्धश्रद्धापुलकित इव करेण प्राप्तसख्य, अयं मे निस्त्रिंशः मित्रस्नेहात् विवश माम् अधुना साहसे नियुङ्क्ते ॥१९॥

व्याख्या—विगतजलदव्योमसङ्काशमूर्ति—विगतः दूरीभूतः जलदः मेघः यस्मात् तादृश यत् व्योम गगन तेन सङ्काशा समान मूर्तिः रूप यस्य तादृशः, समरनिकषे—समरः सग्राम एव निकष परीक्षणोपलः तस्मिन्, परैः—शत्रुभिः दृष्टसार—दृष्ट अवलोकित अनुभूत इत्यर्थ सार शक्ति यस्य तादृशः, सत्त्वोत्कर्षात्—सत्त्वस्य बलस्य उत्कर्षात् आधिक्यात्, युद्धश्रद्धापुलकित इव—युद्धे रणे या श्रद्धा आदर तया पुलकित इव सञ्जातरोमाञ्च इव, करेण—हस्तेन, प्राप्तसख्य—प्राप्त लब्ध सख्य मैत्री येन तादृश, अयं—दृश्यमान,

मे—मम, निस्त्रिंशः—खड्गः, मित्रस्नेहात्—सुहृदनुरागात्, विवशं—व्यग्रं, माम्—राक्षसम्, अधुना—सम्प्रति, साहसे—पौरुषे युद्धव्यापारे इत्यर्थः, नियुङ्क्ते—प्रेरयति ॥१९॥

हिन्दी अनुवाद—[प्रकट] भद्र ! भद्र !! शीघ्र जाओ, इस समय जिष्णुदास को अग्नि में प्रवेश करने से रोको। मैं भी चन्दनदास को मृत्यु से छुडाता हूँ।

पुरुष—अब फिर किस उपाय से आर्य चन्दनदास को मृत्यु से छुड़ायेंगे ?

राक्षस—[तलवार खींचकर] इस पुरुषार्थ रूप महामित्र वाले तलवार से ही। देखो—

मेघनिर्मुक्त आकाश के समान रूप वाली, संग्राम रूपी कसौटी पर शत्रुओं के द्वारा देखी गई शक्ति वाली और बल के आधिक्य के कारण युद्ध विषयक आदर से मानो रोमांचित हाथ के साथ प्राप्त मित्रता वाली यह मेरी तलवार मित्र-प्रेम के कारण विवश मुझको इस समय साहसिक कर्म में नियुक्त कर रही है ॥१९॥

टिप्पणी—ज्वलनप्रवेशात्—अत्र 'वारणार्थानामीप्सितः' इति अपादानत्वात् पञ्चमी। मरणात्—अत्र 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इति अपादानत्वात् पञ्चमी। व्यवसायमहासुहृदा—व्यवसायः पौरुष महासुहृत् प्रियमित्रं यस्य स व्यवसायमहासुहृत्, तेन अथवा व्यवसाये पौरुषे महासुहृत् तेन=पौरुषैकसहायेन। यह 'निस्त्रिंशेन' का विशेषण है। वि-अव√सो+घञ् भावे=व्यवसायः। 'निस्त्रिंशेन—असिना। निर्गतः त्रिंशतोऽङ्गुलिभ्यः इति निस्त्रिंशः बहुव्रीहि स०, निर्-त्रिंशत्+डच् समासान्तः 'संख्यायास्तत्पुरुषस्य वाच्यः' इति वार्तिकेन। विगतजलद०—अर्थात् निर्मल आकाश की भाँति चमकने वाली। कहीं 'सजलजलद०' पाठ है। इस पाठ में सजल मेघ के समान तलवार की कृष्णता तथा आकाश के समान धार की शुभ्रता विवक्षित है। पुलकित—पुलकः सञ्जातः अस्य इति पुलक+इतच्। विवशम्—वशम् = आयत्तता। विगतं वशम् अस्य इति विवशः, तम् तथाविधम्। साहसे—सहसा कृतं साहसम्, तस्मिन्। 'हिताहितानपेक्ष यत्कर्म तत्साहसं विदुः'। नियुङ्क्ते—नि√युज्+लट्=ते कर्तरि। इस श्लोक में उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकारों की संसृष्टि है।

इसमें मन्दाक्रान्ता छन्द है। इस छन्द का लक्षण यह है—'मन्दाक्रान्ता जलधि-षड्गैर्म्भौ न तौ नादगुरू चेत्' ॥१६॥

पुरुष —अज्ज ! एवं सेट्ठिचन्दणदासजीविदं होदि त्ति सुणिदं, विसमदसाविभाअपरिणामपडिदो ण सक्कणोमि णिच्चिदपदं पडिवत्तुं। [विलोक्य पादयोर्निपत्य] अव सुगिहीदणामधेआ अमच्चरक्खसपादा तुह्मे त्ति ता करेहि मे प्पसादं सदेहणिण्णएण। (आर्य ! एवं श्रेष्ठिचन्दनदासजीवितं भवतीति श्रुतं, विषमदशाविभागपरिणामपतितो न शक्नोमि निश्चितपदं प्रतिपत्तुम्। अथ सुगृहीतनामधेया अमात्यराक्षसपादा यूयमिति, तत् कुरु मे प्रसादं सन्देहनिर्णयेन।)

राक्षस —भद्र ! सोऽहमनुभूतभर्तृवशविनाशः सुहृद्विनाशहेतुरनार्यो दुर्गृहीतनामा यथार्थो राक्षसः।

पुरुष —[सहर्षं पादयोर्निपत्य] प्पसीदध, प्पसीदध। हीमाणहे ! दिट्ठिआ कदत्थोह्मि। (प्रसीदत, प्रसीदत। आश्चर्यम् ! दिष्ट्या कृतार्थोऽस्मि।)

राक्षस —भद्र ! उत्तिष्ठोत्तिष्ठ, कृतमिदानीं कालहरणेन, निवेद्यतां जिष्णुदासाय, यथैष राक्षसः चन्दनदासं मरणान्मोचयति। [इति 'निस्त्रिंशोऽयं' इत्यादि पठन् आकृष्टखड्गः परिक्रामति।]

हिन्दी अनुवाद—पुरुष—आर्य ! इस प्रकार सेठ चन्दनदास का जीवन रह जाएगा, यह सुन लिया। किन्तु संकटपूर्ण अवस्था-विशेष के परिणाम में निमग्न मैं (आपको) निश्चित रूप से जानने में समर्थ नहीं हूँ। [देखकर पैरों पर गिर कर] क्या आप प्रातःस्मरणीय अमात्य राक्षस हैं ? तो मेरे सन्देह का निर्णय करने की कृपा कीजिये।

राक्षस—भद्र ! वह मैं स्वामी के वंश के विनाश का अनुभव करने वाला मित्रों के विनाश का कारण, अनार्य, नाम न लिये जाने के योग्य तथा अर्थ के अनुरूप राक्षस हूँ।

पुरुष—[हर्ष के साथ फिर पैरों पर गिर कर] प्रसन्न हो, प्रसन्न हो। आश्चर्य है ! भाग्य से मैं कृतार्थ हो गया हूँ।

राक्षस—भद्र ! उठो, उठो। इस समय कालक्षेप करना व्यर्थ है। जिष्णुदास से निवेदन कर दो कि यह राक्षस चन्दनदास को मृत्यु से छुड़ा रहा है। ['निस्त्रिंशोऽयम्' इत्यादि (श्लोक) पढ़ते हुए तलवार खींचकर घूमता है।]

टिप्पणी—जीवितं भवति—अत्र भविष्यत्सामीप्ये लट्। भविष्यतीत्यर्थः। विषमदशाविभागपरिणामपतितः—असद्रावस्थाविशेषपरिपाकप्राप्तः। निश्चितपदम्—निर्णीतस्थानं त्वामिति शेषः। प्रतिपत्तुम्—ज्ञातुम्। अनुभूतभर्तृवंशविनाशः—भर्तुः वंशः, तस्य विनाशः, अनुभूतः भर्तृवंशविनाशः येन सः। सुहृद्विनाशहेतुः—सुहृदां कौलूतादीनां सुहृदः चन्दनदासस्य वा यो विनाशः मरणं तस्य हेतुः कारणम्। दुर्गृहीतनामा—अपुण्यनामधेया। यथार्थः—अन्वर्थः।

पुरुषः—[पादयोर्निपत्य] प्पसीदन्तु प्पसीदन्तु अमच्चरक्खसपादा। अत्थि दाव एत्थ णअरे प्पढमं चन्दउत्तहदएण अज्जसअड़दासस्स बधो आणत्तो। सो अ केणाबि बज्झट्ठाणादो अबहरिअ, देसन्तरं अबबाहिदो। तदो चन्दउत्तहदएण कीस प्पमादो किदो त्ति अज्जसअड़दासबधबञ्जणाए समुज्जलिदो रोसग्गी घादअजणबधजलेण णिब्बाबिदो। तदो पहुदि घादआ जं कं पि गहीदसत्थं अपुब्बं पुरुसं अग्गदो पच्चादो बा पेक्खन्ति, तदो अद्धबधे ज्जेब अत्तणो जीबिदं परिरक्खन्तो अप्पमत्ता एदे अबाप्तबज्झट्ठाणं बज्झं बाबादेन्ति। ता एब्बं गहीदसत्थेहिं अमच्चपादेहिं तहिं गच्छन्तेहिं सेट्ठिचन्दणदासस्स बहो तुबराइदो होदि। (प्रसीदन्तु प्रसीदन्त्वमात्यराक्षसपादाः। अस्ति तावदत्र नगरे प्रथमं चन्द्रगुप्तहतकेनाऽऽर्यशकटदासस्य वध आज्ञप्तः। स च केनापि वध्यस्थानादपहृत्य देशान्तरमपवाहितः। ततश्चन्द्रगुप्तहतकेन 'कस्मात् प्रमादः कृतः ?' इति आर्यशकटदासवधवञ्चनया समुज्ज्वलितो रोषाग्निर्घातकजनवधजलेन निर्वापितः। ततः प्रभृति घातका यं कमपि गृहीतशस्त्रम् अपूर्वं पुरुषमग्रतः पश्चाद्वा प्रेक्षन्ते, तदार्धपथे एवात्मनो जीवितं परिरक्षन्तोऽप्रमत्ता एतेऽप्राप्तवध्यस्थानं वध्यं व्यापादयन्ति। तस्मादेवं गृहीतशस्त्रैरमात्यपादैस्तत्र गच्छद्भिः श्रेष्ठिचन्दनदासस्य वधस्त्वरायितो भवति।)

[इति निष्क्रान्तः।]

व्याख्या—पादयोः—चरणयोः, निपत्य—पतित्वा पादौ प्रणम्येत्यर्थः। प्रथमम्—पूर्वम्, चन्द्रगुप्तहतकेन—कुत्सितेन मौर्येण, आर्यशकटदासस्य, वधः—हत्या, आज्ञप्तः—आदिष्टः। स च—शकटदासः, केनापि—अज्ञातेन पुरुषेण, वध्यस्थानात्—प्राणनिपातस्थलात्, अपहृत्य—आदाय, देशान्तरम्—अन्य देशम्, अपवाहितः—प्रापितः। ततः—तदनन्तरम्, चन्द्रगुप्तहतकेन, 'कस्मात्—कुतः कारणात्, प्रमादः अनवधानता, कृतः—विहितः ?' इति—एतदुक्त्वा, आर्यशकटदासवधवञ्चनया—पूज्यशकटदासमारणप्रतारणया, समुज्ज्वलितः—प्रदीप्तः, रोषाग्निः—क्रोधवह्निः, घातकजनवधजलेन—मारकजनहत्यावारिणा, निर्वापितः—शमितः। ततः प्रभृति—तत आरभ्य, घातकाः—मारकाः, यं कमपि, गृहीतशस्त्रम्—आयुधधारिणम्, अपूर्वम्—अदृष्टपूर्वम्, पुरुषम्—जनं, प्रेक्षन्ते—पश्यन्ति, तदा, अर्धपथे एव—अर्धमार्गे एव, आत्मानः—स्वस्य, जीवितं—जीवनं, परिरक्षन्तः—परित्रायमाणाः, अप्रमत्ताः—सावधानाः (सन्तः), एते—घातकाः, अप्राप्तवधस्थानम्—अनवाप्तमारणप्रदेशं, वध्यं—वधार्हं पुरुषमिति शेषः, व्यापादयन्ति—मारयन्ति। तस्मात्—ततः, एवम्—इत्थं, गृहीतशस्त्रैः—आयुधविशिष्टैः, अमात्यपादैः—मन्त्रिचरणैः, तत्र—वध्यस्थानं, गच्छद्भिः—प्राप्नुवद्भिः, श्रेष्ठिचन्दनदासस्य, वधः—हत्या, त्वरापितः—शीघ्रयेण कृतः, भवति—स्यात्।

हिन्दी अनुवाद—पुरुष—[पैरों पर गिरकर] पूज्यचरण अमात्य राक्षस प्रसन्न हों, प्रसन्न हों। इस नगर में पहले दुष्ट चन्द्रगुप्त ने आर्य शकटदास के वध की आज्ञा दी थी। किन्तु उसको किसी ने वध्य-स्थान से अपहृत करके दूसरे देश में पहुँचा दिया। तदनन्तर दुष्ट चन्द्रगुप्त ने 'किस कारण ऐसी असावधानी हुई ?' यह कहकर पूज्य शकटदास के वध में हुई वंचना से धधकती हुई क्रोधाग्नि को वधिकों की (ही) हत्या रूपी जल से बुझा डाला। तब से लेकर वधिक लोग शस्त्र धारण किए हुए जिस किसी अजनबी व्यक्ति को आगे या पीछे देख लेते हैं, उस समय अपने जीवन की रक्षा करते हुए सावधान ये (वधिक) वध्यस्थान में बिना पहुँचे मारने योग्य व्यक्ति को आधे रास्ते में ही मार डालते हैं। इसलिए इस प्रकार शस्त्र धारण करके वहाँ जाते हुए अमात्यचरण के द्वारा सेठ चन्दनदास का वध शीघ्रतायुक्त हो जाएगा।

[बाहर चला जाता है ।]

टिप्पणी—चन्द्रगुप्तहतकेन, आर्यशकटदासस्य—इन दोनों पदो में 'हतक' तथा 'आर्य' शब्द जोड़कर वह दिखलाना चाहता है कि मैं नन्दवंश के प्रति अनुरक्त हूँ। त्वरायितः—देखिए टिप्पणी अंक ५ श्लोक ६ के आगे।

राक्षसः—[स्वगतम्] अहो ! दुर्बोधश्चाणक्यवटोर्नीतिमार्गः । कुतः ?—

यदि स शकटो नीतः शत्रोर्मतेन ममान्तिकं
किमिति निहतस्तेन क्रोधाद् वधाधिकृतो जनः ? ।
अथ न कृतकं तादृक्कष्टं कथं नु विभावये-
दिति मम मतिस्तर्कारूढा न पश्यति निश्चयम् ॥२०॥

अन्वयः—स शकटः यदि शत्रोः मतेन ममान्तिकं नीतः (तर्हि) तेन क्रोधात् वधाधिकृतः जनः किमिति निहतः ? अथ कृतकं न, तादृक् कष्टं कथं नु विभावयेत् ? इति मम मतिः तर्कारूढा निश्चयं न पश्यति ॥ २० ॥

व्याख्या—सः—मम मित्रं, शकटः—शकटदासः, यदि—चेत्, शत्रोः—रिपोः, मतेन—आज्ञया, मम—मे, अन्तिकं—समीपं, नीतः—प्रापितः (तर्हि), तेन—कौटिल्येन, चन्द्रगुप्तेन वा, क्रोधात्—कोपात्, वधाधिकृतः—वधे हनने अधिकृतः नियोजितः, जनः—लोकः, किमिति—कुतः, निहतः—व्यापादितः ? अथ—पक्षान्तरे, कृतकं न—मिथ्या न (अपि तु यथार्थमेव पर्यवसन्नं तदात्वे) तादृक्—तथाविधं, कष्टं—विषममनुष्ठानं स्वहस्तलेखमुद्राङ्कनादिरूपमिति यावत् कथं नु—केन वा प्रकारेण, विभावयेत्—चिन्तयेत् ?, इति—इत्थम्, मम—मे, मतिः—बुद्धिः, तर्कारूढा—ऊहे प्रवृत्ता (सती), निश्चयं—सिद्धान्तं, न पश्यति—नाधिगच्छति ॥ २० ॥

हिन्दी अनुवाद—राक्षस—[मन में] ओह ! दुष्ट चाणक्य की नीति का मार्ग समझने में कठिन है। क्योंकि—

यह शकटदास यदि शत्रु की अनुमति से मेरे समीप पहुँचाया गया तो उस (शत्रु) ने क्रोध से वध करने में नियुक्त व्यक्ति को क्यों मार दिया ? और यदि (शकटदाससम्बन्धी बात) बनावटी नहीं है तो वैसा कष्टपूर्ण (कूटलेख,

मुद्राङ्कन आदि) कार्य क्यों सोचता ? इस प्रकार मेरी बुद्धि तर्क वितर्क में संलग्न होती हुई निश्चय नहीं कर पा रही है ॥ २० ॥

टिप्पणी—यदि स इस श्लोक मे चाणक्य की नीति की दुर्बोधता दिखाई गई है। यदि शकटदास को जान-बूझकर राक्षस के पास पहुँचाया गया तो वधिकों को मरवाने की क्या आवश्यकता थी ? और यदि शकटदास यथार्थ रूप में भागकर गया था तो उसने कूटपत्र लिखकर स्वामी का द्रोह जैसा कुत्सित कर्म क्यों किया ? यहाँ पाठक यह न समझ बैठे कि वधिकों को मरवाने की बात सही ही होगी। कारण वह पुरुष चाणक्य का गुप्तचर है। वह राक्षस को भुलावा देने के लिए ऐसी बात गढ़ सकता है। इस प्रसंग मे एक बात और ध्यान देने योग्य है कि मलयकेतु के यहाँ राक्षस के साथ जो घटना घटित हुई, उसके उपरान्त राक्षस ने अपने परम विश्वासपात्र शकटदास से उस कूटपत्र के सम्बन्ध में क्यों नहीं पूछा ? इस पद्य मे वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग अलंकार है। इसमे शिखरिणी छन्द है। इस छन्द का लक्षण १, १३ में देखिए ॥ २० ॥

[विचिन्त्य] तस्मात्—

नायं निस्त्रिंशकालः प्रथममिह कृते घातकानां विघाते
नीतिः कालान्तरेण प्रकटयति फलं किं तया कार्यमत्र ? ।
औदासीन्यं न युक्तं प्रियसुहृदि गते मत्कृते चातिघोरां
व्यापत्तिं ज्ञातमस्य स्वतनुमहमिमां निष्क्रयं कल्पयामि ॥ २१ ॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।]

॥ इति षष्ठोऽङ्कः ॥

अन्वय —इह प्रथमं घातकानां विघाते कृते अयं निस्त्रिंशकालः न। नीतिः कालान्तरेण फलं प्रकटयति, अत्र तया किं कार्यम् ? प्रियसुहृदि मत्कृते अति घोरां व्यापत्तिं गते औदासीन्यं च न युक्तम्। ज्ञातम्—अहम् इमां स्वतनुम् अस्य निष्क्रयं कल्पयामि ॥ २१ ॥

व्याख्या —इह—अस्मिन् चन्दनदासमोचनकर्मणि, प्रथमं-पूर्वं चन्दनदासस्य मोचनात् पूर्वमित्यर्थः, घातकानां—घातकैरित्यर्थः, (चन्दनदासस्य) विघाते—विनाशे, कृते—विहिते (सति), अयम्—एषः, निस्त्रिंशकालः—खड्ग-

खड्गधारणसमयः, न—नहि (विद्यते)। नीतिः—नयः खड्गधारणविषयेत्यर्थः, कालान्तरेण—समयान्तरेण, फलं—सिद्धिं, प्रकटयति—दर्शयति। अत्र—अस्मिन् चन्दनदासमोचनकर्मणि, तया—नीत्या, किं कार्यम्—न किमपीत्यर्थः। प्रियसुहृदि—प्रियमित्रे चन्दनदासे, मत्कृते—मदर्थम्, अतिघोराम्—अतिदारुणां, विपत्ति—विपदं, गते—प्राप्ते (सति), औदासीन्यं च—तटस्थतयावस्थानमपि, न युक्तं—नोचितम्। ज्ञातम्—कर्तव्यं मया अवधारितम्, अहम्—राक्षसः, इमाम्—एताम्, स्वतनुं—निजशरीरम्, अस्य—चन्दनदासस्य, निष्क्रयं—मूल्यं, कल्पयामि—उपस्थापयामि ॥२१॥

हिन्दी अनुवाद—[सोचकर] इसलिए—

यहाँ (चन्दनदास के छुड़ाने के विषय में) पहले (ही) बधिकों के द्वारा (चन्दनदास के) वध कर दिये जाने पर यह तलवार (उठाने) का समय नहीं है। नीति का प्रयोग कालान्तर में फल प्रकट करता है। यहाँ उससे क्या प्रयोजन ? प्रिय मित्र (चन्दनदास) के मेरे लिए अत्यन्त दारुण विपत्ति को प्राप्त हो जाने पर उदासीन होना भी उचित नहीं है। समझ लिया (अर्थात् मैंने अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया) कि मैं इस अपने शरीर को उस (चन्दनदास के छुटकारे) का मूल्य बनाता हूँ ॥२१॥

[सभी (पात्र) चले जाते हैं।]

॥ छठा अंक समाप्त ॥

टिप्पणी—घातकानाम्—अत्र कृद्योगे कर्तरि षष्ठी। अतएव 'घातकों के द्वारा' ऐसा अर्थ करना चाहिए। कालान्तरेण—अन्तरम् = अवकाशः। कालस्य अन्तरम्, तेन। अपवर्गे तृतीया। मत्कृते—मम कृते = अर्थे। 'कृते' एक अव्यय है। निष्क्रयम्—मूल्य। निष्क्रीयते अनेन इति निर् वा निस् √ क्री + अच् करणे = निष्क्रयः। इस पद्य में परिवृत्ति नामक अलंकार तीन काव्यलिंग अलंकारों से उज्जीवित है। इसमें स्रग्धरा छन्द है। स्रग्धरा का लक्षण, १, १ में देखिए ॥२१॥

सप्तमोऽङ्कः

[ततः प्रविशति चण्डालः ।]

चाण्डालः—ओसलघ अज्जा ! ओसलघ, अवेघ माणहे ! अवेघ—
(अपसरत आर्याः ! अपसरत, अपेत मान्याः ! अपेत—)

जइ लक्खिदु मणद्ध प्पाणे, विहवे, कुल कलत्ते अ ।
पलिहलघ ता विस विअ लाअपत्थ प्पअत्तेण ॥१॥
(यदि रक्षितु मन्यध्व प्राण, विभव, कुल, कलत्र च ।
परिहरत तस्माद् विषमिव राजापथ्य प्रयत्नेन ॥१॥)

अन्वय—यदि प्राण विभव कुल कलत्र च रक्षितु मन्यध्वम्, तस्माद प्रयत्नेन विषमिव राजापथ्य परिहरत ॥१॥

व्याख्या—यदि—चेत्, प्राणम्—आत्मान, विभव—धन, कुल—वश, कलत्र च—दाराश्च, रक्षितु—परित्रातु, मन्यध्वम्—इच्छत यूयमिति शेष, तस्मात्—ततो हेतो, प्रयत्नेन—प्रयासेन, विषमिव—गरलमिव, राजापथ्य—नृपाहित, परिहरत—दूरे त्यजत ॥१॥

हिन्दी अनुवाद—[तदनतर चाण्डाल प्रवेश करता है ।]
चाण्डाल—सज्जनो ! हटो, हटो । मान्यो ! हटो, हटो—

यदि प्राण, धन, कुल और स्त्री की रक्षा करना चाहते हो तो विष के समान राज-द्रोह से यत्नपूर्वक बचो ॥१॥

टिप्पणी—छठे अक तक में अमात्य राक्षस को वश मे करने का मुख्य कार्य सम्पन्न हो चुका है, अब अमात्य राक्षस को चन्द्रगुप्त का अमात्य बनाकर उसकी राज्यलक्ष्मी की स्थिरता सम्पादनरूप नाटक के उत्कृष्ट फल को प्राप्त कराने के लिये सातवें अक का प्रारम्भ किया जा रहा है । यदि रक्षितुम् इस पद्य में व्यतिरेक अलकार है और आर्या छन्द है । आर्या का लक्षण १, ९ में देखिये ॥१॥

अविअ—(अपि च—)

होदि पुलिसस्स व्वाही मलण वा सेविदे अपत्थेवि ।
लाअपत्थे उण सेविदे सअल वि कुल मलदि ॥२॥

(भवति पुरुषस्य व्याधिर्मरणं वा सेविते अपथ्येऽपि ।
राजापथ्ये पुनः सेविते हि सकलमपि कुलं म्रियते ।।२।।)

अन्वयः—अपथ्ये अपि सेविते पुरुषस्य व्याधिः वा मरणं भवति, पुनः राजापथ्ये सेविते हि सकलमपि कुलं म्रियते ।।२।।

व्याख्या—अपथ्ये अपि—अहितकरे अपि (वस्तूनि), सेविते—भुक्ते (सति), पुरुषस्य—जनस्य, व्याधिः—रोगः, वा—अथवा, मरणं—मृत्युः, भवति—जायते, पुनः—भूयः, राजापथ्ये—नृपानिष्टकरे (वस्तुनि), सेविते—भुक्ते (सति), हि—निश्चयेन, सकलमपि—समग्रमपि, कुलं—वंशः, म्रियते—विनश्यति ।।२।।

हिन्दी अनुवाद—और भी—अपथ्य (वस्तु) के भी सेवन से मनुष्य को रोग या मृत्यु होती है, फिर राज-द्रोह करने से सम्पूर्ण कुल का भी निश्चित रूप से नाश हो जाता है ।।२।।

टिप्पणी—भवति पुरुषस्य...........इस पद्य में व्यतिरेकालंकार है और द्वितीय प्रतीपालंकार की ध्वनि है । इसमें भी आर्या छन्द है ।।२।।

ता जइ ण प्पत्तिआअध, तदा पेक्खध एणं लाआपत्थकालिणं सेट्ठिचन्दणदासं वज्झट्ठाणं आणीअमाणं सपुत्तकलत्तं । [आकाशे] अज्जा ! किं भणाध ? अत्थि किं चन्दनदासस्स मोक्खोबाओ त्ति ? कुदो से अधणस्स मोक्खोबाओ ? एद उण अत्थि—सो जइ अमच्चरक्खसस्स घरअणं समप्पेदि । [पुनराकाशे] किं भणाध ? एसे सलणागदवच्छले अत्तणो जोविदस्स कालणेण ईरिसं अकज्जं ण कलिस्सदि त्ति ? अज्जा ! जइ एव्वं, त्तेण हि अवधाणेध से सुभगदिं । किं दाणीं तुह्माणे प्पडीआल-विआरेण ? (तद्यदि न प्रत्ययध्वं, तदा प्रेक्षध्वमेनं राजापथ्यकारिणं श्रेष्ठिचन्दनदासं वध्यस्थानमानीयमानं सपुत्रकलत्रम् । आर्याः ! किं भणथ ? अस्ति किं चन्दनदासस्य मोक्षोपाय इति ? कुतोऽस्याधन्यस्य मोक्षोपायः ? एतत् पुनरस्ति—स यद्यमात्यराक्षसस्य गृहजनं समर्पयति । किं भणथ ? एष शरणागतवत्सल आत्मनो जीवितस्य कारणेनेदृशमकार्यं न करिष्यतीति ? आर्याः ! यद्येवं, तेन ह्यवधत्तास्य शुभगतिम् । किमिदानीं युष्माकं प्रतीकारविचारेण ?)

व्याख्या—तत्—मदुक्तवचन, यदि—चेत्, न—नहि, प्रत्ययध्वम्—विश्वसित, तदा—तर्हि, एनम्—अमुम्, राजापथ्यकारिणम्—नृपानिष्टविधायिन, वध्यस्थानम्—प्राणदण्डभूमिम्, आनीयमान—प्राप्यमाण, सपुत्रकलत्रम्—सुतस्त्रीसहित, श्रेष्ठिचन्दनदास, प्रेक्षध्वम्—पश्यत। आर्या !—पूज्या, किं भणथ—किं कथयत ? चन्दनदासस्य, मोक्षोपाय—मुक्तिप्रकार, किम्, अस्ति—विद्यते ? कुत—कस्मात्, मोक्षोपाय—मुक्तिप्रकार नास्तीत्यर्थः। स—चन्दनदास, यदि—चेत्, अमात्यराक्षसस्य, गृहजन—परिवार, समर्पयति—ददाति, एतत् पुनरस्ति—एष मोक्षोपायो विद्यते। पुन—भूय, आकाशे—गगने, (सन्निधापितनेत्र सन् ब्रवीतीत्यर्थ) किं भणथ—किं ब्रूथ, एष—असौ, शरणागतवत्सल—शरणापन्नेषु अनुरागवान्, आत्मन—स्वस्य, जीवितस्य—जीवनस्य, कारणेन—हेतुना, ईदृशम्—एतादृशम्, अकार्यं—राक्षसपरिवारसमर्पणरूप कुत्सित कर्मेत्यर्थ, न करिष्यति—न विधास्यति। आर्या !, यद्येव—चन्दनदास, राक्षसपरिवारसमर्पण न करिष्यति इति चेत्, तेन हि—तर्हीत्यर्थ, अस्य—चन्दनदासस्य, शुभगतिम्—सद्गतिम्, अवधत्त—जानीत। इदानीम्—साम्प्रतम्, युष्माक—भवता, प्रतीकारविचारेण—मोक्षोपायचिन्तनेन, किम्—न किमपीत्यर्थ।

हिन्दी अनुवाद—इसलिये यदि विश्वास न करो तो इस राजद्रोही सेठ चन्दनदास को स्त्री-पुत्र समेत वध्य-भूमि पर ले जाते हुए देखो [आकाश की ओर (देखते हुये)] सज्जनो ! क्या कहते हो ? क्या चन्दनदास के छुटकारे का (कोई) उपाय है ? इस अभागे के छुटकारे का उपाय कहाँ से हो सकता है ? यदि वह अमात्य राक्षस के परिवार को सौंप देता है तो यह छुटकारे का उपाय हो सकता है। [पुन आकाश की ओर देखते हुये] क्या कहते हो ? क्या यह शरण मे आये हुये का प्रेमी (सेठ चन्दनदास) अपने जीवन के निमित्त ऐसा कुत्सित कार्य नही करेगा ? सज्जनो ! यदि ऐसी बात है तो इस (चन्दनदास) की सद्गति मनाओ। अब तुम्हारे प्रतीकार (छुटकारे का उपाय) सोचने से क्या (लाभ) ?

टिप्पणी—जीवितस्य कारणेन—जीवितस्य यद् कारण प्रेरणा, तेन इत्यपि व्याख्यातु शक्यते। शुभगतिम्—इसका बाह्य अर्थ है—शरणागत की

रक्षा करने के कारण स्वर्ग लोक की प्राप्ति और गूढ़ अर्थ है—अमात्य राक्षस के द्वारा बंधन से मुक्त हो जाने के कारण कल्याण की प्राप्ति।

[ततः प्रविशति द्वितीयचण्डालानुगतो वध्यवेशधारी शूलं स्कन्धेनादाय कुटुम्बिन्या पुत्रेण चानुगम्यमानश्चन्दनदासः।]

चन्दनदासः—हद्धी ! हद्धी !! अह्मारिसाणं बि कध णिच्चचारित्त-भङ्गभीरुणं चोरजणोचिद मलणं पत्त त्ति। णमो किदन्तस्स। अहवा ण णिसंसाणं उदासीणेसु इदरेसु बा बिसेसो अत्थि। तधा हि—(हा धिक्, हा धिक् !! अस्मादृशानामपि कथ नित्यचारित्रभङ्गभीरूणां चोरजनानामिव मरणं प्राप्तमिति। नमः कृतान्तस्य। अथवा न नृशंसानामुदासीनेष्वितरेषु वा विशेषोऽस्ति। तथा हि—)

मौहूण आमिसाइं मलणभएण तिणेहिं जीवन्तम्।
बाहाणं मुद्धहरिणं हन्तुं कों णाम णिब्बन्धो ? ॥३॥
(मुक्त्वा आमिषाणि मरणभयेन तृणैर्जीवन्तम्।
व्याधानां मुग्धहरिणं हन्तुं को नाम निर्बन्धः ? ॥३॥)

अन्वयः—मरणभयेन आमिषाणि मुक्त्वा तृणैः जीवन्तम् मुग्धहरिणं हन्तुं व्याधानां को नाम निर्बन्धः ? ॥३॥

व्याख्या—मरणभयेन—मरणात् मृत्योः भयेन भीत्या, आमिषाणि—मांसानि, मुक्त्वा—त्यक्त्वा, तृणैः—शष्पैः, जीवन्तं—प्राणान् धारयन्तं, मुग्धहरिणं—मुग्धं सरलस्वभावं हरिणं मृगं, हन्तुं—व्यापादयितुं, व्याधानां—किरातानां, को नाम निर्बन्धः—कः आग्रहातिशयः ? ॥३॥

हिन्दी अनुवाद—[तदनन्तर दूसरे चण्डाल के साथ वध के योग्य वेश धारण किये हुए तथा शूल को कंधे पर लेकर पत्नी और पुत्र से अनुसरण किये जाते हुए चन्दनदास का प्रवेश।]

चन्दनदास—हाय धिक्कार है ! हाय धिक्कार है !! कैसे निरन्तर चरित्र के दोष से डरते रहने वाले हम सरीखे (लोगों) को भी चोर मनुष्यों की तरह मृत्यु प्राप्त हुई ? यमराज को नमस्कार है। अथवा निर्दयी व्यक्तियों के लिए

उदासीनों (निरपराधों) और दूसरो (अपराधियों) में कोई अन्तर नही होना। जैसे कि—

मृत्यु के भय से मांमो को छोडकर तिनको मे जीवन धारण करते हुए सीधे हरिणो को मारने के लिए बहेलियो का कौन-सा हठ है ? ॥३॥

टिप्पणी—कुटुम्बिन्या—पत्न्या। 'दारा स्यात् कुटुम्बिनी' इत्यमर। नित्यचारित्रभङ्गभीरुणाम्—प्रतिदिनचरित्रस्खलनभयशालिनाम्। चरित्रमेव चारित्रम् प्रज्ञादित्वात् अण्। तस्य भङ्गः। तस्मात् भीरवः। नित्य चारित्रमङ्गभीरवः सुप्सुपा स०, तेषाम्। नम कृतान्तस्य—अत्र शेषत्वविवक्षया षष्ठी, अन्यथा चतुर्थी भाव्यम्। अथवा 'कृतान्तस्य सम्बन्धे नम' इत्यूह्यम्। मरणभयेन—यहाँ तात्पर्य यह है कि जीवहिंसा न हो जाय—इस भय से। तृणे जीवन्तम्—तिनकों पर गुजारा करते हुए। ऐसा ही भाव एक अन्यत्र श्लोक मे भी है—'मृगमीनसज्जनाना तृणजलसंतोषविहितवृत्तीनाम्। लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणमेव वैरिणो जगति॥'' मुग्धहरिणम्—भोलेभाले हरिणो को। इस पद्य मे अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार, दृष्टान्त अलङ्कार और अतिशयोक्ति अलङ्कार मे अङ्गाङ्गिभाव से साङ्कर्य है। इसमें भी आर्या छन्द है ॥३॥

[समन्तादवलोक्य] भो प्पिअवअस्स जिण्णुदास! कव प्पडिअण बि मे ण प्पडिवज्जसि त्ति। अथवा दुल्लहा क्खु पुरिसा, जे इमस्सि काले दिट्ठिवधे बि चिट्ठन्ति। [सबाष्पम्] एदे अह्मप्पिअवअस्सा अस्सुवादमेत्तकेण किदप्पदोआरा कह विणिबत्तमाणा परिवड्ढमाणसोअदोणवदणा वाप्फगरुआए दिट्ठोए म अणुगच्छन्दि। (भो प्रियवयस्य जिष्णुदास! कथ प्रतिवचनमपि मे न प्रतिपद्यसे इति। अथवा दुर्लभा खल्वेते पुरुषा येऽस्मिन् काले दृष्टिपथेऽपि तिष्ठन्ति। एतेऽस्मत्प्रियवयस्या अश्रुपातमात्रेण कृतप्रतीकारा, निवर्तमाना परिवर्धमानशोकदीनवदना वाष्पगुर्व्या दृष्ट्या मामनुगच्छन्ति।) [इति परिक्रामति।]

चण्डालौ—[परिक्रम्यावलोक्य च] अज्ज चन्दणदास! आगदोसि वज्झट्ठाण। ता विसज्जेहि परिअण। (आर्य चन्दनदास! आगतोऽसि वध्यस्थान। तत् विसर्जय परिजनम्।)

चन्दनदासः—अज्जे ! कुटुम्बिणि ! णिवत्तस्स तुमं सपुत्ता । वज्झट्ठाणं क्खु एदं, अदो अवरं अभूमि क्खु अणुगच्छिदुम् । (आर्ये ! कुटुम्बिनि ! निवर्तस्व त्वं सपुत्रा । वध्यस्थानं खल्वेतत्, अतोऽपरमभूमिः खल्वनुगन्तुम् ।)

कुटुम्बिनी—[**सबाष्पम्**] परलोअं प्पत्थिदो अज्जो, ण उण देसन्तरं ता अज्जोग्गो दाणीं कुलजणस्स णिवत्तिदुं । (परलोकं प्रस्थित आर्यो न पुनर्देशान्तरं, तदयोग्यमिदानीं कुलजनस्य निवर्तितुम् ।)

चन्दनदासः—अज्जे ! सच्चं, मित्तकज्जेण मम विणासो, न पुरिसदोसेण । ता किं हरिसट्ठाणे वि रोइसि त्ति ? (आर्ये ! सत्यं, मित्रकार्येण मम विनाशो, न पुरुषदोषेण; तत् किं हर्षस्थानेऽपि रोदिषि इति ?)

कुटुम्बिनी—अज्ज ! जइ एव्वं, ता अणुचिदं दाणीं कुलजणेण णिवत्तिदुं । (आर्य ! यद्येवं, तदनुचितमिदानीं कुलजनेन निवर्तितुम् ।)

हिन्दी अनुवाद—[**चारों ओर देखकर**] हे प्रियमित्र जिष्णुदास ! क्यों मुझे उत्तर भी नही देते हो ? अथवा ये लोग दुर्लभ हैं, जो इस समय आँखो के सामने भी उपस्थित हैं । [**आँसुओं के साथ**] आंसुओं के गिराने मात्र से प्रतीकार किए हुए, लौटते हुए और उमड़ते हुए शोक से मलिन मुख वाले ये हमारे प्रिय मित्र आँसू भरी आंखों से मेरा अनुसरण कर रहे हैं । [(**यह कहकर**) घूमता है ।]

दोनों चाण्डाल—[**घूमकर और देखकर**] आर्य चन्दनदास ! वध्यस्थान पर आप पहुँच गये हैं । इसलिए परिवार को विदा कर दीजिए ।

चन्दनदास—आर्य गृहिणी ! पुत्र सहित तुम लौट जाओ । यह वध्यस्थान है । इसके आगे अनुसरण करना ठीक नहीं है ।

कुटुम्बिनी—[**आँसू के साथ**] आर्य परलोक की यात्रा कर रहे हैं, दूसरे देश की नहीं । इसलिए इस समय बन्धुवर्ग का लौट जाना उचित नहीं है ।

चन्दनदास– आर्ये ! सत्य है, मित्र के कार्य से मेरा विनाश हो रहा है, पुरुष के दोष (चोरी आदि) से नहीं; इसलिए क्यों हर्ष के स्थान पर भी रो रही हो ?

कुटुम्बिनी—आर्य ! यदि ऐसा है, तो इस समय बन्धुवर्ग का लौट जाना अनुचित है।

टिप्पणी—प्रतिवचनम्—प्रत्युत्तरम्। प्रतिपद्यसे—ददासि। दृष्टिपथेऽपि—चक्षुर्विषयेऽपि। कहा भी है—'राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धव'। कृतप्रतीकारा—कृत विहित प्रतीकार उपायः यै ते तथाविधा.। परिवर्धमानशोकदीनवदना—परिवर्धमानः वृद्धि गच्छन् शोक तेन दीनानि म्लानानि वदनानि मुखानि येषा ते परिवर्धमानशोकदीनवदना। वाष्पगुर्व्या दृष्ट्या—अश्रु पूर्णनेत्रेण। वध्यस्थानम्—श्मशानम्। अतोऽपरम्—एतदग्रे। अभूमि—अयुक्तमित्यर्थः। कुलजनस्य—गृहजनस्य। मित्रकार्येण—अत्र करणे तृतीया। यद्येवम्—सुहृत्कार्यसाधनाय विनाशे सतीत्यर्थः।

चन्दनदास—अध इ व्ववसिद अज्जाए? (अथ किं व्यवसितमार्यया ?)

कुटुम्बिनी—[सबाष्पम्] भत्तुणो चलणमणुगच्छन्तीए अप्पाणुग्गहो होदि त्ति। (भर्तृश्चरणमनुगच्छन्त्या आत्मानुग्रहो भवति इति।)

चन्दनदास—अज्जे ! दुव्ववसिद एद दे, ता दाणी अज्जाए अअं असुणिदलोअव्ववहारो कुमारो अणुगेह्णिदव्वो त्ति। (आर्ये ! दुर्व्यवसितमिद ते, तदिदानीमार्ययाऽयमश्रुतलोकव्यवहार कुमारोऽनुग्रहीतव्य इति।)

कुटुम्बिनी—अणुगेह्णन्तु ण प्पसण्णाओ कुलदेवदाओ। जाद ! पुत्तअ ! प्पणम अपच्छिमस्स पिदुणो पाएसु। (अनुगृह्णन्त्वेन प्रसन्ना कुलदेवता। जात ! पुत्रक ! प्रणम अपश्चिमस्य पितु पादयो।)

पुत्र—[पादयोर्निपत्य] ताद ! मए तादविरहिदेण किं अणुचिट्ठिदव्व ? (तात ! मया तातविरहितेन किमनुष्ठातव्यम् ?)

चन्दनदास—पुत्त ! चाणक्कविरहिदे देसे वसिदव्व। (पुत्र ! चाणक्यविरहिते देशे वस्तव्यम्।)

चण्डालो—अज्ज ! चन्दणदास ! णिखादे शूले, ता दाणीं सज्जो होहि । (आर्य ! चन्दनदास ! निखातः शूलः, तदिदानी सज्जो भव ।)

कुटुम्बिनी—अज्जा ! पलित्ताअध पलित्ताअध । (आर्याः ! परित्रायध्वं परित्रायध्वम् ।)

चन्दनदासः—भद्दमुह ! मुहुअत्तं चिट्ठ । अइ जीबिदबच्छले ! किं एत्थ आक्कंदसि ? सग्गं गदा क्खु ते देवा णन्दा, जे दुक्खिदं इत्थीजणं प्पइदिणं अणुकम्पन्ति । (भद्रमुख ! मुहूर्तं तिष्ठ । अयि जीवितवत्सले ! किमत्राक्रन्दसि ? स्वर्गं गताः खलु ते देवाः नन्दाः, ये दुःखितं स्त्रीजनं प्रतिदिनमनुकम्पन्ते ।)

हिन्दी अनुवाद—**चन्दनदास**—तो तुमने क्या निश्चय किया है ?

कुटुम्बिनी—[आँसू के साथ] स्वामी के चरण का अनुसरण करती हुई (नारी) का अपने पर अनुग्रह होता है ।

चन्दनदास—यह तुम्हारा अयुक्त निश्चय है । इसलिए अभी लोकव्यवहार से अनभिज्ञ इस बालक पर तुम्हें दया करनी चाहिए ।

कुटुम्बिनी—प्रसन्न कुलदेवता इस पर अनुग्रह करें । बालक पुत्र ! अन्तिम दर्शन देने वाले पिता के चरणों को प्रणाम करो ।

पुत्र—[चरणों पर गिरकर] पिताजी ! आपसे रहित हुए मुझे क्या करना चाहिए ?

चन्दनदास—पुत्र ! चाणक्य से रहित देश में वास करना चाहिए ।

दोनों चाण्डाल—आर्य चन्दनदास ! सूली गड़ चुकी, इसलिए अब तैयार हो जाइए ।

कुटुम्बिनी—आर्यो ! बचाओ, बचाओ ।

चन्दनदास—भद्रमुख ! क्षण भर रुक जाओ । अरी प्राणप्यारी ! क्यों इस (हर्ष के) विषय में रो रही हो ? वे महाराज नन्द तो स्वर्ग चले गए, जो दुःख में पड़ी स्त्रियों पर सदा दया करते थे ।

टिप्पणी—**व्यवसितम्**—स्थिरीकृतम् । **आत्मानुग्रहः**—आत्मनः अनु-

[दोनों चाण्डाल चन्दनदास को सूली पर चढाने के लिए पकड़ लेते हैं ।]

कुटुम्बिनी—[छाती पीटती हुई] आर्यो ! बचाओ बचाओ।

[पर्दा हटाते हुए राक्षस का प्रवेश] आयुष्मति ! डरना नही चाहिये, डरना नही चाहिए। ओ सूली देने वालो ! चन्दनदास मारने योग्य नही है। क्योंकि—

जिसने पहले शत्रु के वश के समान स्वामी के वश को नष्ट होते हुए देखा, जो मित्रो की विपत्ति मे महान् उत्सव के समान स्वस्थता के साथ रहा और जिसका शरीर पराभव का क्षेत्र बना दिया जाने पर भी वध करने के लिए तुम लोगो को प्रिय है, उस मुझको यह यमपुरी की मार्गरेखा (के समान) वध्य-माला पहना दो ॥४॥

टिप्पणी—अवश्यम्भवितव्ये—अवश्य होने योग्य, अर्थात् मृत्यु सब की निश्चित है। फिर जो दूसरे के लिए मरता है, उसकी मृत्यु प्रशसनीय होती है। मैं अपने मित्र के लिए प्राण त्याग कर रहा हूँ। इसलिए, तुम्हें शोक नही करना चाहिये। यहाँ पूर्वोक्त शोकदीनवदनादि विभावो और अनुभावों से पुष्ट करुण रस स्थायी है। सोरस्ताडम्—ताडन ताड, उरसस्ताडः उरस्ताडः, तेन सहित यथा स्यात् तथा सोरस्ताडमिति क्रियाविशेषणम्। पटाक्षेपेण—आ सम्यक् क्षेपः अपसारणम् = आक्षेप । पटस्य आक्षेपः। असूचितस्य पात्रस्य सहसा प्रवेशः पटाक्षेपः तेन। शूलायतना—शूलम् आयतन जीवन येषा ते शूलायतनाः शूलजीविन इत्यर्थ, त सम्बुद्धौ। परिभवक्षेत्रीकृत—परिभवस्य क्षेत्रम्, अपरिभवक्षेत्रम्, अपरिभवक्षेत्रम् परिभवक्षेत्र सम्पद्यमानः परिभवक्षेत्रीकृतः परिभवक्षेत्र + च्वि, ईत्व √कृ + क्त। आत्मा—शरीर। 'आत्मा यत्नो धृति-बुद्धिः शरीर ब्रह्म एव च' इत्यमरः। वधाय—हन्तुमित्यर्थ। 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' इति सूत्रेणात्र चतुर्थी। इस श्लोक में श्रौती पूर्णोपमा अलकार, विरोधालकार और रूपक अलकार की ससृष्टि है। इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है। इस छन्द का लक्षण १,१२ मे देखिये ॥४॥

चन्दनदास—[विलोक्य सबाष्पम्] अमच्च ! किं एद दे व्ववसिद ? (अमात्य ! किमिद ते व्यवसितम् ?)

राक्षसः—त्वदीयसुचरितैकदेशस्यानुकरणं किल ।

चन्दनदासः—अमच्च ! सव्वं वि मे णिप्फलं एदं प्पआसं करन्तेण ण मे प्पिअं अणुचिट्ठिदं अमच्चेण। (अमात्य ! सर्वमपि मे निष्फलमिमं प्रयासं कुर्वता न मे प्रियमनुष्ठितममात्येन ।)

राक्षसः—सखे चन्दनदास ! कृतमुपालम्भेन, स्वार्थप्रधानो हि जीवलोकः। भद्रमुख ! अयमर्थो निवेद्यतां तावद्दुरात्मने चाणक्याय।

चण्डालौ—अध किं त्ति ? (अथ किमिति ?)

राक्षसः—

दुष्कालेऽपि कलावसज्जनरुचौ प्राणैः परं रक्षता
नीतं येन यशस्विनातिलघुतामौशीनरीयं यशः ।
बुद्धानामपि चेष्टितं सुचरितैः क्लिष्टं विशुद्धात्मना
पूजार्होऽपि स यत्कृते तव गतो वध्यत्वमेषोऽस्मि सः ॥५॥

अन्वयः—असज्जनरुचौ दुष्काले कलौ अपि प्राणैः परं रक्षता यशस्विना येन औशीनरीयं यशः अतिलघुतां नीतम्; विशुद्धात्मना (येन) सुचरितैः बुद्धानां चेष्टितमपि क्लिष्टम्; सः पूजार्होऽपि यत्कृते तव वध्यत्वं गतः सः एषः अस्मि ॥५॥

व्याख्या—असज्जनरुचौ—असती असाध्वी जनरुचिः लोकप्रवृत्तिः यस्मिन् तस्मिन्, दुष्काले—पापिनि, कलौ अपि—कलियुगे अपि, प्राणैः—असुभिः, परम्—अन्यम्, रक्षता—पालयता, यशस्विना—कीर्तिशालिना, येन—चन्दनदासेन, औशीनरीयम्—औशीनरस्य शिवेः, यशः—कीर्तिः, अतिलघुताम्—अत्यन्ततुच्छताम्, नीतम्—प्रापितम्; विशुद्धात्मना—विमलान्तः करणेन, (येन) सुचरितैः—साधुचरितैः, बुद्धानां—बोधिसत्त्वानाम्, चेष्टितमपि—चरितञ्च, क्लिष्टम्—तिरस्कृतम्; सः—चन्दनदासः, पूजार्होऽपि—अर्च्योऽपि, यत्कृते—यस्य हेतोः, तव—ते, वध्यत्वं—हननीयत्वं, गतः—प्राप्तः, सः—राक्षसः, एषः अस्मि—अयमहम् (ते वशो जातः) ॥५॥

हिन्दी अनुवाद—चन्दनदास—[देखकर आँसू के साथ] अमात्य ! यह आपने क्या किया ?

राक्षस—आपके महनीय चरित्र के एक अंश का अनुकरण है।

चन्दनदास—अमात्य मेरे इस सम्पूर्ण प्रयास को निष्फल करते हुए आपने मेरा प्रिय (कार्य) नहीं किया।

राक्षस—मित्र चन्दनदास! उलाहना मत दीजिए, संसार में स्वार्थ की प्रधानता है (अर्थात् सभी अपना ही स्वार्थ देखा करते हैं)। भद्रमुख! यह बात दुष्ट चाणक्य से निवेदन कर दो।

दोनों चाण्डाल—क्या?

राक्षस—असत् जन-रुचि वाले पापी कलियुग में भी (अपने) प्राणों से दूसरे की रक्षा करते हुए यशस्वी जिस (चन्दनदास) ने शिवि के (भी) यश को नीचा दिखा दिया और निर्मल अन्तःकरण वाले (जिस चन्दनदास) ने पवित्र चरित्रों से बुद्धों के चरित्र को भी तिरस्कृत कर दिया, वह पूजा के योग्य होने पर भी जिसके लिए तुम्हारा वध्य बन गया है, वह (मैं) यह है ॥५॥

टिप्पणी—ते—त्वयेत्यर्थः। सम्बन्धसामान्ये षष्ठी। व्यवसितम्—अनुष्ठितम्। त्वदीयसुचरितैकदेशस्य—साधु (सुष्ठु) चरितं सुचरितम्। एको देशः एकदेशः। त्वदीयं सुचरितम्। तस्य एकदेशः, तस्य = भवत्साधुचरित्रैकमागम्य। स्वार्थप्रधानः—स्वस्य अर्थः स्वार्थः, स प्रधानः मुख्यः यस्मिन् स स्वार्थप्रधानः = आत्मप्रयोजनसम्पादनप्रवणः इत्यर्थः। जीवलोकः—संसारः। औशीनरीयम्—उशीनर एक पुरुवंशी राजा थे। उनकी स्त्री दृषद्वती से राजा शिवि का जन्म हुआ था। उशीनरस्य अपत्यं पुमान् इति उशीनर + अञ् 'उत्सादिभ्योऽञ्' इत्यनेन = औशीनरः = शिविः। तस्येदम् इति औशीनर + छ—ईय = औशीनरीयम्। सुचरितैः—अत्र करणे तृतीया। बुद्धानाम्—यहाँ बुद्ध के अनुयायियों से तात्पर्य है। अथवा आदरसूचनार्थं बहुवचन का प्रयोग किया गया है। एषोऽस्मि सः—यहाँ 'अस्मि' एक अव्यय है। इस श्लोक में दीपक अलंकार, व्यतिरेक अलंकार और परिवृत्ति अलंकार में सांकर्य है। इसमें भी शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥५॥

प्रथम—अले वेणुवेत्तआ! तुम दाव सेट्ठिचन्दणदासं गेह्लिअ, इमस्स मसाणपादवस्स छाआए मुहुत्तअं चिट्ठ, जाव अहं अज्जचाणक्कस्स

णिबेदेमि, जधा गहीदो अमच्चलक्खसो त्ति । (अरे वेणुवेत्रक! त्वं तावच्छ्रेष्ठिचन्दनदासं गृहीत्वाऽस्य श्मशानपादपस्यच्छायायां मुहूर्तं तिष्ठ, यावदार्यचाणक्यस्य निवेदयामि, यथा गृहीतोऽमात्यराक्षस इति।)

द्वितीयः—अले बज्जलोमआ! एव्व होदु। (अरे वज्रलोमक! एवं भवतु।)

[इति सपुत्रदारेण चन्दनदासेन सह निष्क्रान्तः।]

प्रथमः—[राक्षसेन सह परिक्रम्य] के के एत्थ दुआलिआण? णिबेदेध दाब, णन्दकुलसेण्णसञ्चअचुण्णणकुलिसस्स मोलिअकुलपदिट्ठाबिदधम्मसञ्चअस्स अज्जचाणक्कस्स । (कः कोऽत्र दौवारिकाणाम्? निवेदयत तावत्, नन्दकुलसैन्यसञ्चयचूर्णनकुलिशस्य मौर्यकुलप्रतिष्ठापितधर्मसञ्चयस्यार्यचाणक्यस्य।)

राक्षसः—[स्वगतम्] एतदपि नाम राक्षसेन श्रोतव्यम्।

चण्डालः—एसो क्खु अज्जणीदिसंजमिदबुद्धिपलिसले गहीदे अमच्चलक्खसे त्ति । (एष खल्वार्यनीतिसंयमितबुद्धिपरिसरो गृहीतोऽमात्यराक्षस इति।)

हिन्दी अनुवाद—पहला—अरे वेणुवेत्रक! तुम तबतक सेठ चन्दनदास को लेकर इस श्मशान-वृक्ष की छाया में क्षण भर ठहरो, जबतक मैं आर्य चाणक्य से निवेदन कर देता हूँ कि अमात्य राक्षस पकड़ लिये गये।

दूसरा—अरे वज्रलोमक! ऐसा (ही) हो।

[स्त्री-पुत्र समेत चन्दनदास के साथ बाहर चला जाता है।]

पहला—[**राक्षस के साथ घूमकर**] यहाँ द्वारपालो मे से कौन है? नन्दकुल के सैन्य-समूह के विध्वंस करने में वज्र (रूप) तथा मौर्य-कुल में धर्म-राशि की प्रतिष्ठा करने वाले पूज्य चाणक्य से निवेदन करो।

राक्षस—[**मन में**] राक्षस को यह भी सुनना है?

चाण्डाल—ये आर्य की नीति से कुंठित बुद्धि के प्रसार वाले अमात्य राक्षस पकड़ लिये गये हैं।

टिप्पणी—आर्यचाणक्यस्य—अत्र सम्बन्धविवक्षाया षष्ठी। अथवा 'चाणक्याय' ऐसा पाठ रखकर 'कर्मणा यमभिप्रैति'—सूत्र से चतुर्थी करनी चाहिए। नन्दकुलसैन्यसञ्चयचूर्णनकुलिशस्य—नन्दाना कुल वंशः तस्य सैन्यसञ्चय सैन्यवर्ग तस्य चूर्णन विध्वसः तस्य (तस्मै) कुलिश, तस्य। मौर्यकुलप्रतिष्ठापितधर्मसञ्चयस्य—चन्द्रगुप्तवशस्थिरीकृतपुञ्जस्य। आर्यनीतिसयमितवुद्धिपरिसर—आर्यस्य चाणक्यस्य नीतिः नयः तया सयमितः कुण्ठित. बुद्धिपरिसरः मतिवैशद्यम् यस्य सः तथाविधः।

[तत प्रविशति जवनिकावृतशरीरो मुखमात्रदृश्यः सहर्षश्चाणक्य.।]

चाणक्य—भद्र ! कथय कथय—

> केनोत्तुङ्गशिखाकलापकपिलो बद्ध पटान्ते शिखी ?
> पाशै केन सदागतेरगतिता सद्य समासादिता ?
> केनानेकपदानवासितसट सिंहोऽर्पित पञ्जरे ?
> भीम केन चलैकनक्रमकरो दोर्भ्यां प्रतीर्णोऽर्णव ? ॥ ६ ॥

अन्वय—उत्तुङ्गशिखाकलापकपिलः शिखी केन पटान्ते बद्धः ? सदागतेः अगतिता केन सद्य पाशैः समासादिता ? अनेकपदानवासितसटः सिंहः केन पञ्जरे अर्पित ? चलैकनक्रमकर भीम अर्णव केन दोर्भ्याम् प्रतीर्णः ? ॥६॥

व्याख्या—उत्तुङ्गशिखाकलापकपिलः—उत्तुङ्गैः महोच्छ्रायैः शिखाकलापैः ज्वालासमूहैः कपिलः पिङ्गल, शिखी—अग्नि, केन—महापुरुषेण, पटान्ते—वस्त्रान्ते, बद्ध—सयमितः धृत इति यावत् ? सदागतेः—वायोः, अगतिता—अचलता, केन—महामतिना, सद्यः—तत्क्षण, पाशै—रज्जुभि, समासादिता—प्रापिता ? अनेकपदानवासितसट—अनेकपाना हस्तिना दाने मदजलैः वासिताः सुरभीकृता. सटा केसरा तस्य तादृशः, सिंहः—केशरी, केन—महावीरेण, पञ्जरे—पशवादिबन्धनागारे, अर्पित.—स्थापित ? चलैकनक्रमकरः—चलाः चञ्चलाः एके महान्तः नक्राः कुम्भीराः मकराः ग्राहाश्च यस्मिन् तादृशः, (अतएव) भीम—भीषणः, अर्णव—समुद्रः, केन—महासाहसिकेन, दोर्भ्याम्—बाहुभ्याम्, प्रतीर्ण—पार गतः ? ॥६॥

हिन्दी अनुवाद—[**तदनन्तर पर्दे से ढके हुए शरीर वाला और केवल मुख से देखे जाने योग्य प्रसन्न चाणक्य प्रवेश करता है।**]

चाणक्य—भद्र ! कहो, कहो—

ऊँची लपटों के समूह से ललाई लिये भूरे रंग की अग्नि को कपड़े की छोर मे किसने बाँधा ? वायु की गति का निरोध किसने तत्काल रस्सियों से कर डाला ? हाथियों के मद-जल से भीनी सटाओं वाले सिंह को किसने पिंजड़े में डाल दिया ? (और) चंचल नाकों और मगरों वाले भयंकर समुद्र को किसने बाँहों से पार किया ? ॥ ६ ॥

टिप्पणी—**जवनिका**—पर्दा। जु√(सौत्रो धातुः)+ल्युट् करणे+कन् स्वार्थे स्त्रियाम्=जवनिका। 'प्रतिसीरा जवनिका स्यात्तिरस्करिणी च सा' इत्यमरः। **सदागतेः**—सदा सततं गतिः गमनं यस्य स सदागतिः=वायुः, तस्य। 'स्वसनः स्पर्शनो वायुर्मातरिश्वा सदागतिः' इत्यमरः। **अगतिता**—अविद्यमाना गतिर्यस्य सः अगतिः नञ्बहुव्रीहि स०। तस्य भावः अगतिता गतिनिरोध इत्यर्थः। **अनेकप**—न एकः अनेकः। अनेकश्च अनेकश्च अनेकौ। अनेकाभ्यां पिबति इति अनेक√पा+क कर्तरि=अनेकपः। इस श्लोक का निचोड़ यह है कि वस्त्र की छोर से अग्नि को बांधने की तरह, रस्सी से वायु को बांधने की तरह, पिंजड़े में सिंह को बन्द करने की तरह, और भुजाओं से महासागर को पार करने की तरह राक्षस को बाँधने का दुष्कर कार्य मैंने किया है। इस पद्य मे अप्रस्तुतप्रशंसा, अतिशयोक्ति और मालानिदर्शनालंकार में अंगांगिभाव से सांकर्य है। इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है। इस छन्द का लक्षण १, १२ में देखिए ॥ ६ ॥

चण्डालः—णं णीदिणिउणबुड्ढिणा अज्जेण ज्जेव। (ननु नीतिनिपुणबुद्धिनार्येणैव।)

चाणक्यः—भद्र ! मा मैवम्। नन्दकुलद्वेषिणा दैवेनेति ब्रूहि।

राक्षसः—[**विलोक्य स्वगतम्**] अये ! अयं स दुरात्मा, अथवा अयं स महात्मा कौटिल्यः। यतः—

आकरः सर्वशास्त्राणां रत्नानामिव सागरः ।
गुणैर्न परितुष्यामो यस्य मत्सरिणो वयम् ॥ ७ ॥

अन्वय—रत्नानां सागरः इव सर्वशास्त्राणाम् आकरः । यस्य गुणैः—मत्सरिणः वयम् न परितुष्यामः ॥ ७ ॥

व्याख्या—रत्नानाम्—पद्मरागादीनां मणीनां, सागर इव—समुद्र इव, सर्वशास्त्राणाम्—समस्तशास्त्रज्ञानानामित्यर्थः, आकरः—खनिः (अस्ति), यस्य—चाणक्यस्य, गुणैः—चातुर्यादिभिः, मत्सरिणः—मत्सरवन्तः गुणेषु विद्वेषवन्त इत्यर्थः, वयम्, न परितुष्यामः—न परितोषमावहाम ॥ ७ ॥

हिन्दी अनुवाद—चाण्डाल—नीति में निपुण बुद्धि वाले आर्य ने ही (यह दुष्कर कार्य किया) ।

चाणक्य—भद्र ! न, ऐसा न कहो । नन्दवंश के शत्रु भाग्य ने (यह किया)—ऐसा कहो ।

राक्षस—[देखकर मन में] अरे ! यह वह दुष्टात्मा, अथवा यह वह महात्मा चाणक्य है । क्योंकि—

यह रत्नों के समुद्र के समान सभी शास्त्रों की खान है । जिसके गुणों से डाह करने वाले हम सन्तुष्ट नहीं होते हैं ॥७॥

टिप्पणी—नीतिनिपुणबुद्धिना—नीतौ राजनीतौ निपुणा कुशला । तादृशी बुद्धिर्यस्य स नीतिनिपुणबुद्धिः, तेन । नन्दकुलद्वेषिणा—नन्दानां कुलम् । तत् द्वेष्टि इति नन्दकुल√द्विष्+णिनि कर्तरि ताच्छील्ये=नन्दकुलद्वेषी, तेन । आकरः—खान, उत्पत्ति-स्थान । यहाँ राक्षस ने चाणक्य के गुणों की प्रशंसा की है, अतः चाणक्य के प्रति उसका द्वेषभाव समाप्त-सा समझना चाहिये । इस पद्य में उपमा और रूपक अलंकारों की संसृष्टि है । इसमें अनुष्टुप् छन्द है । अनुष्टुप् का लक्षण १, ३ में देखिए ॥७॥

चाणक्य—[विलोक्य सहर्षम्] अये ! अयममात्यराक्षसः, येन महात्मना—

गुरुभिः कल्पनाक्लेशैर्दीर्घजागरहेतुभिः ।
चिरमायासिता सेना वृषलस्य मतिश्च मे ॥८॥

अन्वयः—(येन महात्मना) दीर्घजागरहेतुभिः गुरुभिः कल्पनाक्लेशैः मे मतिः वृषलस्य सेना च चिरम् आयासिता ॥८॥

व्याख्या—(येन महात्मना) दीर्घजागरहेतुभिः—दीर्घस्य सन्ततस्य जागरस्य अनिद्रायाः ये हेतवः निमित्तानि तथाभूतैः, गुरुभिः—महद्भिः, कल्पनाक्लेशैः—उपायोद्भावनाकष्टैः पक्षान्तरे सज्जानियन्त्रणैः, मे—मम, मतिः—बुद्धिः, वृषलस्य—मौर्यस्य, सेना—वाहिनी च, चिरम्—दीर्घकालम्, आयासिता—आयासमनुभाविता ॥८॥

हिन्दी अनुवाद—चाणक्य—[**देखकर प्रसन्नतापूर्वक**] अरे यह अमात्य राक्षस है, जिस महात्मा ने—

सतत जागरण के कारणभूत महान् कल्पना (बुद्धि के पक्ष में राक्षस को पकड़ने के उपाय-चिन्तन और सेना-पक्ष में सदा तैयार रहने) के क्लेशों से मेरी बुद्धि को और मौर्य की सेना को चिरकाल तक कष्ट का अनुभव कराया ॥८॥

टिप्पणी—कल्पना—√क्लृप्+णिच्+युच् कर्मणि। आयासिता—आयासेन कष्टेन योजिता वा आयासं गमिता इति आयास+णिच् (नाम-धातु)+क्त कर्मणि। इस श्लोक में तुल्ययोगिता अलंकार है और अनुष्टुप् छन्द है ॥८॥

[**जवनिकामपनीयोपसृत्य च**] भो भो अमात्यराक्षस ! विष्णुगुप्तोऽभिवादयते।

राक्षसः—[**स्वगतम्**] अमात्य इति लज्जाकरमिदानीं विशेषण-पदम्। [**प्रकाशम्**] भो भो विष्णुगुप्त ! न मां श्वपाकस्पर्शदूषितं स्प्रष्टुमर्हसि।

चाणक्यः—अमात्य राक्षस ! नायं श्वपाकः। अयं खलु दृष्टपूर्व एव भवता सिद्धार्थकनामा राजपुरुषः, योऽयमसौ द्वितीयः, सोऽपि सुसिद्धार्थकनामा राजपुरुष एव। ताभ्यामेव सह सौहार्दमुत्पाद्य शकट-दासोऽपि तपस्वी तं तादृशमजानन्नेव कपटलेखं मयैव लेखितः।

राक्षसः—[**आत्मगतम्**] दिष्ट्या शकटदासं प्रत्यपनीतो विकल्पः।

चाणक्यः—किं बहुना, सङ्क्षेपतः कथयामि—
भृत्या भद्रभटादयः स च तथा लेखः स सिद्धार्थक-
स्तच्चालङ्करणत्रयं स भवतो मित्रं भदन्तः किल ।
जीर्णोद्यानगतः स चार्तपुरुषः क्लेशः स च श्रेष्ठिनः
सर्वं मे—[इत्यर्धोक्ते लज्जां नाटयति ।]
वृषलस्य वीर ! भवता संयोगमिच्छोर्नयः ॥६॥

अन्वयः—वीर ! भद्रभटादयः भृत्याः, स तथा लेखश्च, स सिद्धार्थकः, तत् अलङ्करणत्रयं च, भवतः किल मित्रं स भदन्तः, जीर्णोद्यानगतः स आर्तपुरुषश्च, स श्रेष्ठिनः क्लेशश्च—सर्वं वृषलस्य भवता संयोगमिच्छोः मे नयः ॥६॥

व्याख्या—वीर !—हे शूर !, भद्रभटादयः—भद्रभटप्रभृतयः, भृत्याः—सेवकाः, सः, तथा—तथाविधं तेन प्रकारेण छलेन रचितं इत्यर्थः, लेखश्च—पत्रमपि, सः सिद्धार्थकः—हन्यमानमपवाह्य शकटदासं भवन्तमाश्रितः इत्यर्थं, तत्—कपटवणिग्भिर्विक्रीतं ते, अलङ्करणत्रयं च—पर्वतेश्वरभूषणान्यपि, भवतः—तव, किल—मिथ्या, मित्रं—सुहृत्, सः—जीवसिद्धिनामधेयः, भदन्तः—बौद्धसन्यासी, जीर्णोद्यानगतः—पुरातनोपवनप्राप्तः, सः, आर्तपुरुषश्च—मिथ्या देहत्यागे व्यवसितो दुःखी जनश्च, सः, श्रेष्ठिनः—चन्दनदासस्य, क्लेशश्च—दुःखं च, सर्वं—निखिलं, वृषलस्य—मौर्यस्य, भवता—त्वया (सह), संयोगं—सन्धिम्, इच्छोः कामयमानस्य, मे—मम, नयः—नीतिः (अस्ति) ॥६॥

हिन्दी अनुवाद—[पर्दे को हटाकर समीप जाकर] हे अमात्य राक्षस ! चाणक्य (,आपको) प्रणाम करता है ।

राक्षस—[मन में] 'अमात्य' यह विशेषण शब्द इस समय लज्जाजनक है । [प्रकट] हे चाणक्य ! चाण्डाल के स्पर्श से दूषित मुझे आप न छूएँ ।

चाणक्य—अमात्य राक्षस ! यह चाण्डाल नहीं है । यह तो आपका पहले ही का देखा हुआ सिद्धार्थक नाम का राजपुरुष है । जो यह दूसरा है, वह भी सुसिद्धार्थक नाम का राजपुरुष ही है । इन्हीं दोनों के साथ मित्रता उत्पन्न

कराकर मैंने बेचारे शकटदास से भी उस कूटपत्र को वैसा न जानते हुए ही लिखवाया था।

राक्षस [मन में] भाग्य से शकटदास के प्रति संदेह दूर हो गया।

चाणक्य—अधिक कहने से क्या (लाभ), संक्षेप में कह देता हूँ—

हे वीर ! भद्रभट आदि अनुचर, वह उस प्रकार का लेख, वह सिद्धार्थक, वे तीनों आभूषण, आपका मिथ्या मित्र वह बौद्धसंन्यासी, जीर्ण उपवन में गया हुआ वह पीड़ित मनुष्य और वह सेठ (चन्दनदास) का क्लेश—यह सब [ऐसा आधा कहने पर लज्जा का अभिनय करता है।] चन्द्रगुप्त का आपके साथ सम्पर्क चाहने वाले मेरी चाल रही है ॥६॥

टिप्पणी—**विष्णुगुप्तः अभिवादयते**—नामोच्चारणपूर्वक अभिवादन करना शास्त्रसम्मत है। मनु ने कहा है—'अभिवादात्परो विप्रो ज्यायांसमभिवादयन्। असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेद् ॥' **कपटलेखम्**—कपटः = छलम् अस्ति अस्मिन् इति कपटः = छलमयः कपट + अच् अर्शआदित्वात्। कपटः लेखः कपटलेखः, तम्। शकटदासः कपटलेखं लिखितवान् = अहं शकटदासम् अजानन्तं कपटलेखं लेखितवान् = मया शकटदासः अजानन् कपटलेखं लेखितः। 'कपटलेखम्' इत्यत्र 'गत्यर्थ'—सूत्रेण कर्मसंज्ञा—द्वितीया। **किल**—यहाँ मिथ्यार्थक अव्यय है। **सर्वम्**—अत्र सामान्ये नपुंसकम्। आपको चन्द्रगुप्त के अमात्य-पद पर आरूढ करने के लिए ही मैंने यह सब कुछ किया है। यह निर्वहण नामक अंग है। इस श्लोक में वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग अलंकार है या अर्थान्तरन्यास अलंकार है। इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है। इस छन्द का लक्षण १, १२ में देखिए ॥६॥

तदेष वृषलस्त्वां द्रष्टुमागच्छति। पश्यैनम्।

राक्षसः [स्वगतम्] का गतिः ? [प्रकाशम्] एष पश्यामि।

[ततः प्रविशति राजा विभवतश्च परिवारः।]

राजा—[स्वगतम्] विनैव युद्धादार्येण पराजितं दुर्जयं रिपुकुलमिति लज्जित इवास्मि। मम हि—

फलयोगमवाप्य सायकाना-
मनियोगेन विलक्षता गतानाम् ।
न शुचेव भवत्यधोमुखाना
निजतूणीशयनव्रत प्रतुष्ट्यै ॥१०॥

अन्वय—फलयोगम् अवाप्य अनियोगेन विलक्षता गतानाम् शुचेव अधोमुखाना (मम) सायकाना निजतूणीशयनव्रत प्रतुष्ट्यै न भवति ॥ १० ॥

व्याख्या—फलयोगम्—फलेन शत्रुजयरूपेण योग समागतम् पक्षान्तरे फलेन लोहमयाग्रकीलेन योगम् सम्बन्धम्, अवाप्य—प्राप्य, अनियोगेन—नियोगायोग्यत्वेन पक्षा तरे अप्रेरणया, विलक्षता—लज्जावत्ता पक्षा तरे अशरव्यता, गतानाम्—प्राप्तानाम् । शुचेव—दु खेनेव, अधोमुखाना—नतास्यानाम् पक्षान्तरे आनताग्रभागाना, (मम—अस्माकमित्यर्थः), सायकाना—बाणानाम्, निजतूणीशयनव्रतम्—स्वगृहे निर्व्यापारतयाऽवस्थानम् पक्षान्तरे स्वेषुधिनिश्चलावस्थितिनियम , प्रतुष्ट्यै—प्रीत्यै, न भवति—न जायते ॥ १० ॥

हिन्दी अनुवाद—इसलिए यह चन्द्रगुप्त आपको देखने के लिए आ रहा है। देखिए इसे—

राक्षस—[मन में] क्या उपाय है ? [प्रकट] यह देखता हूँ।

[तदनन्तर राजा और ऐश्वर्य के अनुसार अनुचरगण प्रवेश करते हैं।]

राजा—[मन में] विना युद्ध के ही आर्य (चाणक्य) ने कठिनाई से जीतने योग्य शत्रु-कुल को परास्त कर डाला, इससे मैं लज्जित-सा हूँ। मेरे तो—

लोहे के अग्रवर्ती कील से सम्बन्ध प्राप्त करके (भी) विना चालन के लक्ष्यहीनता को प्राप्त किये हुए और (अतएव) मानो शोक से झुके हुए अग्रभाग वाले बाणों का अपने तूणीर मे निश्चल होकर पड़ा रहना सन्तोष के लिए नही हो रहा है। पक्षान्तर मे—कार्य-सिद्धि को प्राप्त करके (भी) आज्ञा देन के योग्य न होने के कारण लज्जा को प्राप्त किये हुए और (अतएव) मानो शोक से नीचे मुख किये हुए हमारा निश्चेष्ट होकर अपने घर मे पड़ा रहना सन्तोष के लिए नही हो रहा है ॥ १० ॥

टिप्पणी—विभवतः—ऐश्वर्यानुसारेणेत्यर्थः । विभवेन इति विभवतः तृतीयान्तात्तसिप्रत्ययः । अथवा वि√भू+शतृ=विभवत्, तस्य । इस व्युत्पत्ति में यह शब्द लुप्त 'राज्ञः' का विशेषण माना जाएगा । **परिवारः**—अनुचरवर्गः । परिवार्यते अनेन इति परि√वृ+घञ् करणे । श्लोक १० में वाच्योत्प्रेक्षा अलंकार और श्लेषानुप्राणित गम्योपमा अलंकार में अंगांगिभाव से सांकर्य है । इसमें मालभारिणी छन्द है । इस छन्द का लक्षण यह है—'विषमे ससजा यदा गुरू चेत्, सभरा येन तु मालभारिणीयम्' । मालभारिणी को औपच्छन्दसिक भी कहते हैं ।। १० ।।

अथवा—

विगुणीकृतकार्मुकोऽपि जेतुं
भुवि जेतव्यमसौ समर्थ एव ।
स्वपतोऽपि ममेव यस्य तन्त्रे
गुरवो जाग्रति कार्यजागरूकाः ।। ११ ।।

अन्वयः—स्वपतोऽपि मम इव यस्य तन्त्रे कार्यजागरूकाः गुरवो जाग्रति असौ विगुणीकृतकार्मुकोऽपि भुवि जेतव्यं जेतुं समर्थ एव ।। ११ ।।

व्याख्या—स्वपतोऽपि—शयानस्यापि, मम इव—चन्द्रगुप्तस्येव, यस्य—भूपस्य, तन्त्रे—राष्ट्रचिन्तने, कार्यजागरूकाः—कार्ये कर्तव्यकर्मणि जागरूकाः—सावधानाः, गुरवः—आचार्याः, जाग्रति—सततं शिवानुध्यानपरा आसते, असौ—एष भूपः, विगुणीकृतकार्मुकोऽपि—विगुणीकृतं मौर्वीहीनं कृतं कार्मुकं धनुः यस्य तथाविधोऽपि, भुवि—पृथिव्यां, जेतव्यं—जेतुं योग्यं शत्रुमित्यर्थः, समर्थ एव—शक्त एव ।। ११ ।।

हिन्दी अनुवाद—अथवा—सोते हुए भी मेरे जैसे जिस (राजा) के राष्ट्र-चिन्तन में कर्तव्य के प्रति सतत सावधान गुरु जाग रहे हैं, वह प्रत्यंचा से रहित धनुष वाला होता हुआ भी पृथ्वी पर शत्रु को जीतने में समर्थ ही है ।। ११ ।।

टिप्पणी—विगुणीकृतकार्मुकः—विगतः गुणः अस्य इति विगुणम् । अविगुणं विगुणं कृतम् इति विगुणीकृतम् विगुण+च्वि, ईत्व√कृ+क्त । तादृशं कार्मुकं यस्य सः । इस पद्य में वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग अलंकार,

उपमा अलंकार और विभावना अलंकार में अंगागिभाव से साङ्कर्य है। इसमें भी मालभारिणी छन्द है ॥ ११ ॥

[चाणक्यमुपसृत्य] आर्य ! चन्द्रगुप्तः प्रणमति।

चाणक्य —वृषल ! सम्पन्नास्ते सर्वाशिषः । तदभिवादयस्व तत्रभवन्तममात्यराक्षसम्, पैतृकस्तवायममात्यमुख्यः ।

राक्षस — [स्वगतम्] योजितोऽनेन सम्बन्धः ।

राजा—[राक्षसमुपसृत्य] आर्य ! चन्द्रगुप्तोऽहमभिवादये।

राक्षस [विलोक्य स्वगतम्] अये ! अयं चन्द्रगुप्तः !! य एषः —

बाल एव हि लोकेऽस्मिन् सम्भावितमहोदयः।
क्रमेणारूढवान् राज्यं यूथैश्वर्यमिव द्विपः ॥ १२ ॥

अन्वय —अस्मिन् लोके सम्भावितमहोदयः बाल एव द्विपः यूथैश्वर्यमिव क्रमेण राज्यं हि आरूढवान् ॥ १२ ॥

व्याख्या—अस्मिन्—इह, लोके—संसारे, सम्भावितमहोदयः—सम्भावितः अनुमितः महोदयः विशिष्टाभ्युदयः यस्य तादृशः, बाल एव—शिशुरेव, द्विपः—गजः, यूथैश्वर्यमिव—यूथस्य समूहस्य ऐश्वर्यमिव नेतृत्वमिव, क्रमेण—शनैः, राज्यं हि—राजपदमेव, आरूढवान्—प्राप्तवान् ॥ १२ ॥

हिन्दी अनुवाद— [चाणक्य के पास जाकर] आर्य ! चन्द्रगुप्त प्रणाम करता है।

चाणक्य—वृषल ! (मेरे दिये हुए) तुम्हारे सभी आशीर्वाद पूरे हो गए। इसलिए माननीय अमात्य राक्षस का अभिवादन करो। ये तुम्हारे पितृपरम्परागत प्रधान अमात्य हैं।

राक्षस—[मन में] इसने नाता जोड दिया।

राजा—[राक्षस के पास जाकर] आर्य ! मैं चन्द्रगुप्त प्रणाम करता हूँ।

राक्षस—[देखकर मन में] अरे ! यह चन्द्रगुप्त है !! जो यह—

इस संसार में संभावना की गई महान् उन्नति वाला बालक हो उसी तरह राज्य को क्रमशः पा गया जैसे हाथी (का बच्चा हाथियों के) झुंड के नेतृत्व

को (पा लेता है अर्थात् जैसे हाथी का बच्चा कालक्रम से गजसमूह के नेतृत्व को प्राप्त कर लेता है, उसी तरह इस चन्द्रगुप्त ने भी राज्य का सिंहासन पा लिया है) ॥ १२ ॥

टिप्पणी—**सम्पन्नास्ते सर्वाशिषः**—ते तव सम्बन्धे या या आशिषः मया दत्ताः ताः सर्वाः पूर्णाः जाता इत्यर्थः । आशास्यन्ते इति आशिषः आ√शास्+क्विप् कर्मणि, उपधायाः इत्वम् । **सम्भावितमहोदयः**—जिसके महान् अभ्युदय की संभावना की गई थी । इस श्लोक में श्रौती पूर्णोपमा अलंकार है और अनुष्टुप् छन्द है । अनुष्टुप् का लक्षण १, ३ में देखिए ॥ १२ ॥

[प्रकाशम्] राजन् विजयस्व ।

राजा—आर्य !—

जगतः किं न विजितं मयेति प्रविचिन्त्यताम् ।
गुरौ षाड्गुण्यचिन्तायामार्ये चार्ये च जाग्रति ॥ १३ ॥

अन्वयः—गुरौ—आर्ये च आर्ये च षाड्गुण्यचिन्तायाम् जाग्रति जगतः किं मया न विजितम् इति प्रविचिन्त्यताम् ॥ १३ ॥

व्याख्या—गुरौ आचार्ये, आर्ये च—पूज्ये चाणक्ये च, आर्ये च—माननीये राक्षसे च, षाड्गुण्यचिन्तायाम्—षाड्गुण्यस्य सन्धिविग्रहादीनां षण्णां गुणानां चिन्तायाम् अनुध्याने, जाग्रति—उद्यते सति, जगतः—संसारस्य, किं—वस्तु, मया—चन्द्रगुप्तेन, न विजितम्—न लब्धमित्यर्थः, इति प्रविचिन्त्यताम्—एतद्विचार्यताम् ॥ १३ ॥

हिन्दीअनुवाद—[प्रकट] राजन् ! विजयी रहो ।

राजा—आर्य ! गुरु आर्य (चाणक्य) के और आप के (संधि, विग्रह आदि) छह गुणों के चिन्तन मे जागरूक रहने पर मैंने संसार का क्या नहीं जीता (अर्थात् सब कुछ जीत लिया)—यह सोचिये ॥ १३ ॥

टिप्पणी—**विजयस्व**—अत्र 'विपराभ्यां जेः' इत्यात्मनेपदम् । **गुरौ**—इसका सम्बन्ध 'आर्ये' और आर्ये' दोनों से अलग-अलग है, इसलिए यह एकवचन मे प्रयुक्त हुआ है । **षाड्गुण्यचिन्तायाम्**—षडेव गुणाः इति

षड्गुण+ष्यञ् स्वार्थे चतुर्वर्णादित्वात् = षाड्गुण्यम् तद्धितार्थे समासः । अत्र 'क्वचित् स्वार्थिका प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते' इति कारिकावशात् नपुंसकत्वम् । छह गुण ये हैं—'सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव' । षाड्गुण्यस्य चिन्ता चिन्तनम् तत्रगाम् । जगत —अत्र शेषे षष्ठी । इसका सम्बन्ध 'किम्' से है । इस श्लोक में तुल्ययोगितालंकार, समुच्चयालंकार, वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग अलंकार और अर्थापत्ति अलंकार की स्थिति परस्पर निरपेक्ष होने से संसृष्टि अलंकार है । इसमें भी अनुष्टुप् छन्द है ॥ १३ ॥

राक्षस —[स्वगतम्] स्पृशति मां भृत्यभावेन कौटिल्यशिष्यः । अथवा विनय एवैष चन्द्रगुप्तस्य । मत्सम्पन्नु मे विपरीतं कल्पयति । सर्वथा स्थाने यशस्वी चाणक्यः । कुतः —

> द्रव्यं जिगीषुमधिगम्य जडात्मनोऽपि
> नेतुर्यशस्विनि पदे नियता प्रतिष्ठा ।
> अद्रव्यमेत्य भुवि शुद्धनयोऽपि मन्त्री
> शीर्णाश्रयः पतति कूलजवृक्षवृत्त्या ॥ १४ ॥

अन्वय —द्रव्यं जिगीषुम् अधिगम्य जडात्मनोऽपि नेतुः यशस्विनि पदे प्रतिष्ठा नियता (भवति) । अद्रव्यम् एत्य शुद्धनयः अपि मन्त्री शीर्णाश्रयः (सन्) कूलजवृक्षवृत्त्या भुवि पतति ॥ १४ ॥

व्याख्या—द्रव्यं—पात्रं योग्यमिति यावत् जिगीषुम्—जयाभियोगिनम् नृपमिति शेषः, अधिगम्य—लब्ध्वा, जडात्मनोऽपि—मन्दबुद्धेरपि, नेतुः—नायकस्य मन्त्रिणः, यशस्विनि—कीर्तिविशिष्टे, पदे—स्थाने, प्रतिष्ठा—स्थितिः, नियता—निश्चिता, (भवति) । अद्रव्यम्—अपात्रम् अयोग्यमिति यावत्, एत्य—प्राप्य, शुद्धनयः अपि—विशुद्धनीतिशाल्यपि, मन्त्री—अमात्यः, शीर्णाश्रयः—उच्छिन्नावलम्बनः, (सन्) कूलजवृक्षवृत्त्या—कूलजस्य नदीतटजातस्य वृक्षस्य पादपस्य वृत्त्या व्यवहारेण तीरजतरुरिवेत्यर्थः भुवि—पृथिव्याम्, पतति—पतनं प्राप्नोति ॥ १४ ॥

हिन्दी अनुवाद—राक्षस—[मन में] चाणक्य का शिष्य मुझे सेवक मानकर छू रहा है (अर्थात् व्यवहार कर रहा है) अथवा यह चन्द्रगुप्त का

विनय ही है। किन्तु डाह मुझे इसके उलटे दिखाती रही है। चाणक्य सब प्रकार से उचित (ही) यशस्वी है। क्योंकि—

योग्य विजयेच्छुक (राजा) को पाकर मंदबुद्धि मंत्री की भी स्थिति यशस्वी पद पर निश्चित रूप से होती है। किन्तु अयोग्य (राजा) को पाकर अनवद्यनीतिशाली मंत्री भी विनष्ट आश्रय वाला होता हुआ तटवर्ती वृक्ष के नियम से (अर्थात् किनारे के कटते किनारे खडे पेड की भाँति) धराशायी हो जाता है ॥ १४ ॥

टिप्पणी—स्पृशति माम्—राक्षस सोचता है कि अभी न तो मैंने इसका अमात्यपद स्वीकार किया है और न इसने मुझे इसके लिए आमन्त्रित ही किया है। तो भी यह मुझे अपना सेवक समझ रहा है। **अथवा विनय एवैष चन्द्रगुप्तस्य**—फिर राक्षस सोचता है कि नहीं, यह इसकी विनयशीलता ही है। मैं डाह के कारण इसको गलत समझ रहा था। **स्थाने**—युक्त, ठीक ही। **द्रव्यम्**—भव्य, योग्य। द्रवति ऊर्ध्वं गच्छति इति √द्रु (गतौ) + डु कर्तरि = द्रुः = वृक्षः। द्रुरिव इति द्रु + यत् इवार्थे = द्रव्यम्। यह 'जिगीषुम्' का विशेषण है, जिसका संकेत 'चन्द्रगुप्त' से है। **अधिगम्य**— यहाँ शंका हो सकती है कि 'अधिगम्य' और 'भवति' दोनों क्रियाओं के भिन्न-भिन्न कर्ता होने से क्त्वा प्रत्यय नहीं होना चाहिए, किन्तु 'जिगीषुमधिगम्य स्थितस्य नेतुः प्रतिष्ठा भवति' ऐसी विवक्षा करने से क्त्वा प्रत्यय हो सकता है। **नेतुः प्रतिष्ठा नियता**—इसका संकेत चाणक्य से है। **अद्रव्यम्**—इसका संकेत मलयकेतु से है। **शुद्धनयः**—शुद्धः अनवद्यः नयः नीतिप्रयोगः यस्य तादृशः। इसका संकेत स्वयं (राक्षस) से है। **शीर्णाश्रयः**—आश्रीयते इति आ √श्रि + अच् कर्मणि = आश्रयः = अवलम्बः। शीर्णः उत्खातः आश्रयः यस्य तादृशः। **पतति**— वृक्षपक्षे भुवि = पृथिव्यां पतति। मन्त्रिपक्षे भुवि = जगति लोकसमाजे पतति = न्यग्भवति। इस श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार, तन्मूलक अर्थान्तरन्यास अलंकार, अर्थापत्ति अलंकार और निदर्शनालंकार का सांकर्य है। इसमें वसन्ततिलका छन्द है। इस छन्द का लक्षण १, ८ में देखिए ॥ १४ ॥

चाणक्यः—अमात्य राक्षस ! अपीष्यते चन्दनदासस्य जीवितम् ?

राक्षसः—भो विष्णुगुप्त ! कुतः सन्देहः ?

चाणक्य —अमात्य राक्षस ! अगृहीतशस्त्रेण भवताऽनुगृह्यते वृषल इत्यत्र सन्देहः । तद्यदि सत्यमेव चन्दनदासस्य जीवितमिष्यते, ततो गृह्यतामिदं शस्त्रम् ।

राक्षस —भो विष्णुगुप्त ! मा मैवम् । अयोग्या वयमेतस्य ग्रहणे, विशेषतस्त्वया गृहीतस्य शस्त्रस्य ।

चाणक्य —अमात्यराक्षस ! योग्योऽहमयोग्यो भवान् इति कथमेतत् ? पश्य—

> अश्वैः सार्द्धमजस्रदत्तकविकाक्षामैरशून्यासनैः
> स्नानाहारविहारपानशयनस्वेच्छासुखैर्वर्जितान् ।
> माहात्म्यादतिपौरुषस्य भवतो दृप्तारिदर्पच्छिद
> पश्यैतान् परिकल्पनाव्यतिकरप्रोच्छूनवशान् गजान् ॥१५॥

अन्वय —दृप्तारिदर्पच्छिद अतिपौरुषस्य भवतः माहात्म्यात् अशून्यासनैः अजस्रदत्तकविकाक्षामैः अश्वैः सार्धम् स्नानाहारविहारपानशयनस्वेच्छसुखैः वर्जितान् परिकल्पनाव्यतिकरप्रोच्छूनवशान् एतान् गजान् पश्य ॥१५॥

व्याख्या—दृप्तारिदर्पच्छिदः—दृप्तानाम् गर्वितानाम् अरीणाम् शत्रूणाम् दर्पच्छिदः गर्वहारिणः, अतिपौरुषस्य—अतिशयपराक्रमशालिनः, भवतः—तव, माहात्म्यात्—प्रभावात्, अशून्यासनैः—अशून्यानि अनपनीतानि आसनानि पल्याणानि येषां तादृशैः, अजस्रदत्तकविकाक्षामैः —अजस्रम् अनवरतम् दत्ता मुखे अर्पिता कविका खलीनं येषां तैः तथाविधैः अतएव क्षामैः कृशैः, अश्वैः—घोटकैः, सार्द्धम्—सह, स्नानाहारविहारपानशयनस्वेच्छासुखैः —स्नानं च निमज्जनं च आहारश्च भोजनं च विहारश्च भ्रमणं च पानं च तृषावारणं च शयनं च स्वापश्च तानि स्वेच्छासुखानि यथेच्छाव्यापाराः तैः, वर्जितान्—रहितान्, परिकल्पनाव्यतिकरप्रोच्छूनवशान्—परिकल्पनायाः पल्याणस्य व्यतिकरात् नित्यसम्पर्कात् प्रोच्छूनाः जातशोफाः वशाः पृष्ठास्थीनि येषां तादृशान्, एतान्—अमून्, गजान्—हस्तिनः, पश्य—अवलोकय ॥१५॥

हिन्दी अनुवाद—चाणक्य—अमात्य राक्षस ! क्या (आप) चन्दनदास का जीवन चाहते हैं ?

राक्षस—हे चाणक्य ! (इसमें) सन्देह क्यों ?

चाणक्य—अमात्य राक्षस ! बिना शस्त्र धारण किये आप चन्द्रगुप्त पर अनुग्रह कर रहे हैं, इसलिये सन्देह है। अतः यदि सचमुच ही चन्दनदास का जीवन चाहते हैं तो यह शस्त्र धारण कीजिए।

राक्षस—हे चाणक्य ! नहीं, ऐसा नहीं। इसके ग्रहण करने में हम अयोग्य हैं, विशेष करके आपके द्वारा ग्रहण किये हुए शस्त्र के (ग्रहण करने में)।

चाणक्य—अमात्य राक्षस ! मैं योग्य हूँ और आप अयोग्य हैं, यह कैसे ? देखिए—

गर्वीले शत्रु के गर्व को चूर करने वाले तथा अत्यन्त पराक्रमी आपके प्रभाव से पलान से रहित न होने वाले और निरन्तर लगाम के धारण करने से क्षीण घोड़ों के साथ नहाने, खाने, घूमने, पीने और सोने के यथेच्छ उपभोगों से वंचित तथा हौदे के सदा कसे रहने से सूजे हुए पृष्ठ भाग वाले इन हाथियों को देखिए ॥१५॥

टिप्पणी—अपि—यहाँ प्रश्नवाचक अव्यय है। अगृहीतशस्त्रेण—अनादत्तायुधेन। यह शस्त्र अमात्य-पद का प्रतीक है। अजस्र—न जस्यति मुञ्चतीति अजस्रम् नञ्√जस्+र कर्तरि। अजस्रं दत्ता इति अजस्रदत्ता सुप्सुपा स०। स्नानाहारविहारपानशयन—इसमें द्वन्द्व समास है। परिकल्पना—हौदा। व्यतिकर—नित्य सम्पर्क या संलग्नता। वि—अति√कृ+घ करणे वा अप् भावे=व्यतिकरः। प्रोच्छून—सूजी हुई (पीठ की हड्डी)। प्र—उद्√श्वि+क्त कर्तरि। इस श्लोक में तुल्ययोगिता अलंकार है और शार्दूल-विक्रीडित छन्द है। इस छन्द का लक्षण १, १२ में देखिए ॥१५॥

अथवा किमनेन न खलु भवतः शस्त्रग्रहणमन्तरेण चन्दनदासस्य जीवितमस्ति।

राक्षसः—[स्वगतम्]

नन्दस्नेहकणाः स्पृशन्ति हृदयं भृत्योऽस्मि तद्विद्विषां
ये सिक्ताः स्वयमेव पाणिपयसा च्छेद्यास्त एव द्रुमाः ?।

चाणक्य—हे राजन् चन्द्रगुप्त ! फिर तुम्हारा क्या प्रिय उपकार करूँ ?

राजा—इससे बढकर क्या प्रिय है ?

राक्षस के साथ मित्रता (करवा दी), हमे राज्य में प्रतिष्ठित कर दिया और सभी नन्दो का विनाश कर दिया। इससे अधिक क्या (प्रिय) करना है ? ॥१७॥

टिप्पणी—प्रतिमानयितव्य —सम्माननीय, स्वीकर्तव्य इत्यर्थः। प्रति√मन्+णिच् वा√मान् (चुरादि)+तव्य कर्मणि। प्रणय —प्रार्थना। प्रणीयते अनेन इति प्र√नी+अच् करणे। पित्र्यम्—पितुरागत इति पितृ+यत्=पित्र्यः, तम्। यह 'विषयम्' का विशेषण है। विषयम्—देश, राज्य को। भो राजन् चन्द्रगुप्त—यहाँ चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को राजा कहकर सम्बोधित किया है, नही तो इसके पूर्व सभी जगह 'वृषल' ही कहा है। इसका कारण यह है कि राक्षस के अमात्य बन जाने से चन्द्रगुप्त का राज्य स्थिर हो गया है, इसलिए अब यह वस्तुत राजा है। इससे पूर्व तो इसका राजपद डावाडोल था। इसी कारण चाणक्य ने राजा नहीं कहा। श्लोक १७ में सम नामक अलकार है और अनुष्टुप् छन्द है। अनुष्टुप् का लक्षण १, ३ में देखिए ॥१७॥

चाणक्य —विजये ! उच्यता दुर्गपालो विजयपालश्च, अमात्यराक्षसपरिग्रहेण प्रीतो देवश्चन्द्रगुप्त समाज्ञापयति—विना हस्त्यश्व क्रियता सर्वबन्धनमोक्ष इति। अथवा अमात्यराक्षसे नेतरि किं हस्त्यश्वेन प्रयोजनम् ? तदिदानीम्—

सह वाहनहस्तिभ्या मुच्यता सर्वबन्धनम्।
मया पूर्णप्रतिज्ञेन केवल बध्यते शिखा ॥१८॥

[इति शिखा बध्नाति]

प्रतीहारी—ज अज्जो आणवेदि। (यदार्य आज्ञापयति।)

[इति निष्क्रान्ता।]

अन्वय —वाहनहस्तिभ्यां सह सर्वबन्धनम् मुच्यताम्। पूर्णप्रतिज्ञेन मया केवल शिखा बध्यते ॥१८॥

व्याख्या—वाहनहस्तिभ्यां—अश्वगजाभ्यां, सह—साकं, सर्वबन्धनम्—सर्वेषां समेषां बन्धनं संयमनं, मुच्यताम्—अपनीयताम्। पूर्णप्रतिज्ञेन—पूर्णा सफला प्रतिज्ञा प्रतिश्रुतिः यस्य तथाविधेन, मया—चाणक्येन, केवलं—मात्रं, शिखा—चूडा, बध्यते—संयम्यते ॥१८॥

हिन्दी अनुवाद—चाणक्य—विजये ! दुर्गपाल और विजयपाल कहो कि अमात्य राक्षस के मिल जाने से प्रसन्न महाराज चन्द्रगुप्त आज्ञा देते हैं कि हाथियों और घोड़ो को छोड़कर सब के बन्धन खोल दिये जायँ। अथवा अमात्य राक्षस के मंत्री होने पर हाथी-घोड़े का क्या काम ? इसलिए अब—

हाथियो और घोड़ों के साथ सब का बन्धन खोल दिया जाय। पूर्ण प्रतिज्ञा वाला मैं केवल शिखा बांधता हूँ ॥१८॥

[शिखा बांधता है।]

प्रतिहारी—जो आर्य की आज्ञा।

[बाहर चली जाती है।]

टिप्पणी—हस्त्यश्वम्—हस्तिनश्च अश्वाश्च इति हस्त्यश्वम् द्वन्द्वसमासे कृते 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' इति सूत्रेण एकवद्भावः। **प्रयोजनम्**—प्रयोज्यते अनेन इति प्र√युज्+णिच्+ल्युट् करणे=प्रयोजनम्। **वाहन**—उह्यते अनेन इति √वह्+ल्युट् करणे, निपातनात् वृद्धिः=वाहनम्=अश्वः। **पूर्णप्रतिज्ञेन**—जिसकी प्रतिज्ञा पूरी हो चुकी है। नन्दवंशोन्मूलन के बाद चाणक्य की प्रतिज्ञा थी कि राक्षस को चन्द्रगुप्त से मिलाकर मौर्य की लक्ष्मी को स्थिर करना। वह अब पूरी हो चुकी है। इसलिए वह अपने को पूर्णप्रतिज्ञ कहता है और शिखा भी बांध लेता है। इस श्लोक में एक ही शिखा में विरूप बन्धन और मोचन की संघटना होने से विषमालंकार है। इसमें भी अनुष्टुप् छन्द है ॥१८॥

चाणक्यः—अमात्यराक्षस ! तदुच्यतां, किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि ?

राक्षसः—किमतः परमपि प्रियमस्ति ? यदि न परितोषस्तदिदमस्तु—

[भरत-वाक्यम्]

वाराहीमात्मयोनेस्तनुमतनुबलामास्थितस्यानुरूपां
यस्य प्राग्दन्तकोटिं प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री।

म्लेच्छैरुद्वेज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः
स श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः ॥ १९ ॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।]

॥ इति मुद्राराक्षसे सप्तमोऽङ्कः ॥

अन्वयः—प्रलयपरिगता भूतधात्री प्राक् अतनुबलाम् अनुरूपां वाराहीं तनुम् आस्थितस्य यस्य आत्मयोनेः दन्तकोटिं शिश्रिये, अधुना म्लेच्छैः उद्वेज्यमाना (सती) राजमूर्तेः (यस्य) भुजयुगम् संश्रिता स श्रीमद्बन्धुभृत्यः पार्थिवः चन्द्रगुप्तः महीं चिरम् अवतु ॥१९॥

व्याख्या—प्रलयपरिगता—प्रलयेन कल्पक्षयेण परिगता अभिभूता, भूतधात्री—पृथिवी, प्राक्—पूर्वम् कल्पादौ इति यावत्, अतनुबलाम्—प्रचुरबलवतीम्, अनुरूपां—योग्यां, वाराहीं—शौकरीं, तनुं—शरीरम्, आस्थितस्य—अधितिष्ठतः, यस्य, आत्मयोनेः—स्वयम्भुवः श्रीविष्णोः, दन्तकोटिं—दशनाग्रं, शिश्रिये—आश्रिता, अधुना—सम्प्रति, म्लेच्छैः—यवनैः, उद्वेज्यमाना—पीड्यमाना, (सती) राजमूर्तेः—पार्थिवदेहस्य (यस्य आत्मयोनेः), भुजयुगम्—बाहुयुगलम्, संश्रिता—समवलम्बिता, सः, श्रीमद्बन्धुभृत्यः—श्रीमन्तः समृद्धा बन्धवः स्वजना भृत्याः सेवकाश्च यस्य तादृशः, पार्थिवः—राजा, चन्द्रगुप्तः—मौर्यः, महीं—पृथिवीम् चिरम्—दीर्घकालं यावत्, अवतु—रक्षतु ॥१९॥

हिन्दी अनुवाद—चाणक्य—अमात्य राक्षस ! तो कहिये, और क्या आपका प्रिय उपकार करूँ ?

राक्षस—क्या इससे बढ़कर भी कोई प्रिय है ? यदि सन्तोष न होतो यह रहे—

[भरत-वाक्य]

प्रलय से व्याप्त (होती हुई) पृथिवी ने पहले (कल्प के आरम्भ में) प्रचुरबलशाली तथा (रक्षा करने में) समर्थ शूकर-शरीर को धारण किये हुए जिस स्वयम्भू विष्णु के दाँतों के अग्रभाग का अवलम्ब लिया था और इस समय म्लेच्छों से पीड़ित होती हुई (उन्हीं के लिए) राजमूर्ति (अर्थात् राजा का शरीर

धारण किये हुए विष्णु) की दोनों भुजाओं का आश्रय लिया है, वह श्री-सम्पन्न बन्धुओं एवम् अनुचरों वाला राजा चन्द्रगुप्त चिरकाल तक पृथिवी की रक्षा करे ॥१६॥

[सभी (पात्र रंगमंच से) चले जाते हैं ।]

॥ मुद्राराक्षस (नामक नाटक) में सातवाँ अंक समाप्त ॥

टिप्पणी—भरतवाक्यम्—नाटक के अन्त में आशीर्वाद रूप में गाया जाने वाला पद्य । **भूतधात्री**—भूतानां प्राणिनां धात्री जननी = पृथ्वी । **वाराहीम्**—वराहः शूकरः तस्य इयम् इति वराह + अण् + ङीप् = वाराही, ताम् । **आत्मयोनेः**—आत्मा स्वयमेव योनिः कारणमस्य इति आत्मयोनिः, तस्य । **शिश्रिये**—√श्रिधातुः उभयपदी । अत्र कर्त्रभिप्राये क्रियाफले आत्मनेपदम् । **उद्वेज्यमाना**—उद्√विज् + णिच् + शानच् कर्मणि । कई पुस्तकों में 'उद्विज्यमाना' पाठ है । वह अशुद्ध है; कारण विज् धातु अकर्मक है । उससे कर्म में शानच् कैसे हो सकता है ? अतएव णिजन्त से कर्म में शानच् करना चाहिए । **राजमूर्तेः**—पुरा वाराहीं तनुम् आस्थितस्य अधुना राजमूर्तेः । **संश्रिता**—सम्√श्रि + क्त कर्तरि वर्तमाने । ग्रन्थादौ ग्रन्थमध्ये ग्रन्थान्ते च मङ्गलमाचरेत्' इस शिष्टाचार के अनुसार इस ग्रन्थ के आदि में 'धन्या केयम्' श्लोक से, मध्य में 'आकाशं काशपुष्पम्' श्लोक से और अन्त में 'वाराहीम्' इस प्रकृत श्लोक से कवि ने मंगलाचरण किया है ॥१६॥

एषा मदीया सरला सुबोधा व्याख्या प्रिया मन्दधियामपि स्यात् ।
विभाव्य पूर्णेयमिति श्रमेण प्रीत्यै कृता प्रीतिमतोः स्वपित्रोः ॥ १ ॥

गृहीता पूर्वटीकाभ्यो बह्वीभ्यो हि सहायता ।
तासां कृतज्ञताञ्जलिं निर्मातॄणां करोम्यहम् ॥२॥

* श्रीसाम्बसदाशिवार्पणम् *

———